समयसार

मूल रचयिता

भगवत् कुन्दकुन्दाचार्य

卐

टीकाकार

संस्कृत टीका तात्पर्यवृत्ति–जयसेनाचार्य

हिन्दी टीका– आचार्य ज्ञानमूर्ति चारित्र विभूषण

श्री १०८ ज्ञानसागर जी महाराज

प्रकाशक

श्री - दिगम्बर - जैन - समाज, अजमेर

द्वारा प्रदत्त द्रव्य से

छगनलाल पाटनी द्वारा प्रकाशित

प्रकाशक
दि० जैन समाज
अजमेर

प्रथमावृति १६०१

मूल्य : ६) रुपये

मुद्रक :
पदमकान्त जैन
सूरज प्रिण्टर्स
नया बाजार, अजमेर

आद्य वक्तव्य

आज के भौतिकता-प्रधान युग में भी हमारे पुण्योदय से हमें अध्यात्म की अजस्र धारा परमपूज्य कुन्दकुन्दाचार्य के समयसार ग्रन्थराज के रूप में उपलब्ध है। इस ग्रन्थराज को पढ़कर असंख्य जीवों ने अपना कल्याण किया है और भविष्य में करते रहेंगे। श्री आचार्य चारित्र विभूषण ज्ञानमूर्ति १०८ ज्ञानसागर जी महाराज के अजमेर के विगत चातुर्मास में सिद्धकूट चैत्यालय नशिया में समयसार ग्रन्थराज का प्रवचन उनके द्वारा हुआ। पूज्य गुरुदेव ने एक विशेष दृष्टि समयसार को समझने की हमें दी। इस दृष्टि से कुछ मतभेद होते हुऐ भी उसका समादर हुआ। महाराज श्री ने समय प्राभृत के श्लोकों की आचार्य जयसेन स्वामी की टीका का हिन्दी रूपान्तर किया और अपने हिन्दी विशेषार्थों में यह नई दिशा स्वाध्याय प्रेमियों को दी है। जयसेन स्वामी ने समयसार ग्रन्थ मुख्यतया वीतराग निर्विकल्प समाधि में स्थित साधुजनों के कल्याणार्थ रचा है, जब कि पूज्य अमृतचन्द्राचार्य ने गुणस्थान की परिपाटी के परिपेक्ष्य में उसे घटित नहीं किया है।

श्री १०८ आचार्य ज्ञानसागर जो महाराज बाल ब्रह्मचारी हैं। इन्होंने स्याद्वाद महाविद्यालय वाराणसी में शिक्षा प्राप्त की और पंडित भूरामल जी शास्त्री के रूप में अनेक ग्रन्थों की पांडित्यपूर्ण रचना की है जिनको साहित्यिक छटा देखते ही बनती है। इनमें से कतिपय ग्रन्थ जयोदय, वीरोदय, सुदर्शनोदय, दयोदय, भद्रोदय, सम्यक्त्वसार शतक, एवं विवेकोदय हैं। आचार्य श्री १०८ वीरसागरजी के संघ में स्थित मुनिराजों एवं त्यागियों को आपने विधिपूर्वक पढ़ाया है। संस्कृत एव प्राकृत भाषाओं के आप उद्भट विद्वान हैं। क्लिष्ट से क्लिष्ट धार्मिक विषय को आप बड़े सरल शब्दों से सुस्पष्ट करते हैं। आपने आचार्य १०८ श्री शिवसागरजी महाराज से मुनिदीक्षा ली और उनके प्रमुख शिष्य हुए। आप आगमानुकूल मुनिचर्या का बड़ी कठोरता से पालन करते आ रहे हैं और इस वृद्धावस्था में भी उसमें कहीं शिथिलता का लवलेश भी दिखाई नहीं देता। किंचित् विश्रामकाल के अतिरिक्त दिनरात आपका समय ध्यान अध्ययन, एवं अध्यापन में ही व्यतीत होता है। आचार्य समन्तभद्र द्वारा रत्नकरंड श्रावकाचार के निम्नलिखित श्लोक में साधु के जिस स्वरूप का वर्णन है वह हमें आचार्य ज्ञानसागरजी में पूर्णरूपेण दृष्टिगोचर होता है—

विषयाशावशातीतो निरारंभोऽपरिग्रहः।
ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते॥

नवयुवक मनोज्ञ मुनि १०८ श्री विद्यासागर जी महाराज की दीक्षा समारोह के अवसर पर ग्रन्थ प्रकाशन हेतु समाज से कुछ धनराशि एकत्रित हुई थी। इसके अतिरिक्त अन्य महानुभावों ने भी इस

"तावत्कालं परमसमाधेरभावात् स चाज्ञानी जीवः कर्मणां कारको भवतीति ज्ञातव्यः।"(पृ.२५६.)

"व्यवहारकारणसमयसारेण साध्येन विशुद्धज्ञानदर्शनस्वरूपभावशुद्धात्मतत्त्वसम्यक् श्रद्धान ज्ञानानुचरणरूपाभेदरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिरूपेणानंतकेवलज्ञानादिचतुष्टयाभिव्यक्तिरूपस्य कार्यसमयसारस्योत्पादकेननिश्चय कारण समयसारेण विना खल्वज्ञानिजीवो रुष्यति तुष्यति च" (पृ ३२९)

जो निर्विकल्प समाधि में स्थित है उसको ही ज्ञानी कहा है

"निर्विकल्पसमाधिपरिणामपरिणतकारणसमयसारलक्षणेनभेदज्ञानेनसर्वारम्भापरिणतत्वाज् ज्ञानिनो जीवस्य शुद्धात्मख्यातिप्रतीतिसंवित्युपलब्ध्यनुभूतिरूपेण ज्ञानमय एव भवति। अज्ञानिनस्तु पूर्वोक्तभेद ज्ञानाभावात् शुद्धात्मानुभूतिस्वरूपाभावे सत्यज्ञानमय एव भवतीत्यर्थः।" (पृ० ११५)

८. गाथा ८६ में बतलाया है कि जीव परिणाम के निमित्त से पुद्गल कर्म रूप परिणमित होता है और पुद्गल कर्म के निमित्त से जीव भी विभाव रूप परिणमता है यदि ऐसा न माना जाय तो मुक्तात्मा के भी कर्मोदय के बिना भाव क्रोधादिरूप विकारभाव हो जायंगे।

"तर्हि उदयागतद्रव्यक्रोधनिमित्तमंतरेणापि भावक्रोधादिभिः परिणमंतु। तथा च सति मुक्तात्मनामपि द्रव्यकर्मोदय निमित्ताभावेपि भावक्रोधादय प्राप्नुवंति।" (पृ० १०९)

"एते मिथ्यात्वादि भावप्रत्यया शुद्धनिश्चयेनाचेतनाः खलु स्फुटं। कस्मात् पुद्गल कर्मोदय संभवादस्मादिति। यथा स्त्रीपुरुषाभ्यां समुत्पन्नः पुत्रो विवक्षावशेन देवदत्तायाः पुत्रोऽयं केचन वदंति। देवदत्तस्य पुत्रोऽय मिति केचन वदंति-दोषो नास्ति। तथा जीवपुद्गलसंयोगेनोत्पन्नाः मिथ्यात्वरागादिभावप्रत्यया अशुद्धनिश्चयेनाशुद्धोपादानरूपेण चेतना जीवसंबद्धाः। शुद्धनिश्चयेन शुद्धोपादानरूपेणाचेतनाः पौद्गलिकाः। परमार्थतः पुनरेकांतेन न जीवरूपाः न च पुद्गलरूपाः सुधाहरिद्रयोः संयोग परिणामवत्। ये केचन वदंत्येकांतेन रागादयो जीवसंबंधिनः पुद्गलसंबंधिनो वा तदुभयमपि वचनं मिथ्या। कस्मादिति चेत्? पूर्वोक्त स्त्रीपुरुषदृष्टांतेन संयोगोद्भवत्वात्।"(पृ० १०१) यहां यह बतलाया गया है कि जिस प्रकार चूना व हल्दी के संयोग से एक तीसरी पर्याय लाल वर्ण रूप उत्पन्न हो जाती है उसी प्रकार जीव और पुद्गल के बंध से रागादि रूप तीसरी पर्याय उत्पन्न हो जाती है। जिस प्रकार पुत्रोत्पत्ति न मात्र माता से है न मात्र पिता से है किन्तु दोनों के संयोग से पुत्र की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार रागादि विकार भाव न मात्र जीव के हैं न पुद्गल के हैं दोनों के बंध से रागादि की उत्पत्ति होती है। जो मात्र जीव की भूल से रागादि की उत्पत्ति मानते हैं या मात्र कर्म से रागादि की उत्पत्ति मानते हैं उनके वचन मिथ्या हैं।

दो शब्द

ग्रन्थ के प्रकाशन मण्डल की इच्छानुसार इस महान् ग्रन्थ के प्रकाशन के विषय में दो शब्द लिखते हुऐ मुझे अत्यन्त हर्ष का अनुभव हो रहा है। इस ग्रंथराज की भाषा टीका श्री १०८ आचार्य पूज्य ज्ञानसागर जी महाराज द्वारा हुई हैं। उनकी ज्ञान गरिमा को विद्वत् समाज भली प्रकार जानता है। प्रस्तुत टीका उनके गहन अध्ययन, विशिष्ट विद्वत्ता एवं अगाध अनुभव का सार है। ग्रंथराज की विषय वस्तु विद्वानों एवं स्वाध्याय प्रेमियों के लिये मनन करने योग्य है। जिस सरल भाषा में ऐसे कठिन विषय पर इस ग्रंथ में विवेचन हुआ है उसमें अनेकों समाधान सहज ही हो जाते हैं। टीका के निर्माण में आचार्य श्री ने लगातार कई वर्षों तक अथक परिश्रम किया है। उनकी इस ज्ञानाराधना के प्रति विनयपूर्वक शत शत वन्दन ! वे एक महान् योगी, साधु एवं विद्वान् है।

जिस लगन और तत्परता से ब्र० प्यारेलाल जी सा० ने प्रारंभ से ही इसको वर्तमान रूप देने में योगदान दिया है वह श्लाघनीय है। उनके अथक परिश्रम से ही इसका प्रकाशन सभव हुआ है, यह कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति नहीं समझी जानी चाहिये। अतः वे धन्यवाद के पात्र हैं।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि स्वाध्याय प्रेमी इस ग्रंथ का उचित समादर करेंगे।

भागचन्द सोनी

।। समयसार का विषय-क्रम ।।

१ जीवाजीवाधिकार

(२) अजीवाधिकार

(३) कर्तृ कर्माधिकार

(४) पुण्यपापाधिकार

(५) आस्रव अधिकार

(८) बंधाधिकार

मोक्षाधिकार (६)

सर्व विशुद्धज्ञान अधिकार (१०)

(मोक्ष पदार्थ चूलिका)

और राष्ट्र की अशान्ति, अविश्वास और असहयोग की कलुषित भावनाएँ बह-बहकर सुदूर विस्मृतिमहासागर में लीन हो जाएँ, जिस से व्यक्ति, समाज और राष्ट्र सुखद जीवन व्यतीत कर सकें। मानव का अशान्त और भ्रान्त मन जब सरस सुहावना, सावन बनकर बरसना सीख लेगा, तब वह अपने मनोगत जात-पांत के टंटों को, ऊँच-नीच के रगड़ों को और मान-महत्ता के झगड़ों को भूल कर एकता, संघटन और सम-भाव के सुन्दर वातावरण में पनप सकेगा, ऊँचा उठ सकेगा, अपना उत्थान और कल्याण कर सकेगा।

सोजत सन्त-सम्मेलन के कार्य-क्रम में, मैं जब व्यस्त था। एक सज्जन आकर बोला—"महाराज, आप अपनी समस्याओं के सुलझाने में ही मस्त रहोगे, या कुछ हम लोगों की भी उलझी उलझनों को भी सुलझाने का समय दे सकोगे? सज्जन का स्वर करुणा पूर्ण था। मैंने उसकी बात में दिलचस्पी लेते हुए कहा—"कहो तुम्हारी क्या समस्याएँ हैं?" उसने कहा—"वैसे तो समस्या कुछ भी नहीं, और है, तो बहुत बड़ी भी? "सुनेंगे, तो आपको ताज्जुब भी होगा, और हँसी भी आयगी, कि क्या ये भी अपने को भगवान् महावीर का भक्त कहते हैं? श्रावक कहलाते हैं? बात उसने यों प्रारम्भ की—"हमारे यहाँ दो जी का झगड़ा खड़ा होगया है। बरसों होगए हैं, अभी तक निब-टने में नहीं आया।" मैं नहीं समझ पाया, उसकी संकेतमयी भाषा से कि यह 'दो जी' क्या बला है? कम से कम मेरे जीवन में

तो यह एक नयी समस्या ही थी। उस सज्जन ने अपनी बात को स्पष्ट करते हुए कहा —“ हमारे यहाँ के ओसवाल दो थोकों में बँटे हैं —“ एक व्यापारी और दूसरे राज-कर्मचारी। ”राज-कर्मचारी सत्ता प्राप्त होने से अपने नाम में 'दो जी' का प्रयोग करते थे—“जैसे भंडारी जी, मोहनलाल जी।” एक 'जी' गोत्र के आगे, और दूसरी नाम के आगे। परन्तु, व्यापारी लोग एक ही 'जी' लगा सकते थे। पर यह उन्हें शल्य की तरह चुभता था। कालान्तर में राजा साहब से पट्टा लेकर व्यापारी भी 'दो जी' लगाने लगे। बस, रगड़े-झगड़े का मूल बीज यही है। अनेक प्रयत्न भी किए, और कर रहे हैं, परन्तु अभी तक समस्या सुलझी नहीं है। बिरादरी दो टुकड़ों में बंटी हुई है। इसी कारण धर्म और समाज का कोई भी उत्थान का कार्य हम नहीं कर पाते हैं।

इस सज्जन की बात में कितना दर्द था? कितना था, उस के दिल में तूफान? मैं समझता हूँ, कि इन रगड़ों का, झगड़ों का, टंटों का और समस्याओं का अन्त तभी होगा, जब मानव का मन क्षुद्र घेरों से ऊपर उठकर विराट भावना के प्रवाह में गतिशील बनेगा। अपनी सुख-समृद्धि में फूलेगा नहीं, और दूसरों के विकास में झुलसेगा नहीं। गए-बीते युग की इन गली-सड़ी दीवारों से ऊपर उठकर जब मानव स्नेह स भाव और सहकार की मृदुल भावनाओं से उत्प्रेरित होकर अपने मन को विराट और उदात्त बना लेगा। अपनी बुद्धि के द्वारों

गाथा सं० विषय पृष्ठ सं०

स्याद्वाद अधिकार

॥ इति ॥

नमः श्रीपरमात्मने ।

श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यविरचितः

समयसारः

समयसार अधिकार को सेतु तुल्य उरधार ।
हो पाते हैं भव्यजन भव वारिधि से पार ।।

श्री जयसेनाचार्यकृता तात्पर्यवृत्तिः (हिन्दी टीका सहित)

वीतरागं जिनं नत्वा ज्ञानानंदैकसंपदम् ।
वक्ष्ये समयसारस्य वृत्तिं तात्पर्यसंज्ञिकाम् ।।

अर्थ—मैं (जयसेनाचार्य) ज्ञान और आनन्द के अद्वैत (अद्भुत) अपूर्व स्थान और वीतराग जिनेन्द्र भगवान को नमस्कार करके समयसार परमागम की तात्पर्य नाम की वृत्ति (टीका) को कहता हूँ ।

तात्पर्यवृत्ति—अथ शुद्धपरमात्मतत्त्वप्रतिपादनमुख्यत्वेन विस्तररुचिशिष्यप्रतिबोधनार्थं श्रीकुंदकुंदाचार्यदेव-निर्मिते समयसारप्राभृतग्रन्थे अधिकारशुद्धिपूर्वकत्वेन पातनिकासहितंव्याख्यानं क्रियते । तत्रादौ **वंदित्तु सव्वसिद्धे** इति नमस्कारगाथामादिं कृत्वा सूत्रपाठक्रमेण प्रथमस्थले स्वतंत्रगाथाषट्कं भवति । तदनंतरं द्वितीयस्थले भेदाभेदरत्न-त्रयप्रतिपादनरूपेण **ववहारेणुवदिस्सदि** इत्यादिगाथाद्वयं । अथ तृतीयस्थले निश्चयव्यहारश्रुतकेवलिव्याख्यानमुख्यत्वेन **जो हि सुदेण** इत्यादिसूत्रद्वयं । अतः परं चतुर्थस्थले भेदाभेदरत्नत्रयभावनार्थं तथैव भावनाफलप्रतिपादनार्थं च **णाणह्मिभावणा** इत्यादिसूत्रद्वयं । तदनंतरं पंचमस्थले निश्चयव्यवहारनयद्वयव्याख्यानरूपेण **ववहारो भूदत्थो** इत्यादिसूत्रद्वयं । एवं चतुर्दशगाथाभिः स्थलपंचकेन समयसारपीठिकाव्याख्याने समुदायपातनिका । तद्यथा—अथ प्रथमतस्तावद्गाथायाः पूर्वार्द्धेन मंगलार्थमिष्टदेवतानमस्कारमुत्तरार्द्धेन तु समयसारग्रंथव्याख्यानं करोमीत्यभिप्रायं मनसि धृत्वा सूत्रमिदं प्रतिपादयति ।

टीका—अब शुद्ध परमात्म तत्व के प्रतिपादन को मुख्य लेकर विस्तार में रुचि रखने वाले शिष्यों के प्रतिबोधन के लिये श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव के बनाये हुये समयसार प्राभृत ग्रन्थ में अधिकार की शुद्धि-पूर्वक पातनिका (पीठिका) सहित व्याख्यान किया जा रहा है । वहां पर सबसे पहले "वंदित्तु सव्व सिद्धे" इस प्रकार नमस्कार गाथा को आरंभ में लेकर सूत्रपाठ के क्रम से पहले स्थल में छह स्वतन्त्र गाथायें हैं । इसके आगे द्वितीय स्थल में भेदाभेदरत्नत्रय का प्रतिपादन करते हुए "ववहारेणुवदिस्सदि"

इत्यादि दो गाथायें हैं। फिर तीसरे स्थल में निश्चय व्यवहार श्रुतकेवली के व्याख्यान की मुख्यता से "जो हि सुदेण" इत्यादि दो गाथायें हैं। इसके आगे चौथे स्थल में भेदाभेदरत्नत्रय की भावना के लिये और उस भावना के फल को वर्णन करने के लिये "णाणम्हि भावणा" इत्यादि दो सूत्र हैं। इसके आगे पांचवें स्थल में निश्चय व्यवहार नामक दोनों नयों का व्याख्यान करते हुये "ववहारो भूदत्थो" इत्यादि दो गाथायें हैं। इस प्रकार पांच स्थलों में चौदह गाथाओं के द्वारा समयसार ग्रंथ की पीठिका का व्याख्यान करने में समुदाय पातनिका है।

अब सबसे प्रथम भगवान कुन्दकुन्द गाथा के पूर्वार्द्ध में मंगल के लिये इष्ट देवता को नमस्कार करके उत्तरार्द्ध में समयसार के व्याख्यान करने की प्रतिज्ञा का अभिप्राय मनमें धरकर पहला सूत्र कहते हैं—

वंदित्तु सव्वसिद्धे, धुवममलमणोवमं गदिं पत्ते।
वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुदकेवलीभणिदं ॥ १ ॥

वंदित्वा सर्वसिद्धान्, ध्रुवाममलामनुपमां गतिं प्राप्तान्।
वक्ष्यामि समयप्राभृतमिदमहो श्रुतकेवलिभणितं ॥१॥

अर्थ—अविनाशी निर्मल और उपमा रहित गति में विराजमान सब सिद्धों को नमस्कार करके हे भव्यजीवो! मैं श्रुतकेवलियों द्वारा वर्णन किये हुये समयसार ग्रन्थ को कहूंगा ॥१॥

तात्पर्यवृत्ति—वंदित्तु इत्यादि पदखंडनारूपेण व्याख्यानं क्रियते। **वंदित्तु** निश्चयनयेन स्वस्मिन्नेवाराध्याराधकभावरूपेण निर्विकल्पसमाधिलक्षणेन भावनमस्कारेण, व्यवहारेण तु वचनात्मकद्रव्यनमस्कारेण वंदित्वा कान्, **सव्वसिद्धे** स्वात्मोपलब्धिसिद्धिलक्षणसर्वसिद्धान्। किं विशिष्टान् **पत्ते** प्राप्तान् कां **गदिं** सिद्धगतिं सिद्धपरिणतिं। कथंभूतां **धुवं** टंकोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावत्वेन ध्रुवामविनश्वरां। **अमलं** भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्ममलरहितत्वेन शुद्धस्वभावसहितत्वेन च निर्मलां। अथवा **अचलं** इति पाठांतरे द्रव्यक्षेत्रादिपंचप्रकारसंसारभ्रमणरहितत्वेन स्वस्वरूपनिश्चलत्वेन च चलनरहितामचलां। **अणोवमं** निखिलोपमारहितत्वेन निरुपममांस्वभावसहितत्वेन अनुपमां। एवं पूर्वार्द्धेन नमस्कारं कृत्वा परार्द्धेन संबंधाभिधेयप्रयोजनसूचनार्थं प्रतिज्ञां करोति। वक्ष्यामि किं **समयपाहुडं** समयप्राभृतं सम्यक् अयः बोधो यस्य स भवति समय आत्मा। अथवा समं एकीभावेनायनं गमनं समयः। प्राभृतं सारं सारः शुद्धावस्था। समयस्यात्मनः प्राभृतं समयप्राभृतं। अथवा समय एव प्राभृतं समयप्राभृतं। **इणं** इदं प्रत्यक्षीभूतं **ओ** अहो भव्याः कथंभूतं **सुदकेवलीभणिदं** प्राकृतलक्षणबलात्केवलीशब्ददीर्घत्वं। श्रुते परमागमे केवलिभिः सर्वज्ञैर्भणितं श्रुतकेवलिभणितं। अथवा श्रुतकेवलिभणितं गणधरदेवकथितमिति। संबंधाभिधेयप्रयोजनानि कथ्यंते। व्याख्यानं वृत्तिग्रंथः व्याख्येयं तत्प्रतिपादकसूत्रमिति। तयोस्संबंधो व्याख्यानव्याख्येयसंबंधः। सूत्रमभिधानं सूत्रार्थोभिधेयः तयोः संबंधोऽभिधानाभिधेयसंबंधः। निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानेन शुद्धात्मपरिज्ञानं प्राप्तिर्वा प्रयोजनमित्यभिप्रायः ॥१॥ अथ गाथापूर्वार्द्धेन स्वसमयमपरार्द्धेन परसमयं च कथयामीत्यभिप्रायं मनसि संप्रधार्य सूत्रमिदं निरूपयति—

अब पदच्छेद करके अर्थ किया जाता है:—

टीका—(वंदित्तु) निश्चय नय से तो अपने आप में ही आराध्य आराधक भाव को स्वीकार करने रूप निर्विकल्प समाधि है लक्षण जिसका ऐसे भाव नमस्कार के द्वारा और व्यवहार नय से वचनात्मक द्रव्य नमस्कार के द्वारा वंदना करके किनको? (सव्वसिद्धे) स्वात्मोपलब्धि की सिद्धि है लक्षण जिसका

ऐसे सम्पूर्ण सिद्धों को (गइं पत्ते) जो सिद्ध गति को प्राप्त हो गये हैं। (ध्रुवम्) जो सिद्धगति टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक स्वभावरूप से अडिग है या अविनश्वर है (अमलम्) भावकर्म द्रव्यकर्म व नोकर्म से रहित होने के कारण तथा शुद्ध स्वभाव सहित होने से निर्मल है अथवा (अचलम्) द्रव्य क्षेत्र कालादि पंच प्रकार संसार परिभ्रमण से रहित होने तथा अपने स्वरूप में निश्चल होने से चलपने से रहित है। (अणोवमं) संसार में कोई भी उपमा नहीं होने से वह उपमा रहित है, ऐसी सिद्ध अवस्था को जो प्राप्त हो गये हैं। इस प्रकार गाथा के पूर्वार्द्ध से सिद्धों को नमस्कार करके व उत्तरार्द्ध से संबंधाभिधेय और प्रयोजन की सूचना के लिये प्रतिज्ञा करते हैं कि (वोच्छामि) कहूँगा (समय पाहुडं) समय प्राभृत ग्रन्थ को—सम्यक्—समीचीन अय-बोध, ज्ञान है जिसके वह समय अर्थात् आत्मा। अथवा समम्—एकीभावेना यनम्—गमनं "समयः" अर्थात् एकमेकरूप से जो गमन उसका नाम समय; प्राभृत अर्थात् सार—शुद्धावस्था, इस प्रकार समय नाम आत्मा उसका प्राभृत अर्थात् शुद्धावस्था वही हुवा समय प्राभृत। अथवा समय जो है वही प्राभृत सो समय प्राभृत। (इणं ओ) अहो भव्यो! वह समय प्राभृत हमारे सामने है। (सुय केवली भणियं) प्राकृत भाषा के नियम अनुसार केवली शब्द दीर्घ है। श्रुत में—परमागम में जा केवली हैं अर्थात् सर्वज्ञ हैं उनके द्वारा कहा गया है अथवा श्रुतकेवली जो गणधर देव उनसे कहा गया है।

अब संबंध अभिधेय और प्रयोजन कहते हैं–व्याख्यान तो वृत्ति ग्रन्थ (टीका) व्याख्येय—व्याख्यान के प्रतिपादक सूत्र, इन दोनों का संबंध है वह व्याख्यान व्याख्येय संबंध है। सूत्र तो वाचक हैं और सूत्र का अभिधेय–वाच्य है इन दोनों का संबंध 'अभिधान अभिधेय' संबंध है। निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञान के द्वारा शुद्धात्मा का जानना रूप जो प्राप्ति वही इसका प्रयोजन है ॥१॥

विशेषार्थ—इसमें आचार्य देव ने आराध्य आराधक भाव की उपयोगिता, वाणी की प्रामाणिकता और अपने आपका ग्रन्थकर्तृत्व ये तीन बातें बताई हैं। आराधक तो हम लोग संसारी छद्मस्थ हैं और आराध्य श्री सिद्ध भगवान हैं। उनकी आराधना करके हम लोग अपने कर्मों को नष्ट कर सकते हैं। आराधना दो प्रकार की है (१) व्यवहार आराधना (२) निश्चय आराधना। वचन विकल्पात्मक व्यवहार आराधना है और निर्विकल्प समाधि में तन्मय होकर शुद्धात्माका ध्यान करना निश्चय आराधना है। छट्ठे गुणस्थान तक व्यवहार आराधना होती है और सातवें से आगे निश्चय आराधना है। इन दोनों प्रकार की आराधनाओं के द्वारा छद्मस्थ आत्मायें अपने पूर्वोपार्जित कर्मों को क्रमशः ढीला करते हुये नष्ट कर देते हैं।

वाणी की सार्थकता—भगवान अर्हन्तदेव की वाणी अथवा द्वादशांग के ज्ञाता श्रुतकेवली गणधरादिक की वाणी प्रमाणभूत होती है जिसका संबंध इस ग्रन्थ से है और जिसके द्वारा हम सरीखे संसारी आत्माओं का भला होता है। इस ग्रन्थ के कर्त्ता स्वयं कुन्दकुन्द आचार्य देव हैं जिनकी प्रामाणिकता को लेकर हम लोगों की इस ग्रन्थ के पढ़ने में अभिरुचि होती है।

आगे गाथा के पूर्वार्द्ध से स्वसमय और उत्तरार्द्ध से परसमय को कहता हूं ऐसा अभिप्राय मन में रखकर आचार्य देव आगे का सूत्र कहते हैं—

जीवो चरित्तदंसणणाणट्ठिउ तं हि ससमयं जाण।
पुग्गलकम्मपदेसट्ठियं च, तं जाण परसमयं ॥२॥

जीवश्चरित्रदर्शनज्ञानस्थितस्तं हि स्वसमयं जानीहि।
पुद्गलकर्मप्रदेशस्थितं च तं जानीहि परसमयं ॥२॥

अर्थ—समय शब्द का अर्थ ऊपर जीव बताया गया है वह मूल में दो प्रकार है एक स्वसमय और दूसरा पर समय। जो दर्शन, ज्ञान और चारित्र में स्थित होकर (तद्रूप बनकर) रहता है वह स्वसमय (मुक्त जीव) है व जो पौद्गलिक कर्म प्रदेशों में स्थित होकर रहता है वह पर समय (संसारी जीव) है ।।२।।

तात्पर्यवृत्तिः—जीवो चरित्त इत्यादि—**जीवो** शुद्धनिश्चयेन शुद्धबुद्धैकस्वभावनिश्चयप्राणेन तथैवाशुद्धनिश्चयेन क्षायोपशमिकाशुद्धभावप्राणैरसद्भूतव्यवहारेण यथासंभवद्रव्यप्राणैश्च जीवति जीविष्यति जीवितपूर्वो वा जीवः। **चरित्तदंसणणाणट्ठिद तं हि ससमयं जाण** स च जीवश्चरित्रदर्शनज्ञानस्थितो यदा भवति तदा काले तमेव जीवं हि स्फुटं स्वसमयं जानीहि। तथा हि—विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावेनिजपरमात्मनि यद्रुचिरूपं सम्यग्दर्शनं तत्रैव रागादिरहितस्वसंवेदनं ज्ञानं तथैव निश्चलानुभूतिरूपं वीतरागचारित्रमित्युक्तलक्षणेन निश्चयरत्नत्रयेण परिणतजीवपदार्थं हे शिष्य स्वसमयं जानीहि। **पुग्गलकम्मुवदेसट्ठिदं च तं जाण परसमयं** पुद्गलकर्मोपदेशस्थितं च तमेव जानीहि परसमयं। तद्यथा—पुद्गलकर्मोदयेन जनिता ये नारकाद्युपदेशाव्यपदेशाः संज्ञाः पूर्वोक्तनिश्चयरत्नत्रयाभावात्तत्र यदा स्थितो भवत्ययं जीवस्तदा तं जीवं परसमयं जानीहीति स्वसमयपरसमयलक्षणं ज्ञातव्यं ।।२।। अथ स्वगुणैकत्वनिश्चयगतशुद्धात्मैवोपादेयः कर्मबंधेन सहैकत्वगतो हेय इति। अथवा स्वसमय एव शुद्धात्मनः स्वरूपं न पुनः परसमय इत्यभिप्रायं मनसि धृत्वा। अथवास्य सूत्रस्यानंतरं सूत्रमिदमुचितं भवतीति निश्चित्य विवक्षितसूत्रं प्रतिपादयतीति पातनिकालक्षणं सर्वत्र ज्ञातव्यं।

टीका—(जीवो) जो शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से शुद्धबुद्ध एक स्वभाव रूप निश्चय प्राण के द्वारा तथा अशुद्ध निश्चयनय से क्षयोपशमिकरूप अशुद्ध भाव प्राणों द्वारा और असद्भूत व्यवहारनय से यथा संभव द्रव्य प्राणों द्वारा जो जी रहा है, आगे जीता रहेगा और जो पूर्व में जीया था वह जीव है। (चरित्त दंसणणाणट्ठिउ तं हि स समयं जाण) वह जीव जब चारित्र, दर्शन और ज्ञान में स्थित रहता है उस समय में उसे स्वसमय समझो। अर्थात् विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभाव वाले निज परमात्मा में रुचि रूप सम्यग्दर्शन और उसी में रागादि रहित स्वसंवेदन का होना वह सम्यग्ज्ञान तथा निश्चल स्वानुभूतिरूप वीतराग चारित्र इस प्रकार कहे गये लक्षण वाले निश्चय रत्नत्रय के द्वारा परिणत जीव पदार्थ को हे शिष्य ! तू स्वसमय समझ। (पुग्गलकम्मपदेसट्ठियं च तं जाण पर समयं) पुद्गल प्रदेशों में स्थित उसी जीव को तू पर समय समझ। अर्थात् पुद्गल कर्मोदय के द्वारा उत्पन्न हुए जो नारकादि नामवाली संज्ञायें हैं उनमें पूर्वोक्त निश्चय रत्नत्रय न होने से जो स्थित है उसे उस काल में परसमय समझो। इस प्रकार स्वसमय और परसमय का लक्षण जानने योग्य है ।। २ ।।

विशेषार्थ—यह उपर्युक्त लेख तो तात्पर्यवृत्तिकार का है, आत्म ख्याति में भी यही लिखा है कि जब यह सर्व पदार्थों के स्वभाव के प्रकाश करने में समर्थ ऐसे केवल ज्ञान को उत्पन्न करने वाली भेद ज्ञान ज्योति के उदय होने से सब पर द्रव्यों से पृथक होकर दर्शन ज्ञान में निश्चित प्रवृत्तिरूप आत्म तत्व से एक रूप होकर प्रवृत्ति करता है तब दर्शन ज्ञान चारित्र में स्थिर होने से अपने स्वरूप को एकत्वरूप से एक काल में जानता तथा परिणमन करता हुआ स्वसमय है। और जब अनादि अविद्या रूप मूल वाले कंद के समान मोह के उदयानुसार प्रवृत्ति की आधीनता से दर्शनज्ञान स्वभाव में निश्चित वृत्ति रूप आत्मस्वरूप से छूट पर द्रव्य के निमित्त से उत्पन्न मोह रागद्वेषादि भावों में एक रूप होकर प्रवृत्त होता है तब पुद्गल के कार्माण प्रदेशों में स्थित होने से पर द्रव्य को अपने से अभिन्न एक काल में जानता है तथा परिणमन करता है तब पर समय है।

उत्थानिका—अब अपने गुणों के साथ एकत्व के निश्चय को प्राप्त हुवा ऐसा शुद्धात्मा ही उपादेय है और कर्मबंध के साथ एकमेक हुवा आत्मा हेय है। अथवा स्वसमय ही शुद्धात्मा का स्वरूप है, पर समय शुद्धात्मा का स्वरूप

नहीं है इस अभिप्राय को मन में धरकर इस सूत्र के पश्चात् इसी सूत्र की आवश्यकता है ऐसा निश्चयकर विवक्षित सूत्र कहते हैं इस प्रकार की उत्थानिका सर्वत्र जानना चाहिये—

एयत्तणिच्छयगओ समओ सव्वत्थ सुंदरो लोए।
बंधकहाएयत्ते तेण विसंवादिणी होई ॥३॥

एकत्वनिश्चयगतः समयः सर्वत्र सुंदरो लोके।
बंधकथैकत्वे तेन विसंवादिनी भवति ॥३॥

अर्थ—जो जीव एकत्व के साथ निश्चितरूप से एक होकर रहता है वह इस संसार में सब ठौर सुन्दर है अर्थात् सबको सुहावना है। किन्तु इसीके साथ उस एकत्व में बंध की कथा विसंवाद करने वाली है (अर्थात् एकाकी पन में बंध कभी संभव ही नहीं है, बंध सदा दो में होता है) ॥३॥

तात्पर्यवृत्तिः—एयत्तणिच्छयगदो स्वकीयशुद्धगुणपर्यायपरिणतः, अभेदरत्नत्रयपरिणतो वा एकत्व निश्चयगतः **समओ** समयशब्देनात्मा, कस्माद्धेतोः सम्यगयते गच्छति परिणमति कान् स्वकीयगुणपर्यायानिति व्युत्पत्तेः। **सव्वत्थसुंदरो** सर्वत्र समीचीनः क्व **लोगे** लोके अथवा सर्वत्रैकेंद्रियाद्यवस्थासु शुद्धनिश्चयनयेन सुन्दर उपादेय इति। **बंधकहा** कर्मबंधजनितगुणस्थानादिपर्यायाः। **एयत्ते** एकत्वे तन्मयत्वे या बंधकथा प्रवर्तते **तेण** तेन पूर्वोक्तजीवपदार्थेन सह सा **विसंवादिणी** विसंवादिनो कोर्थः विसंवादिणी विसंवादिनीकथा प्राकृतलक्षणबलात् पुंल्लिगे स्त्रीलिंगनिर्देशः❀। विसंवादिनी असत्या **होदि** भवति। शुद्धनिश्चयनयेन शुद्धजीवस्वरूपं न भवतीत्यर्थः। ततः स्थितं स्वसमयएवात्मनः स्वरूपमिति ॥३॥ अथैकत्वपरिणतं शुद्धात्मस्वरूपं सुलभं न भवतीत्याख्याति—

टीका—(**एयत्तणिछयगदो**) अपने ही शुद्ध गुण और पर्यायों में परिणमता हुआ अथवा अभेद रत्नत्रय में परिणमता हुआ एकता के निश्चय में प्राप्त हुआ (समओ) यह आत्मा (समय शब्द से आत्मा लेना योग्य है क्योंकि इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है 'सम्यक् अयते गच्छति परिणमति कान् स्वकीय गुण पर्यायान्' अर्थात् जो भले प्रकार अपने ही गुण और पर्यायों को परिणमन करे सो समय अर्थात् आत्मा) (सव्वत्थ सुन्दरो) सब ही ठिकाने सब को सुहावना है (लोगे) इस संसार में—सब ही एकेन्द्रियादि अवस्थाओं में—शुद्ध निश्चयनय से सुन्दर है उपादेय है। (बंध कहा) किन्तु कर्म बंध से होने वाली गुणस्थानादिरूप पर्यायों से (एयत्ते) तन्मय होकर रहने में बंध कथा प्रवर्तती है (तेण) पूर्वोक्त जीव पदार्थ के साथ (विसंवादिणी) विसंवाद पैदा करने वाली अर्थात् गड़बड़ पैदा करने वाली (होदि) होती है वह असत्य है अर्थात् प्रशंसा योग्य नहीं है क्योंकि वह शुद्ध निश्चयनय से शुद्ध जीव का स्वरूप नहीं हो सकती इससे यह सिद्ध हुआ कि स्वसमय ही आत्मा का स्वरुप है ॥३॥

विशेषार्थ—यहां आचार्यदेव ने बताया है कि संसारी आत्मा के साथ कर्मों का बंध है जो आत्मा के शुद्ध स्वरुप को प्रगट नहीं होने देता। इसकी कथा यहां न करके यहां तो आत्मा के शुद्ध स्वरूपकी कथा की जा रही है।

अब एकाकीपन को प्राप्त हुये शुद्ध आत्मा का स्वरूप सुलभ नहीं है ऐसा कहते हैं:—

सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्स वि कामभोगबंधकहा।
एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलभो विहत्तस्स ॥४॥

❀एतन्मते 'विसंवादिणो' पुंल्लिग एव पाठः।

श्रुतपरिचितानुभूता सर्वस्यापि कामभोगबंधकथा ।
एकत्वस्योपलंभः केवलं न सुलभो विभक्तस्य ।।४।।

अर्थ—काम बंध और भोग की कथा तो सबही जीवों के सुनने में भी आई है, परिचय में भी आई है तथा अनुभव में भी आई है किन्तु सबसे पृथक होकर केवल एकाकी होने की बात सुलभ नहीं है ।।४।।

तात्पर्यवृत्तिः—सुदपरिचिदाणुभूदा इत्यादि । **सुदा** श्रुता अनंतशो भवति । **परिचिदा** परिचिता सा पूर्वमनंशो भवति । **अणुभूदा** अनुभूतानंतशो भवति कस्य **सव्वस्सवि** सर्वस्यापि जीवलोकस्य । कासौ **कामभोगबंधकहा** कामरूपभोगाः कामभोगाः अथवा कामशब्देन स्पर्शनरसनेंद्रियं भोगशब्देन घ्राणचक्षुःश्रोत्रत्रयं तेषां कामभोगानां बंधः संबंधस्तस्य कथा । अथवा बंधशब्देन प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशबंधस्तत्फलं च नरनारकादिरूपमं भण्यते । कामभोगबंधानां कथा कामभोगबंध कथा यतः पूर्वोक्तप्रकारेण श्रुतपरिचितानुभूता भवति ततो न दुर्लभा किंतु सुलभैव । **एयत्तस्स** एकत्वस्य सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैक्यपरिणतिरूपनिर्विकल्पसमाधिबलेन स्वसंवेद्यशुद्धात्मस्वरूपस्य तस्यैकत्वस्य **उवलंभो** उपलंभः प्राप्तिर्लाभः **णवरि** केवलं अथवा नवरि किंतु **ण सुलभो** नैव सुलभः कथंभूतस्यैकत्वस्य **विभित्तस्स** विभक्तस्य रागादिरहितस्य । कथं न सुलभ इति चेत् श्रुतपरिचितानुभूतत्वाभावादिति ।। ४ ।। अथ यस्मादेकत्वं सुलभं न भवति तस्मात्तदेव कथ्यते—

टीका-(सुदा) अनन्तबार सुनी गई है (परिचिदा) अनन्तबार परिचय में आई है (अणुभूदा) अनन्त ही बार अनुभव में भी आई है (सव्वस्स वि) सब ही संसारी जीवों के (काम भोग बंध कहा) काम शब्द से स्पर्शन और रसना इन्द्रिय के विषय और भोग शब्द से घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इन्द्रिय के विषय लिए गये हैं । उनके बंध या संबंध की कथा अथवा बंध शब्द के द्वारा प्रकृति, स्थिती, अनुभाग और प्रदेश बंध एवं उसका फल नरनारकादिरूप लिया जा सकता है, इस प्रकार काम भोग और बंध की कथा जो पूर्वोक्त प्रकार से श्रुत परिचित और अनुभूत है इसलिए दुर्लभ नहीं हैं किन्तु सुलभ है । (एयतस्स) परन्तु एकत्व का अर्थात् सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र के साथ एकता को लिए हुए परिणमन रूप जो निर्विकल्प समाधि उसके बल से अपने आपके अनुभव में आने योग्य शुद्धात्मा का स्वरूप है उस एकत्व का (उपलंभो) उपलम्भ संप्राप्ति अर्थात् अपने उपयोग में ले आना (णवरि) वह केवल (ण सुलभो) सुलभ नहीं है (विहत्तस्स) कैसे एकत्व का ? रागादिसे रहित एकत्व का । क्योंकि वह न तो कभी सुना गया न कभी परिचय में आया और न अनुभव में ही लाया गया है ।। ४ ।।

वह सुलभ नहीं है इसलिये उसका कथन आगे किया जा रहा है :—

तं एयत्तविभत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण ।
जदि दाएज्ज पमाणं चुक्किज्ज छलं ण घित्तव्वं

तमेकत्वविभक्तं दर्शयेहमात्मनः स्वविभवेन ।
यदि दर्शयेयं प्रमाणं स्खलितं छलं न गृहीतव्यं ।।५।।

अर्थ—(कुन्दकुन्द आचार्य कहते हैं कि) मैं अपने आपके ज्ञान से उस एकत्व विभक्त का अर्थात् शुद्धात्मा का वर्णन कर बतलाऊंगा । यदि मैं बतला सकूं तो उसे स्वीकार कर लेना और यदि उसमें कहीं चूक जाऊं तो छल ग्रहण नहीं करना ।।५।।

तात्पर्यवृत्तिः—तं तत्पूर्वोक्तं **एयत्तविभत्तं** एकत्वविभक्तं अभेदरत्नत्रयैकपरिणतं मिथ्यात्वरागादिरहितं परमात्मस्वरूपमित्यर्थः । **दाएहं** दर्शयेहं केन **अप्पणो सविहवेण** आत्मनः स्वकीयमिति विभवेन आगमतर्कपरमगुरूपदेशस्वसंवेदनप्रत्यक्षेणेति । **जदि दाएज्ज** यदि दर्शयेयं तदा **पमाणं** स्वसंवेदनज्ञानेन परीक्ष्य प्रमाणीकर्त्तव्यं भवद्भिः । **चुक्किज्ज** यदि च्युतो भवामि **छलं ण घित्तव्वं** तर्हि छलं न ग्राह्यं दुर्जनवदिति ।।५।। अथ कोयं शुद्धात्मेति पृष्टे प्रत्युत्तरं ददाति—

टीका–(तं एयत्त विहत्तं) उस पूर्वोक्त एकत्व विभक्त शुद्धात्माका जो कि अभेद रत्नत्रय के साथ एकमेक होकर रहता है एवं मिथ्यात्व तथा रागादिसे रहित है ऐसे उस परमात्मा के स्वरूपको (दाएहं) दिखलाता हूं (अप्पणो सविहवेण) अपने आप की बुद्धि के वैभव से अर्थात् आगम तर्क और परम गुरुओं के उपदेश के साथ साथ होने वाले स्वसंवेदन प्रत्यक्षके द्वारा । (जदि दाएज्ज) यदि बतला सकूं तो (पमांण) अपने स्वसंवेदन ज्ञान के द्वारा तोलकर हे भव्यो ! आप लोग उसे स्वीकार करना । (चुक्किज्ज) यदि भूल जाऊं तो (छलं ण घेत्तव्वं) दुर्जन के समान उलटा अभिप्राय नहीं ग्रहण कर लेना ।।५।।

विशेषार्थ–आचार्य देव ने इस गाथा में यह बात कही है कि भले आदमी को जो भी बात कहना हो वह आगम परम्परा, युक्ति का बल और परम गुरुओं के आदेश व उपदेश के साथ अपने भी विचार में अच्छी प्रकार तोलकर कहना चाहिए ।

अब शुद्धात्मा कौन हैं ? उसका क्या स्वरूप है ? ऐसा पूछने पर उत्तर देते हैं:—

णवि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणगो दु जो भावो ।
एवं भणंति सुद्धा णादा जो सो दु सो चेव ।। ६ ।।

नापि भवत्यप्रमत्तो न प्रमत्तो ज्ञायकस्तु यो भावः ।
एवं भणंति शुद्धा ज्ञाता यः स तु स चैव ।। ६ ।।

अर्थ— जो प्रमत्त और अप्रमत्त इन दोनों अवस्थाओं से ऊपर उठकर केवल ज्ञायक स्वभाव को ग्रहण किये हुये है वह शुद्धात्मा है ऐसा शुद्धनय के जाननेवाले महापुरुष कहते हैं ।।६।।

तात्पर्यवृत्ति :—णवि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन शुभाशुभपरिणमनाभावान्न भवत्यप्रमत्तः प्रमत्तश्च । प्रमत्तशब्देन मिथ्यादृष्ट्यादिप्रमत्तांतानि षड्गुणस्थानानि, अप्रमत्तशब्देन पुनरप्रमत्ताद्ययोग्यंतान्यष्टगुणस्थानानि गृह्यंते । स कः कर्त्ता **जाणगो दु जो भावो** ज्ञायको ज्ञानस्वरूपो योऽसौ भावः पदार्थः शुद्धात्मा । **एवं भणंति सुद्धा** शुद्धनयावलंबिनः, तर्हि किं भवति **णादा जो सो दु सो चेव** ज्ञाता शुद्धात्मा यः कथ्यते स तु स चैव ज्ञातैवेत्यर्थः ।।६।। इति स्वतंत्रगाथाषट्केन प्रथमस्थलं गतं । अथानंतरं तथाप्रमत्तादिगुणस्थानविकल्पा जीवस्य व्यवहारनयेन विद्यंते शुद्धद्रव्यार्थिकनिश्चयेन न विद्यंते तथा दर्शनज्ञानचारित्रविकल्पोपीत्युपदिशति—

टीका–(णवि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो) शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से जिसमें शुभ और अशुभ रूप परिणमन करने का अभाव होने से जो न तो प्रमत्त ही है और न अप्रमत्त ही है । यहां पर प्रमत्त शब्द से मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से लेकर प्रमत्त विरत गुणस्थान तक ६ गुणस्थान और अप्रमत्त शब्द से अप्रमत्तादि अयोग केवली पर्यन्त ८ गुण स्थान समझने चाहिए इनसे जो अतीत है (जाणगो दु जो भावो) वह केवल ज्ञायक भाव को प्राप्त हुआ ही शुद्धात्मा है । (एवं भणंति सुद्धा) ऐसा शुद्ध नय के जानने वाले कहते हैं (णादा जो सोदु सो चेव) कि उसे ज्ञाता कहो या शुद्धात्मा कहो एक बात है ।। ६ ।।

आगे कहते हैं कि जीव के प्रमत्तादिगुणस्थानों का विकल्प व्यवहार से है, शुद्ध द्रव्यार्थिक निश्चयनय से नहीं उसी प्रकार दर्शन ज्ञान चारित्र का भी विकल्प जानना:—

ववहारेणुवदिस्सदि णाणिस्स चरित्तदंसणं णाणं।
णवि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो ।।७।।

व्यवहारेणोपदिश्यते ज्ञानिनश्चारित्रं दर्शनं ज्ञानं।
नापि ज्ञानं न चारित्रं न दर्शनं ज्ञायकः शुद्धः ।। ७ ।।

अर्थ—व्यवहार नाम अभेद में भेद कर बताने का है। इसके द्वारा ज्ञानी के दर्शन, ज्ञान चारित्र पृथक् पृथक् बताये जाते है। किन्तु ज्ञान दर्शन और चारित्र कोई पृथक् २ न होकर उन सबसे समाविष्ट एक केवल ज्ञायक शुद्धात्मा ही है ।।७।।

तात्पर्यवृत्तिः—**ववहारेण** सद्भूतव्यवहारनयेन **उवदिस्सदि** उपदिश्यते कथ्यते। कस्य **णाणिस्स** ज्ञानिनो जीवस्य। किं **चरित्तदंसणं णाणं** चारित्रदर्शनज्ञानस्वरूपं। **णवि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं** शुद्धनिश्चयनयेन न पुनर्ज्ञानं न चारित्रं न दर्शनं। तर्हि किमस्तीति चेत् **जाणगो** ज्ञायकः शुद्धचैतन्यस्वभावः। **सुद्धो** शुद्ध एव रागादिरहित इति। अयमत्रार्थः—यथा निश्चयनयेनाभेदरूपेणाग्निरेक एव पश्चाद्भेदरूपव्यवहारेण दहतीति दाहकः पचतीति पाचकः प्रकाशं करोतीति प्रकाशकः इति व्युत्पत्त्या विषयभेदेन त्रिधा भिद्यते। तथा जीवोपि निश्चयरूपाभेदनयेन शुद्धचैतन्य-रूपोपि भेदरूपव्यवहारनयेन जानातीति ज्ञानं, पश्यतीति दर्शनं चरतीति चारित्रमिति व्युत्पत्त्या विषयभेदेन त्रिधा भिद्यते इति ।।७।। अथ यदि शुद्धनिश्चयेन जीवस्य दर्शनज्ञानचारित्राणि न संति तर्हि परमार्थएवैको वक्तव्यो न व्यवहार इति चेत्तन्न—

टीका—(ववहारेण) सद्भूत व्यवहारनय से (उवदिस्सदि) कहा जाता है (णाणिस्स) कि ज्ञानी जीव के (चरित्त दसणं णाणं) चारित्र, दर्शन और ज्ञान है जो कि उसके स्वरूप में है। किन्तु (ण वि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं) शुद्ध निश्चय नय से तो न ज्ञान है न चारित्र है और न दर्शन है। तो फिर क्या है? कि (जाणगो) ज्ञायक मात्र है, शुद्ध चैतन्य स्वभाव है (सुद्धो) जो कि रागादि रहित शुद्ध है सार यह है कि जैसे अभेदरूप निश्चयनय से अग्नि एक ही है फिर भी भेदरूप व्यवहार के द्वारा जो दहती अर्थात् जलाती है वह दाहक, पचति अर्थात् पचाती है वह पाचक, जो प्रकाश करती है वह प्रकाशक इस प्रकार की व्युत्पत्ति के द्वारा विषय भेद से वही अग्नि तीन प्रकार भिन्न भिन्न कर बतलाई जाती है, वैसे ही जीव भी अभेदरूप निश्चयनय से तो शुद्ध चैतन्य स्वरूप है फिर भी भेदरूप व्यवहारनय से जो जानता है वह ज्ञान, जो देखता है वह दर्शन और जो आचरण करता है वह चारित्र इस प्रकार व्युत्पत्ति के द्वारा विषय भेद से वह जीव तीन प्रकार भिन्न भिन्न कहा जाता है ।।७।।

विशेषार्थ—यहां गाथा नं. २ में बताया गया था कि जो दर्शन, ज्ञान और चारित्र में स्थित है वह स्वसमय है अर्थात् शुद्ध आत्मा है एकत्व विभक्त है, इस कथन को लेकर शिष्य के मन में जिज्ञासा पैदा हुई कि आपके बताने में ही दर्शन ज्ञान चारित्र के द्वारा उसमें भेद है। इस शंका के निवारण करने के लिए आचार्य देव ने यहां बतलाया है कि वास्तव में तो आत्मा अनंतगुणों का अखण्ड पिंड एक ज्ञायक मात्र है। इसमें जो दर्शन ज्ञान और चारित्र को भिन्न भिन्न कर बतलाया गया है वह सद्भूत व्यवहारनय से बतलाया गया है। सद्भूत व्यवहारनय का काम है कि जो गुण गुणी के साथ अभिन्न होकर रहते हैं उनको भिन्न भिन्न कर बतलाये।

अब शिष्य कहता है कि जब शुद्ध निश्चय नय से दर्शन ज्ञान और चारित्र नाम के गुण जीव से भिन्न नहीं हैं तो फिर उन्हें भिन्न २ क्यों कहा जाता है, एक परमार्थ रूप अखण्ड आत्मा का ही वर्णन करना चाहिए, व्यवहार की (भेद करने की) आवश्यकता ही क्या है इस पर आचार्य उत्तर देते हैं–

जह णवि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणा दु गाहेदुं।
तह ववहारेण विणा परमत्थुवदेसणमसक्कं ॥ ८ ॥

यथा नापि शक्योऽनार्योऽनार्यभाषां विना तु ग्राहयितुं।
तथा व्यवहारेण विना परमार्थोपदेशनमशक्यं ॥ ८॥

अर्थ—जिस प्रकार किसी अनार्य (अनाड़ी) पुरुष को उसकी भाषा में बोले बिना नहीं समझाया जा सकता, उसी प्रकार परमार्थ का उपदेश भी व्यवहार के बिना नहीं हो सकता अर्थात् परमार्थ को समझने समझाने के लिए व्यवहार नय का अवलंबन लिया जाता है ॥ ८ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—जह णवि सक्कं यथा न शक्यः कोसौ **अणज्जो** अनार्यो म्लेच्छः। किं कर्तुं **गाहेदुं** अर्थग्रहणरूपेण संबोधयितुं। कथं **अणज्जभासं विणा** अनार्यभाषा म्लेच्छभाषा तां विना। दृष्टांतो गतः। इदानीं दार्ष्टांतमाह–**तह** तथा **ववहारेण विणा** व्यवहारनयं विना **परमत्थुवदेसणमसक्कं** परमार्थोपदेशनं कर्तुमशक्यं इति। अयमत्राभिप्रायः। यथा कश्चिद्ब्राह्मणो यतिर्वा म्लेच्छपल्ल्यां गतः तेन नमस्कारे कृते सति ब्राह्मणेन यतिना वा स्वस्तीति भणिते स्वस्त्यर्थमविनश्वरत्वमजानन्सन् निरीक्ष्यते मेष इव। तथायमज्ञानिजनोप्यात्मेतिभणिते सत्यात्मशब्दस्यार्थमजानन्सन् भ्रांत्या निरीक्ष्यत एव। यदा पुनर्निश्चयव्यवहारज्ञपुरुषेण सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि जीवशब्दस्यार्थं इति कथ्यते तदा संतुष्टो भूत्वा जानातीति। एवं भेदाभेदरत्नत्रयव्याख्यानमुख्यतया गाथाद्वयेन द्वितीयं स्थलं गतं ॥८॥ अथ पूर्वगाथायां भणितव्यवहारेण परमार्थो ज्ञायते ततस्तमेवार्थं कथयति—

टीका–(जहअणज्जो) जैसे कि अनार्य पुरुष को (अणज्जभासं विणा) अनार्य भाषा या म्लेच्छ भाषा में बोले बिना (गाहेदुं णविसक्कं) अर्थ ग्रहण नहीं कराया जा सकता। यह तो दृष्टांत हुआ, अब दार्ष्टांत पर आते हैं। (तह ववहारेण विणा) उसी प्रकार व्यवहार नय के बिना (परमत्थुवदेसणमसक्कं) परमार्थ का उपदेश नहीं किया जा सकता। यहां यह अभिप्राय है कि कोई ब्राह्मण अथवा यति म्लेच्छों की बस्ती में चला गया, वहां किसी म्लेच्छ ने जब उन्हें नमस्कार किया तब उस ब्राह्मण या यति ने उसे 'स्वस्ति' इस प्रकार आशीर्वाद दिया तो 'स्वस्ति' का अर्थ जो "नहीं नष्ट होना है" उसको नहीं जानने के कारण वह मेंढे के समान इधर उधर देखता है कि ये क्या कह रहे हैं उसी प्रकार यह अज्ञानी (व्यवहारी) प्राणी 'आत्मा' इस प्रकार कहने पर आत्मा शब्द का क्या अर्थ है इसको न जानता हुआ भ्रम में पड़कर इधर उधर देखने लगता है कि ये क्या कह रहे हैं। किन्तु जब किसी निश्चय और व्यवहार इन दोनों के अर्थ को जानने वाले पुरुष से सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र यह जीव शब्द का अर्थ है ऐसा समझाया जाने पर वह संतुष्ट होकर समझ जाता है ॥८॥

इस प्रकार दो गाथाओं द्वारा भेद अभेद रत्नत्रय की मुख्यता से दूसरा स्थल पूर्ण हुआ।

विशेषार्थ–आचार्यदेव ने यहां व्यवहार नय की उपयोगिता बतलाई है कि व्यवहार के बिना निश्चय का कथन नहीं किया जा सकता और न उसे समझाया जा सकता है। अतः निश्चय को समझने के लिए व्यवहार का उपदेश परमावश्यक है। इसके साथ यह भी बतलाया है कि उस व्यवहार नय का उपदेश देने के अधिकारी भी मुनि हैं जो कि निश्चय और व्यवहार इन दोनों नयों के तत्व को जानने वाले हैं।

अब जैसा पूर्व गाथा में कहा गया है कि व्यवहार नय के बिना परमार्थ नहीं जाना जा सकता है उसी के अर्थ को दृढ़ करने के लिए कहते हैं—

जो हि सुदेणभिगच्छदि अप्पाणमिणं तु केवलं सुद्धं ।
तं सुदकेवलिमिसिणो भणंति लोगप्पदीवयरा ।। ९ ।।
जो सुदणाणं सव्वं जाणदि सुदकेवलिं तमाहु जिणा ।
णाणं अप्पा सव्वं जह्मा सुदकेवली तह्मा ।। १० ।।

यो हि श्रुतेनाभिगच्छति आत्मानमिमं तु केवलं शुद्धं ।
तं श्रुतकेवलिनमृषयो भणंति लोकप्रदीपकराः ।। ९ ।।
यः श्रुतज्ञानं सर्वं जानाति श्रुतकेवलिनं तमाहुर्जिनाः ।
ज्ञानमात्मा सर्वं यस्माच्छ्रुतकेवली तस्मात् ।। १० ।।

अर्थ—जो द्वादशांग श्रुतज्ञान के द्वारा केवल अपनी शुद्ध आत्मा को अपने अनुभव में लाता है उसे सर्वज्ञ भगवान निश्चयश्रुतकेवली कहते हैं। और उसी श्रुतज्ञान के द्वारा जो सम्पूर्ण पदार्थों को जानता है उसे जिन भगवान द्रव्य श्रुतकेवली कहते हैं ।।९-१०।।

तात्पर्यवृत्तिः—जो यः कर्त्ता **हि** स्फुटं **सुदेण** भावश्रुतेन स्वसंवेदनज्ञानेन निर्विकल्पसमाधिना करणभूतेन **अभिगच्छदि** अभि समंताज्जानात्यनुभवति कं **अप्पाणं** आत्मानं **इणं** इमं प्रत्यक्षीभूतं **तु** पुनः किं विशिष्टं **केवलं** असहायं **सुद्धं** रागादिरहितं **तं** पुरुषं **सुदकेवलिं** निश्चयश्रुतकेवलिनं **इसिणो** परम ऋषय **भणंति** कथयंति **लोगप्पदीवयरा** लोकप्रदीपकराः लोकप्रकाशका इति । अनया गाथया निश्चयश्रुतकेवलिलक्षणं । अथ **जो सुदणाण मित्यादि जो** यः कर्त्ता **सुदणाणं** द्वादशांगद्रव्यश्रुतं **सव्वं** सर्वं परिपूर्णं **जाणदि** जानाति **सुदकेवलिं** व्यवहार-श्रुतकेवलिनं **तमाहुर्जिणा** तं पुरुषं आहुः ब्रुवंति के ते जिनाः सर्वज्ञाः । कस्मादिति चेत् **जह्मा** यस्मात्कारणात् **सुदणाणं** द्रव्यश्रुताधारेणोत्पन्नं भावश्रुतज्ञानं **आदा** आत्मा भवति कथंभूतं **सव्वं** आत्मसंवित्तिविषयं परपरिच्छित्ति-विषयं वा **तह्मा** तस्मात्कारणात् **सुदकेवली** द्रव्यश्रुतकेवली स भवतीति । अयमत्रार्थः- यो भावश्रुतरूपेण स्वसंवेदन-ज्ञानेन शुद्धात्मानं जानाति स निश्चयश्रुतकेवली भवति । यस्तु स्वशुद्धात्मानं न संवेदयति न भावयति बहिर्विषयं द्रव्यश्रुतार्थं जानाति स व्यवहारश्रुतकेवली भवतीति । ननु तर्हि स्वसंवेदनज्ञानबलेनास्मिन् कालेपि श्रुतकेवली भवति तन्न यादृशं पूर्वपुरुषाणां शुक्लध्यानरूपस्वसंवेदनज्ञानं तादृशमिदानीं नास्ति किंतु धर्म्यध्यानं योग्यमस्तीत्यर्थः । एवं निश्चयव्यवहारश्रुतकेवलिव्याख्यानरूपेण गाथाद्वयेन तृतीयस्थलं गतं ।।९-१०।। अथ गाथायाः पूर्वार्द्धेन भेदरत्नत्रय-भावनामुत्तरार्द्धेनाभेदरत्नत्रयभावनां च प्रतिपादयति—

टीका-(जोहि सुदेणहिगच्छइ) जो जीव (कर्ता) करणता को प्राप्त हुये निर्विकल्प समाधि रूप स्वसंवेदन ज्ञानात्मक भावश्रुत के द्वारा पूर्णरूप से अपने अनुभव में लाता है (इणं अप्पाणं) इस प्रत्यक्षीभूत अपनी आपकी आत्मा को (केवलं) सहाय रहित (सुद्धं) रागादि से रहित अनुभव में लाता है (तं सुद केवलिं) उस पुरुष को निश्चय श्रुतकेवली (भणंति) कहते हैं। कौन कहते हैं ? (लोगप्प-दीवयरा इसिणो) लोकालोक के प्रकाशक परम ऋषि कहते हैं। इस प्रकार इस गाथा के द्वारा निश्चय श्रुतकेवली का लक्षण कहा गया। (जो सुदणाणं) किन्तु जो पुरुष द्वादशांग द्रव्य श्रुत ज्ञान को (सव्वं) परिपूर्ण रूप (जाणदि) जानता है (तं) उसे (जिणा) जिन भगवान (सुदकेवलिं आहु:) द्रव्य श्रुतकेवली

कहते हैं। (जम्हा) क्योंकि (सुदणाणं) द्रव्य श्रुत के आधार से उत्पन्न हुआ जो भाव श्रुतज्ञान है वह (आदा) आत्मा ही है (सव्वं) जो कि आत्मा की संवित्ति को विषय करनेवाला और परकी परिच्छित्ति को विषय करने वाला होता है (तम्हा) इसलिए (सुदकेवली) वह द्रव्य श्रुतकेवली होता है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि जो भावश्रुत रूप स्वसंवेदन ज्ञान के द्वारा केवल अपनी शुद्ध आत्मा को जानता है वह निश्चय श्रुतकेवली होता है किन्तु जो अपनी शुद्ध आत्मा का अनुभव नहीं कर रहा है न उसकी भावना कर रहा है, केवल बहिर्विषयक द्रव्य श्रुत के विषयभूत पदार्थों को जानता है वह व्यवहार श्रुतकेवली होता है।

इस पर शिष्य प्रश्न करता है कि फिर तो स्वसंवेदनज्ञान के बल से इस काल में भी श्रुतकेवली हो सकता है, ऐसा समझना चाहिए क्या ? इसका समाधान यह है कि नहीं हो सकता क्योंकि जैसा शुक्ल ध्यानात्मक स्वसंवेदनज्ञान पूर्व पुरुषों को होता था वैसा इस समय नहीं होता, किन्तु इस समय तो यथायोग्य धर्म्यध्यान होता है।

इस प्रकार निश्चय और व्यवहार श्रुतकेवली का व्याख्यान करने वाली दो गाथाओं के द्वारा तृतीय स्थल पूर्ण हुआ ॥ ९ १० ॥

अब पूर्वार्द्ध से भेद रत्नत्रय की भावना और उत्तरार्द्ध से अभेद रत्नत्रय की भावना का वर्णन करते हैं–

***णाणह्मि भावणा खलु कादव्वा दंसणे चरित्ते य।**
ते पुण तिण्णिवि आदा तह्मा कुण भावणं आदे ॥११॥

ज्ञाने भावना खलु कर्त्तव्या दर्शने चारित्रे च।
तानि पुनः त्रीण्यपि आत्मा तस्मात् कुरु भावना आत्मनि ॥११॥

अर्थ–ज्ञान में दर्शन में और चारित्र में दृढता से भावना करनी चाहिए किन्तु ये तीनों आत्मा के स्वरूप हैं इसलिए आत्मा की भावना बार बार करनी चाहिए ॥११॥

तात्पर्यवृत्तिः—सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रयभावना खलु स्फुटं कर्त्तव्या भवति। पुनस्त्रीण्यपि निश्चयेनात्मैव यतः कारणात् तस्मात् कुरु भावनां शुद्धात्मनीति ॥११॥ अथ भेदाभेदरत्नत्रयभावनाफलं दर्शयति—

टीका–सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र इन तीनों का पुनः २ अनुचिन्तन अवश्य स्पष्टरूप से करते रहना चाहिए। किन्तु निश्चयनय से ये तीनों आत्म स्वरूप ही हैं इसलिए फिर शुद्धात्मा की भावना भी हे भव्य ! अवश्य करना चाहिए।

अब इस भेदाभेद रत्नत्रय की भावना का फल बतलाते हैं–

***जो आदभावणमिणं णिच्चुवजुत्तो मुणी समाचरदि।**
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण ॥ १२ ॥

यः आत्मभावनामिमां नित्योद्यतः मुनिः समाचरति।
सः सर्वदुःखमोक्षं प्राप्नोत्यचिरेण कालेन ॥ १२ ॥

अर्थ–जो मुनि या तपोधन तत्परता के साथ इस आत्मभावना को स्वीकार करता है वह सम्पूर्ण दुःखों से थोड़े ही काल में मुक्त हो जाता है।

---

* यह गाथा आत्मख्याति में नहीं है।

तात्पर्यवृत्तिः—यः कर्ता ग्रात्मभावनामिमां नित्योद्यतः सन् मुनिः तपोधनः समाचरति सम्यगाचरति भावयति स सर्वदुःखमोक्षं प्राप्नोत्यचिरेण स्तोककालेनेत्यर्थः। इति निश्चयव्यवहाररत्नत्रयभावनाभावनाफलव्याख्यानरूपेण गाथाद्वयेन चतुर्थस्थलं गतं। अथ यथा कोपि ब्राह्मणादिविशिष्टोजनो म्लेच्छप्रतिबोधनकाले एव म्लेच्छभाषां ब्रूते न च शेषकाले तथैव ज्ञानिपुरुषोप्यज्ञानिप्रतिबोधनकाले व्यवहारमाश्रयति न च शेषकाले ॥१२॥ कस्मादभूतार्थत्वादिति प्रकाशयति—

टीका—इस तात्पर्यवृत्ति का अर्थ मूल गाथा में ग्राचुका है। इस प्रकार निश्चय ग्रौर व्यवहार रत्नत्रय की भावना का फल बतलाते हुए दो गाथाग्रों के द्वारा चौथा स्थल पूर्ण हुग्रा।

ग्रागे कहते हैं कि जिस प्रकार कोइ ब्राह्मण ग्रादि विशिष्ट पुरुष म्लेच्छों को समझाने के समय में ही म्लेच्छ भाषा को बोला करता है ग्रन्य काल में नहीं उसी प्रकार ज्ञानी (संयत) पुरुष भी ग्रज्ञानी (ग्रसंयत) पुरुषों को प्रतिबोध देने के समय में ही व्यवहार का ग्राश्रय लेता है ग्रौर काल में नहीं, क्योंकि व्यवहार ग्रभूतार्थ होता है ऐसा बतलाते हैं:-

ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।
भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो ॥१३॥

व्यवहारोऽभूतार्थो भूतार्थो दर्शितस्तु शुद्धनयः।
भूतार्थमाश्रितिः खलु सम्यग्दृष्टिर्भवति जीवः॥ १३ ॥

ग्रर्थ—व्यवहारनय ग्रभूतार्थ है ग्रर्थात् विशेषता को दृष्टि में रखकर विषमता को पैदा करने वाला है किन्तु शुद्धनय भूतार्थ है क्योंकि वह समता को ग्रपना कर एकत्व को लाता है। समता को ग्रपनाकरही सम्यग्दृष्टि ग्रर्थात् समीचीनतया देखने वाला होता है॥ १३ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—**ववहारो** व्यवहारनयः **ग्रभूदत्थो** ग्रभूतार्थः ग्रसत्यार्थो भवति। **भूदत्थो** भूतार्थः सत्यार्थः **देसिदो** देशितः कथितः **दु** पुनः कोसौ **सुद्धणग्रो** शुद्धनयः निश्चयनयः। तर्हि केन नयेन सम्यग्दृष्टिर्भवतीति चेत् **भूदत्थं** भूतार्थं सत्यार्थं निश्चयनयं **ग्रस्सिदो** ग्राश्रितो गतः स्थितः। खलु स्फुटं **सम्मादिट्ठी हवदि जीवो** सम्यग्दृष्टिर्भवति जीव इति टीकाव्याख्यानं। द्वितीयव्याख्यानेन पुनः **ववहारो ग्रभूदत्थो** व्यवहारोऽभूतार्थो **भूदत्थो** भूतार्थश्च **देसिदो** देशितः कथितः। न केवलं व्यवहारो देशितः **सुद्धणग्रो** शुद्धनिश्चयनयोपि दु शब्दादयं शुद्धनिश्चयनयोपीतिव्याख्यानेन भूताभूतार्थभेदेन व्यवहारोपि द्विधा शुद्धनिश्चयाशुद्धनिश्चयभेदेन निश्चयनयोपि द्विधा इति नयचतुष्टयं। इदमत्र तात्पर्यं यथा कोपि ग्राम्यजनः सकर्दमं नीरं पिबति नागरिकः पुनः विवेकीजनः कतकफलं निक्षिप्य निर्मलोदकं पिबति। तथा स्वसंवेदनरूपभेदभावनाशून्यजनो मिथ्यात्वरागादिविभावपरिणामसहितमात्मानमनुभवति सद्दृष्टिजनः पुनरभेदरत्नत्रयलक्षणनिर्विकल्पसमाधिबलेन कतकफलस्थानीयं निश्चयनयमाश्रित्य शुद्धात्मानमनुभवतीत्यर्थः ॥१३॥ ग्रथ पूर्वगाथायां भणितं भूतार्थनयाश्रितो जीवः सम्यग्दृष्टिर्भवति। ग्रत्र तु न केवलं भूतार्थो निश्चयनयो निर्विकल्पसमाधिरतानां प्रयोजनवान् भवति। किंतु निर्विकल्पसमाधिरहितानां पुनः षोडषवर्णिकासुवर्णलाभाभावे ग्रधस्तनवर्णिकासुवर्णलाभवत्केषांचित्प्राथमिकानां कदाचित् सविकल्पावस्थायां मिथ्यात्वविषयकषायदुर्ध्यानिवंचनार्थं व्यवहारनयोपि प्रयोजनवान् भवतीति प्रतिपादयति—

टीका-(ववहारो) व्यवहारनय (ग्रभूदत्थो) ग्रभूतार्थ ग्रर्थात् ग्रसत्यार्थ है (भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणग्रो) किन्तु शुद्ध निश्चय नय भूतार्थ ग्रर्थात् सत्यार्थ कहा गया है। इन दोनों नयों में किसका ग्राश्रय लेकर सम्यग्दृष्टि होता है? इसका समाधान करते हैं कि (भूदत्थं) भूतार्थ ग्रर्थात् सत्यार्थरूप

जो निश्चयनय है उसको (अस्सिदो) आश्रय लेकर उसमें पूर्ण रूप से स्थित होकर (सम्मादिट्ठी हवदि जीवो) यह जीव सम्यग्दृष्टि होता है इस प्रकार टीकाकार (अमृतचन्द्राचार्य) का एक व्याख्यान है। अब दूसरा व्याख्यान करते हैं। (ववहारो अभूदत्थो भूदत्थो देसिदो) व्यवहार नय अभूतार्थ भी है और भूतार्थ भी है ऐसे दो प्रकार का कहा गया है अब केवल व्यवहारनय ही दो प्रकार का नहीं किन्तु (सुद्धरणओ) निश्चयनय भी शुद्धनिश्चयनय और अशुद्धनिश्चयनय के भेद से दो प्रकार है ऐसा गाथा में आये हुए 'दु' शब्द से प्रगट होता है।

यहां यह तात्पर्य है कि जैसे कोई ग्रामीण पुरुष तो कीचड़ सहित तालाब आदि का जल पीलेता है किन्तु नागरिक विवेकी पुरुष तो उसमें कतकफल निर्मली डालकर उसे निर्मल बनाकर पीता है उसी प्रकार स्वसंवेदन ज्ञानरूप भेदभावना से रहित जो मनुष्य है वह तो मिथ्यात्व और रागादिरूप विभाव परिणाम सहित ही आत्मा का अनुभव करता है किन्तु जो सम्यग्दृष्टि (संयत) मनुष्य होता है वह तो अभेद रत्नत्रय लक्षण निर्विकल्पसमाधि के बल से कतक स्थानीय निश्चयनय का आश्रय लेकर शुद्धात्माका अनुभव करता है ॥१३॥

विशेषार्थ–यहां तात्पर्यवृत्ति कारने है इस गाथा का अर्थ दो प्रकार से किया। एक तो यह कि व्यवहारनय तो अभूतार्थ है और निश्चयनय भूतार्थ है जो कि अमृतचन्द्र आचार्य द्वारा भी सम्मत है किन्तु इन्हीं आचार्य ने गाथा के 'दु' शब्द को लेकर दूसरी प्रकार से भी अर्थ किया है कि व्यवहारनय भूतार्थ व अभूतार्थ के भेद से दो प्रकार है उसी प्रकार निश्चयनय भी शुद्ध निश्चयनय व अशुद्ध निश्चयनय के भेद से दो प्रकार है उसमें भूतार्थ को आश्रय करने वाला सम्यग्दृष्टि होता है।

यहां पर भूतार्थ शब्द का अर्थ सत्यार्थ व अभूतार्थ का अर्थ असत्यार्थ किया है किन्तु यहां पर असत्यार्थ का अर्थ सर्वथा निस्सार नहीं लेना चाहिये, किन्तु 'अ' का अर्थ ईषत् लेकर व्यवहारनय अभूतार्थ अर्थात् तात्कालिक प्रयोजनवान है ऐसा लेना चाहिये जैसा कि स्वयं जयसेनाचार्य ने भी अपने तात्पर्यार्थ में बतलाया है।

किंच भूत शब्द का अर्थ संस्कृत भाषा के विश्वलोचन कोश में जिस प्रकार सत्य बतलाया है उसी प्रकार उसका अर्थ 'सम' भी बतलाया है। अतः भूतार्थ का अर्थ जब कि सम होता है अर्थात् सामान्य धर्म को स्वीकार करने वाला है तो अभूतार्थ का अर्थ विषम अर्थात् विशेषता को कहने वाला अपने आप हो जाता है। इस प्रकार व्यवहारनय अर्थात् पर्यायार्थिकनय और निश्चयनय अर्थात् द्रव्यार्थिक नय इस प्रकार का अर्थ अनायास ही निकल जाता है जो कि इतर आचार्यों के द्वारा सर्व सम्मत है, और फिर निश्चयनय को स्वीकार कर लेने पर ही सम्यग्दृष्टि होता है यह बात भी कुन्दकुन्दाचार्य की सर्वथा ठीक बैठती है क्योंकि जब तक यह जीव जिस पर्याय में जाता है उस पर्यायरूप ही अपने आपको (पशु होने पर पशु मनुष्य होने पर मनुष्य इत्यादि) मानता रहता है किन्तु जब अपने आपको पशु या मनुष्य इत्यादि रूप ही न मानकर सदा शाश्वत रहने वाला ज्ञान का धारक आत्मा मानने लगता है तब ही सम्यग्दृष्टि होता है ॥१३॥

उत्थानिका:–यहां इस पूर्वोक्त गाथा में कहा गया है कि भूतार्थ नय को आश्रय लेकर ही सम्यग्दृष्टि होता है किन्तु इस गाथा में स्पष्टीकरण करते हैं कि निर्विकल्प समाधि में निरत होकर रहने वाले सम्यग्दृष्टियों को भूतार्थ स्वरूप निश्चयनय ही प्रयोजनवान हो ऐसा नहीं है परन्तु उन्हीं निर्विकल्प समाधिरतों को किन्हीं २ को कभी सविकल्प अवस्था में मिथ्यात्व विषय कषायरूप दुर्ध्यान को दूर करने के लिये व्यवहारनय भी प्रयोजनवान होता है जैसे किसी

को शुद्ध सोलहवानी के सुवर्ण का लाभ न हो तो नीचे के ही अर्थात् पन्द्रह चौदह वानी का सोना भी सम्मत समझा जाता है ऐसा कहते हैं—

सुद्धो सुद्धादेसो णायव्वो परमभावदरिसीहिं ।
ववहार देसिदो पुण जे दु अपरमे ट्ठिदाभावे ॥१४॥

शुद्धः शुद्धादेशो ज्ञातव्यः परमभावदर्शिभिः ।
व्यवहार देशितः पुनः ये त्वपरमे स्थिता भावे ॥१४॥

अर्थ—शुद्ध निश्चयनय शुद्ध द्रव्य का कथन करने वाला है, वह परमशुद्धात्मा की भावना में लगे हुये पुरुषों के द्वारा अङ्गीकार करने योग्य है। परन्तु जो पुरुष अशुद्ध व नीचे की अवस्था में स्थित हैं उनके लिये व्यवहारनय ही कार्यकारी है ॥१४॥

तात्पर्यवृत्तिः—सुद्धो शुद्धनयः निश्चयनयः कथंभूतः **सुद्धादेसो** शुद्धद्रव्यस्यादेशः कथनं यत्र स भवति शुद्धादेशः । **णादव्वो** ज्ञातव्यः भावयितव्यः कैः **परमभावदरसीहिं** शुद्धात्मभावदर्शिभिः । कस्मादिति चेत् यतः षोडशवर्णिकाकार्तस्वरलाभवदभेदरत्नत्रयस्वरूपसमाधिकाले सप्रयोजनो भवति । निःप्रयोजनो न भवतीत्यर्थः । **ववहारदेसिदो** व्यवहारेण विकल्पेन भेदेन पर्यायेण दर्शितः कथित इति व्यवहारदेशितो व्यवहारनयः **पुण** पुनः अधस्तनवर्णिकसुवर्णलाभवत्प्रयोजनवान् भवति । केषां **जे** ये पुरुषाः **दु** पुनः **अपरमे** अशुद्धे असंयतसम्यग्दृष्ट्यपेक्षया श्रावकापेक्षया वा सरागसम्यग्दृष्टिलक्षणे शुभोपयोग प्रमत्ताप्रमत्तसंयतापेक्षया च भेदरत्नत्रयलक्षणे वा **ठिदा** स्थिताः कस्मिन् स्थिताः ? **भावे** जीवपदार्थे तेषामिति भावार्थः ॥ एवं निश्चयव्यवहारनयव्याख्यानप्रतिपादनरूपेण गाथाद्वयेन पंचमं स्थलं गतं ॥

टीका-(सुद्धोसुद्धादेसो) शुद्ध निश्चयनय शुद्ध द्रव्य का कथन करने वाला है (णादव्वो परमभाव दरसीहिं) वह शुद्धता को प्राप्त हुये आत्मदर्शियों के द्वारा जानने भावने अर्थात् अनुभव करने योग्य है। क्योंकि वह सोलह वानी स्वर्ण के समान अभेद रत्नत्रय स्वरूप समाधिकाल में प्रयोजनवान होता है। (ववहार देसिदो) किन्तु व्यवहार अथात् विकल्प, भेद अथवा पर्याय के द्वारा कहा गया जो व्यवहारनय है वह (पुण) पन्द्रह चौदह आदि वानी के स्वर्ण लाभ के समान उन लोगों के लिये प्रयोजनवान है (जेदु) जो लोग (अपरमे ट्ठिदा भावे) अशुद्ध रूप शुभोपयोग में, जो कि असंयत सम्यग्दृष्टि अथवा श्रावक की अपेक्षा तो सराग सम्यग्दृष्टि लक्षणवाला है और प्रमत्त अप्रमत्त संयत लोगों की अपेक्षा भेद रत्नत्रय लक्षणवाला है ऐसे शुभोपयोग रूप जीव पदार्थ में स्थित हैं ॥१४॥

इस प्रकार निश्चयनय व व्यवहारनय का व्याख्यान-प्रतिपादन करते हुये दो गाथाओं में पंचम स्थल पूर्ण हुआ। यहां तक १४ गाथाओं द्वारा पांच स्थलों में पीठिका पूर्ण हुई।

विशेषार्थ—आचार्य के कथन का तात्पर्य यह है कि संयत मनुष्य जब अभेदात्मक परम समाधि में तल्लीन होकर रहता है उस समय वह शुद्ध निश्चयनय का आश्रय करने वाला है किन्तु उससे नीची अवस्था में क्या संयत क्या संयतासंयत और क्या असंयत सम्यग्दृष्टि ये सभी व्यवहारनय में प्रवृत्त रहते हैं उसके बिना उनका निर्वाह नहीं हो सकता। एवं क्षयोपशम ज्ञानका धारी संयमी मनुष्य भी जब तक समाधि में स्थिर है तब तक वह शुद्धोपयोगी है किन्तु इतर काल में वह शुभोपयोगी होता है पर संयतासंयत और असंयत सम्यग्दृष्टि तो शुभोपयोगी ही होते हैं क्योंकि उनकी तो शुद्धोपयोग तक पहुँच भी नहीं है।

इति चतुर्दशगाथाभिः स्थलपंचकेन पीठिका समाप्ता ॥

(१) जीवाधिकार (प्रथमाधिकार)

अथ कश्चिदासन्नभव्यः पीठिकाव्याख्यानमात्रेणैव हेयोपादेयतत्वं परिज्ञाय विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावं निजस्वरूपं भावयति । विस्तररुचिः पुनर्नवभिरधिकारैः समयसारं ज्ञात्वा पश्चाद्भावनां करोति तद्यथा—विस्तररुचिशिष्यं प्रति जीवादिनवपदार्थाधिकारैः समयसारव्याख्यानं क्रियते । तत्रादौ नवपदार्थाधिकारगाथाया आर्त्तरौद्रपरित्यागलक्षणनिर्विकल्पसामायिकस्थितानां यच्छुद्धात्मरूपस्य दर्शनमनुभवनमवलोकनमुपलब्धिः संवित्तिः प्रतीतिः ख्यातिरनुभूतिस्तदेव निश्चयनयेन निश्चयचारित्राविनाभावि निश्चयसम्यक्त्वं वीतरागसम्यक्त्वं भण्यते । तदेव च गुणगुण्यभेदरूपनिश्चयनयेन शुद्धात्मस्वरूपं भवतीत्येका पातनिका । अथवा नवपदार्था भूतार्थेन ज्ञाताः संतस्तएव भेदोपचारेण सम्यक्त्वविषयत्वाद्व्यवहारसम्यक्त्वनिमित्तं भवंति निश्चयनयेन तु स्वकीयशुद्धपरिणाम एव सम्यक्त्वमिति द्वितीया चेति पातनिकाद्वयं मनसि धृत्वा सूत्रमिदं प्ररूपयति ।

कोई आसन्न भव्य जीव इस पीठिका मात्र व्याख्यान से हेय उपादेय तत्वको जानकर विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभाववाले अपने स्वरूप को प्राप्त हो जाता है अर्थात् उसमें तल्लीन रहता है किन्तु विस्तार रुचि-वाला जीव नव अधिकारों से प्रस्तुत किये जाने वाले समयसार को जानकर फिर आत्म भावना करता है इसलिये विस्तार रुचि शिष्य को लक्ष्य में रखकर जीवादि नव अधिकारों से समयसार का व्याख्यान किया जाता है । वहां पर सबसे पहले नव पदार्थ के अधिकार रूप जो गाथा है उस गाथा में आर्त्त रौद्र का त्याग कर देना है लक्षण जिसका ऐसे निर्विकल्प समाधि में स्थित रहने वाले जो जीव हैं उनको जो शुद्धात्मा के स्वरूप का दर्शन है, अनुभवन है, अवलोकन है, उपलब्धि है, संवित्ति है, प्रतीति है, ख्याति है, अनुभूति है वही निश्चयनय से निश्चय सम्यक्त्व या वीतराग सम्यक्त्व कहा जाता है जो निश्चय चारित्र के साथ अविनाभाव रखता है अर्थात् उसे (वीतराग चारित्र को) साथ में लिये हुये रहता है । और वही गुण गुणी में अभेदरूप जो निश्चयनय है उससे शुद्धात्मा का स्वरूप कहा जाता है इस प्रकार एक उत्थानिका हुई । अथवा जीवादि नव पदार्थ, जब भूतार्थनय से जाने जाते हैं तब ये ही अभेद उपचारनय से सम्यक्त्व के विषय होने के कारण व्यवहार सम्यक्त्व के निमित्त होते हैं । निश्चयनय से अपने शुद्धात्मा का परिणाम ही सम्यक्त्व है यह दूसरी पातनिका है । इस प्रकार दोनों पातनिकाओं को मनमें रखकर आगे का सूत्र कहते हैं—

भूदत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च ।
आसव संवर णिज्जर, बंधो मोक्खो य सम्मत्तं ।।१५।।

भूतार्थेनाऽभिगता जीवाऽजीवौ च पुण्यपापं च ।
आस्रव संवर निर्जरा बंधो मोक्षश्च सम्यक्त्वम् ।।१५।।

अर्थ—निश्चयनय से निर्णय किये हुये जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव संवर निर्जरा बंध और मोक्ष ये नव पदार्थ सम्यक्त्व कहे जाते हैं ।।१५।।

तात्पर्यवृत्तिः—भूदत्थेण भूतार्थेन निश्चयनयेन शुद्धनयेन **अभिगदा** अभिगता निर्णीता निश्चिता ज्ञाताः संतः के ते **जीवाजीवा य पुण्णपावं च आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य** जीवाजीवपुण्यपापास्रवसंवरनिर्जरा-बंधमोक्षस्वरूपा नव पदार्थाः **सम्मत्तं** तएवाभेदोपचारेण सम्यक्त्वविषयत्वात्कारणत्वात्सम्यक्त्वं भवंति। निश्चयेन परिणाम एव सम्यक्त्वमिति। नव पदार्थाः भूतार्थेन ज्ञाताः संतः सम्यक्त्वं भवंतीत्युक्तं भवद्भिस्तत्कीदृशं भूतार्थपरि-ज्ञानमिति पृष्टे प्रत्युत्तरमाह। यद्यपि नव पदार्थाः तीर्थवर्त्तनानिमित्तं प्राथमिकशिक्षापेक्षया भूतार्था भण्यंते तथाप्य-भेदरत्नत्रयलक्षणनिर्विकल्पसमाधिकाले अभूतार्था असत्यार्था शुद्धात्मस्वरूपं न भवंति। तस्मिन् परमसमाधिकाले नव-पदार्थमध्ये शुद्धनिश्चयनयेनैक एव शुद्धात्मा प्रद्योतते प्रकाशते प्रतीयते अनुभूयत इति। या चानुभूतिः प्रतीतिः शुद्धात्मो-पलब्धिः सा चैव निश्चयसम्यक्त्वमिति सा चैवानुभूतिर्गुणगुणिनोर्निश्चयनयेनाभेदविवक्षायां शुद्धात्मस्वरूपमिति तात्पर्यं। किं च ये च प्रमाणनयनिक्षेपाः परमादितत्त्वविचारकाले सहकारिकारणभूतास्तेपि सविकल्पावस्थायामेव भूतार्थाः। परमसमाधिकाले पुनरभूतार्थास्तेषु मध्ये भूतार्थेन शुद्धजीव एक एव प्रतीयत इति नवपदार्थाधिकारगाथा गता।

तत्र नवाधिकारेषु मध्ये प्रथमतस्तावदष्टाविंशतिगाथापर्यंतं जीवाधिकारः कथ्यते। तथा हि—सहजानंदैकस्वभाव-शुद्धात्मभावनामुख्यतया **जो पस्सदि अप्पाणं**मित्यादि सूत्रपाठक्रमेण प्रथमस्थलेगाथात्रयं। तदनंतरं दृष्टांतदार्ष्टांतद्वारेण भेदाभेदरत्नत्रयभावनामुख्यतया **दंसणणाणचरित्ताणि** इत्यादि द्वितीयस्थले गाथात्रयं। ततः परं जीवस्याप्रतिबुद्धत्व-कथनेन प्रथमगाथा, बंधमोक्षयोग्यपरिणामकथनेन द्वितीया, जीवो निश्चयेन रागादिपरिणामानामेव कर्त्तेति तृतीया, चेत्येवं **कम्मेणोकम्मा हि य** इत्यादि तृतीयस्थले परस्परसंबंधनिरपेक्षस्वतंत्रगाथात्रयं। तदनंतरमग्निनाग्निदृष्टांतेना-प्रतिबुद्धलक्षणकथनार्थं **अहमेदमित्यादि** चतुर्थस्थले सूत्रत्रयं। अतः परं शुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुभूतिलक्षणा-भेदरत्नत्रयभावनाविषये योऽसावप्रतिबुद्धस्तत्प्रतिबोधनार्थं **अण्णाणमोहिदमदी** इत्यादि पंचमस्थले सूत्रत्रयं। अथ निश्चयरत्नत्रयलक्षणशुद्धात्मतत्त्वमजानन् देहएवात्मेति योऽसौ पूर्वपक्षं करोति तस्य स्वरूपकथनार्थं **जदि जीवो** इत्यादि पूर्वपक्षरूपेण गाथैका। तदनंतरं व्यवहारेण देहस्तवनं निश्चयेन शुद्धात्मस्तवनमिति नयद्वयविभागप्रतिपादनमुख्यत्वेन **ववहारणओ भासदि** इत्यादि परिहारसूत्रचतुष्टयं। अथ परमोपेक्षालक्षणशुद्धात्मसंवित्तिरूपनिश्चयस्तुतिमुख्यत्वेन **जो इंदिए जिणित्ता** इत्यादि सूत्रत्रयं। एवं गाथाष्टकसमुदायेन षष्ठस्थलं। ततः परं निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानमेव विषयकषायादिपरद्रव्याणां प्रत्याख्यानमिति कथनेन, **णाणं सव्वे भावा** इत्यादि सप्तमस्थले गाथाचतुष्टयं। तदनंतर-मनंतज्ञानादिलक्षणशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपाभेदरत्नत्रयात्मकस्वसंवेदनमेव भावितात्मनः स्वरूपमित्युपसंहार-मुख्यतया **अहमेक्को खलु सुद्धो** इत्यादि सूत्रमेकं। एवं दंडकान्विहायाष्टाविंशतिसूत्रैः सप्तभिरंतरस्थलैर्जीवाधिकारे समुदायपातनिका तद्यथा—अथ प्रथमगाथायामबंधस्पृष्टमनन्यकं नियतमविशेषमसंयुक्तं संसारावस्थायामपि शुद्धनयेन बिसिनीपत्रमृत्तिकावार्द्धिसुवर्णोष्णरहितजलवत्पंचविशेषणविशिष्टं शुद्धात्मानं कथयतिः—

टीका— (भूदत्थेण) भूतार्थरूप निश्चयनय शुद्धनय के द्वारा (अभिगदा) निर्णय किये हुये, निश्चय किये हुये, जाने हुये (जीवाजीवा य पुण्ण पावं च आसव संवर णिज्जर बंधो मोक्खो य) जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध, और मोक्ष स्वरूप जो नव पदार्थ हैं वे ही (सम्मत्तं) अभेद उपचार के द्वारा सम्यक्त्व के विषय होने से सम्यक्त्व हैं, किन्तु अभेदरूप निश्चयनय से देखें तब तो आत्मा का परिणाम ही सम्यक्त्व है। अब शिष्य कहता है कि भूतार्थनय के द्वारा जाने हुये नव पदार्थ सम्यक्त्व होते हैं ऐसा जो आपने कहा उस भूतार्थ के ज्ञान का क्या स्वरूप है ऐसा पूंछने पर आचार्य उत्तर देते हैं कि तीर्थ की प्रवृत्ति के लिये प्रारंभिक शिष्य की अपेक्षा से नव पदार्थ भूतार्थ कहे जाते हैं। फिर अभेद रत्नत्रय लक्षण निर्विकल्प समाधि के काल में वे अभूतार्थ असत्यार्थ ठहरते हैं, अर्थात् वे शुद्धात्मा के स्वरूप नहीं होते किन्तु इस परम समाधि काल में तो उन नव पदार्थों में शुद्ध निश्चयनय से एक शुद्धात्मा ही झलकता है, प्रकाशित होता है, प्रतीति में आता है, अनुभव किया जाता है, और जो वहां पर वह

अनुभूति, प्रतीति अथवा शुद्धात्मा की उपलब्धि होती है वही निश्चय सम्यक्त्व है। वह अनुभूति ही गुण और गुणी में निश्चयनय से अभेद विवक्षा करने पर शुद्धात्मा का स्वरूप है ऐसा तात्पर्य है। और जो प्रमाण, नय, निक्षेप हैं वे केवल प्रारम्भ में तत्व विचार काल में सम्यक्त्व के सहकारी कारणभूत होते हैं वे भी सविकल्प अवस्था में ही भूतार्थ हैं, परम समाधि काल में तो फिर वे भी अभूतार्थ हो जाते हैं उन सब में भूतार्थरूप से एक शुद्ध जीव ही प्रतीति में आता है ।।१५।।

विशेषार्थ—आचार्य देव के कहने का यहां पर सार यह है कि जीव, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष तथा पुण्य व पाप ये नव तत्व प्रत्येक संसारी आत्मा के साथ लगे हुये हैं। ये सब आत्मा की हो भिन्न २ प्रकार की परिणतियां हैं जो कि प्रारंभिक अवस्था में तो भिन्न २ जानकर स्वीकार की जाती हैं। किन्तु आगे चलकर निर्विकल्प अवस्था में ये सब ओझल होकर केवल एक शुद्धात्मा ही दृष्टि गोचर होता है, स्पष्ट प्रतीति में आता है जो कि उपादेय है।

इस प्रकार ये नव पदार्थों के अधिकार की गाथा हुई। जिन नव अधिकारों में सबसे पहले २८ गाथाओं से जीवाधिकार का वर्णन है वहां पर भी सहजानन्द एक स्वभावरूप शुद्धात्मा की भावना की मुख्यता से जो 'पस्सदि अप्पाणं' इत्यादि सूत्र पाठ के क्रम से प्रथम स्थल में तीन गाथायें हैं, पश्चात् दृष्टांत और दार्ष्टांत से भेदाभेद रत्नत्रय की भावना को मुख्य लेकर 'दंसण णाण चरित्ताणि' इत्यादि तीन गाथायें दूसरे स्थल में हैं, तत्पश्चात् जीव की अप्रतिबुद्धता का कथन करने वाली एक गाथा है तथा बंध मोक्ष के योग्य परिणाम का कथन करने वाली दूसरी गाथा है। और निश्चयनय से जीव रागादि परिणामों का ही कर्त्ता है इस प्रकार का कथन करने वाली तीसरी गाथा है। इस प्रकार 'कम्मे णोकम्मम्हि य' इत्यादि तीसरे स्थल में परस्पर के संबंध से निरपेक्ष तीन स्वतन्त्र गाथायें हैं। फिर इंधन और अग्नि के दृष्टांत द्वारा अप्रतिबुद्ध के लक्षण का कथन करने के लिये 'अहमेदं' इत्यादि चौथे स्थल में तीन गाथायें हैं। इसके पश्चात् पांचवें स्थल में शुद्धात्म तत्व के सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और अनुभूति लक्षण अभेद रत्नत्रय की भावना के विषय में जो जीव अनभिज्ञ है उसको समझाने के लिये 'अण्णाण मोहिदमदी' इत्यादि तीन गाथायें हैं। तत्पश्चात् निश्चय रत्नत्रय स्वरूप शद्धात्म तत्व को नहीं जानता हुवा जीव जो देह को ही आत्मा है देह से भिन्न कोई आत्मा नहीं है इस प्रकार का पक्ष रखता है उसके स्वरूप का कथन करने के लिये 'जदि जीवो' इत्यादि पूर्व पक्ष के रूप में एक गाथा है इसके अनन्तर व्यवहार से (पूज्य पुरुषों की) देहका स्तवन किया जाता है किन्तु निश्चय से तो शुद्धात्मा का ही स्तवन किया जाता है, जो इस प्रकार दोनों नयो में भेद है उसके प्रतिपादन की मुख्यता से 'ववहारणओ भासदि' इत्यादि परिहार स्वरूप चार गाथायें हैं। इसके आगे परम उपेक्षा है लक्षण जिसका ऐसे शुद्धात्मा के संवेदन स्वरूप निश्चय स्तुतिकी मुख्यतासे 'जो इन्दिये जिणित्ता' इत्यादि तीन गाथा हैं। इस प्रकार आठ गाथाओं में छट्ठा स्थल है। इसके पश्चात् सातवें स्थल में निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञान ही विषय कषायादि पर द्रव्यों का प्रत्याख्यान स्वरूप है ऐसा कथन करते हुये 'णाणं सव्वेभावा' इत्यादि चार गाथायें हैं। तत्पश्चात् अनंत ज्ञानादि है लक्षण जिसका ऐसे शुद्धात्मा के सम्यक्श्रद्धान ज्ञान और आचरण रूप जो अभेद रत्नत्रयात्मक स्वसंवेदन ही भावी शुद्धात्मा का स्वरूप है इस प्रकार उपसंहार की मुख्यता से 'अहमिक्को' इत्यादि एक सूत्र गाथा है इस प्रकार दण्डकों के सिवाय २८ सूत्रों से उत्पन्न हुये सात स्थलों से जीवाधिकार की समुदाय पातनिका हुई।

अब पहली गाथा में तो यह बतलाते हैं कि संसार अवस्था में भी शुद्ध नय से आत्मा अबद्ध स्पृष्ट अनन्य,

नियत अविशेष और असंयुक्त इन पांच विशेषणों से युक्त है जैसे कि कमल पत्र, मृत्तिका, समुद्र, स्वर्ण और उष्णता रहित जल होता है इस प्रकार का कथन किया गया है:—

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अण्णयं णियदं ।
अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणीहि ।।१६।।
यः पश्यति आत्मानं, अबद्धस्पृष्टमनन्यकं नियतं ।
अविशेषमसंयुक्तं, तं शुद्धनयं विजानीहि ।।१६।।

अर्थ—जो आत्मा को बंध रहित, परके स्पर्श रहित, अन्यत्व रहित, चलाचल रहित, विशेष रहित और अन्य के संयोग रहित अवलोकन करता है वह शुद्धनय है ।।१६।।

तात्पर्यवृत्तिः—जो पस्सदि यः कर्त्ता पश्यति जानाति ।कं। **अप्पाणं** शुद्धात्मानं ।कथंभूतं। **अबद्धपुट्ठं** द्रव्यकर्मनोकर्मभ्यामसंस्पृष्टं जले विसिनीपत्रवत् ।**अणण्णयं** अनन्यकं नरनारकादिपर्यायेषु द्रव्यरूपेण तमेव थासकोशकुशूलघटादिपर्यायेषु मृत्तिकाद्रव्यवत् **णियदं** नियतमवस्थितं निस्तरंगोत्तरंगावस्थासु समुद्रवत् **अविसेसं** अविशेषमभिन्नं ज्ञानदर्शनादिभेदरहितं गुरुत्वस्निग्धत्वपीतत्वादिधर्मेषु सुवर्णवत् **असंजुत्तं** असंयुक्तमसंबद्धं रागादिविकल्परूपभावकर्मरहितं निश्चयनयेनोष्णरहितजलवदिति **तं सुद्धणयं वियाणीहि** तं पुरुषमेवाभेदनयेन शुद्धनयविषयत्वाच्छुद्धात्मसाधकत्वाच्छुद्धाभिप्रायपरिणतत्वाच्च शुद्धं विजानीहीति भावार्थः । अथ द्वितीयगाथायां या पूर्वं भणिता शुद्धात्मानुभूतिः सा चैव निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानानुभूतिरिति प्रतिपादयतिः—

टीका—(जो पस्सदि अप्पाणं) जो शुद्धात्मा को जानता है, किस प्रकार ? (अबद्धपुट्ठं) जलमें रहकर भी उससे अस्पृष्ट रहने वाले कमल के समान द्रव्यकर्म और नोकर्म से रहित (अणण्णयं) स्थास, कोश, कुशूल, और घटादि पर्यायों में मृत्तिका बनी ही रहतो है वैसे ही नरनारकादि पर्यायों में द्रव्यरूप से आत्मा ही बनी रहती है, (णियदं) निस्तरंग और उत्तरंग (ज्वारभाटा) अवस्था में परिणमता हुआ समुद्र समुद्र ही रहता है उसी प्रकार आत्मा सब अवस्थाओं में अवस्थित रहने वाला है (अविसेसं) जैसे गुरुता, स्निग्धता और पीततादि धर्मों को स्वीकार किये हुये होकर भी स्वर्ण अभिन्न है उसी प्रकार आत्मा ज्ञानदर्शनादि गुणों से अभिन्न है, (असंजुत्तं) जैसे जल वास्तविकता में उष्णता रहित होता है उसी प्रकार आत्मा रागादि विकल्पवाले भावकर्मों से भी रहित है, इस प्रकार जो आत्मा को जानता है (तं सुद्धनयं-वियाणीहि) अभेदनय के द्वारा शुद्धनय का विषय होने से व शुद्धात्मा का साधक होने से और शुद्ध अभिप्राय में परिणत होने से उस पुरुष को ही शुद्धनय समझना चाहिये ।।१६।।

विशेषार्थ—आचार्य देव का कहना है कि जो जीव (संयमी) जिस समय अपने आप को अबद्ध स्पृष्ट आदि पांच भावात्मक अनुभव करता है उस समय वह स्वयं ही शुद्धनय स्वरूप है ।

अब आगे की गाथा में बतलाते हैं कि जो पहले हम शुद्धात्मा की अनुभूति का वर्णन कर आये हैं वह ही निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञान की अनुभूति है:—

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णमविसेसं ।
अपदेससुत्तमज्झं पस्सदि जिणसासणं सव्वं ।।१७।।
यः पश्यति आत्मानं अबद्धस्पृष्टमनन्यमविशेषम्
अपदेशसूत्रमध्यं पश्यति जिनशासनं सर्वम् ।।१७।।

अर्थ—जो आत्मा को अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, अविशेष आदिरूप से अनुभव करता है वह द्रव्यश्रुत भावश्रुतमय द्वादशांगरूप सब जिन शासन का जानकार होता है ॥१७॥

तात्पर्यवृत्तिः—जो पस्सदि यः कर्त्ता पश्यति जानात्यनुभवति। कं **अप्पाणं** शुद्धात्मानं। किं विशिष्टं? **अबद्धपुट्ठं** अबद्धस्पृष्टं। अत्र बंधशब्देन संश्लेषरूपबंधो ग्राह्यः स्पृष्टशब्देन तु संयोगमात्रमिति। द्रव्यकर्मनोकर्मभ्यामसंस्पृष्टं जले विसिनीपत्रवत्। **अणण्णं** अनन्यं मृत्तिकाद्रव्यवत्। **अविसेसं** अविशेषमभिन्नं सुवर्णवत् नियतमवस्थितं समुद्रवत् असंयुक्तं परद्रव्यसंयोगरहितं निश्चयनयेनोष्णरहितजलवदिति। नियतासंयुक्तविशेषणद्वयं सूत्रे नास्ति। कथं लभ्यत इति चेत् सामर्थ्यात्। तदपि कथं, श्रुतप्रकृतसामर्थ्ययुक्तो हि भवति सूत्रार्थः इति वचनात्। स पुरुषः **पस्सदि** पश्यति जानाति किं तत् **जिणसासणं** जिनशासनं अर्थसमयरूपं जिनमतं **सव्वं** सर्वं द्वादशांगपरिपूर्णं। कथंभूतं। **अपदेससुत्तमज्झं** अपदेशसूत्रमध्यं अपदिश्यतेऽर्थो येन स भवत्यपदेशशब्दो द्रव्यश्रुतमिति यावत् सूत्रपरिच्छित्तिरूपं भावश्रुतं ज्ञानसमय इति तेन शब्दसमयेन वाच्यं ज्ञानसमयेन परिच्छेद्यमपदेशसूत्रमध्यं भण्यते इति। अयमत्र भाव :–यथा लवणखिल्य एकरसोपि फलशाकपत्रशाकादिपरद्रव्यसंयोगेन भिन्नभिन्नास्वादः प्रतिभात्यज्ञानिनां। ज्ञानिनां पुनरेकरसएव तथात्माप्यखंडज्ञानस्वभावोऽपि स्पर्शरसगंधशब्दनीलपीतादिवर्णज्ञेयपदार्थविषयभेदेनाज्ञानिनां निर्विकल्पसमाधिभ्रष्टानां खंडखंडज्ञानरूपः प्रतिभाति ज्ञानिनां पुनरखंडकेवलज्ञानस्वरूपमेव इति हेतोरखंडज्ञानरूपे शुद्धात्मनि ज्ञाते सति सर्वं जिनशासनं ज्ञातं भवतीति मत्वा समस्तमिथ्यात्वरागादिपरिहारेण तत्रैव शुद्धात्मनि भावना कर्त्तव्येति। किं च मिथ्यात्वशब्देन दर्शनमोहो रागादिशब्देन चारित्रमोह इति सर्वत्र ज्ञातव्यं। अथ तृतीयगाथायां सम्यग्ज्ञानादिकं सर्वंशुद्धात्मभावनामध्ये लभ्यत इति निरूपयति।

टीका—(जो पस्सदि अप्पाणं) जो शुद्धात्मा को जानता है, अनुभव करता है कि (अबद्धपुट्ठं) आत्मा अबद्धस्पृष्ट है। यहां बंध शब्द से संश्लेष रूप बंध और स्पृष्ट शब्द से संयोग मात्र का ग्रहण है। जो आत्मा द्रव्यकर्म और नोकर्मों से जल में रहने वाले कमल के समान अस्पृष्ट है, (अणण्णं) घटादिक में मिट्टी के समान अपनी पर्यायों में अनन्य होकर रहता है (अविसेसं) कुण्डलादिक में स्वर्ण के समान अभिन्न है, समुद्र के समान नियत है अवस्थित है, निश्चयनय से परद्रव्य के संयोग से रहित है जैसे कि शीतल जल अग्नि के संयोग से रहित है। यहां पर गाथा में नियत और असंयुक्त शब्द यद्यपि नहीं है तो भी सामर्थ्य से ले लिये गये हैं क्योंकि सूत्रार्थ श्रुत और प्रकृत सामर्थ्य से युक्त होता है अर्थात् सूत्रमें नहीं कही हुई बात भी प्रसंग से स्वीकार करली जाती है ऐसी कहावत है। वह (पस्सदि जिणसासणंसव्वं) द्वादशांगरूप सम्पूर्ण अर्थात्मक जिनशासन को जानता है। कैसे जानता है? (अपदेस सुत्तमज्झं) "अपदिश्यते अर्थोयेन"–जिसके द्वारा पदार्थ कहा जाय वह अपदेश है इस प्रकार अपदेश का अर्थ शब्द होता है जिससे कि यहां पर द्रव्यश्रुत को ग्रहण करना और सूत्र शब्द से परिच्छित्तिरूप भावश्रुत जो कि ज्ञानात्मक है उसे ग्रहण करना, इस प्रकार द्रव्यश्रुत के द्वारा वाच्य और भावश्रुत के द्वारा परिच्छेद्य हो वह अपदेश सूत्र मध्य कहा जाता है। इसका भाव यह है कि जिस प्रकार लवण की डली एक खारे रस वाली होती है फिर भी वह अज्ञानियों को फल साग और पत्रसाग आदि परद्रव्य के संयोग से भिन्न भिन्न स्वाद वाली जान पड़ती है, पर ज्ञानियों को तो वह एक खारी रस वाली ही प्रतीत होती है उसी प्रकार आत्मा भी जो कि एक अखण्ड ज्ञान स्वभाव वाली है वह निर्विकल्प समाधि से भ्रष्ट होने वाले अज्ञानियों को तो स्पर्श, रस गंध, शब्द और नील पीतादि वर्णमय ज्ञेय पदार्थ के भेद से खण्ड खण्ड ज्ञानरूप जान पड़ती है, किन्तु जो ज्ञानी (निर्विकल्प समाधि में स्थित) हैं उनको वही आत्मा एक अखण्ड ज्ञानस्वरूप प्रतीत होती है। इस प्रकार अखण्ड ज्ञानस्वरूप शुद्धात्मा के जान लेने पर समस्त जिनशासन जान लिया जाता है, ऐसा समझकर समस्त मिथ्यात्व और रागादि विभाव भावों को दूर

करके उस शुद्धात्मा की ही भावना करना चाहिये। यहां मिथ्यात्व शब्द से दर्शनमोह और रागादि शब्द से चारित्रमोह लिया गया है। ऐसा ही आगे भी जहां ये शब्द आवें तो उनका यही अर्थ लेना।। १७।।

विशेषार्थ:—लूण की डली जब साग इत्यादि में मिलाकर खाते हैं तो अकेले लवण का स्वाद न आकर शाकादि मिश्रित स्वाद आता है किन्तु अकेले लवण की डली खाने वाले को केवल लवण का ही स्वाद आता है उसी प्रकार जो बाहिरी विषय कषायोंमें फंसे हुये हैं व रागादि रूप परिणत हैं उनको केवल शुद्धात्मा का अनुभव कभी भी नहीं होकर रागादि मिश्रित अनुभव ही होता है। किन्तु जो बाहिरी पदार्थों से सर्वथा दूर हटकर निर्विकल्प समाधि में तल्लीन रहते हैं उन्हीं को शुद्धात्मा का अनुभव होता है। यहां पर अज्ञानी शब्द का अर्थ निर्विकल्प समाधि से भ्रष्ट और ज्ञानी शब्द का अर्थ निर्विकल्प समाधि में स्थित लिया गया है। ऐसा ही अन्य स्थान में भी समझना चाहिये।

अब आगे की गाथा में यह कहा जाता है कि शुद्ध आत्मभावना में परिणत होने पर ही अर्थात् समाधि में समाविष्ट होने पर ही सम्यग्ज्ञानादि प्राप्त होते हैं—

❀ आदा खु मज्झ णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य।
आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे ।।१८।।

आत्मा खलु मम ज्ञाने आत्मा मे दर्शने चरित्रे च।
आत्मा प्रत्याख्याने आत्मा मे संवरे योगे ।।१८।।

अर्थ—मेरे दर्शन ज्ञान और चारित्र में तथा प्रत्याख्यान में एवं संवर में और ध्यान के समय में केवल आत्मा ही आत्मा है ऐसा ज्ञानी का विचार होता है।।

तात्पर्यवृत्ति—आदा शुद्धात्मा **खु** स्फुटं **मज्झ** मम भवति **क्व** विषये **णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे** सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्रप्रत्याख्यानसंवरयोगभावनाविषये। योगे कोऽर्थः निर्विकल्पसमाधौ परमसामायिके परमध्याने चेत्येको भावः भोगाकांक्षानिदानबंधशल्यादिभावरहिते शुद्धात्मनि ध्याते सर्वं सम्यग्ज्ञानादिकं लभ्यत इत्यर्थः एवं शुद्धनयव्याख्यानमुख्यत्वेन प्रथमस्थले गाथात्रयं गतं। इत ऊर्ध्वं भेदाभेदरत्नत्रयमुख्यत्वेन गाथात्रयं कथ्यते—तद्यथा—प्रथम गाथायां पूर्वार्द्धेन भेदरत्नत्रयभावनामपरार्द्धेन चाभेदरत्नत्रयभावनां कथयति—

टीका—(आदा खु मज्झ) स्पष्ट रूप से मेरी तो एक शुद्धात्मा है। (णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य आदा पचक्खाणे आदा मे संवरे जोगे) सम्यग्ज्ञान, दर्शन, चारित्र, प्रत्याख्यान, संवर और योग इन सब ही भावनाओं में एक आत्मा ही है। योग का क्या अर्थ है? यहां योग से निर्विकल्प समाधि को लिया गया है जिसको परम सामायिक या परम ध्यान भी कहते हैं। जिस परम समाधि में भोगाकांक्षा निदान, बंध और शल्य आदि भाव से रहित शुद्धात्मा का ध्यान करने पर उपर्युक्त समस्त सम्यग्ज्ञानादि की प्राप्ति होती है। इस प्रकार शुद्धनय के व्याख्यान की मुख्यता से प्रथम स्थल में तीन गाथा हुई।।१८।।

अब भेदाभेदरूप रत्नत्रय की मुख्यता से तीन गाथा कही जा रही हैं उसमें पहली गाथा के पूर्वार्द्ध से भेद रत्नत्रय की भावना को और उत्तरार्द्ध से अभेद रत्नत्रय की भावना को स्पष्ट करते हुए कथन करते हैं—

❀ यह गाथा आत्मख्याति में नहीं है।

दंसणणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं ।
ताणि पुण जाण तिण्णिवी अप्पाणं चेव णिच्छयदो ।।१६।।

दर्शनज्ञानचरित्राणि सेवितव्यानि साधुना नित्यं ।
तानि पुनर्जानीहि त्रीण्यप्यात्मानमेव निश्चयतः ।।१६।।

अर्थ—साधक को अपनी प्रारंभिक अवस्था में दर्शन ज्ञान और चारित्र इन तीनों को भिन्न २ रूप से भली प्रकार समझ कर स्वीकार करना चाहिए किन्तु निश्चयनय को अंगीकार करने पर तो ये तीनों आत्मस्वरूप होते हैं ।।१६।।

तात्पर्यवृत्तिः-दंसणणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि सेवितव्यानि साधुना व्यवहारनयेन नित्यं सर्वकालं **ताणि पुण जाण तिण्णिवि** तानि पुनर्जानीहि त्रीण्यपि **अप्पाणं चेव** शुद्धात्मानं चैव **णिच्छयदो** निश्चयतः शुद्धनिश्चयतः । अयमत्रार्थः-पंचेंद्रियविषयक्रोधकषायादिरहितनिर्विकल्पसमाधिमध्ये सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमस्तीति । अथ गाथाद्वयेन तामेव भेदाभेदरत्नत्रयभावनां दृष्टांतदार्ष्टांताभ्यां समर्थयति ।

टीका-(दंसणणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं) साधु को व्यवहारनय से सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीनों को भिन्न २ समझ कर नित्य सदा ही इनकी उपासना करना चाहिए अपने उपयोग में लाना चाहिए। (ताणि पुण जाण तिण्णिवि अप्पाणं चेव णिच्छयदो) किन्तु शुद्ध निश्चय नय से वे तीनों एक शुद्धात्म स्वरूप ही हैं उससे भिन्न नहीं हैं ऐसा समझना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि पंचेन्द्रियों के विषय और क्रोधादि कषायों से रहित जो निर्विकल्प समाधि है उसमें ही सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये तीनों होते हैं ।। १६ ।।

अब उपर्युक्त भेदाभेद भावना को दृष्टांत और दार्ष्टांत से आगे दो गाथाओं से स्पष्ट करके बतलाते हैं:—

जह णाम को वि पुरिसो रायाणं जाणिऊण सद्दहदि ।
तो तं अणुचरदि पुणो अत्थत्थीओ पयत्तेण ।।२०।।
एवं हि जीवराया णादव्वो तह य सद्दहेदव्वो ।
अणुचरिदव्वो य पुणो सो चेव दु मोक्खकामेण ।।२१।। (युगलम्)

यथा नाम कोपि पुरुषो राजानं ज्ञात्वा श्रद्दधाति ।
ततस्तमनुचरति पुनरर्थार्थिकः प्रयत्नेन ।।२०।।
एवं हि जीवराजो ज्ञातव्यस्तथैव श्रद्धातव्यः ।
अनुचरितव्यश्च पुनः स चैव तु मोक्षकामेन ।।२१।।

अर्थ—जैसे कोई भी धन की इच्छा वाला जीव पहले राजा को राजा जानकर उस पर भरोसा करता है फिर प्रयत्नपूर्वक तदनुकूल आचरण करके उससे धन प्राप्त करता है उसी प्रकार मोक्षार्थी जीव को भी जीव रूपी राजा को जानकर उस पर भरोसा करते हुये प्रयत्न पूर्वक तदनुकूल आचरण करना चाहिये ।

तात्पर्यवृत्तिः—जह यथा **णाम** अहो स्फुटं वा **कोवि** कोपि कश्चित् **पुरिसो** पुरुषः **रायाणं** राजानं **जाणिऊण** छत्रचामरादिराजचिह्नैर्ज्ञात्वा **सद्दहदि** श्रद्धत्ते अयमेव राजेति निश्चिनोति **तो** ततो ज्ञानश्रद्धानानंतरं **तं**

तं राजानं **अणुचरदि** अनुचरति आश्रयत्याराधयति कथंभूतः सन् **अत्थत्थीओ** अर्थार्थिको जीवितार्थी **पयत्तेण** प्रयत्नेन सर्वतात्पर्येणेति दृष्टांतगाथा गता **एवं** अनेन प्रकारेण **हि** स्फुटं **जीवराया** शुद्धजीवराजा **णादव्वो** निर्विकार-स्वसंवेदनज्ञानेन ज्ञातव्यः । **तह य** तथैव **सद्दहेदव्वो** अयमेव नित्यानंदैकस्वभावो रागादिरहितः शुद्धात्मेति निश्चेतव्यः **अणुचरिदव्वो य** अनुचरितव्यश्च निर्विकल्प समाधिनानुभवनीयः । पुनः **सो चेव** स एव शुद्धात्मा **दु** पुनः **मोक्ख-कामेण** मोक्षार्थिना पुरुषेणेति दार्ष्टांतः । इदमत्र तात्पर्यं भेदाभेदरत्नत्रयभावनारूपया परमात्मचिंतयैव पूर्यतेऽस्माकं किं विशेषेण शुभाशुभरूपविकल्पजालेनेति । एवं भेदाभेदरत्नत्रयव्याख्यानमुख्यतया गाथात्रयं द्वितीयस्थले गतं । अथ स्वतंत्र-व्याख्यानमुख्यतया गाथात्रयं कथ्यते तद्यथा स्वपरभेदविज्ञानाभावे जीवस्तावदज्ञानी भवति परं किंतु कियत्कालपर्यंतं इति न ज्ञायते एवं पृष्टे सति प्रथमगाथाया प्रत्युत्तरं ददातिः—

टीका—(जह णाम को वि पुरिसो) जैसे कोई भी पुरुष (रायाणं जाणिऊण सद्दहदि) छत्र चमर आदि राज चिह्नों से राजा जानकर यही राजा है ऐसा निश्चय करता है (तो तं अणुचरदि) तदनंतर उसका आश्रय लेता है, उसकी आराधना करता है (अत्थत्थीओ पयत्तेण) पूर्ण प्रयत्न से, क्योंकि वह धन का इच्छुक है। इस प्रकार दृष्टांत हुआ। (एवं हि) इसी प्रकार (जीवराया) शुद्ध जीवराजा (णादव्वो) निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञान से जानने योग्य है (तह य) वैसे ही (सद्दहेदव्वो) यह नित्यानन्द स्वभाव वाला रागादि रहित ही शुद्धात्मा है ऐसा निर्णय करने योग्य है (अणुचरिदव्वो य पुणो सो चेव दु) तथा वही शुद्धात्मा आश्रय करने योग्य है—निर्विकल्प समाधि के द्वारा अनुभव करने योग्य है (मोक्ख कामेण) मोक्ष के इच्छुक द्वारा, इस प्रकार यह दार्ष्टांत हुआ। तात्पर्य यह है कि हम संसारी आत्माओं का भेदाभेद रत्नत्रयात्मक भावनारूप परमात्मचिंतन के द्वारा ही वांछित सिद्ध हो जाता है तो फिर इधर उधर के शुभाशुभ विकल्प जाल से क्या प्रयोजन है ?

इस प्रकार भेदाभेद रत्नत्रय की मुख्यता से दूसरे स्थल में तीन गाथायें पूर्ण हुईं।

विशेषार्थ—यहां पर आचार्य महाराज कहते हैं कि जो मुमुक्षु हैं दुःखों से दूर होकर रहना चाहते हैं उन्हें चाहिए कि संसार की इतर सब बातों को भूल कर केवल एक शुद्धात्मा को जानें, पहचानें और उसी में तल्लीन होकर रहें बस यही एक कल्याण का मार्ग है ॥२०-२१॥

आगे स्वतंत्र व्याख्यान की मुख्यता से तीन गाथायें कही जाती हैं।

अब जिस जीव को आपा परके भेद का ज्ञान नहीं है वह अज्ञानी होता है यह तो हम समझे किन्तु वह अज्ञानी कब तक रहता है ऐसा पूछने पर आचार्य उत्तर देते हैं:—

कम्मे णोकम्मह्मि य अहमिदि अहकं च कम्म णोकम्मं ।
जा एसा खलु बुद्धी अप्पडिबुद्धो हवदि ताव ॥२२॥

कर्मणि नोकर्मणि चाहमित्यहकं च कर्म नोकर्म ।
यावदेषा खलु बुद्धिरप्रतिबुद्धो भवति तावत् ॥२२॥

अर्थ—जब तक इस आत्मा के ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म और रागद्वेषादि भावकर्म और शरीरादि नोकर्म में मैं कर्म नोकर्म हूं और ये कर्म नोकर्म मेरे हैं ऐसी प्रतीति रहती है तब तक यह आत्मा अप्रतिबुद्ध अर्थात् अज्ञानी है ॥२२॥

तात्पर्यवृत्तिः—**कम्मे** कर्मणि ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मणि च **णोकम्मह्मि य** शरीरादिनोकर्मणि च **अहमिदि** अहमिति प्रतीतिः **अहकं च कम्म णोकम्मं** अहकं च कर्म नोकर्मेति प्रतीतिः यथा घटे वर्णादयो गुणा घटाकारपरिणत-

पुद्गलस्कंधाश्च वर्णादिषु च घट इत्यभेदेन **जा** यावंतं कालं **एसा** एषा प्रत्यक्षीभूता **खलु** स्फुटं **बुद्धी** तथा कर्मनोकर्मणा सह शुद्धबुद्धैकस्वभावनिजपरमात्मवस्तुनः ऐक्यबुद्धिः **अप्पडिबुद्धो** अप्रतिबुद्धः स्वसंवित्तिशून्यो बहिरात्मा **हवदि** भवति **ताव** तावत्कालमिति। अत्र भेदविज्ञानमूलात् शुद्धात्मानुभूतिम् स्वतः स्वयंबुद्धापेक्षया परतो वा बोधितबुद्धापेक्षया ये लभंते ते पुरुषाः शुभाशुभबहिर्द्रव्येषु विद्यमानेष्वपि मुकुरंदवदविकारा भवंतीति भावार्थः। अथ शुद्धजीवे यदा रागादिरहित परिणामस्तदा मोक्षो भवति। अजीवे देहादौ यदा रागादि परिणामस्तदा बंधो भवतीत्याख्याति—

टीका—(कम्मे) ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म और रागादि भावकर्म (णो कम्मह्मिय) तथा शरीरादि नोकर्म में (अहमिदि) मैं हूं ऐसी प्रतीत होती है (अहकं च कम्म णोकम्मं) अथवा ये कर्म व नोकर्म मेरे हैं इस प्रकार प्रतीति होती है, जैसे कि घड़े में वर्णादि गुण, और घटाकार परिणत पुद्गल स्कंध होते हैं। अतः वर्णादिक में जब तक घट इस प्रकार की अभेद प्रतीति होती है (जा एसा खलु बुद्धी) उसी प्रकार कर्म नोकर्म के साथ शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव निज परमात्मा की एकता रूप स्पष्ट बुद्धि बनी रहती है (अप्पडिबुद्धो हवदि ताव) तब तक यह जीव अप्रतिबुद्ध स्वसंवेदन से रहित बहिरात्मा (बाहिरी बुद्धिवाला) होता है। यहां पर भेद विज्ञान मूलक जो शुद्धात्मानुभूति है वह स्वयंबुद्धों को तो अपने आप और बोधितबुद्धों को दूसरे के द्वारा प्राप्त होती है। जब यह शुद्धात्मानुभूति जिनको प्राप्त होती है वे जीव संसार के विद्यमान शुभाशुभ बाहिरी पदार्थों में अर्थात् आत्मा से भिन्न सभी पदार्थों में दर्पण के समान निर्विकार होकर रहते हैं।

विशेषार्थ—जब तक संसार के शरीर आदि सभी पदार्थों में अहंकार या ममकार रूप बुद्धि बनी रहती है तब तक यह आत्मा अप्रतिबुद्ध (अज्ञानी) रहता है। किन्तु बाह्य पदार्थों में अहंकार ममकार हटने पर जब यह आत्मा स्वयं आत्म निमग्न हो जाता है तब यह प्रतिबुद्ध (ज्ञानी) बनता है।

जब इस जीव की शुद्ध जीवमें रागादि रहित परिणति होती है तब मोक्ष होता है और जब अजीवरूप देहादिक में रागादि सहित परिणति होती है तब बंध होता है:—

❀ जीवेव अजीवे वा संपदि समयम्हि जत्थ उवजुत्तो।
तत्थेव बंध मोक्खो, होदि समासेण णिदिट्ठो ॥२३॥

जीवे वा अजीवे वा संप्रतिसमये यत्रोपयुक्तः
तत्रैव बंधः मोक्षो भवति समासेन निर्दिष्टः ॥२३॥

अर्थ—जीव तथा अजीव देहादिकमें जिस समय यह आत्मा उपयुक्त रहता है वहीं मोक्ष तथा बंध होता है ऐसा कथन संक्षेप से श्री सर्वज्ञदेव ने किया है ॥२३॥

तात्पर्यवृत्तिः—जीवेव स्वशुद्धजीवे वा **अजीवे वा** देहादौ वा **संपदिसमयह्मि** वर्त्तमानकाले **जत्थ उवजुत्तो** यत्रोपयुक्तः तन्मयत्वेनोपादेयबुद्धया परिणतः **तत्थेव** तत्रैव अजीवे जीवेवा **बंधमोक्खो** अजीवदेहादौ बंधो, जीवे शुद्धात्मनि मोक्षः **हवदि** भवति **समासेण णिद्दिट्ठो** संक्षेपेण सर्वज्ञैर्निर्दिष्ट इति। अत्रैवं ज्ञात्वा सहजानंदैकस्वभावनिजात्मनि रतिः कर्त्तव्या। तद्विलक्षणे परद्रव्ये विरतिरित्यभिप्रायः॥ अथाशुद्धनिश्चयेनात्मा रागादिभावकर्मणां कर्त्ता अनुपचरितासद्भूतव्यवहारनयेन द्रव्यकर्मणामित्यावेदयति:—

❀ यह गाथा आत्मख्याति में नहीं है।

टीका—(जीवे व) अपनी शुद्ध आत्मा में (अजीवे वा) अथवा देहादिक इतर पदार्थों में (संपदि समयम्हि) वर्तमान समय में (जत्थ उवजुत्तो) जहां पर उपयुक्त रहता है अर्थात् उपादेय बुद्धिसे तन्मय होकर रहता है (तत्थेव) वहीं पर अजीव में या जीवमें (बंध मोक्खो) अजीवरूप देहादिक में परिणत होने पर बंध और शुद्ध जीव में परिणत होने पर मोक्ष होता है (समासेण णिद्दिट्ठो) ऐसा सर्वज्ञ भगवान ने संक्षेप से कहा है। ऐसा जानकर यहां सहजानन्द एक स्वभाव वाले निज आत्मा में रमण करना चाहिये और उससे विलक्षण जो परद्रव्य हैं उनसे विरक्त होकर रहना चाहिये ऐसा आचार्यदेव का अभिप्राय है ॥२३॥

आगे कहते हैं कि अशुद्ध निश्चयनय से यह आत्मा रागादि भावकर्मोंका कर्त्ता है और अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से द्रव्यकर्मों का कर्त्ता है ऐसा बतलाते हैं:—

❀ जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स।
णिच्छयदो ववहारा पोग्गलकम्माण कत्तांर ॥२४॥

यः करोति भावमात्मा कर्त्ता स भवति तस्य भावस्य।
निश्चयतः व्यवहारात् पुद्गलकर्मणां कर्त्ता ॥२४।

अर्थ—निश्चयनय से आत्मा जिस समय जैसे शुद्ध या अशुद्ध भावों को उपजाता है उस समय उस भाव का कर्त्ता होता है। और व्यवहारनय से वह पुद्गल कर्मों का कर्त्ता होता है ॥२४॥

तात्पर्यवृत्तिः—जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स यं करोति रागादि भावमात्मा स तस्य भावस्य परिणामस्य कर्त्ता भवति। **णिच्छयदो** अशुद्धनिश्चयनयेन अशुद्धभावानां, शुद्धनिश्चयनयेन शुद्धभावानां कर्त्तेति भावानां परिणमनमेव कर्तृत्वं। **ववहारा** अनुपचरितासद्भूतव्यवहारनयात् **पोग्गलकम्माण** पुद्गलद्रव्यकर्मादीनां **कत्तारं** कर्त्तेति। कर्तारं इति कर्मपदं कर्त्तेति कथं भवतीति चेत्, प्राकृते क्वापि कारकव्यभिचारोऽलिंगव्यभिचारश्च। अत्र रागादीनां जीवः कर्त्तेति भणितं ते च संसारकारणं ततः संसारभयभीतेन मोक्षार्थिना समस्तरागादिविभावरहिते शुद्धद्रव्यगुणपर्याये स्वरूपे निज परमात्मनि भावना कर्त्तव्येत्यभिप्रायः। एवं स्वतंत्रव्याख्यानमुख्यत्वेन तृतीयस्थले गाथात्रयं गतं॥ अथ यथाकोप्यप्रतिबुद्धः अग्निरिंधनं भवति इंधनमग्निर्भवति अग्निरिंधनमासीत् इंधनमग्निरासीत् अग्निरिंधनं भविष्यति इंधनमग्निर्भविष्यतीति वदति तथा यः कालत्रयेपि देहरागादिपरद्रव्यमात्मनि योजयति सोऽप्रतिबुद्धो बहिरात्मा मिथ्याज्ञानी भवतीति प्ररूपयतिः—

टीका—(जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स) जिस रागादि भाव को आत्मा करता है उस समय उस भाव का अर्थात् परिणाम का करने वाला होता है। (णिच्छयदो) अशुद्ध निश्चय नय से अशुद्ध भावों का और शुद्ध निश्चयनय से शुद्धभावों का कर्त्ता होता है क्योंकि उन भावों के रूप में परिणमन करना ही कर्त्तापना है। (ववहारा) अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से (पोग्गल कम्माण) पुद्गलमयी द्रव्यकर्मादि का (कत्तारं) कर्त्ता होता है यहां 'कर्त्तारं' यह कर्मपद कर्त्ता के अर्थ में आया है सो प्राकृत में कहीं कहीं कारक व्यभिचार और लिंग व्यभिचार देखा जाता है। यहां ऐसा अभिप्राय है कि जिन रागादि भावों का कर्त्ता जीव को कहा गया है वे भाव संसार के कारण हैं इसलिये संसार से भयभीत तथा मोक्ष के इच्छुक पुरुष को समस्त प्रकार के रागादि विभाव भावों से रहित और शुद्ध द्रव्य तथा गुण पर्याय स्वरूप निज परमात्मा में भावना करनी चाहिये ॥२४॥

❀ यह गाथा आत्मख्याति में नहीं है

इस प्रकार स्वतंत्र व्याख्यान की मुख्यता से तृतीय स्थल में तीन गाथायें हुईं ।

आगे कहते हैं कि कोई भोला प्राणी अग्नि है वह इंधन है इंधन वही अग्नि है, अग्नि ही पहले इंधन था, और इंधन ही पहले अग्नि थी, आगे भी अग्नि ही इंधन होगा और इंधन ही अग्नि होगी इस प्रकार कहा करता है वैसे ही जो सदा देह रागादि रूप पर द्रव्यों को अपनी आत्मा में जोड़ता है वह अप्रतिबुद्धबहिरात्मा अर्थात् बाह्य दृष्टिवाला अतएव मिथ्या ज्ञानी होता है:—

अहमेदं एदमहं अहमेदस्सेव होमि मम एदं ।
अण्णं जं परदव्वं सचित्ताचित्त मिस्सं वा ॥२५॥
आसि मम पुव्वमेदं अहमेदं चावि पुव्वकालह्मि ।
होहिदि पुणोवि मज्झं, अहमेदं चावि होस्सामि ॥२६॥
एवं तु असंभूदं आदवियप्पं करेदि सम्मूढो ।
भूदत्थं जाणंतो ण करेदि दु तं असम्मूढो ॥२७॥ (त्रिकलम्)

अहमिदं इदमहं अहमेतस्य एव भवामि मम इदम् ।
अन्यद्यत्परद्रव्यं सचित्ताचित्त मिश्रं वा ॥२५॥
आसीन्मम पूर्वमेतत् अहमिदं चैव पूर्वकाले ।
भविष्यति पुनरपि मम अहमिदं चैव भविष्यामि ॥२६॥
एवंत्वसद्भूतमात्मविकल्पं करोति संमूढः ।
भूतार्थं जानन् न करोति पुनः तमसंमूढः ॥२७॥

अर्थ—आत्मा अपने आप से भिन्न सचित्त स्त्री पुत्रादिक, अचित्त मुकुट कुण्डलादिक, और मिश्र आभरण सहित स्त्री आदि इन वस्तुओं में मैं हूं सो यह है, यह है सो मैं हूँ, ये मेरे हैं. मैं इनका हूँ, ये मेरे पहले थे, मैं पहले इनका था, आगे भी ये मेरे होंगे और मैं इनका होऊँगा इस प्रकार का संयोगात्मक विकल्प करता है वह मूढ़ अर्थात् मोह भाव का धारक होता है किन्तु जो मोह रहित अर्थात् संयत होता है वह भूतार्थ (निश्चयनयात्मक) आत्मस्वरूप को अनुभव करता हुवा इन सब विकल्पों से दूर रहता है ॥२५-२६-२७॥

तात्पर्यवृत्तिः–अहमेदं एदमहं अहं इदं, परद्रव्यं इदं अहं भवामि । **अहमेदस्सेव हि होमि ममएदं** अहमस्य संबंधी भवामि मम संबंधीदं । **अण्णं जं परदव्वं** देहादन्यद्भिन्नं पुत्रकलत्रादि यत्परद्रव्यं **सचित्ताचित्तमिस्सं वा** सचित्ताचित्तमिश्रं वा । तच्च गृहस्थापेक्षया सचित्तं स्त्र्यादि, अचित्तं सुवर्णादि, मिश्रं साभरणस्त्र्यादि । अथवा तपोधनापेक्षया सचित्तं छात्रादि. अचित्तं पिच्छकमंडलुपुस्तकादि मिश्रमुपकरणसहितछात्रादि । अथवा सचित्तं रागादि, अचित्तं द्रव्य कर्मादि, मिश्रं द्रव्य भावकर्म द्वयं । अथवा विषयकषायरहितनिर्विकल्पसमाधिस्थ पुरुषापेक्षया सचित्तं सिद्ध परमेष्ठि स्वरूपं, अचित्तं पुद्गलादि पंच द्रव्यरूपं मिश्रं गुणस्थानजीवस्थानमार्गणादि परिणतसंसारिजीवस्वरूपमिति वर्त्तमानकालापेक्षया गाथा गता । **आसीत्यादि आसि मम पुव्वमेदं** आसीत् मम पूर्वमेतत् । **अहमेदं चावि पुव्वकालह्मि** अहमिदं चैव पूर्वकाले **होहिदि पुणोवि मज्झं** भविष्यति पुनरपि मम **अहमेदं चावि होस्सामि** अहमिदं चैव पुनर्भविष्यामि इति भूतभाविकालापेक्षया गाथा गता । **एवमित्यादि एदं** इमं तु पुनः **असंभूदं** असद्भूतं

कालत्रयपरद्रव्यसंबंधिमिथ्यारूपं **आदवियप्पं** आत्मविकल्पं अशुद्धनिश्चयनयेन जीवपरिणामं **करेदि** करोति **संमूढो** सम्यङ्मूढः अज्ञानी बहिरात्मा। **भूदत्थं** भूतार्थं निश्चयनयं **जाणंतो** जानन् सन् **ण करेदि** न करोति **दु** पुनः कालत्रय-परद्रव्यसंबंधिमिथ्याविकल्पं **असंमूढो** असंमूढः सम्यग्दृष्टिरंतरात्मा ज्ञानी भेदाभेदरत्नत्रयभावनारतः। किं च यथा कोप्यज्ञानी अग्निरिंधनं इंधनमग्निः कालत्रये निश्चयेनैकांतेनाभेदेन वदति तथा देहरागादिपरद्रव्यमिदानीमहं भवामि पूर्वमहमासं पुनरग्रे भविष्यामीति यो वदति सोऽज्ञानी बहिरात्मा तद्विपरीतो ज्ञानी सम्यग्दृष्टिरंतरात्मेति। एवं अज्ञानी ज्ञानी जीवलक्षणं ज्ञात्वा निर्विकारस्वसंवेदनलक्षणे भेदज्ञाने स्थित्वा भावनां कर्त्तेति तामेव भावनां दृढयति। यथा कोपि राजसेवकपुरुषो राजशत्रुभिः सह संसर्गं कार्येति कुर्वाणः सन् राजाराधको न भवति तथा परमात्माऽराधकपुरुष-स्तत्प्रतिपक्षभूतमिथ्यात्वरागादिभिः परिणममाणः परमात्माराधको न भवतीति भावार्थः। एवमप्रतिबुद्धलक्षणकथनेन चतुर्थस्थले गाथात्रयं गतं। अथाप्रतिबुद्धसंबोधनार्थं व्यवसायः क्रियते।

टीका—(अहमेदं एदमहं) मैं हूँ सो यह है, यह है सो मैं हूँ (इस प्रकार अहंकार भाव) (अहमेदस्सेव होमि मम एदं) यह मेरा है और मैं इसका हूँ (इस प्रकार ममकारभाव) (अण्णं जं परदव्वं) इसी प्रकार देह से भिन्न जो परद्रव्य है (सच्चित्ताचित्त मिस्सं वा) वे सचित्त. अचित्त और मिश्र तीन प्रकार हैं। उनमें गृहस्थ की अपेक्षा स्त्री आदि सचित्त, स्वर्णादि अचित्त, साभरण स्त्री आदि मिश्र हैं। अथवा तपोधन की अपेक्षा छात्रादि सचित्त, पीछी, कमण्डलु, पुस्तक आदि अचित्त, और उपकरण सहित छात्रादि मिश्र हैं। अथवा रागादि भावकर्म सचित्त, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म अचित्त, द्रव्य और भावकर्मरूप मिश्र हैं। अथवा विषय कषाय रहित निर्विकल्प समाधि में स्थित पुरुष की अपेक्षा सिद्ध परमेष्ठी का स्वरूप सचित्त, पुद्गल आदि पांच द्रव्य अचित्त, और गुणस्थान, जीवसमास, मार्गणादि रूप परिणत जो संसारी जीव का स्वरूप वह मिश्र है। इस प्रकार वर्तमान काल की अपेक्षा गाथा समाप्त हुई। अब (आसि मम पुव्वमेदं) ये सब मेरे पहले थे (अहमेदं चावि पुव्वकालह्मि) मैं भी इनका पहले था (होहिदि पुणोवि मज्झं) ये सब आगे भी मेरे होंगे (अहमेदं चावि होस्सामि) और मैं भी आगे इनका होऊंगा। इस प्रकार भूत और भविष्यत् काल की अपेक्षा गाथा समाप्त हुई। (एदंतु) इस प्रकार (असंभूदं) असद्भूत तीन काल संबंधी परद्रव्यों से संसर्ग लिये हुये मिथ्यारूप (आद वियप्पं) अपने आपके विचार को अर्थात् अशुद्धनिश्चयनय से होने वाले जीव के (रागादिरूप) परिणाम को (करेदि) जो करता है (सम्मूढ़ो) वह मोह को लिये हुये अज्ञानी बहिरात्मा होता है। किन्तु (भूदत्थं) जो भूतार्थ निश्चयनय को (जाणंतो) जानता हुआ (ण करेदि दु तं) तीन काल में होने वाले उपर्युक्त परद्रव्यसंबंधी मिथ्या विकल्प को नहीं करता है वह (असंमूढ़ो) मोह भाव रहित सम्यग्दृष्टि अंतरात्मा ज्ञानी होता है अर्थात् भेदाभेद रत्नत्रय की भावना में निरत होता है। जैसे कि कोई भी भोला प्राणी कहे कि तीनों कालों में अग्नि ही ईंधन है और ईंधन ही अग्नि है ऐसा एकांत अभेदरूप से कहता है वैसे ही देह रागादि परद्रव्य ही इस समय मैं हूँ, पहले भी मैं परद्रव्य रागादिरूप था और आगे भी परद्रव्य रागादिरूप होऊंगा ऐसा कहता है वह अज्ञानी बहिरात्मा है किन्तु ज्ञानी सम्यग्दृष्टि अंतरात्मा जीव इससे विपरीत विचार वाला है। इस प्रकार ज्ञानी और अज्ञानी जीव का लक्षण जानकर निर्विकार स्वसंवेदन है लक्षण जिसका ऐसे भेद ज्ञान में निमग्न होकर भावना करनी चाहिये। इसी बात को फिर दृढ़ करते हैं कि जैसे कोई राजपुरुष भी राजा के शत्रुओं के साथ संसर्ग रखता है तो वह राजा का आराधक नहीं कहला सकता उसी प्रकार परमात्मा की आराधना करने वाला पुरुष आत्मा के प्रतिपक्षभूत जो मिथ्यात्व व रागादिभाव हैं उन रूप परिणमन करने वाला होता है तब वह परमात्मा का आराधक नहीं हो सकता यह इसका निचोड़ है। ॥२५-२६-२७॥

इस प्रकार अप्रतिबुद्ध के लक्षण के कथन रूप में चतुर्थ स्थल में तीन गाथायें पूर्ण हुई ।

विशेषार्थ—पाठक देख रहे हैं कि इन गाथाओं में जिस प्रकार आत्मा से इतर पदार्थों में अहंकार रखने वाले को अप्रतिबुद्ध बतलाया है उसी प्रकार उन में ममकार रखने वाले को भी अप्रतिबुद्ध बताते हुए उन सब से दूर हट कर केवल निर्विकल्प समाधि में स्थित होने वाले जीव को ही प्रतिबुद्ध, ज्ञानी एवं सम्यग्दृष्टि कहा है ।

आगे इस अप्रतिबुद्ध को समझाने के लिए प्रयत्न किया जाता है—

अण्णाणमोहिदमदी मज्झमिणं भणदि पुग्गलं दव्वं ।
बद्धमबद्धं च तहा जीवो बहुभावसंजुत्तो ।।२८।।
सवण्हुणाणदिट्ठो जीवो उवओगलक्खणोणिच्चं ।
कह सो पुग्गलदव्वी भूदो जं भणसि मज्झमिणं ।।२९।।
जदि सो पुग्गलदव्वी भूदो जीवत्तमागदं इदरं ।
तो सक्का वुत्तुं जे मज्झमिणं पुग्गलं दव्वं ।।३०।।

अज्ञानमोहितमतिर्ममेदं भणति पुद्गलं द्रव्यं ।
बद्धमबद्धं च तथा जीवो बहुभावसंयुक्तः ।।२८।।
सर्वज्ञज्ञानदृष्टो जीव, उपयोगलक्षणो नित्यं ।
कथं स पुद्गलद्रव्यीभूतो यद्भणसि ममेदं ।।२९।।
यदि स पुद्गल द्रव्यीभूतो जीवत्वमागतमितरत् ।
तच्छक्तो वक्तुं यन्ममेदं पुद्गलं द्रव्यं ।।३०।।

अर्थ—अज्ञान से ठगी हुई बुद्धिवाला संसारी प्राणी अपने साथ में मिलकर रहने वाले शरीर और अपने से पृथक् रहने इत्यादि पुद्गल द्रव्य को अपना कहता है और नाना प्रकार की रागद्वेषादि रूप कल्पना करता है । इस पर आचार्य कहते हैं कि हे भाई ! जब कि सर्वज्ञ भगवान ने जीव को नित्य उपयोग लक्षण वाला देखा है तो फिर वह पुद्गल द्रव्य रूप कैसे हो सकता है ? जिससे कि तू पुद्गलात्मक पदार्थ को मेरा मेरा कहता है । हां, यदि जीवद्रव्य पुद्गल रूप हो जाय तो पुद्गल द्रव्य भी जीव रूप हो जाय, तब तू कह सकता है कि यह पुद्गल द्रव्य मेरा है। (पर ऐसा तीन काल में नहीं हो सकता अतः तेरा यह कहना भूल भरा है)

तात्पर्यवृत्तिः—**अण्णाणेत्यादिव्याख्यानं** क्रियते **अण्णाणमोहिदमदी** अज्ञानमोहितमतिः **मज्झमिणं भणदि पुग्गलं दव्वं** ममेदं भणति पुद्गलं द्रव्यं । कथंभूतं ? **बद्धमबद्धं च** बद्धं संबंधदेहरूपं अबद्धं च असंबद्धं देहाद्भिन्नं पुत्रकलत्रादि **तहा** तथा **जीवो** जीवद्रव्ये **बहुभावसंजुत्तो** मिथ्यात्वरागादि बहुभावसंयुक्तः । अज्ञानी जीवो देहपुत्रकलत्रादिकं परद्रव्यं ममेदं भणतीत्यर्थः । इति प्रथमगाथा गता । अथास्य बहिरात्मनः संबोधनं क्रियते रे दुरात्मन् ! **सवण्हु** इत्यादि **सव्वण्हुणाणदिट्ठो** सर्वज्ञज्ञानदृष्टः **जीवो** जीवपदार्थः कथंभूतो दृष्टः **उवओगलक्खणो** केवलज्ञान-दर्शनोपयोगलक्षणः **णिच्चं** नित्यं सर्वकालं । **कह** कथं **सो** स जीवः **पुग्गलदव्वीभूदो** पुद्गलद्रव्यं जातः न कथमपि **जं** येन कारणेन **भणसि** भणसि त्वं **मज्झमिणं**. ममेदं पुद्गलद्रव्यं । इति द्वितीया गाथा गता । **जदि** इत्यादि-**जदि**

यदि चेत् सो स जीव: पुग्गलदव्वीभूदो पुद्गलद्रव्यंजात: जीवो जीव: जीवत्तं जीवत्वं आगदं आगतं प्राप्तं इदरं इतरत् शरीरपुद्गलद्रव्यं तो सक्का वुत्तुं ततः शक्यं वक्तुं जे अहो अथवा यस्मात्कारणात् मज्झमिणं पुग्गलं दव्वं ममेदं पुद्गलद्रव्यमिति । नचैवं यथा वर्षासु लवणमुदकी भवति ग्रीष्मकाले जलं लवणीभवति । तथा यदि चैतन्यं विहाय जीवद्रव्यं पुद्गलद्रव्यस्वरूपेण परिणमति पुद्गलद्रव्यं च मूर्त्तत्वमचेतनत्वं विहाय चिद्रूपं चामूर्तत्वं च भवति तदा भवदीयवचनं सत्यं भवति । रे दुरात्मन् ! न च तथा, प्रत्यक्षविरोधात् । ततो जीवद्रव्यं देहाद्भिन्नममूर्त्तं शुद्धबुद्धैक-स्वभावं सिद्धमिति । एवं देहात्मनोर्भेदज्ञानं ज्ञात्वा मोहोदयोत्पन्नसमस्तंविकल्पजालं त्यक्त्वा निर्विकारचैतन्यचमत्कार-मात्रे निजपरमात्मतत्त्वे भावना कर्त्तव्येति तात्पर्यम् । इत्यप्रतिबुद्धसंबोधनार्थं पंचमस्थले गाथात्रयं गतं ।

अथ पूर्वपक्षपरिहाररूपेण गाथाष्टकं कथ्यते, तत्रैकगाथायां पूर्वपक्ष: गाथाचतुष्टये निश्चयव्यवहारसमर्थनरूपेण परिहार: । गाथात्रये निश्चयस्तुतिरूपेण परिहार इति षष्ठस्थले समुदायपातनिका । तद्यथा–प्रथमतस्तावत् यदि जीवशरीरयोरेकत्वं न भवति तदा तीर्थकराचार्यस्तुतिर्वृथा भवतीत्यप्रतिबुद्धशिष्य: पूर्वपक्षं करोति–

टीका—(अण्णाण मोहिदमदी) अज्ञान से मोहित हो रही है—बिगड़ रही है बुद्धि जिसकी ऐसा जीव (मज्झमिणं भणदि पुग्गलं दव्वं) कहता है कि यह शरीरादि पुद्गल द्रव्य मेरा है। कैसा है वह पुद्गल द्रव्य ? (बद्धमबद्धं च) कि बद्ध अर्थात् आत्मा से संबंधित देह और अबद्ध देह से भिन्न पुत्र कल-त्रादि हैं। (तहा जीवो बहु भाव संजुत्तो) उनमें यह संसारी जीव मिथ्यात्व रागादिरूप विकारी भावों को लिये हुये है इसलिये उन देह पुत्र कलत्रादि पर द्रव्य को मेरा है इस प्रकार कहता है। यह पहली गाथा का अर्थ हुआ ।।२८।। आगे की गाथामें उस अज्ञानी को समझाया जा रहा है कि हे दुरात्मन् ! (सव्वण्हुणाणदिट्ठो) सर्वज्ञ भगवान के ज्ञान से देखा हुआ (जीवो) जीव नामा पदार्थ (उवओग लक्खणो णिच्चं) सब ही काल में केवल मात्र ज्ञान और दर्शन उपयोग लक्षण वाला है फिर (कह सो पुग्गलदव्वी भूदो) वह पुद्गल द्रव्यरूप कैसे हो सकता है ? कभी नहीं हो सकता (जं भणसि मज्झमिणं) जिससे कि तू पुद्गलद्रव्य मेरा है ऐसा कहता है। इस प्रकार दूसरी गाथा पूर्ण हुई ।।२९।। (जदि सो पुग्गलदव्वी भूदो) यदि वह जीव पुद्गल द्रव्यरूप हो जाय तो (जीवत्तमागदंइदरं) शरीरादि पुद्गलद्रव्यभी जीवपने को प्राप्त हो जायं (तो सक्का वुत्तुं जे) तो तू फिर कह सकता है कि (मज्झमिणं पुग्गलंदव्वं) यह पुद्गल द्रव्य मेरा है किन्तु ऐसा होता नहीं ।।३०।। तात्पर्य यह है कि जैसे वर्षा काल में लवण पिघलकर जलरूप हो जाता है और ग्रीष्मकाल में वही जल घन होकर लवण हो जाता है वैसे ही कभी भी चेतनता को छोड़कर जीव यदि पुद्गल द्रव्य रूप परिणत हो जाय तो और पुद्गल द्रव्य अपने मूर्त्तपने को व अचेतनपने को छोड़कर चेतनरूप और अमूर्त्त बन जाय तो तेरा कहना सत्य हो सकता है। किन्तु हे दुरात्मन ! ऐसा कभी होता नहीं क्योंकि ऐसा मानने में प्रत्यक्ष विरोध आता है। फलस्वरूप हम स्पष्ट देख रहे हैं कि जीव तो इस जड़स्वरूप देह से भिन्न है जो कि अमूर्त्त और शुद्ध बुद्ध एक स्वभाववाला है। इस प्रकार देह और आत्मा में परस्पर भेद जानकर मोह के उदय से उत्पन्न होने वाले सभी प्रकार के (अहंकार और ममकाररूप) विकल्प जाल को छोड़कर निर्विकार चैतन्य चमत्कार मात्र निज परमात्म तत्व में भावना करनी चाहिये। इस प्रकार अप्रतिबुद्ध अज्ञानी को संबोधने के लिये पांचवें स्थल में तीन गाथायें पूर्ण हुईं ।।२८ २९ ३०।।

आगे पूर्वपक्ष (जीव व शरीर को एक मानना) के परिहार रूप में आठ गाथायें कही जाती हैं वहां पहली गाथा में पूर्वपक्ष का कथन है, फिर चार गाथाओं में निश्चय और व्यवहार के समर्थन रूप

से उसका परिहार है तथा तीन गाथाओं में निश्चय स्तुति रूप से पूर्व पक्ष का परिहार है इस प्रकार छट्ठे स्थल की समुदाय पातनिका है।

अब सबसे प्रथम अज्ञानी शिष्य अपनी बात कहता है कि यदि जीव और शरीर में एकपना नहीं है तो तीर्थंकरों की और आचार्यों की जो स्तुतियां शरीर को लेकर की गई हैं वह सब व्यर्थ ठहरती हैं (सो ही कहा जा रहा है):—

जदि जीवो ण सरीरं तित्थयरायरियसंथुदी चैव
सव्वावि हवदि मिच्छा तेण दु आदा हवदि देहो ॥३१॥

यदि जीवो न शरीरं तीर्थंकराचार्यसंस्तुतिश्चैव।
सर्वापि भवति मिथ्या तेन तु आत्मा भवति देहः ॥३१॥

अर्थ—हे भगवन् ! यदि जीव और शरीर एक रूप नहीं है तो भक्त लोगों के द्वारा की गई तो तीर्थंकर और आचार्यों की स्तुति सब व्यर्थ ठहरती है अतः आत्मा और शरीर एक है ऐसा मानना ही चाहिए ॥३१॥

तात्पर्यवृत्तिः—जदि जीवो ण सरीरं हे भगवन् ! यदि जीवः शरीरं न भवति **तित्थयरायरिय संथुदीचैव** तर्हि "द्वौ कुंदेदुतुषारहारधवलावित्यादि" तीर्थंकरस्तुतिः "देसकुलजाइसुद्धा" इत्याचार्यस्तुतिश्च **सव्वावि हवदि मिच्छा** सर्वापि भवति मिथ्या **तेण दु आदा हवदि देहो** तेन त्वात्मा भवति देहः। इति मर्मकांतिकी प्रतिपत्तिः। एवं पूर्वपक्षगाथा गता। हे शिष्य ! यदुक्तं त्वया तन्न घटते यतो निश्चयव्यवहारनयपरस्परसाध्यसाधकभावं न जानासि त्वमिति।

टीका—हे भगवन् (जदि जीवो ण सरीरं) यदि जीव शरीररूप नहीं है (तित्थयरायरिय संथुदी चैव) तो "द्वौ कुंदेदुतुषारहारधवलौ" इत्यादि शरीर को आधार लेकर की गई तीर्थंकर की स्तुति और "देस कुल जाइ सुद्धा" इत्यादि आचार्यों की स्तुति (सव्वावि हवदि मिच्छा) सब ही मिथ्या ठहरती है (तेण दु आदा हवदि देहो) इसलिये आत्मा ही शरीर है या शरीर ही आत्मा है ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है। इस प्रकार यह पूर्वपक्ष की गाथा हुई ॥३१॥

अब आचार्य महाराज इसका परिहार करते हैं कि हे भाई ! तूने कहा सो ठीक नहीं बैठता क्योंकि तू निश्चय और व्यवहारनय में परस्पर जो साध्य साधक भाव है उसको नहीं जानता :—

ववहारणओ भासदि जीवो देवो य हवदि खलु इक्को।
ण दु णिच्छयस्स जीवो देहो य कदावि एकट्ठो ॥३२॥

व्यवहारनयो भाषते जीवो देहश्च भवति खल्वेकः।
न तु निश्चयस्य जोवो देहश्च कदाप्येकार्थः ॥३२॥

अर्थ—व्यवहार नय (जो कि संयोग मात्र को लेकर चलता है) कहता है कि जीव और देह अवश्य एक हैं किन्तु निश्चयनय (जो तादात्म्य संबंध को ही स्वीकार करता है) से जीव और देह किसी काल में भी एक नहीं है (किन्तु भिन्न भिन्न हैं) ॥३२॥

तात्पर्यवृत्तिः—ववहारणयो भासदि व्यवहारनयो भाषते ब्रूते किं ब्रूते ? **जीवो देहो य हवदि खलु इक्को** जीवो देहश्च भवति खल्वेकः **ण दु णिच्छयस्स जीवो देहो य कदावि एकट्ठो** न तु निश्चयस्याभिप्रायेण जीवो देहश्च

कदाचित्काले एकार्थः एको भवति । यथा कनककलधौतयोः समावर्तितावस्थायां व्यवहारेणैकत्वेपि निश्चयेन भिन्नत्वं तथा जीवदेहयोरिति भावार्थः । ततः कारणात् व्यवहारनयेन देहस्तवनेनात्मस्तवनं युक्तं भवतीति नास्ति दोषः । तथाहि—

टीका:—(ववहारणयो भासदि) व्यवहारनय कहता है कि (जीवो देहो य हवदि खलु इक्को) जीव और देह अवश्य ही एक है (ण दु णिच्छयस्स जीवो देहो य कदावि एकट्ठो) किन्तु निश्चयनय के अभिप्राय से जीव और देह दोनों परस्पर कभी किसी काल में भी एक नहीं होते हैं । जैसे चांदी और सोना मिली हुई दशामें व्यवहारनय से परस्पर एक हैं फिर भी निश्चय से वे अपने रूप रंग को लिये हुये भिन्न भिन्न हैं वैसे ही जीव और देह का व्यवहार है । इसलिये व्यवहारनय से देह के स्तवन से आत्मा का स्तवन मान लेना दोष कारक नहीं है ।।३२।।

इसी को फिर स्पष्ट करते हैं:—

इणमण्णं जीवादो देहं पुग्गलमयं थुणित्तु मुणी ।
मण्णदि हु संथुदो वंदिदो मए केवली भयवं ।।३३।।

इदमन्यत् जीवाद्देहं पुद्गलमयं स्तुत्वा मुनिः ।
मन्यते खलु संस्तुतो वंदितो मया केवली भगवान् ।।३३।।

अर्थ—जीव से अन्य इस पुद्गलमयी देह की स्तुति गुणानुवाद करके मुनि भी ऐसा मानते हैं कि मैंने केवली भगवान की स्तुति व वंदना करली है ।।३३।।

तात्पर्यवृत्तिः—इणमण्णं जीवादो देहं पुग्गलमयं थुणित्तु मुणी इदमन्यद्भिन्नं जीवात्सकाशाद्देहं पुद्गलमयं स्तुत्वा मुनिः । **मण्णदि हु संथुदो वंदिदो मए केवली भयवं** पश्चाद्व्यवहारेण मन्यते संस्तुतो वंदितो मया केवली भगवानिति । यथा सुवर्णरजतैकत्वे सति शुक्लं सुवर्णमिति व्यवहारो न निश्चयः तथा शुक्लरक्तोत्पलवर्णः केवलिपुरुष इत्यादिदेहस्तवने व्यवहारेणात्मस्तवनं भवति न निश्चयनयेनेति तात्पर्यार्थः । अथ निश्चयनयेन शरीरस्तवने केवलिस्तवनं न भवतीति दृढयति ।

टीका:—(इणमण्णं जीवादो देहं पुग्गलमयं थुणित्तु मुणी) जीव से भिन्न इस पुद्गलमय देह का स्तवन करके मुनि (मण्णदि हु संथुदो वंदिदो मए केवली भयवं) व्यवहार से ऐसा मानता है कि मैंने केवली भगवान की स्तुति और वंदना करली । तात्पर्य यह है कि जैसे चांदी के साथ मिले हुये स्वर्ण को व्यवहार से सफेद सोना कहते हैं, पर वास्तव में सोना सफेद नहीं होता उसी प्रकार अमुक केवली भगवान श्वेत. लाल, या कमल के रंगवाले हैं इत्यादि रूप से उनके देह का स्तवन करने पर व्यवहार से उनकी आत्मा का स्तवन हो जाता है किन्तु निश्चय से नहीं ।।३३।।

आगे इसी को दृढ़ करते हैं कि निश्चयनय से शरीर का स्तवन करने पर केवली भगवान का स्तवन नहीं होता:—

तं णिच्छये ण जुज्जदि ण सरीर गुणा हि होंति केवलिणो ।
केवलि गुणे थुणदि जो सो तच्चं केवलिं थुणदि ।।३४।।

तन्निश्चये न युज्यते न शरीरगुणा हि भवंति केवलिनः ।
केवलिगुणान् स्तौति यः स तत्वं केवलिनं स्तौति ।।३४।।

अर्थः—किन्तु उपर्युक्त बात निश्चयनय में घटित नहीं होती क्योंकि शरीर के पुद्गलमयी गुण केवली के नहीं हो सकते। अतः निश्चयनय में तो जो केवली के ज्ञानादि गुणों का स्तवन करता है तभी केवली भगवान का स्तवन समझा जाता है ॥३४॥

तात्पर्यवृत्तिः— **तं णिच्छये ण जुज्जदि** तत्पूर्वोक्तदेहस्तवने सति केवलिस्तवनं निश्चयेन न युज्यते कथमिति चेत् **ण सरीरगुणा हि होंति केवलिणो** यतः कारणाच्छरीरगुणा शुक्लकृष्णादयः केवलिनो न भवंति। तर्हि कथं केवलिस्तवनं भवति **केवलिगुणे थुणदि जो सो तच्चं केवलिं थुणदि** केवलिगुणान् अनंतज्ञानादीन् स्तौति यः स तत्त्वं वास्तवं स्फुटं वा केवलिनं स्तौति। यथा शुक्लवर्णरजतशब्देन सुवर्णं न भण्यते तथा शुक्लादिकेवलिशरीरस्तवनेन चिदानंदैकस्वभावं केवलिपुरुषस्तवनं निश्चयनयेन न भवतीत्यभिप्रायः। अथ शरीरप्रभुत्वेपि सत्यात्मनः शरीरस्तवनेनात्मस्तवनं न भवति निश्चयनयेन तत्र दृष्टांतमाहः—

टीकाः—(तं णिच्छये ण जुज्जदि) पूर्वोक्त प्रकार देह का स्तवन करने पर जो केवली का स्तवन है वह निश्चयनय को मान्य नहीं है (ण सरीरगुणा हि होंति केवलिणो) शरीर के गुण जो शुक्ल कृष्णादि हैं वे केवली के अपने गुण नहीं हो सकते। तब केवली का स्तवन कैसा होता है? (केवलिगुणे थुणदि जो सो तच्चं केवलिं थुणदि) कि जो जीव केवली के अनंत ज्ञानादिक गुणों का वर्णन करता है वही वास्तव में केवली भगवान का स्तवन करने वाला होता है। भावार्थ यह है कि जैसे शुक्ल वर्णवाली चांदी के कथन से स्वर्ण का कथन नहीं बन सकता वैसे ही केवली के शरीर में होने वाले शुक्लादि वर्णों के स्तवन से चिदानंद एक स्वभाववाले केवली भगवानका स्तवन निश्चय से नहीं माना जा सकता ॥३४॥

आगे आत्मा शरीर का धारक होने पर भी शरीर मात्र के स्तवन करने से आत्मा का स्तवन निश्चयनय से नहीं माना जा सकता इसी को स्पष्ट करने के लिए दृष्टांत देते हैं।

णयरम्मि वण्णिदे जह ण वि रण्णो वण्णणा कदा होदि।
देहगुणे थुव्वंते ण केवलिगुणा थुदा होंति॥३५॥

नगरे वर्णिते यथा नापि राज्ञो वर्णना कृता भवति।
देहगुणे स्तूयमाने न केवलिगुणाः स्तुता भवति ॥३५॥

तात्पर्यवृत्तिः—यथा प्राकारोपवनखातिकादिनगरवर्णने कृतेपि नैव राज्ञो वर्णना कृता भवति तथा शुक्लादिदेहगुणस्तूयमानेप्यनंतज्ञानादिकेवलिगुणाः स्तुता न भवंतीत्यर्थः। इति निश्चयव्यवहाररूपेण गाथाचतुष्टयं गतं। अथानंतरं यदि देहगुणस्तवनेन निश्चयस्तुतिर्न भवति तर्हि कीदृशी भवतीति पृष्टे सति द्रव्येंद्रियभावेंद्रियपचेंद्रियविषयान् स्वसंवेदनलक्षणज्ञानेन जित्वा योसौ शुद्धमात्मानं संचेतयते स जिन इति जितेंद्रिय इति सा्चैव निश्चयस्तुतिपरिहारं ददाति।

टीकाः—जैसे प्राकार उपवन और खाई आदि के वर्णन से किसी राजा के नगर का वर्णन करने पर भी राजा का वर्णन नहीं हो सकता है। वैसे ही केवली भगवान के श्वेतादि शरीर के गुणों का वर्णन करने पर केवली के अनंतज्ञानादि गुणों का वर्णन नहीं हो जाता ॥३५॥ इस प्रकार निश्चय व्यवहार रूप से चार गाथा पूर्ण हुई।

अब यदि देह के गुणों का वर्णन करने से निश्चय स्तुति नहीं होती है तो फिर वास्तविक स्तुति क्या है, ऐसा पूछने पर आचार्य उत्तर देते हैं कि जो द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय रूप पांचों इन्द्रियों के विषयों को स्वसंवेदन

ज्ञान के बल से जीतकर शुद्धात्मा का अनुभव करता है वह जिन है वही जितेन्द्रिय है, इस प्रकार निश्चय स्तुति होती है। यही बात आगे कि गाथामें कहते हैं:—

जो इंदिए जिणित्ता, णाणसहावाधियं मुणदि आदं
तं खलु जिंदिदियं ते भणंति जे णिच्छिदा साहू ॥३६॥

यः इन्द्रियाणि जित्वा ज्ञानस्वभावाधिकं जानात्यात्मानं।
तं खलु जितेन्द्रियं ते, भणंति ये निश्चिताः साधवः ॥३६॥

अर्थः—निश्चयमें तत्पर रहने वाले अर्थात् आत्माका अनुभव करनेवाले साधु लोग उसको जितेन्द्रिय कहते हैं जो इन्द्रियों को वशमें करके अपने ज्ञानादि गुणोंसे परिपूर्ण अपनी आत्मा का ही अनुभव करता है ॥३६॥

तात्पर्यवृत्तिः—जो इंदिये जिणित्ता णाणसहावाधिअं मुणदि आदं यः कर्ता द्रव्येंद्रियभावेंद्रियपंचेंद्रियविषयान् जित्वा शुद्धज्ञानचेतनागुणेनाधिकं परिपूर्णं शुद्धात्मानं मनुते जानात्यनुभवति संचेतयति **तं खलु जिंदिदियं ते भणंति जे णिच्छिदा साहू** तं पुरुषं खलु स्फुटं जितेंद्रियं भणंति ते साधवः के ते ये निश्चिताः निश्चयज्ञा इति। किंच ज्ञेयाः स्पर्शादिपंचेंद्रियविषयाः ज्ञायकानि स्पर्शनादिद्रव्येंद्रियभावेंद्रियाणि तेषां योसौ जीवेन सह संकरः संयोगः संबंधः स एव दोषः तं दोषं परमसमाधिबलेन योसौ जयति सा चैव प्रथमा निश्चयस्तुतिरिति भावार्थः। अथ तामेव स्तुतिं द्वितीयप्रकारेण भाव्यभावकसंकरदोषपरिहारेण कथयति। अथवा उपशमश्रेण्यपेक्षया जितमोहरूपेणाह:—

टीकाः—(जो इंदिए जिणित्ता णाणसहावाधिअं मुणदि आदं) जो जीव द्रव्येन्द्रिय भावेन्द्रियरूप पंचेन्द्रियों के विषयों को जीतकर शुद्ध ज्ञानचेतना गुण से परिपूर्ण अपने शुद्ध आत्मा को मानता है, जानता है, अनुभव करता है, संचेतता है, अर्थात् शुद्धात्मा से तन्मय होकर रहता है, (तं खलु जिंदिदियं ते भणंति जे णिच्छिदा साहू) उस पुरुष को ही निश्चयनय के जाननेवाले साधु लोग जितेन्द्रिय कहते हैं। भावार्थ यह है कि स्पर्श आदि पांचों इन्द्रियों के विषय तो ज्ञेय हैं और उनके जाननेवाली द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रियरूप स्पर्शनादि पांचों इन्द्रियां हैं और उनका जीव के साथ जो संकर है—संयोग संबंध है वही दोष है, उस दोष को परम समाधि के बल से जीत लेता है वही जिन है। यह पहली निश्चय स्तुति हुई ॥३६॥

आगे उसी निश्चय स्तुति को दूसरे प्रकार से भाव्य (संसारी जीव) भावक (मोहकर्म) इन दोनों में जो संकर दोष है उसका परिहार करनेरूप अथवा उपशम श्रेणी की अपेक्षा आत्मा जित मोह है ऐसा कथन करते हैं:—

जो मोहं तु जिणित्ता, णाणसहावाधियं मुणदि आदं।
तं जिद मोहं साहुं, परमट्ठवियाणया विंति ॥३७॥

यो मोहं तु जित्वा, ज्ञानस्वभावाधिकं जानात्यात्मानं।
तं जितमोहं साधुं, परमार्थविज्ञायका विदन्ति ॥३७॥

अर्थ—जो मोह को दबाकर ज्ञान स्वभाव से परिपूर्ण आत्माका अनुभव करता है परमार्थ के जानने वाले उस साधुको मोह का जीतने वाला अर्थात् जिन कहते हैं ॥३७॥

तात्पर्यवृत्तिः—जो मोहं तु जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं यः पुरुषः उदयागतं मोहं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैकाग्र्यरूपनिर्विकल्पसमाधिबलेन जित्वा शुद्धज्ञानगुणेनाधिकं परिपूर्णमात्मानं मनुते जानाति भावयति

तं जिदमोहं साहुं परमट्ठवियाणया विंति तं साधुं जितमोहं रहितमोहं परमार्थविज्ञायका ब्रुवंति कथयंतीति। इयं द्वितीया स्तुतिरिति। किंच भाव्यभावकसंकरदोषपरिहारेण द्वितीया स्तुतिर्भवतीति पातनिकायां भणितं भवद्भिस्तत्कथं घटतेति भाव्यो रागादिपरिणत आत्मा, भावको रंजक उदयागतो मोहस्तयोर्भाव्यभावकयोः शुद्धजीवेन सह संकरः संयोगः संबंधः स एव दोषः तं दोषं स्वसंवेदनज्ञानबलेन योसौ परिहरति सा द्वितीया स्तुतिरिति भावार्थः। एवमेव च मोहपदपरिवर्त्तनेन रागद्वेषक्रोधमानमायालोभकर्मनोकर्ममनोवचनकायसूत्राण्येकादशं पंचानां श्रोत्रचक्षुघ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणामिंद्रियसूत्रेण पृथग्व्याख्यातत्वाद्व्याख्येयानि। अनेनैव प्रकारेणान्यान्यप्यसंख्येयलोकमात्रविभावपरिणामरूपाणि ज्ञातव्यानि। अथवा भाव्यभावकभावाभावरूपेण तृतीया निश्चयस्तुतिः कथ्यते। अथवा तामेव क्षपकश्रेण्यपेक्षया क्षीणमोहरूपेणाह–

टीका—(जो मोहं तु जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं) जो पुरुष उदयमें आये हुये मोहको सम्यग्दर्शन, सम्यग्यज्ञान, और सम्यक्‌चारित्र इन तीनों की एकाग्रतारूप निर्विकल्प समाधि के बल से जीतकर अर्थात् दबाकर शुद्ध ज्ञानगुण के द्वारा अधिक अर्थात् परिपूर्ण अपनी आत्माको मानता है, जानता है, और अनुभव करता है (तं जिद मोहं साहुं परमट्ठवियाणया विंति) उस साधुको परमार्थ के जाननेवाले 'जित मोह' अर्थात् मोहसे रहित जिन इस प्रकार कहते हैं। यह दूसरी निश्चय स्तुति है। भावार्थ—यहां कोई पूछता है कि आपने पातनिकामें बतलाया था कि भाव्य भावक में परस्पर जो संकर दोष है उसका निराकरण करने से दूसरी स्तुति होती है सो यह बात यहां कैसे घटित होती है तो उसको स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं कि भाव्य तो रागादिरूपमें परिणत आत्मा और भावक रागरूप करने वाला उदयमें आया हुआ मोह कर्म इन दोनों भाव्य भावकों का जो शुद्ध जीव के साथ संकर अर्थात् संयोग संबंध है वही हुआ दोष उसको जो साधु स्वसंवेदन ज्ञान के बल से परास्त कर देता है वह जिन है। यह दूसरी स्तुति हुई ।।३७।।

इसी प्रकार यहां मोह पद के स्थान पर राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, ये ग्यारह तो इस सूत्र द्वारा और श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना, स्पर्शन ये पांच इन्द्रिय सूत्रके द्वारा पृथक् २ लेकर व्याख्यान करना चाहिये। और इसी प्रकार और भी असंख्यात लोक प्रमाण विभाव परिणाम हैं उनको भी प्रासंगिक रूप से समझ लेना चाहिए।

अब भाव्य भावक के अभावरूप तीसरी निश्चय स्तुति कही जाती है अथवा यों कहो कि क्षपकश्रेणी की अपेक्षा क्षीण मोह है ऐसा कथन किया जाता है:—

जिदमोहस्स दु जइया खीणो मोहो हविज्ज साहुस्स।
तइया हु खीण मोहो भण्णदि सो णिच्छयविदूहिं ।।३८।।

जितमोहस्य तु यदा क्षीणो मोहो भवेत्साधोः।
तदा खलु क्षीणमोहो भण्यते स निश्चयविद्भिः ।।३८।।

अर्थ—उपर्युक्त प्रकार जो मोह को परास्त करता हुआ आ रहा है उस साधु का जब मोह सर्वथा क्षीण हो जाता है उस समय निश्चय के ज्ञाता गणधरादिक क्षीण मोह जिन कहते हैं ।।३८।।

तात्पर्यवृत्तिः—जिदमोहस्स दु जइया खीणो मोहो हविज्ज साहुस्स पूर्वगाथाकथितक्रमेण जितमोहस्य सतो जातस्य यदा निर्विकल्पसमाधिकाले क्षीणो मोहो भवेत् कस्य साधोः शुद्धात्मभावकस्य **तइया हु खीणमोहो**

भण्णदि सो णिच्छयविदूहिं तदा तु गुप्तिसमाधिकाले स साधुः क्षीणमोहो भण्यते। कैर्निश्चयविद्भिः परमार्थज्ञायकैः गणधरदेवादिभिः। इयं तृतीया निश्चयस्तुतिरिति। भाव्यभावक भावाभावरूपेण कथं जाता स्तुतिरिति चेत्—भाव्यो रागादिपरिणत आत्मा, भावको रंजक उदयागतो मोहस्तयोर्भाव्यभावकयोर्भावःस्वरूपं तस्याभावः क्षयो विनाशः सा चैव तृतीया निश्चयस्तुतिरित्यभिप्रायः। एवं रागद्वेष इत्यादि दंडको ज्ञातव्यः। इति प्रथमगाथायां पूर्वपक्षस्तदनंतरं गाथाचतुष्टये निश्चयव्यवहार समर्थनरूपेण परिहारस्ततश्च गाथात्रये निश्चयस्तुतिकथनरूपेण च परिहार इति पूर्वपक्षपरिहारगाथाष्टक समुदायेन षष्ठस्थलं गतं। अथ रागादिविकल्पोपाधिरहितं स्वसंवेदनज्ञानलक्षणप्रत्याख्यानविवरणरूपेण गाथाचतुष्टयं कथ्यते। तत्र स्वसंवेदनज्ञानमेव प्रत्याख्यानमिति कथनरूपेण प्रथमगाथा प्रत्याख्यानविषये दृष्टांतरूपेण द्वितीया चेति गाथाद्वयं। तदनंतरं मोहपरित्यागरूपेण प्रथमगाथा ज्ञेयपदार्थपरित्यागरूपेण द्वितीया चेति गाथाद्वयं एवं सप्तमस्थले समुदायपातनिका। तथाहि—तीर्थंकराचार्यस्तुतिर्निरर्थिका भवतीति पूर्वपक्षबलेन जीवदेहयोरेकत्वं कर्तुं नायातीति ज्ञात्वा शिष्य इदानीं प्रतिबुद्धः सन् हे भगवन् !रागादीनां किं प्रत्याख्यानमिति पृच्छति। इति पृच्छति कोर्थः इति पृष्टे प्रत्युत्तरं। एवं प्रश्नोत्तररूपपातनिकाप्रस्तावे सर्वत्रेतिशब्दस्यार्थो ज्ञातव्यः।

टीका—(जिद मोहस्स दु जइया खीणो मोहो हविज्ज साहुस्स) पूर्व गाथामें कहे हुये क्रमसे जिसने मोहको परास्त कर दिया है ऐसे शुद्धात्मा के अनुभव करनेवाले साधु के निर्विकल्प समाधिमें जब मोह सर्वथा नष्ट हो जाता है (तइया हु खीण मोहो भण्णदि सो णिच्छय विदूहिं) उस समय (तीन) गुप्तिरूप समाधिकालमें वह साधु 'क्षीणमोह जिन' होता है ऐसा परमार्थके जाननेवाले गणधरादिक देव कहते हैं। इस प्रकार तीसरी निश्चय स्तुति हुई। भाव्यभावक भावके अभावरूप से यह स्तवन कैसे हुआ तिसका समाधान आचार्य करते हैं कि भाव्य तो रागादि परिणत आत्मा है और भावक राग उत्पन्न करने वाला उदयमें आया हुआ मोह कर्म है। इन दोनों भाव्य भावकों का जो सद्भाव अर्थात् स्वरूप उसका अभाव, विनाश या क्षय है वही तीसरी निश्चय स्तुति हुई ।।३८।।

यहां पर भी उपर्युक्त गाथामें बताये हुए रागद्वेषादिरूप जो दण्डक हैं वे सब यहां भी लगालेना।

विशेषार्थ—यहां पर आचार्यमहाराज ने 'जिन' शब्द की तीन प्रकारसे निरूक्ति की है। (१) जो समस्त परद्रव्यों से दूर होता हुआ इन्द्रियों को पूर्णरूप से जीतता है अतएव अपनी आत्मामें निमग्न है वह जिन है। (२) जो मोह को सर्वथा उपशम कर आत्मानुभवमें मग्न होता है वह जिन है। (३) जिसने मोह को सर्वथा नष्ट कर दिया वह साधु जिन है। इस प्रकार आचार्य देवने जिन शब्द का अर्थ साधु अवस्थासे ही प्रारंभ किया है, इससे यह बात स्पष्ट होती है कि इनको गृहस्थ अवस्थामें जिनपना अभीष्ट नहीं है।

इस प्रकार इस प्रकरण की प्रथम गाथामें देह और आत्मा को एक माननेरूप पूर्वपक्ष किया। फिर चार गाथाओं से निश्चय और व्यवहारनय का समर्थन करते हुए उसका उत्तर दिया। फिर तीन गाथाओंसे निश्चय स्तुति के कथन से उसीका विशेष समाधान किया। इस प्रकार पूर्वपक्ष और उसका परिहार रूप आठ गाथाओं में छटा स्थल पूर्ण हुआ।

आगे रागादि विकल्पोंकी उपाधिसे रहित जो स्वसंवेदन ज्ञान है वही है लक्षण जिसका ऐसे प्रत्याख्यान के वर्णन से चार गाथायें कही जाती हैं तिनमें स्वसंवेदनज्ञान ही प्रत्याख्यान है ऐसा कथन करते हुए पहली गाथा है, फिर प्रत्याख्यान के विषयमें दृष्टान्तरूप दूसरी गाथा है। इस प्रकार दो गाथा हैं। फिर मोह के त्यागरूप से पहली गाथा है और ज्ञेय पदार्थके त्यागरूपसे दूसरी गाथा है। ऐसे दो गाथा हैं। ऐसे सातवें स्थलकी चार गाथाओं में समुदाय पातनिका हुई।

यहां यदि जीव और देह को एक नहीं माना जायगा तो तीर्थंकर व आचार्य की स्तुति की गई है वह व्यर्थ होती है इस प्रकार पूर्वपक्षके बलसे जीव और देहमें एकपना मानना ठीक नहीं है ऐसा जानकर प्रतिबुद्ध होता हुआ शिष्य पूछता है कि हे भगवन् ! रागादिकों का प्रत्याख्यान किस प्रकार किया जाय ऐसा पूछने पर आचार्य उत्तर देते हैः (नोट—इसी प्रकार और स्थान पर भी प्रश्नोत्तररूप पातनिका जहां पर आवे वहां सभी स्थानों पर 'इति' शब्द का ऐसा ही अर्थ लेना)

णाणं सव्वेभावे पच्चक्खाई परेत्ति णादूण ।
तम्हा पच्चक्खाणं णाणं णियमा मुणेयव्वं ॥३८॥

ज्ञानं सर्वान्भावान् प्रत्याख्याति परानिति ज्ञात्वा ।
तस्मात्प्रत्याख्यानं ज्ञानं नियमात् मन्तव्यम् ॥३९॥

अर्थ—यह आत्मा जब अपने से भिन्न पदार्थों को पर जान लेता है तब उन्हें उसी समय छोड़ देता है अतः वास्तवमें ज्ञान ही प्रत्याख्यान है।

तात्पर्यवृत्तिः—णाणं सव्वे भावे पच्चक्खाई परेत्ति णादूण जानातीति व्युत्पत्या स्वसंवेदनज्ञानमात्मेति भण्यते तं ज्ञानं कर्तृ मिथ्यात्वरागादिभावं परस्वरूपमिति ज्ञात्वा प्रत्याख्याति त्यजति निराकरोति **तम्हा पच्चक्खाणं णाणं णियमा मुणेयव्वं** तस्मात्कारणात् निर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानमेव प्रत्याख्यानं नियमान्निश्चयात् मंतव्यं ज्ञातव्यमनुभवनी-यमिति। इदमत्र तात्पर्यं—परमसमाधिकाले स्वसंवेदनज्ञानबलेन शुद्धमात्मात्मानमनुभवति तदेवानुभवनं निश्चयप्रत्या-ख्यानमिति। अथ प्रत्याख्यानविषये दृष्टांतमाह ।

टीका—(णाणं सव्वेभावे पच्चक्खाई परेत्ति णादूण) 'जानाति इति ज्ञानं' इस प्रकार ज्ञान शब्द की व्युत्पत्ति है। अतः स्वसंवेदन ज्ञानही आत्मा नाम से कहा जाता है वह ज्ञान मिथ्यात्व और रागादि भावों को ये परस्वरूप हैं ऐसा जान लेता है तबही उन्हें छोड़ देता है उनसे दूर हो जाता है। (तम्हा पच्चक्खाणं णाणं णियमा मुणेयव्वं) इसलिये निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञानही नियमसे प्रत्याख्यान है ऐसा मानना चाहिये जानना चाहिये और अनुभव करना चाहिये। तात्पर्य यह है कि परम समाधि कालमें स्व-संवेदन ज्ञान के बलसे आत्मा अपने आप को शुद्ध अनुभव करता है वह अनुभव ही निश्चय प्रत्याख्यान है ॥३९॥

विशेषार्थ—आचार्यदेव कहते हैं कि ज्ञान और प्रत्याख्यान दोनों एक ही वस्तु है। वास्तवमें इनमें कोई भेद नहीं है क्योंकि जब भेदज्ञान होता है कि ये सब परवस्तु मेरेसे भिन्न हैं तो उन्हें उसी समय छोड़ देता है। ऐसा नहीं हो सकता कि किसी भी वस्तु को पर जानते हुये अपने आपके लिए हानिकारक तो जानले फिर भी उसे छोड़े नहीं। यदि नहीं छोड़ता है तो समझो उसके जाननेमें ही कमी है अर्थात् वह अज्ञानी है। इसी को आचार्यदेव स्वयं आगे की गाथामें स्पष्ट करते हैं:—

जह णाम कोवि पुरिसो परदव्वमिणंति जाणिदुं चयदि ।
तह सव्वे परभावे, णाऊण विमुंचदे णाणी ॥४०॥

आत्मख्याति में सव्वे भावे जम्हा इत्यादि हैं

यथानाम कोऽपि पुरुषः परद्रव्यमिदमिति ज्ञात्वा त्यजति ।
तथा सर्वान् परभावान् ज्ञात्वा विमुंचति ज्ञानी ।।४०।।

अर्थ—जैसे कोई भी पुरुष यह जान लेता है कि यह परद्रव्य है तो उसे वह छोड़ देता है। उसी प्रकार जो आत्मासे अतिरिक्त पदार्थों को अपने से भिन्न जान लेता है तो उन्हें छोड़ ही देता हैं वह ज्ञानी कहलाता है ।।४०।।

तात्पर्यवृत्तिः—जहणाम कोवि पुरिसो परदव्वमिणंति जाणिदुं चयदि यथा नाम अहो स्फुटं वा कश्चित्-पुरुषो वस्त्राभरणादिकं परद्रव्यमिदमिति ज्ञात्वा त्यजति **तह सव्वे परभावे णाऊण विमुंचदे णाणी** तथा तेन प्रकारेण सर्वान् मिथ्यात्वरागादिपरभावान् पर्यायान् स्वसंवेदनज्ञानबलेन ज्ञात्वा विशेषेण त्रिशुद्धया विमुंचति त्यजति स्वसंवेदनज्ञानीति ! अयमत्र भावार्थः—यथा कश्चिद्देवदत्तः परकीयचीवरं भ्रांत्या मदीयमिति मत्वा रजकगृहादानीय परिधाय च शयानः सन् पश्चादन्येन वस्त्रस्वामिना वस्त्रांचलमादायाच्छोद्य नग्नीक्रियमाणः सन् वस्त्रलांच्छनं निरीक्ष्य परकीयमिति मत्वा तद्वस्त्रं मुंचति तथायं ज्ञानी जीवोपि परम निर्विण्णेन गुरुणा मिथ्यात्वरागादिविभावा एते भवदीयस्वरूपं न भवंति, एकएव त्वमिति प्रतिबोध्यमानः सन् परकीयानिति ज्ञात्वा मुंचति शुद्धात्मानुभूतिमनुभवतीति । एवं गाथाद्वयं गतं । अथ कथं शुद्धात्मानुभूतिमनुभवतीति पृष्टेसति मोहादिपरित्यागप्रकारमाह ।

टीका (जहणाम कोवि पुरिसो परदव्वमिणंति जाणिदुं चयदि) जैसे कोई भी पुरुष वस्त्र आभरण आदि कोई भी वस्तुको यह परद्रव्य है ऐसा स्पष्ट रूपसे जान लेता है तब उसे छोड़ देता है। (तह सव्वे परभावे णाऊण विमुंचदे णाणी) उसी प्रकार मिथ्यात्व और रागादि सबही परभावों को अर्थात् पर्यायों को अपने स्वसंवेदन ज्ञानके बलसे जानकर उन्हें विशेषरूपसे अर्थात् मन वचन कायरूप त्रिशुद्धि द्वारा छोड़ देता है तबही वह स्वसंवेदन ज्ञानी होता है (अन्यथा नहीं)। भावार्थ यह है कि जैसे कोई देवदत्त नाम का पुरुष भ्रमसे दूसरे के वस्त्र को अपना समझकर धोबी के घर से उसे लेआया और पहनकर सो गया। पीछे उस वस्त्र का स्वामी आकर उस वस्त्र को पकड़कर खींचता है और उतारना चाहता है तो उस वस्त्रके विशेष चिह्न को देखकर वह जब उसे दूसरे का समझ लेता है तब उसे उतार देता है। उसी प्रकार ज्ञानी जीव भी परम वैरागी गुरुदेव के द्वारा 'यह सब मिथ्यात्व व रागादि विभाव भाव तेरे स्वरूप नहीं हैं, तू एक (शुद्ध आत्मा) ही है', ऐसा समझाया जाने पर उनको पर जान छोड़ देता है और शुद्धात्मा का अनुभव करने लगता है (वही ज्ञानी है)। इस प्रकार दो गाथायें पूर्ण हुईं ।।४०।।

विशेषार्थ—आचार्य के सब कथन का सार यह है कि जो प्रत्याख्यानी है—सब पर वस्तुओं को त्यागकर पृथक् हो जाता है एवं अपने शुद्धात्मा के स्वरूप में निमग्न हो जाता है वही ज्ञानी होता है।

आगे शुद्धात्मा की अनुभूति का अनुभव किस प्रकार होता है ऐसा पूछने पर आचार्यदेव मोहादिक के परित्याग का प्रकार बतलाते हैं:—

णत्थि मम कोवि मोहो बुज्झदि उवओग एव अहमिक्को ।
तं मोह णिम्ममत्तं समयस्स वियाणया विंति ।।४१।।

नास्ति मम कोपि मोहो बुध्यते उपयोग एवाहमेकः
तं मोह निर्ममत्वं समयस्य विज्ञायकाः विन्दन्ति ।।४१।।

अर्थ—मोह (परको अपनाना) मेरा कोई भी संबंधी नहीं है उससे मेरा कोई प्रयोजन नहीं है, मैं तो केवल एक उपयोग स्वरूप हूं इस प्रकार के जाननेको सिद्धान्त के जानकर लोग निर्मोहपना कहते हैं ।।४१।।

तात्पर्यवृत्तिः—णत्थि मम को वि मोहो नास्ति न विद्यते मम शुद्धनिश्चयेन टंकोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावस्य सतो रागादिपरभावेन कर्तृभूतेन भावयितुं रंजयितुमशक्यत्वात्कश्चिद्द्रव्यभावरूपो मोहः। **बुज्झदि उवओग एव अहमिक्को** बुध्यते जानाति स कः कर्त्ता ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणत्वादुपयोग आत्मैव। किं बुध्यते यतः कारणादहमेकः ततो मोहंप्रति निर्ममत्वोस्मि निर्मोहो भवामि। अथवा बुध्यते जानाति किं जानाति विशुद्धज्ञानदर्शनोपयोग एवाहमेकः। **तं मोहणिम्ममत्तं समयस्स वियाणया विंति** तं निर्मोहशुद्धात्मभावनास्वरूपं निर्ममत्वं ब्रुवंति वदंति जानंति वा केते समयस्य शुद्धात्मस्वरूपस्य विज्ञायकाः पुरुषा इति। किंच विशेषः—यत्पूर्वं स्वसंवेदनज्ञानमेव प्रत्याख्यानं व्याख्यातं तस्यैवेदं निर्मोहत्वं विशेषव्याख्यानमिति। एवमेव मोहपदपरिवर्त्तनेन रागद्वेषक्रोधमानमायालोभकर्मनोकर्ममनोवचनकायश्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयानि। अनेन प्रकारेणान्यान्यप्यसंख्येयलोकमात्रप्रमितानि विभावपरिणामरूपाणि ज्ञातव्यानि। अथ धर्मास्तिकायादिज्ञेयपदार्था अपि मम स्वरूपं न भवंतीतिप्रतिपादयतिः—

टीकाः—(णत्थि मम कोवि मोहो) शुद्ध निश्चयनय से टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक स्वभाववाला जो मैं उसको रंजायमान करने के लिये रागादि परभाव कभी समर्थ नहीं है, इसलिये द्रव्य और भावरूप कोई भी मोह मेरा नहीं है। (बुज्झदि उवओग एव अहमिक्को) किन्तु ज्ञान दर्शन उपयोगरूप लक्षणवाला होने से मेरा आत्मा तो इस प्रकार जानता है कि मैं तो केवल उपयोग स्वरूप ही हूं अतएव मैं तो मोह से दूर हूं निर्मम हूं इस प्रकार जो अपने आपको केवल विशुद्ध ज्ञान दर्शन उपयोगमयी जानता है (तं मोह णिम्ममत्तं समयस्स वियाणया विंति) उसे ही शुद्धात्माके स्वरूपको जाननेवाले लोग मोहसे निर्ममत्व हुआ (शुद्धात्म स्वरूप हुआ) बतलाते हैं जानते हैं। सार यह है कि आचार्यदेवने स्वसंवेदन ज्ञान को ही प्रत्याख्यान बतलाया था उसी का यह निर्मोहरूप से विशेष व्याख्यान है। यहां जहां मोह पद लगाया है उसीके स्थानपर राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना, स्पर्शन ये सोलह सूत्र क्रमसे लगाकर व्याख्यान करना चाहिये। और इसी प्रकार अन्य भी असंख्यात लोक परिमित जो विभाव भाव हैं उन्हें भी समझना चाहिये ॥४१॥

आगे कहते हैं कि धर्मास्तिकाय आदि ज्ञेय पदार्थ भी मेरा आत्मा का स्वरूप नहीं हैः—

णत्थि मम धम्म आदी बुज्झदि उवओग एव अहमिक्को।
तं धम्म णिम्ममत्तं, समयस्स वियाणया विंति ॥४२॥

न संति मम धर्मादयो बुध्यते उपयोग एवाहमेकः
तं धर्मनिर्ममत्वं समयस्य विज्ञायकाः विन्दन्ति ॥४२॥

अर्थ—मैं तो केवल एक उपयोग स्वभाव हूं धर्मादि (अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और इतर जीव द्रव्य) द्रव्य मेरे कुछ भी नहीं है इस प्रकार जो जानता है उसे सिद्धान्त के जानने वाले पुरुष धर्मादि पर द्रव्यों से निर्ममत्व हुआ कहते हैं।

तात्पर्यवृत्तिः—णत्थि मम धम्म आदी न संति न विद्यंते धर्मास्तिकायादिज्ञेयदार्था ममेति **बुज्झदि** बुध्यते ज्ञानी तर्हि किमहं **उवओगएव अहमिक्को** विशुद्धज्ञानदर्शनोपयोग एवाहं अथवा ज्ञान दर्शनोपयोगलक्षणत्वादित्यभेदेनोपयोग एवात्मा स जानाति। केन रूपेण, यतोहं टंकोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभाव एकः ततो दधिखंडशिखिरिणीवत् व्यवहारेणैकत्वेपि शुद्धनिश्चयनयेन मम स्वरूपं न भवंतीति परद्रव्यं प्रति निर्ममत्वोस्मि **तं धम्मणिम्ममत्तं समयस्स वियाणया विंति** तं शुद्धात्मभावानास्वरूपं परद्रव्य निर्ममत्वं समयस्य शुद्धात्मनो विज्ञायकाः पुरुषा ब्रुवंति कथयंतीति।

किंच इदमपि परद्रव्यनिर्ममत्वं यत्पूर्वं भणितं स्वसंवेदनज्ञानमेव प्रत्याख्यानं तस्यैव विशेषव्याख्यानं ज्ञातव्यं इति गाथाद्वयं गतं। एवं गाथाचतुष्टयसमुदायेन सप्तमस्थलं समाप्तं। अथ शुद्धात्मैवोपादेय इति श्रद्धानं सम्यक्त्वं तस्मिन्नेव शुद्धात्मनि स्वसंवेदन सम्यग्ज्ञानं तत्रैव निजात्मनि वीतरागस्वसंवेदननिश्चलरूपं चारित्रमिति निश्चयरत्नत्रयपरिणतजीवस्य कीदृशं स्वरूपं भवतीत्यावेदयन्सन् जीवाधिकारमुपसंहरति।

टीका—(णत्थि मम धम्म आदी) धर्मास्तिकाय आदि जो समस्त ज्ञेय पदार्थ हैं वे सब मेरे नहीं हैं (बुज्झदि) ऐसा ज्ञानी जीव जानता है—वह जानता है कि (उवओग एव अहमिक्को) मैं तो केवल विशुद्ध ज्ञान दर्शन उपयोगमयी हूँ अथवा वह जानता है कि ज्ञान दर्शन उपयोगमय होने से मैं तो उपयोग के साथ अभिन्न हूँ, उपयोगमयी हूँ, क्योंकि मैं एक टंकोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभाव हूँ इसलिये व्यवहार नयसे परद्रव्यों के साथ दधि खांड आदि शिखरिणी के समान भले ही मेरे साथ एकता हो फिर भी शुद्ध निश्चयनय से यह सब मेरा स्वरूप नहीं है, इसलिये मैं तो इन सब पर द्रव्यों से निर्मम हूँ (तं धम्म णिम्ममत्तं समयस्स वियाणया विंति) ऐसे शुद्धात्मा के स्वरूप के अनुभव करने वाले को सिद्धान्तके जानकार पुरुष परद्रव्य से निर्मम हुआ कहते हैं। यहां परद्रव्य से निर्ममपना बताया गया है वह भी उसी का विशेष व्याख्यान है जो पूर्व में कह आये हैं कि स्वसंवेदन ज्ञान ही प्रत्याख्यान है ऐसा समझना चाहिये ।।४२।।

इस प्रकार दो गाथायें कही गईं। और इस प्रकार समुदाय रूप से चार गाथाओं द्वारा सातवां स्थल पूर्ण हुआ।

अब शुद्धात्मा ही उपादेय है इस प्रकार का श्रद्धान तो सम्यक्त्व, उसी शुद्ध आत्मा में स्वसंवेदन रूप ज्ञान वही सम्यग्ज्ञान, और उसी आत्मा में वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान को स्थिर करके रखना सो सम्यग्चारित्र इस प्रकार निश्चय रत्नत्रय में परिणत जीव का कैसा स्वरूप है यह बताते हुए आचार्यदेव जीवाधिकार का उपसंहार करते हैं—

अहमिक्को खलु सुद्धो, दंसणणाणमइओ सदारूवी।
णवि अत्थि मज्झ किंचिवि, अण्णं परमाणुमित्तंपि ।।४३।।

अहमेकः खलु शुद्धो, दर्शनज्ञानमयः सदाऽरूपी।
नाप्यस्ति मम किंचिदप्यन्यत्परमाणुमात्रमपि ।।४३।।

अर्थ—(ज्ञानी जीव का ऐसा विचार होता है कि) मैं एकाकी हूं, शुद्ध हूँ अर्थात् पर द्रव्य संबंध से सर्वथा रहित हूं, दर्शनज्ञानमयी हूँ और सदा अरूपी हूँ अतः इन सब बाह्य पर द्रव्यों में मेरा परमाणु मात्र भी नहीं है।

तात्पर्यवृत्तिः—**अहं** अनादिदेहात्मैक्यभ्रांत्याज्ञानेन पूर्वमप्रतिबुद्धोपि करतलविन्यस्तसुतविस्मृत पश्चान्निद्राविनाशस्मृतचामीकरावलोकनन्यायेन परमगुरुप्रसादेन प्रतिबुद्धो भूत्वा शुद्धात्मनि रतो यः सोहं वीतरागश्चिन्मात्रं ज्योतिः। पुनरपि कथं भूतः **इक्को** यद्यपि व्यवहारेण नरनारकादिरूपेणानेकस्तथापि शुद्धनिश्चयेन टंकोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावत्वादेकः। **खलु** स्फुटं। पुनरपि किंरूपः **सुद्धो** व्यावहारिकनवपदार्थेभ्यः शुद्धनिश्चयनयेन भिन्नः। अथवा रागादिभावेभ्योभिन्नोहमिति शुद्धः। पुनरपि किंविशिष्टः **दंसणणाणमइओ** केवलदर्शनज्ञानमयः। पुनरपि किंरूपः **सदारूवी** निश्चयनयेन रूपरसगंधस्पर्शाभावात्सदाप्यमूर्तः। **णवि अत्थि मज्झ किंचिवि अण्णं परमाणुमित्तंपि।** इत्थंभूतस्य सतः नैवास्ति ममान्यत्परमाणुमात्रमपि पर द्रव्यं किमपि। यदेकत्वेन रंजकत्वेन ज्ञेयत्वेन वा पुनरपि मम मोहमुत्पादयति। कस्मात् परमविशुद्धज्ञानपरिणतत्वात्।

इति समयसारव्याख्यायां शुद्धात्मानुभूतिलक्षणायां तात्पर्यवृत्तौ स्थलसप्तकेन **जो पस्सदि अप्पाण**मित्यादि सप्तविंशतिगाथाः तदनंतरमुपसंहारसूत्रमेकमिति समुदायेनाष्टाविंशतिगाथाभिर्जीवाधिकारः समाप्तः । इति प्रथमरंगः ।

टीका—(अहं) अनादिकाल से देह और आत्मा की एक मान्यता रूप भ्रमात्मक अज्ञानभाव से जो पहले अप्रतिबुद्ध था (सही बात को नहीं समझने वाला था) किन्तु जिस प्रकार हाथ में रखे हुए सोने को भूल जाता है, या निद्रा में मग्न हो कर सो जाता है फिर निद्रा के दूर हटने पर उस स्वर्ण का स्मरण आ जाने से प्रसन्न हो जाता है, वैसे ही मैं भी परम गुरु के प्रसाद से प्रतिबुद्ध होकर अब शुद्धात्मा में तल्लीन हो रहा हूँ एवं वीतराग चेतनामात्र ज्योति स्वरूप हूँ। (इक्को) यद्यपि व्यवहार नय से नरनारकादि रूप पर्यायों से अनेक रूप हूँ (खलु) ऐसा स्पष्ट है। (सुद्धो) शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा व्यावहारिक जीवादि नव पदार्थों से मैं भिन्न हूं अथवा रागादि विभाव भावों से भिन्न हूँ। (दंसणणाणमइओ) केवल मात्र दर्शन ज्ञान मय हूँ, (सदारूवी) निश्चयनय से रूप रस गंध और स्पर्श का अभाव होने से मैं सदा ही अमूर्तिक हूँ। (णवि अत्थि मज्झ किंचिवि अण्णं परमाणुमित्तंपि) इस प्रकार इन पर द्रव्योंमें से मेरे पास एक परमाणु मात्र भी नहीं है जो कि एकत्व रूप से रंजायमान करने वाला होकर या ज्ञेयरूप होकर मेरी आत्मा में मोह उत्पन्न कर सके क्योंकि मैं तो परम विशुद्ध ज्ञान रूप में परिणत हो रहा हूँ। (अर्थात् परम समाधि में तत्पर होकर अपने आप में लीन हो रहा है ।।४३।।

इस प्रकार **श्री जयसेनाचार्य** के द्वारा बनाई हुई शुद्धात्मा की अनुभूति है लक्षण जिसका ऐसी तात्पर्य नामकी समयसार की व्याख्या में सात स्थलों से 'जो पस्सदि अप्पाणं' इत्यादि २७ गाथा व उसके पीछे एक उपसंहार गाथा इस प्रकार २८ गाथाओं से प्रथम जीवाधिकार समाप्त हुआ ।

इस प्रकार प्रथम रंग समाप्त हुआ

(२) अजीवाधिकार (दूसरा अधिकार)

तात्पर्यवृत्तिः—अथानंतरं शृंगारसहितपात्रवज्जीवाजीवावेकीभूतौ प्रविशतः। तत्र स्थलत्रयेण त्रिंशद्गाथापर्यंतमजीवाधिकारः कथ्यते। तेषु प्रथमस्थले शुद्धनयेन देहरागादिपरद्रव्यं जीवस्वरूपं न भवतीति निषेधमुख्यत्वेन **अप्पाणमयाणंता** इत्यादिगाथामादिं कृत्वा पाठक्रमेण गाथादशकपर्यंतं व्याख्यानं करोति। तत्र गाथादशकमध्ये परद्रव्यात्मवादे पूर्वपक्षमुख्यत्वेन गाथापंचकं तदनंतरं परिहारमुख्यत्वेन सूत्रमेकं। अथाष्टविधं कर्मपुद्गलद्रव्यं भवतीति कथनमुख्यत्वेन सूत्रमेकं। ततश्च व्यवहारनयसमर्थनद्वारेण गाथात्रयं कथ्यत इति समुदायपातनिका। तद्यथा। अथ देहरागादिपरद्रव्यं निश्चयेन जीवो भवतीति पूर्वपक्षं करोति।

अब इसके आगे शृंगार किये हुए नाटक पात्र के समान जीव और अजीव दोनों एक रूप होकर आते हैं। वहां तीन स्थलोंसे तीस गाथा पर्यन्त अजीवाधिकार कहा गया है। उनमेंसे पहले स्थलमें 'अप्पाण मयाणंतो' इत्यादि दस गाथा पर्यन्त तो मुख्यतासे यह बतलाते हैं कि शुद्ध निश्चयनयसे देह और रागादि

पर द्रव्य जीवके स्वरूप नहीं हो सकते। उन दस गाथाओंमें से भी परद्रव्य को आत्मा माननेरूप पूर्व पक्ष की मुख्यतासे प्रथम पांच गाथा हैं, तत्पश्चात् एक गाथा से उसका निराकरण है, उसके आगे आठ प्रकार का कर्म भी पुद्गल द्रव्य है ऐसा एक गाथासे कथन किया गया है, फिर व्यवहारनय का समर्थन करते हुए तीन गाथा कही हैं। इस प्रकार समुदाय पातनिका हुई।

अब देह व रागादि जो परद्रव्य है, वह नियम से जीव है ऐसा पूर्वपक्ष करते हैं:—

अप्पाणमयाणंता मूढा दु परप्पवादिणो केई।
जीवं अज्झवसाणं कम्मं च तहा परूविंति ।।४४।।
अवरे अज्झवसाणे,सुतिव्व मंदाणुभागगं जीवं।
मण्णंति तहा अवरे, णोकम्मं चावि जीवोत्ति ।।४५।।
कम्मसुदयं जीवं अवरे कम्माणुभागमिच्छंति।
तिव्वत्तणमंदत्तणगुणेहिं जो सो हवदि जीवो ।।४६।।
जीवो कम्मं उहयं दोण्णिवि खलु केवि जीवमिच्छंति।
अवरे संजोगेण दु कम्माणं जीवमिच्छंति ।।४७।।
एवंविहा बहुविहा परमप्पाणं वदंति दुम्मेहा।
तेण दु परप्पवादी णिच्छयवाईहिं णिद्दिट्ठा ।।४८।।

आत्मानमजानंतो मूढास्तु परात्मवादिनः केचित्।
जीवमध्यवसानं कर्म च तथा प्ररूपयंति ।।४४।।
अपरेऽध्यवसानेषु तीव्रमंदानुभागगं जीवं।
मन्यन्ते तथाऽपरे नोकर्म चापि जीव इति ।।४५।।
कर्मण उदयं जीवमपरे कर्मानुभागमिच्छन्ति।
तीव्रत्वमंदत्वगुणाभ्यां यः स भवति जीवः ।।४६।।
जीवकर्मोभयं द्वे अपि खलु केचिज्जीवमिच्छन्ति।
अपरे संयोगेन तु कर्मणां जीवमिच्छन्ति ।।४७।।
एवंविधा बहुविधाः परमात्मानं वदंति दुर्मेधसः।
तेन तु परात्मवादिनः निश्चयवादिभिर्निर्दिष्टाः ।।४८।।

अर्थः—आत्मा को नहीं जानने वाले मूढ़ पुरुष परद्रव्य को ही आत्मा मानते हैं उनमें से कितने ही अध्यवसान (रागादि) को, कोई कर्मको ही जीव कहते हैं। तथा कोई अध्यवसानोंमें भी तीव्रता, मन्दता को लिये हुये जो अनुभाग होता है उसे जीव मानते हैं। अन्य कोई नोकर्म को (चलते फिरते शरीर को) ही जीव मानते हैं। कोई कर्म के उदयको जीव मानते हैं। कोई कर्मके फलको जो तीव्र मंद रूप गुणोंसे भेदको प्राप्त होता है वह जीव है ऐसा इष्ट करते है।

कोई जीव और कर्म दोनों मिले हुए को जीव मानते हैं। अन्य कोई लोग कर्मोंके परस्पर संयोग से पैदा हुआ जीव को मानते हैं। इस प्रकार और भी अनेक प्रकार की आत्माके विषयमें अज्ञानी लोग भिन्न भिन्न कल्पनायें करते हैं, वे वस्तु स्थितिके जानने वाले नहीं किन्तु मन्दबुद्धि हैं ऐसा यथार्थ जानने वाले सर्वज्ञ देव तथा गणधरादि ऋषियों ने कहा है ॥४४-४८॥

तात्पर्यवृत्तिः—अप्पाणमयाणंता मूढा दु परप्पवादिणो केई आत्मानमजानंतः मूढास्तु परद्रव्यमात्मानं वदंतीत्येवंशीलाः केचन परात्मवादिनः **जीवं अज्झवसाणं कम्मं च तहा परूविंति** यथांगारात् कार्ष्ण्यं भिन्नं नास्ति तथा रागादिभ्यो भिन्नो जीवो नास्तीति रागाद्यध्यवसानं कर्म च जीवं वदंतीति। अथ **अवरे अज्झवसाणेसुतिव्व मंदाणुभावगं जीवं मण्णंति** अपरे केचनैकांतवादिनः रागाद्यध्यवसानेषु तीव्रमंदतारतम्यानुभावस्वरूपं शक्तिमाहात्म्यं गच्छतीति तीव्रमंदानुभावगस्तं जीवं मन्यंते। **तहा अवरे णोकम्मं चावि जीवोत्ति** तथैवापरे चार्वाकादयः कर्मनोकर्मरहितपरमात्मभेदविज्ञानशून्याः शरीरादिनोकर्म चापि जीवं मन्यंते। अथ—**कम्मस्सुदयं जीवं अवरे** अपरे कर्मण उदयं जीवमिच्छंति **कम्माणुभागमिच्छंति** अपरे च कर्मानुभागं लतादार्वस्थिपाषाणरूपं जीवमिच्छिंति। कथंभूतः स चानुभागः **तिव्वत्तणमंदत्तणगुणेहिं जो सो हवदि जीवो** तीव्रत्वमंदत्वगुणाभ्यां वर्त्तते यः स जीवो भवतीति। अथ—**जीवोकम्मं उहयं दोण्णिवि खलु केवि जीवमिच्छंति** जीवकर्मोभयं द्वे अपि जीवकर्मणि शिखरिणीवत् खलु स्फुटं जीवमिच्छंति। **अवरे संजोगेण दु कम्माणं जीवमिच्छंति**। अपरे केचन अष्टकाष्ठखट्वावदष्टकर्मणां संयोगेनापि जीवमिच्छंति। कस्मात् अष्टकर्मसंयोगादन्यस्य शुद्धजीवस्यानुपपत्तेः। अथ **एवंविहाबहुविहा परमप्पाणं वदंति दुम्मेहा** एवंविधा बहुविधाःबहुप्रकारा देहरागादिपरद्रव्यमात्मानं वदंति दुर्मेधसो दुर्बुद्धयः **तेण दु परप्पवादी णिच्छयवादीहिं णिद्दिट्ठा** तेन कारणेन तु पुनः देहरागादिकं परद्रव्यमात्मानं बदंतीत्येवं शीलाः परात्मवादिनो निश्चयवादिभिः सर्वज्ञैर्निर्दिष्टा इति पंचगाथाभिः पूर्वपक्षः कृतः। अथ परिहारं वदति।

टीकाः—(अप्पाणमयाणंता मूढा दु परप्पवादिणो केई) जो आत्माको तो जानते नहीं हैं किन्तु आत्मासे भिन्न शरीरादि पर द्रव्यको ही जीव नाम से कहते हैं ऐसे कितने ही परात्मवादी मोही जीव हैं उनमें से कोई (जीवं अज्झवसाणं कम्मं च तहा परूविंति) जैसे अंगारेसे कालापन कोई भिन्न नहीं है वैसे ही रागादिभावों से भिन्न जीव नहीं है किन्तु रागादिरूप अध्यवसान भाव या कर्मही जीव है ऐसा कहते हैं। (अवरे अज्झवसाणेसुतिव्वमंदाणुभावगं जीवं मण्णंति) कुछ एकान्तवादी लोग रागादि अध्यवसान भावोंमें जो तीव्रता मन्दतारूप तारतम्य लिए हुए अनुभव होता है तत्स्वरूप शक्ति समूह को प्राप्त होने वाला ही जीव है ऐसा कहते हैं (तहा अवरे णोकम्मं चावि जीवोत्ति) वैसे ही चार्वाक आदि जो कर्म और नोकर्म से रहित शुद्ध परमात्मा के भेद विज्ञान से शून्य हैं वे शरीरादि नोकर्मको ही जीव मानते हैं। (कम्मसुदयं जीवं अवरे) कुछ कर्मके उदय को ही जीव कहते हैं। (कम्माणुभागमिच्छंति) व कुछ लता, दारु, अस्थि, और पाषाणादि रूप जो कर्मोंका फल होता है उसे जीव कहते हैं वह अनुभाग (तिव्वत्तण मदंत्तण गुणेहिं जो सो हवदि जीवो) तीव्रता मंदतारूप स्वभावसे अपना फल देता है वही जीव है। (जीवो कम्मं उहयं दोण्णिवि खलु केवि जीवमिच्छंति) जीव और कर्म इन दोनों को शिखरिणि के समान मिले हुए को ही कुछ लोग जीव कहते हैं। (अवरे संजोगेण दु कम्माणं जीवमिच्छंति) जैसे आठ काठोंका परस्पर संयोग होकर एक खाट बन जाती है, वैसे ही आठ कर्मोके संयोगसे जीव हो जाता है ऐसा कुछ लोग कहते हैं क्योंकि आठ कर्मोंके संयोगसे भिन्न शुद्ध जीव की उपलब्धि नहीं है। (एवंविहा बहुविहा परमप्पाणं वदन्ति दुम्मेहा) इसी प्रकार और भी अनेक प्रकार की कल्पना करनेवाले मंदबुद्धि

वाले जीव हैं जो कि देह रागादिरूप परद्रव्य को ही आत्मा कहते हैं (तेण दु परप्पवादी णिच्छयवादीहिं णिद्दिट्ठा) इसलिये वास्तविक कथन करनेवाले सर्वज्ञ भगवानने ऐसा कहा है कि ये लोग इन देह रागादि पर द्रव्य को ही आत्मा मानने वाले होनेसे परात्मवादी हैं इस प्रकार पूर्व पक्ष का कथन करने वाली पांच गाथायें हुई ॥४४-४८॥

अब उपर्युक्त जो जीवका स्वरूप बतलाया है उसका परिहार करते हैं:-

एदे सव्वे भावा पुग्गलदव्वपरिणामणिप्पण्णा।
केवलिजिणेहिं भणिया कह ते जीवो त्ति वुच्चंति ॥४९॥

एते सर्वेभावाः पुद्गलद्रव्यपरिणामनिष्पन्नाः।
केवलिजिनैर्भणिताः कथं ते जीव इत्युच्यंते ॥४९॥

अर्थ-केवली भगवान ने बतलाया है कि उपर्युक्त सब अवस्थायें पौद्गलिक द्रव्य कर्म के संबंध से होने वाली हैं। इसलिये ये सब जीव नहीं कही जा सकतीं ॥४९॥

तात्पर्यवृत्तिः--एदे सव्वे भावा पुग्गलदव्वपरिणामणिप्पणा एते सर्वे देहरागादयः कर्मजनितपर्यायाः पुद्गलद्रव्यकर्मोदयपरिणामेन निष्पन्नाः। **केवलीजिणेहिं भणिया कह ते जीवोति उच्चंति** केवलिजिनैः सर्वज्ञैः कर्मजनिता इति भणिताः कथं ते निश्चयनयेन जीवा इत्युच्यंते न कथमपि। किंच विशेषः अंगारात् कार्ष्ण्यवद्रागादिभ्यो भिन्नो जीवो नास्तीति यद्भणितं तदयुक्तं। कथमिति चेत्। रागादिभ्यो भिन्नः शुद्धजीवोस्तीति पक्षः परमसमाधिस्थ पुरुषैः शरीररागादिभ्यो भिन्नस्य चिदानंदैकस्वभावशुद्धजीवस्योपलब्धेरिति हेतुः। किट्टकालिकास्वरूपात् सुवर्णवदिति दृष्टांतः। किं च अंगारदृष्टांतोपि न घटते। कथमिति चेत्। यथा सुवर्णस्य पीतत्वं अग्नेरुष्णत्वं स्वभावस्तथांगारस्य कृष्णत्वस्वभावस्य तु पृथक्त्वं कर्तुं नायाति। रागादस्तु विभावाः स्फटिकोपाधिवत् ततस्तेषां निर्विकारशुद्धात्मानुभूति-बलेन पृथक्कर्तुं शक्यते इति। यदप्युक्तमष्टकाष्ठसंयोगखट्वावदष्टकर्मसंयोग एव जीवस्तदप्यनुचितं अष्टकर्मसंयोगात् भिन्नः शुद्ध जीवो स्तीति पक्षवचनं अष्टकाष्ठसंयोगखट्वाशायिनः पुरुषस्येव परमसमाधिस्थपुरुषैरष्टकर्मसंयोगात् पृथग्भूतस्य शुद्धबुद्धैकस्वभावजीवस्योपलब्धेरिति दृष्टांतसहितहेतुः। किं च देहात्मनोरत्यंतं भेदः इतिः पक्षः भिन्नलक्षण-लक्षितत्वादिति हेतुः जलानलवदिति दृष्टांतः। इति परिहारगाथा गता। अथ चिद्रूपप्रतिभासेपि रागाद्यध्यवसानादयः कथं पुद्गलस्वभावा भवंतीति चेत्-

टीका-(एदे सव्वे भावा पुग्गलदव्वपरिणामणिप्पण्णा) ये सभी देह रागादि रूप कर्म जनित अवस्थायें पौद्गलिक द्रव्य कर्म के उदय रूप परिणास से उत्पन्न हुई हैं। इसलिए (केवलि जिणेहिं भणिया कह ते जीवोत्ति उच्चंति) सर्वज्ञ भगवान ने इन्हें कर्म जनित बतलाया है, अतः निश्चयनय से इन्हें जीव कैसे कहा जा सकता है-कभी नहीं कहा जा सकता। देखो, अंगारे से कालेपन के समान जीव भी रागादि से भिन्न नहीं है ऐसा जो कहागया है वह ठीक नहीं है यह बात हम अनुमान से सिद्ध कर दिखाते हैं। देखो, शुद्ध जीव रागादि से भिन्न है-- यह पक्ष हुआ, क्योंकि परम समाधि में स्थित पुरुषों के द्वारा शरीर और रागादि से सर्वथा भिन्न ऐसे चिदानंद एक स्वभाव वाले शुद्ध जीव की उपलब्धि देखी जाती है--यह हेतु हुआ। कीट कालिकादि से भिन्न स्वर्ण के समान यह दृष्टांत हुआ। किं च पूर्व पक्षकारने जो अंगार का दृष्टांत दिया है यहां घटति नहीं होता क्योंकि जैसे स्वर्ण का पीलापन और अग्नि का उष्णपना स्वभाव है वैसे अंगारे का भी कृष्णपना स्वभाव है उसे पृथक् नहीं कर सकते किन्तु रागादिक तो डांक के द्वारा स्फटिक में आई हुई उपाधि के समान जीव के विभाव भाव हैं इसलिए उनको निर्विकार शुद्धात्मानुभूति के बल से जीव से पृथक किया जा सकता है-दूर हटाया जा सकता है। इसी प्रकार जो यह कहा गया है

कि आठ काठों के संयोग से खाट नाम की वस्तु बन जाती है, उसी प्रकार आठ कर्मों के संयोगसे जीव उत्पन्न हो जाता है सो भी ठीक नहीं है। इस बात को भी सिद्ध करने के लिए अनुमान देते हैं। देखो, शुद्ध जीव आठ कर्मों के संयोग से भिन्न वस्तु है—यह पक्ष हुआ। क्योंकि परम समाधि में स्थित रहने वाले महापुरुषों के द्वारा आठ कर्मो के संयोग से पृथग्भूत शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव वाले जीव की उपलब्धि हुई देखी जाती है—यह हेतु हुआ। जैसे कि आठ काठ के संयोग से बनी हुई खटिया पर सोने वाला पुरुष उससे भिन्न होता है—यह दृष्टांत हुआ। और सुनो, देह और आत्मा में परस्पर अत्यन्त भेद है—यह पक्ष हुआ। क्योंकि इन दोनों का लक्षण भिन्न भिन्न है जिससे वे दोनों भिन्न २ पहचाने जा सकते हैं—यह हेतु हुआ। जैसे कि अग्नि और पानी—यह दृष्टांत हुआ। इस प्रकार परिहार गाथा पूर्ण हुई ॥४९॥

जब कि रागादि अध्यवसान भावों में चिद्रूप का प्रतिभास होता है तब इनको पुद्गल स्वभाव कैसे कहा जा सकता है इस प्रश्न का उत्तर आगे देते हैं।

अट्ठविहं पि य कम्मं सव्वं पुग्गलमयं जिणा विंति।
जस्स फलं तं वुच्चइ दुक्खं ति विपच्चमाणस्स ॥५०॥

अष्टविधमपि च कर्म्म सर्वं पुद्गलमयं जिना विन्दंति।
यस्य फलं तदुच्यते, दुःखमिति विपच्यमानस्य ॥५०॥

अर्थः—ये आठ प्रकार के कर्म सभी पुद्गलमयी हैं ऐसा जिनेन्द्र भगवान कहते हैं। क्योंकि इन उदयमें आये हुए सभी कर्म्मों का फल दुःख स्वरूप होता हैं।

तात्पर्यवृत्तिः—अट्ठविहं पि य कम्मं सव्वं पुग्गलमयं जिणा विंति सर्वमष्टविधमपि कर्म पुद्गलमयं भवतीति जिना वीतरागसर्वज्ञा ब्रुवंति कथयंति। कथंभूतं यत्कर्म **जस्सफलं तं वुच्चदि दुक्खंति विपच्चमाणस्स** यस्य कर्मणः फलं तत्प्रसिद्धमुच्यते किं व्याकुलत्वस्वभावत्वाद्दुःखमिति। कथंभूतस्य कर्मणः। विशेषेण पच्यमानस्योदयागतस्य। इदमत्र तात्पर्यं—अष्टविधकर्मपुद्गलस्य कार्यमनाकुलत्वलक्षणपरमार्थसुखविलक्षणमाकुलत्वोत्पादकं दुःख रागादयोप्याकुलत्वोत्पादकदुःखलक्षणास्ततः कारणात्पुद्गलकार्यत्वात् शुद्धनिश्चयनयेन पौद्गलिका इति। अष्टविधं कर्म पुद्गलद्रव्यमेवेति कथनरूपेण गाथा गता। अथ यद्यध्यवसानादयः पुद्गलस्वभावास्तर्हि रागी द्वेषी मोही जीव इति कथं जीवत्वेन ग्रंथांतरे प्रतिपादिता इति प्रश्ने प्रत्युत्तरं ददाति।

टीकाः—(अट्ठविहं पि य कम्मं सव्वं पुग्गलमयं जिणा विंति) कर्म आठ प्रकारके होते हैं वे सभी पुद्गलमय हैं ऐसा सर्वज्ञ जिन भगवान बतलाते हैं क्योंकि (जस्स फलं तं वुच्चदि दुक्खंति विपच्चमाणस्स) उदयमें आये हुए इन कर्मों का फल आकुलता को लिये हुए दुःखरूप होता है। तात्पर्य यह है कि आठों प्रकारके कर्मोका कार्य, अनाकुलता है लक्षण जिसका ऐसे पारमार्थिक सुखसे, विलक्षण है, आकुलता का उत्पादक है अतः वह दुःखरूप है और रागादि भावभी आकुलताके उत्पादक होनेसे दुःख स्वरूपही हैं। इस कारणसे वे भी पुद्गलके कार्य ही हैं इसलिये शुद्ध निश्चयनय से पौद्गलिक हैं। इस प्रकार आठ कर्मों को पुद्गल मय बताने वाली यह गाथा हुई ॥५०॥

इस पर कोई प्रश्न करता है कि यदि रागद्वेषादि अध्यवसान भाव पुद्गलमय ही हैं तो फिर जीव रागी, द्वेषी, मोही होता है, इस प्रकार अन्य ग्रन्थों में इनको जीव स्वरूप क्यों कहा गया है इसका उत्तर आगे देते हैं—

ववहारस्स दरीसणमुवएसो वण्णिदो जिणवरेहिं।
जीवा एदे सव्वे अज्झवसाणादओ भावा ॥५१॥

व्यवहारस्य दर्शनमुपदेशो वर्णितो जिनवरैः ।
जीवा एते सर्वेऽध्यवसानादयो भावाः ॥५१॥

अर्थ—ये सब रागादि अध्यवसानमई भाव जीव हैं ऐसा जिनवर भगवान ने जो उपदेश दिया है वह व्यवहार नय का मत है ॥ ५१ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—ववहारस्स दरीसणं व्यवहारनयस्य स्वरूपं दर्शितं यत्किं कृतं **उवएसो वण्णिओ जिणवरेहिं** उपदेशो वर्णितः कथितो जिनवरैः । कथंभूतः **जीवा एदे सव्वे अज्झवसाणादओ भावा** जीवा एते सर्वे अध्यवसानादयो भावाः परिणामा भण्यंत इति । किं च विशेषः यद्यप्ययं व्यवहारनयो बहिर्द्रव्यावलंबत्वेनाभूतार्थस्तथापि रागादिबहिर्द्रव्यावलंबनरहितविशुद्धज्ञानस्वभावस्वावलंबनसहितस्य परमार्थस्य प्रतिपादकत्वाद्दर्शयितुमुचितो भवति । यदा पुनर्व्यवहारनयो न भवति तदा शुद्धनिश्चयनयेन त्रसस्थावरजीवा न भवंतीति मत्वा निःशंकोपमर्दनं कुर्वंति जनाः । ततश्च पुण्यरूप धर्माभाव इत्येक दूषणं तथैव शुद्धनयेन रागद्वेषमोहरहितः पूर्वमेव मुक्तोजीवस्तिष्ठतीति मत्वा मोक्षार्थमनुष्ठानं कोपि न करोति ततश्च मोक्षाभाव इति द्वितीयं च दूषणं । तस्माद्व्यवहारनयव्याख्यानमुचितं भवतीत्यभिप्रायः । अथ केन दृष्टांतेन प्रवृत्तो व्यवहार इत्याख्याति ।

टीका-(ववहारस्स दरीसणं) यह व्यवहार नय का दर्शन है—मत है-स्वरुप है-जो कि (उवएसो वण्णिदो जिणवरेहिं) जिनेन्द्र भगवान ने बतलाया है कि (जीवा एदे सव्वे अज्झवसाणादओ भावा) ये सब अध्यवसानादि भाव भी, परिणाम भी जीव हैं। स्पष्टीकरण यह है कि यद्यपि व्यवहारनय बहिर्द्रव्य का आलंबन लेने से अभूतार्थ है किन्तु रागादि बहिर्द्रव्य के आलबंन से रहित और विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभाव के आलंबन सहित ऐसे परमार्थ का प्रतिपादक होने से इसका भी कथन करना आवश्यक है। क्योंकि यदि व्यवहारनय को सर्वथा भुला दिया जाय तो फिर शुद्ध निश्चयसे तो त्रस स्थावर जीव हैं ही नहीं अतः फिर लोग निःशंक होकर उनके मर्दन में प्रवृत्ति करने लगेंगे ऐसी दशा में पुण्य रूप धर्म का अभाव हो जायगा एक दूषण तो यह आवेगा। तथा शुद्ध निश्चयनय से तो जीव रागद्वेषमोह से रहित पहले से ही है अतः मुक्त ही है ऐसा मान कर फिर मोक्ष के लिए भी अनुष्ठान क्यों कोई करेगा, अतः मोक्षका भी अभाव हो जायगा, यह दूसरा दूषण आवेगा। इसलिए व्यवहारनय का व्याख्यान परम आवश्यक है, निरर्थक नहीं है ॥५१॥

यहां पर पं. जयचंदजी का भावार्थ—परमार्थनय तो जीव को शरीर और राग, द्वेष, मोह से भिन्न कहता है यदि इसीका एकान्त किया जाय तब शरीर तथा रागद्वेष मोह पुद्गलमय ठहरे तब पुद्गल के घात से हिंसा नहीं हो सकती और राग द्वेष मोह से बंध नहीं हो सकता। इस प्रकार परमार्थ से संसार और मोक्ष दोनों का अभाव हो जायगा ऐसा एकांतरूप वस्तु का स्वरूप नहीं है। अवस्तु का श्रद्धान, ज्ञान और आचरण मिथ्या अवस्तुरूप ही है इसलिए व्यवहार का उपदेश न्याय प्राप्त है इस प्रकार स्याद्वाद से दोनों नयों का विरोध मेटकर श्रद्धान करना सम्यक्त्व है।

अब कि व्यवहार का उपदेश आवश्यक है तो फिर वह कैसे प्रवृत्त होता है सो दृष्टांत द्वारा बताते हैं:—

राया हु णिग्गदो त्तिय एसो बलसमुदयस्स आदेसो ।
ववहारेण दु उच्चदि तत्थेको णिग्गदो राया ॥५२॥

एमेव य ववहारो अज्झवसाणादि अण्णभावाणं
जीवो त्ति कदो सुत्ते तत्थेको णिच्छिदो जोवो ।।५३।। (युगलं)

राजा खलु निर्गत इत्येष बलसमुदयस्यादेशः।
व्यवहारेण तूच्यते तत्रैको निर्गतो राजा ।।५२।।
ऐवमेव च व्यवहारोऽध्यवसानाद्यन्यभावानां।
जीव इति कृतः सूत्रे तत्रैको निश्चितो जीवः ।।५३।।

अर्थः—राजा जब कहीं जाता है तो अपने किंकरो को साथ लेकर जाता है वहां उस सारे समुदाय को ही यह राजा जा रहा है इस प्रकार व्यवहारसे कहा जाता है। वैसे ही रागद्वेषादि अध्यवसान भाव जो अन्य पुद्गलादि द्वारा उत्पन्न हुए हैं अतएव कथंचित जीवसे भिन्न हैं उन भावों सहित जीवको ही व्यवहारनय से आगममें जीव कहा गया है ।।५२-५३।।

तात्पर्यवृत्तिः—राया हु णिग्गदो त्तिय एसो बलसमुदयस्स आदेसो राजा हु स्फुटं निर्गत एव बलसमुदयस्यादेशः कथनं **ववहारेण दु उच्चदि तत्थेको णिग्गदो राया** बलसमूहं दृष्ट्वा पंच योजनानि व्याप्य राजा निर्गतः इति व्यवहारेणोच्यते। निश्चयनयेन तु तत्रैको राजा निर्गत इति दृष्टांतो गतः। इदानीं दार्ष्टांतमाह—**एमेवयववहारो अज्झवसाणादि अण्णभावाणं** एवमेव राजदृष्टांत प्रकारेणैव व्यवहारः। केषां अध्यवसानादीनां जीवाद्भिन्न-भावादीनां रागादिपर्यायाणां **जीवो त्ति कदो सुत्ते** कथंभूतो व्यवहारः। रागादयो भावाः व्यवहारेण जीव इति कृतं भणितं सूत्रे परमागमे **तत्थेको णिच्छिदो जीवो** तत्र तेषु रागादिपरिणामेषु मध्ये निश्चितो ज्ञातव्यः कोसौ जीवः कथंभूतः शुद्धनिश्चयनयेनैको भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मरहितशुद्धबुद्धैकस्वभावो जीवपदार्थः। इति व्यवहारनयसमर्थनरूपेण गाथात्रयं गतं। एवमजीवाधिकारमध्ये शुद्धनिश्चयनयेन देहरागादिपरद्रव्यं जीवस्वरूपं न भवतीति कथनमुख्यतया गाथादशकेन प्रथमोत्तराधिकारो व्याख्यातः।

अथानतरं वर्णरसादिपुद्गलस्वरूपरहितोऽनंतज्ञानादिगुणस्वरूपश्च शुद्धजीव एव उपादेय इति भावनामुख्यतया द्वादशगाथापर्यंतं व्याख्यानं करोति। तत्र द्वादशगाथासु मध्ये परमसामायिकभावनापरिणताभेदरत्नत्रयलक्षणनिर्विकल्प-समाधिसमुत्पन्नपरमानंदसुखसमरसीभावपरिणतशुद्धजीव एवोपादेय इति मुख्यत्वेन **अरसमरूव** इत्यादिसूत्रगाथैका। अथाभ्यंतरे रागादयो बहिरंगे वर्णादयश्च शुद्धजीवस्वरूपं न भवतीति तस्यैव गाथासूत्रस्य विशेषविवरणार्थं **जीवस्स णत्थिवण्णो** इत्यादिसूत्रषट्कं। ततः परं त एव रागादयो वर्णादयश्च व्यवहारेण संति शुद्धनिश्चयनयेन न संतीति परस्परसापेक्षनयद्वयविवरणार्थं **ववहारेणदु** इत्यादि सूत्रमेकं। तदनंतरमेतेषां रागादीनां व्यवहारनयेनैव जीवेन सह क्षीरनीरवत्संबंधो न च निश्चयनयेनेति समर्थनरूपेण **एदे हि य संबंधो** इत्यादि सूत्रमेकं। ततश्च तस्यैव व्यवहारनयस्य पुनरपि व्यक्तार्थं दृष्टांतदार्ष्टांतसमर्थनरूपेण **पंथे मुस्संतं** इत्यादि गाथात्रयं। इति द्वितीयस्थले समुदायपातनिका। तद्यथाः—अथ यदि निश्चयेन रागादिरूपो जीवो न भवति तर्हि कथंभूतः शुद्धजीव उपादेयस्वरूप इत्यत्राह।

टीकाः—(राया हु णिग्गदो त्तिय एसो बलसमुदयस्स आदेसो) राजा के साथ जाती हुई सेना को देखकर सारी सेना को ही यह राजा जारहा है (ववहारेण दु उच्चदि तत्थेको णिग्गदो राया) जोकि पांच योजन तक फैला हुआ है ऐसा व्यवहारसे कहा जाता है किन्तु निश्चय से देखें तो राजा एक ही है (जोकि अधिक से अधिक दो फुट में फैला हुआ है) यह दृष्टांत हुआ। अब दार्ष्टान्त बतलाते हैं—(एमेव य ववहारो अज्झवसाणादि अण्णभावाणं) इसी प्रकार राजा के दृष्टांत से मिलता हुआ ही यह व्यवहार है कि रागादि अध्यवसान भाव जीव से भिन्न हैं उनको (जीवो त्ति कदो सुत्ते) यह रागादि भाव जीव हैं

इस प्रकार परमागममें कहा गया है (तत्थेको णिच्छिदो जीवो) किन्तु वहां पर जीव तो निश्चित रूपसे एक ही है जो कि शुद्ध बुद्ध एक स्वभाववाला है। ॥५२-५३॥

इस प्रकार व्यवहारनय के समर्थनरूप तीन गाथाएं हुईं।

इस प्रकार अजीव अधिकारमें शुद्ध निश्चयनय से देह रागादि परद्रव्य हैं वे जीव स्वरूप नहीं होते इस प्रकार के कथन की मुख्यता लिए हुए दस गाथाओं से यह पहला स्थल पूर्ण हुआ।

आगे यह बताते हुए कि वर्ण, रसादि पुद्गल के स्वरूप से रहित और अनंत ज्ञानादि गुण स्वरूप जो शुद्ध जीव है वही उपादेय है इस भावना की मुख्यतासे १२ गाथा पर्यंत व्याख्यान करते हैं। उन १२ गाथाओं में से 'अरसमरूव' ऐसी एक गाथा है जिसमें मुख्यता से यह बतलाया जाता है कि परम सामायिक भावना में परिणत जो अभेद रत्नत्रय वही है लक्षण जिसका ऐसी निर्विकल्प समाधि से उत्पन्न हुआ जो परमानन्दमय सुखरूप जो समरसी भाव उसमें परिणत रहने वाला शुद्ध जीव है वही उपादेय है। फिर अभ्यंतर रागादि और बाहिर वर्णादि ये सभी शुद्ध जीव के स्वरूप नहीं हैं ऐसा जो एक गाथा से बताया था उसीका विशेष वर्णन करने के लिए "जीवस्स णत्थि वण्णो" इत्यादि छह गाथा सूत्र हैं। इसके आगे रागादि और वर्णादि ऐसे दोनों भाव व्यवहारनय से जीव के हैं किन्तु शुद्ध निश्चय नय से जीव के नहीं हैं इस प्रकार परस्पर अपेक्षा लिए हुए दोनों नयों का व्याख्यान करने के लिए 'ववहारेणदु' इत्यादि एक सूत्र है। उसके आगे इन रागादिकों का जीव के साथ दूध और जल के समान संबंध है वह व्यवहार से है किन्तु निश्चय से नहीं, इस प्रकार का समर्थन करते हुए 'एदेहिं य संबंधो' इस प्रकार एक सूत्र है। उसके आगे उसी व्यवहारनय को दृष्टांत दार्ष्टांत से स्पष्ट करते हुये 'पंथे मुस्संतं इत्यादि तीन गाथा सूत्र हैं। इस प्रकार द्वितीय स्थल की समुदाय पातनिका हुई।

अब यदि निश्चय से जीव रागादिरूप नहीं है तो फिर उपादेय स्वरूप शुद्ध जीव कैसा है सो बतलाते हैं:—

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदनागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ॥५४॥

अरसमरूपमगंधमव्यक्तं चेतनागुणमशब्दं।
जानीहि अलिंगग्रहणं जीवमनिर्दिष्टसंस्थानं ॥५४॥

अर्थ—शुद्ध जीव तो ऐसा है कि जिसमें न रस है, न रूप है, न गंध ही है और न इन्द्रियों के गोचर है। केवल चेतना गुणवाला है। शब्दरूप भी नहीं है, जिसका किसी भी चिह्न द्वारा ग्रहण नहीं हो सकता, और जिसका कोई निश्चित आकार भी नहीं है ॥५४॥

तात्पर्यवृत्ति—अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं निश्चयनयेन रसरूपगंधस्पर्शशब्दरहितं मनोगतकामक्रोधादिविकल्पविषयरहितत्वेनाव्यक्तं सूक्ष्मं। पुनरपि किं विशिष्टं शुद्धचेतनागुणं पुनश्च किं रूपं **जाणमलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं** निश्चयनयेन स्वसंवेदनज्ञानविषयत्वादलिंगग्रहणं समचतुरस्रादिषट्संस्थानरहितं च यं पदार्थं तमेवंगुणविशिष्टं शुद्धजीवमुपादेयमिति हे शिष्य जानीहि। इदमत्र तात्पर्यं। शुद्धनिश्चयनयेन सर्वपुद्गलद्रव्यसंबंधिवर्णादिगुणशब्दादिपर्यायरहितः सर्वद्रव्येंद्रियभावेंद्रियमनोगतरागादिविकल्पाविषयो धर्माधर्माकाशकालद्रव्यशेषजीवांतरभिन्नोनंतज्ञानदर्शनसुखवीर्यश्च यः स एव शुद्धात्मा समस्तपदार्थसर्वदेशसर्वकालब्राह्मणक्षत्रियादिनानावर्णभेदभिन्नजनसमस्तमनोवचनकायव्यापारेषु दुर्लभः स एवापूर्वः सर्वथोपादेय इति मत्वा निर्विकल्पनिर्मोहनिरंजननिजशुद्धात्मसमाधिसंजातसुखामृतरसानुभूतिमलक्षणे गिरिगुहागह्वरे स्थित्वा सर्वतात्पर्येण ध्यातव्य इति। एवं सूत्रगाथा गता। अथ बहिरंगे वर्णाद्यभ्यंतरे रागादिभावाः पौद्गलिकाः शुद्धनिश्चयेन जीवस्वरूपं न भवंतीति प्रतिपादयति।

टीका:—(अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदनागुणमसद्दं) निश्चय नय से जीव रस, रूप, गंध, स्पर्श और शब्द से भी रहित है और मनोगत काम क्रोधादि विकल्पों के विषय से रहित होने के कारण अव्यक्त अर्थात् सूक्ष्म है। फिर कैसा है—कि शुद्ध चेतना गुणवाला है तथा (जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठ संठाणं) निश्चय नय की अपेक्षा (केवल मात्र) स्वसंवेदन ज्ञान का विषय होने के कारण किसी भी बाह्य लिंग से ग्रहण नहीं किया जा सकता, तथा समचतुस्रादि छह संस्थानों से भी रहित है। ऐसे उपर्युक्त गुणों से विशिष्ट जीव को हे शिष्य ! तुम शुद्ध जीव समझो और उसे ही उपादेय रूप से स्वीकार करो। तात्पर्य यह है कि शुद्ध निश्चय नय से जीव पुद्गल द्रव्य संबंधी वर्णादि गुण और शब्दादि पर्याय इन सबसे रहित है। सब प्रकार की द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय तथा मन इनसे होने वाले रागादि विकल्पों का जो विषय नहीं है, तथा धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य, कालद्रव्य एवं इतर सब जीव द्रव्यों से भिन्न है। किन्तु अनंतज्ञान, अनंतदर्शन अनंतसुख और अनंतवीर्य इन गुणों से युक्त है वही शुद्धात्मा है जो कि सम्पूर्ण पदार्थों में, सम्पूर्ण देशों में, सब ही कालों में, ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि नाना वर्णभेदों से विभक्त रहने वाले जन साधारण के समस्त मन, वचन और काय के व्यापारों में मिलना दुर्लभ है क्योंकि वह अपूर्व है और वही उपादेय है। ऐसा मानकर पर्वत की गुफा दराड़ इत्यादि में बैठकर विकल्प रहित, मोह रहित, तथा सब प्रकार के झंझटों से रहित जो निज शुद्धात्मा उसकी समाधि से उत्पन्न जो सुखामृत रस उसकी अनुभूति ही है लक्षण जिसका ऐसे शुद्ध जीव का भले प्रकार से ध्यान करना चाहिए। इस प्रकार सूत्र गाथा पूर्ण हुई ।।५४।।

आगे कहते हैं कि बाह्य में शरीर के वर्णादि और अभ्यंतर में रागादि विभाव भाव जो कि पुद्गल संबंध से उत्पन्न हुए हैं, शुद्ध निश्चय नय से जीव का स्वरूप नहीं है ऐसा प्रतिपादन करते हैं—

जीवस्स णत्थि वण्णो णवि गंधो णवि रसो णवि य फासो।
णवि रूवं ण सरीरं णवि संठाणं ण संहणणं ।।५५।।
जीवस्स णत्थि रागो णवि दोसो णेव विज्जदे मोहो ।
णो पच्चया ण कम्मं णोकम्मं चावि से णत्थि ।।५६।।
जीवस्स णत्थि वग्गो ण वग्गणा णेव फड्ढया केई ।
णो अज्झप्पट्ठाणा णेव य अणुभायठाणाणि ।।५७।।
जीवस्स णत्थि केई जोयट्ठाणा ण बंधठाणा वा ।
णेव य उदयट्ठाणा ण मग्गणट्ठाणया केई ।।५८।।
णो ठिदिबंधट्ठाणा जीवस्स ण संकिलेसठाणा वा ।
णेव विसोहिट्ठाणा णो संजमलद्धिठाणा वा ।।५९।।
णेव य जीवट्ठाणा ण गुणट्ठाणा य अत्थि जीवस्स ।
जेण दु एदे सव्वे पुग्गलदव्वस्स परिणामा ।।६०।। (षट्कम्)

जीवस्य नास्ति वर्णो नापि गंधो नापि रसो नापि च स्पर्शः ।
नापि रूपं न शरीरं नापि संस्थानं न संहननं ॥५५॥
जीवस्य नास्ति रागो नापि द्वेषो नैव विद्यते मोहः ।
नो प्रत्यया न कर्म नोकर्म चापि तस्य नास्ति ॥५६॥
जीवस्य नास्ति वर्गो न वर्गणा नैव स्पर्द्धकानि कानिचित् ।
नो अध्यवसानानि नैव चानुभागस्थानानि ॥५७॥
जीवस्य न संति कानिचिद्योगस्थानानि न बंधस्थानानि वा ।
नैव चोदयस्थानानि न मार्गणास्थानानि कानिचित् ॥५८॥
नो स्थितिबंधस्थानानि जीवस्य न संक्लेशस्थानानि वा ।
नैव विशुद्धस्थानानि नो संयमलब्धिस्थानानि वा ॥५९॥
नैव च जीवस्थानानि न गुणस्थानानि वा संति जीवस्य ।
येन त्वेते सर्वे पुद्गलद्रव्यस्य परिणामाः॥ ६०॥

अर्थः—वर्ण, गंध, रस, स्पर्श और रूप तथा संस्थान और संहनन ये जीवके स्वभाव नहीं हैं । राग, द्वेष, मोह, मिथ्यात्वादि प्रत्यय, तथा कर्म नोकर्म ये जीवके स्वभाव नहीं हैं । वर्ग, वर्गणा, स्पर्धक, अध्यवसायस्थान, अनुभागस्थान ये भी जीव के स्वभाव नहीं हैं । कोई भी योगस्थान बंधस्थान उदयस्थान, और मार्गणास्थान, ये सब जीव के स्वभाव नहीं हैं । स्थितिबंधस्थान, संक्लेशस्थान, विशुद्धिस्थान, और संयमलब्धिस्थान भी तथा जीवस्थान और गुणस्थान ये सब भी जीवके स्वभाव नहीं हैं किन्तु ये सबही पुदगल द्रव्य के संयोग से होनेवाले परिणाम हैं ॥५५-६०॥

तात्पर्यवृत्तिः—वर्णगंधरसस्पर्शास्तु रूपशब्दवाच्याः स्पर्शरसगंधवर्णवती मूर्त्तिश्च औदारिकादि पंच शरीराणि समचतुरस्रादिषट्संस्थानानि वज्रर्षभनाराचादिषट्संहननानि चेति । एते वर्णादयो धर्मिणः शुद्धनिश्चयनयेन जीवस्य न संतीति साध्यो धर्मश्चेति धर्मधर्मिसमुदयलक्षणः पक्ष आस्थासंधाप्रतिज्ञेति यावत् पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सति शुद्धात्मानुभूतेर्भिन्नत्वादिति हेतुः । एवमत्र व्याख्याने पक्षहेतुरूपेणांगद्वयमनुमानं ज्ञातव्यं । अथ रागद्वेषमोहमिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगरूपंपचप्रत्ययमूलोत्तरप्रकृतिभेदभिन्नज्ञानावरणाद्यष्टविधकर्मौदारिकवैक्रियिकाहारकशरीरत्रयाहारादिषट्पर्याप्ति-रूपनोकर्माणि इत्यस्य जीवस्य शुद्धनिश्चयनयेन सर्वाण्येतानि न संति कस्मात्पुद्गलपरिणाममयत्वे सति शुद्धात्मानुभूतेर्भिन्नत्वात् । अथ परमाणोरविभागपरिच्छेदरूपशक्तिसमूहो वर्ग इत्युच्यते । वर्गाणां समूहो वर्गणा भण्यते । वर्गणासमूहलक्षणानि स्पर्द्धकानि च कानिचिन्न संति । अथवा कर्मशक्तेः क्रमेण विशेषवृद्धिः स्पर्द्धकलक्षणं । तथा चोक्तं वर्गवर्गणास्पर्द्धकानां त्रयाणां लक्षणं—

'वर्गः शक्तिसमूहोऽणोर्बहूनां वर्गणोदिता । वर्गणानां समूहस्तु स्पर्द्धकं स्पर्द्धकापहैः' । शुभाशुभरागादिविकल्परूपाध्यवसानानि भण्यंते । तानि च न संति लतादार्वस्थिपाषाणशक्तिरूपाणि घातिकर्मचतुष्टयानुभागस्थानानि भण्यंते । गुडखंडशर्करामृतसमानानि शुभाघातिकर्मानुभागस्थानानि भण्यंते । निंबकांजीरविषहालाहलसदृशान्यशुभाघातिकर्मानुभागस्थानानि च तान्येतानि सर्वाण्यपि शुद्धनिश्चयनयेन जीवस्य न संति । कस्मात् ? पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सति शुद्धात्मानुभूतेर्भिन्नत्वात् । अथ वीर्यांतरायक्षयोपशमजनितमनोवचनकायवर्गणावलंबनकर्मादानहेतुभूतात्मप्रदेशपरिस्पंद, लक्षणानि योगस्थानानि प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशरूपचतुर्विधबंधस्थानानि सुखदुःखफलानुभवरूपाण्युदयस्थानानि

गत्यादिमार्गणास्थानानि च सर्वाण्यपि शुद्धनिश्चयनयेन जीवस्य न संति कस्मात्? पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सति शुद्धात्मानुभूतेर्भिन्नत्वात्। अथ जीवेन सह कालांतरावस्थानरूपाणि स्थितिबंधस्थानानि कषायोद्रेकरूपाणि संक्लेशस्थानानि कषायमंदोदयरूपाणि विशुद्धिस्थानानि कषायक्रमहानिरूपाणि संयमलब्धिस्थानानि च सर्वाण्यपि शुद्धनिश्चयनयेन जीवस्य न संति कस्मात्? पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सति शुद्धात्मानुभूतेर्भिन्नत्वात्। अथ–जीवस्य शुद्धनिश्चयनयेन "वादरसुहुमेइंदी बितिचउरिंदी असण्णिसण्णीणं। पज्जत्तापज्जत्ता एवं ते चउदसा होंति" इति गाथाकथितक्रमेण वादरैकेंद्रियादिचतुर्दशजीवस्थानानि मिथ्यादृष्ट्यादिचतुर्दशगुणस्थानानि च सर्वाण्यपि न संति पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सति शुद्धात्मानुभूतेर्भिन्नत्वात्। कुतः इति चेत्! यतः कारणादेते वर्णादिगुणस्थानांताः परिणामाः शुद्धनिश्चयनयेन पुद्गलद्रव्यस्य पर्याया इति। अयमत्रभावार्थः–सिद्धांतादिशास्त्रे अशुद्धपर्यायार्थिकनयेनाभ्यंतरे रागादयो बहिरंगे शरीरवर्णापेक्षया वर्णादयोपि जीवाः इत्युक्ताः अत्र पुनरध्यात्मशास्त्रे शुद्धनिश्चयनयेन निषिद्धा इत्युभयत्रापि नयविभागविवक्षया नास्ति विरोध इति वर्णाद्यभावस्य विशेषव्याख्यानरूपेण सूत्रषट्कं गतं। अथ यदुक्तं पूर्वं सिद्धांतादौ जीवस्य वर्णादयो व्यवहारेण कथिताः अत्र तु प्राभृतग्रंथे निश्चयनयेन निषिद्धाः तमेवार्थं दृढयति।

टीका— रूप शब्दसे कहे जाने वाले वर्ण, गन्ध, रस, और स्पर्श तथा रस गन्ध वर्ण वाली मूर्ति व औदारिक आदि पांच शरीर, समचतुरस्रादि छह संस्थान, वज्रवृषभनाराच आदि छह संहनन, ये सभी वर्णादिक धर्मी हुए वे निश्चय नय से जीव के नहीं होते यह साध्य अथवा धर्म हुआ। धर्म और धर्मी दोनों मिलकर समुदाय रूप पक्ष हुआ जिसको आस्था, संधा या प्रतिज्ञा नाम से भी कहा जाता है। ये सब जीव के नहीं हैं क्योंकि ये सब पुद्गल द्रव्य के परिणाममय हैं एवं शुद्धात्मानुभूति से भिन्नता रखने वाले हैं यह हेतु हुआ। इस प्रकार इस व्याख्यान में पक्ष तथा हेतु इन दो अंगोंवाला अनुमान हुआ।

इसी प्रकार राग, द्वेष, मोह अथवा मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग रूप पांचों प्रत्यय एवं मूल और उत्तर प्रकृति के भेद से विभक्त किये जाने वाले ज्ञानावरणादि आठ कर्म, औदारिक, वैक्रियिक और आहारकरूप तीन शरीर, आहारादि छह पर्याप्तिरूप नोकर्म ये सब भी शुद्ध निश्चयनय से जीव के नहीं हैं, क्योंकि ये सब भी पुद्गलद्रव्य के परिणाममय हैं एवं शुद्धात्मा की अनुभूति से भिन्न हैं।

परमाणु के अविभाग प्रतिच्छेद रूप शक्तिसमूह को वर्ग कहते हैं और वर्गों के समूह को वर्गणा कहते हैं तथा वर्गणा के समूह को स्पर्द्धक कहते हैं। ये सभी जीव के नहीं हैं। अथवा कर्म की शक्ति क्रम से विशेष वृद्धि को प्राप्त हो उसे स्पर्धक कहते हैं सो ही इन तीनों का लक्षण आगम में बतलाया है– अणु की शक्ति के समूह का नाम वर्ग, और बहुत से वर्गों के समूह का नाम वर्गणा, और वर्गणाओंके समूह का नाम स्पर्द्धक ऐसे स्पर्द्धकों के नष्ट करने वालों द्वारा कहा गया है। इस प्रकार शुभ तथा अशुभ रूप रागादिक का विकल्प जहां हो वे अध्यवसान कहलाते हैं। वे भी जीव के नहीं हैं। लता, दारू, हड्डी और पाषाण जैसी शक्ति को लिये हुए चार घातिया कर्मों के अनुभाग स्थान होते हैं। गुड़, खांड, शर्करा और अमृत समान जो शुभरूप अघातिया कर्म हैं उनके अनुभाग स्थान होते हैं। नीम, कांजी, विष और हलाहल सरीखे अनुभाग स्थान अशुभ अघाती कर्मों के होते हैं। ये सभी शुद्ध निश्चयनय से जीव के नहीं हैं क्योंकि ये सब पुद्गल द्रव्य के परिणाममय हैं एवं शुद्धात्मा की अनुभूति से भिन्न हैं। और वीर्यांतराय के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाले जो मन, वचन, काय उनकी वर्गणा का आलम्बन से कर्म ग्रहण करने को हेतुभूत जो आत्म प्रदेशों का परिस्पन्दन वही है लक्षण जिसका ऐसे योगस्थान, प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश रूप चार प्रकार का बंधस्थान, सुख दुख का अनुभव रूप उदयस्थान, और गति आदि मार्गणास्थान, ये सब भी शुद्ध निश्चयनय से जीव के नहीं हैं, क्योंकि ये सब पुद्गलद्रव्य के परिणाममय हैं एवं शुद्धात्मा की अनुभूति से भिन्न हैं।

जीव के साथ कुछ काल तक रहने वाले स्थितिबंधस्थान कषायों की उत्कटतारूप संक्लेशस्थान, कषायों के मंद उदयरूप विशुद्धस्थान और कषायों को क्रम से हीन करने रूप संयमलब्धिस्थान, ये सब भी शुद्ध निश्चयनय से जीव के नहीं हैं, क्योंकि ये सब भी पुद्गलद्रव्य के परिणाममय हैं एवं शुद्धात्मा की अनुभूति से भिन्न हैं। जैसा कि गाथा में बताया है—"बादर सुहमे इंदी वितिचउरिंदी असण्णिसण्णीएां। पज्जत्तापज्जत्ता एवं ते चउदसा होंति" अर्थात् बादर एकेन्द्री, सूक्ष्म एकेन्द्री, दोइन्द्री, तेइन्द्री, चौन्द्री. असैनी पंचेन्द्री, सैनी पंचेन्द्री ये सात पर्याप्त और अपर्याप्त भेद से चौदह जीवसमास हैं, तथा मिथ्यादृष्टि आदि चौदह गुणस्थान ये सभी शुद्ध निश्चय नय से जीव के नहीं हैं, क्योंकि ये सभी पुद्गलद्रव्य के परिणाममय हैं एवं शुद्धात्मा की अनुभूति से भिन्न हैं। इसका भी कारण यह है कि ये सब वर्णादि गुणस्थान पर्यंत भाव शुद्ध निश्चयनय से (देखने पर) पुद्गलद्रव्य की पर्याय हैं। तात्पर्य यह है कि सिद्धान्त आदि शास्त्रों में अशुद्ध पर्यायार्थिकनय का आश्रय लेकर अन्तरंग में तो रागादिक भाव और बाह्य में शरीर के वर्ण की अपेक्षा वर्णादिक इन सब को जीव कहा है। किन्तु यह तो अध्यात्म शास्त्र है इसलिए यहां पर शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा लेकर इनका निषेध किया है। इस प्रकार दोनों स्थानों पर नय विभाग की विवक्षा से कोई विरोध नहीं है। इस प्रकार वर्णादिक के अभाव का विशेष व्याख्यान करने रूप में छह गाथायें कहीं ॥ ५५-६० ॥

पूर्व में जो बताया था कि सिद्धान्तादि ग्रन्थों में वर्णादिक को व्यवहार से जीव के कहे हैं और इस प्राभृत ग्रन्थ में निश्चयनय की अपेक्षा लेकर इनका निषेध किया है इसी बात को दृढ़ करने के लिए आगे की गाथा कहते हैं :—

ववहारेण दु एदे जीवस्स हवंति वण्णमादीया।
गुणठाणंताभावा ण दु केई णिच्छयणयस्स ॥६१॥

व्यवहारेण त्वेते जीवस्य भवंति वर्णाद्याः।
गुणस्थानांताभावा न तु केचिन्निश्चयनयस्य ॥६१॥

तात्पर्यवृत्तिः—व्यवहारनयेन त्वेते जीवस्य भवंति वर्णाद्या गुणस्थानांता भावाः पर्याया न तु कोपि निश्चयनयेनेति। एवं निश्चयव्यवहारसमर्थनरूपेण गाथा गता। अथ कस्माज्जीवस्य निश्चयेन वर्णादयो न संतीति पृष्टे प्रत्युत्तरं ददाति।

अर्थ व टीका—स्वामी कुंदकुंद कहते हैं कि यद्यपि वर्ण को आदि लेकर गुणस्थान पर्यन्त जो भाव ऊपर कह आये हैं वे सब निश्चयनय से तो जीव के नहीं हैं किन्तु व्यवहारनय से तो ये सब जीव के हैं। इस प्रकार निश्चय और व्यवहार के समर्थनरूप यह गाथा पूर्ण हुई ॥६१॥

विशेषार्थ—व्यवहारनय पर्यायार्थिक है अतएव जीव के साथ पुद्गल का संयोग होने से जीव की औपाधिक अवस्था हो रही है उसका वर्णन करता है इसलिये वर्णादिक से गुणस्थान पर्यन्त भावों को जीव के कहता है किन्तु निश्चयनय तो मूल द्रव्य को लक्ष्य में लेकर स्वभाव का ही कथन करने वाला है इसलिये निश्चयनय की दृष्टि में जीव के नहीं हैं, क्योंकि सिद्ध अवस्था में ये नहीं होते। ये सब विवक्षाभेद है स्याद्वाद में इसका कोई विरोध नहीं है।

निश्चय से वर्णादिक जीव के क्यों नहीं हैं ऐसा पूछने पर उत्तर देते हैं:—

एएहिं य संबंधो जहेव खीरोदयं मुणेदव्वो ।
ण य हुंति तस्स ताणि दु उवओग गुणाधिगो जम्हा ।।६२।।
एतैश्च संबंधो यथैव क्षीरोदकं मंतव्यः ।
न च भवंति तस्य तानि तूपयोगगुणाधिको यस्मात् ।।६२।।

अर्थ—इन वर्णादिक भावों के साथ संसारी जीव का एक क्षेत्रावगाही संयोग (संश्लेष) संबंध है जैसा कि दूध का जल के साथ होता है। ऐसा होने पर भी वास्तविकता में ये जीव के नहीं होजाते क्योंकि जीव तो इनके साथ रहकर भी अपने उपयोग गुण के कारण इनसे भिन्न ही झलकता है ।।६२।।

तात्पर्यवृत्तिः—एदेहि य संबंधो जहेव खीरोदयं मुणेदव्वो एतैः वर्णादिगुणस्थानांतैः पूर्वोक्तपर्यायैः सह संबंधो यथैव क्षीरनीरसंश्लेषस्तथा मंतव्यः । न चाग्न्युष्णत्वयोरिव तादात्म्यसंबंधः । कुत इति चेत्, **ण य हुंति तस्स ताणि दु** न च भवंति तस्य जीवस्य ते तु वर्णादिगुणस्थानांता भावाः पर्यायाः कस्मात् **उवओगगुणाधिगो जम्हा** यस्मादुष्णगुणेनाग्निरिव केवलज्ञानदर्शनगुणेनाधिकः परिपूर्ण इति । ननु वर्णादयो बहिरंगास्तत्र व्यवहारेण क्षीरनीरवत्-संश्लेषसंबंधो भवतु नचाभ्यंतराणां रागादीनां तत्राशुद्धनिश्चयेन भवितव्यमिति । नैवं,द्रव्यकर्मबंधापेक्षया योसौ असद्भूत-व्यवहारस्तदपेक्षया तारतम्यज्ञापनार्थं रागदीनामशुद्धनिश्चयो भण्यते । वस्तुतस्तु शुद्धनिश्चयापेक्षया पुनरशुद्धनिश्च-योपि व्यवहार एवेति भावार्थः । अथ तर्हि कृष्णवर्णोयं धवलवर्णोयं पुरुष इति व्यवहारो विरोधं प्राप्नोतीत्येवं पूर्वपक्षे कृते सति व्यवहाराविरोधं दर्शयतीत्येका पातनिका । द्वितीया तु तस्यैव पूर्वोक्तव्यवहारस्य विरोधं लोकप्रसिद्धदृष्टांतद्वारेण परिहरति ।

टीका—(एदेहि य संबंधो जहेव खीरोदयं मुणेदव्वो) इन पूर्वोक्त कथित पर्यायस्वरूप वर्णादि गुण-स्थान पर्यन्त भावों के साथ जीव का वैसा ही संयोगरूप (संश्लेषरूप) संबंध है जैसा कि परस्पर में दूध और जल का होता है, किन्तु अग्नि का उष्णता के साथ जैसा तादात्म्य संबंध है वैसा संबंध इनका जीव के साथ नहीं है। इसलिये (ण य हुंति तस्स ताणि दु) ये सब वर्णादि गुणस्थान पर्यन्त भाव जीव के नहीं हैं किन्तु (उवओग गुणाधिगो जम्हा) जैसे अग्नि उष्णता से परिपूर्ण है उसी प्रकार जीव तो केवल मात्र ज्ञान दर्शन गुण को लिये हुए है। यहां पर यह शंका हो सकती है कि वर्णादिक जो बाहर दिखते हैं उनका तो जीव का क्षीर नीर के समान संयोग संबंध है उसको व्यवहार से जीव का कहना ठीक है किन्तु अभ्यन्तर में होने वाले रागादि भावों का ऐसा संयोग संबंध नहीं हो सकता। इन रागादिकों का संबंध इस जीव के साथ अशुद्ध निश्चयनय से कहना योग्य है। आचार्य इसका समाधान करते हैं कि हे भाई! ठीक है, रागादिक का संबंध जीव के साथ अशुद्ध निश्चयनय से है ऐसा जो कहा गया है वह तो आत्मा के साथ द्रव्यकर्म का संबंध बतलाने वाले असद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा तारतम्य भेद दिखलाने के लिए कहा गया है। वास्तव में अशुद्ध निश्चयनय भी शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा व्यवहार ही है ऐसा समझना चाहिए ।। ६२ ।।

अब प्रश्न हो सकता है कि यह पुरुष काले वर्णवाला है और यह धवल वर्णवाला है ऐसा जो व्यवहार है वह फिर व्यर्थ ठहरेगा इसका परिहार करते हुए आगे की गाथा में व्यवहार की सार्थकता दिखलाते हैं अथवा दूसरे प्रकार से यों कहो कि इस प्रकार आई हुई व्यवहारनय की निरर्थकता को लोक प्रसिद्ध दृष्टांत द्वारा दूर करते हैं :—

पंथे मुस्संतं पस्सिदूण लोगा भणंति ववहारी ।
मुस्सदि एसो पंथो ण य पंथो मुस्सदे कोई ।।६३।।
तह जीवे कम्माणं णोकम्माणं च पस्सिदु वण्णं ।
जीवस्स एस वण्णो जिणेहिं ववहारदो उत्तो ।।६४।।
एवं रसगंधफासा संठाणादीय जे समुदिट्ठा ।
सव्वे ववहारस्स य णिच्छयदण्हू ववदिसंति ।।६५।।

पथि मुष्यमाणं दृष्ट्वा लोका भणंति व्यवहारिणः ।
मुष्यते एषः पंथा न च पंथा मुष्यते कश्चित् ।।६३।।
तथा जीवे कर्मणां नोकर्मणां च दृष्ट्वा वर्णं ।
जीवस्यैष वर्णो जिनैर्व्यवहारतः उक्तः ।।६४।।
एवं गंधरसस्पर्शा संस्थानादयः ये समुद्दिष्टाः ।
सर्वे व्यवहारस्य च निश्चयद्रष्टारो व्यपदिशंति ।।६५।।

अर्थ– जैसे मार्ग में चलते हुए को लुटता देखकर व्यवहारी जन कहते हैं कि यह मार्ग लुटता है । वहां वास्तव में देखा जाय तो कोई मार्ग नहीं लुटता किन्तु उस मार्ग में पथिक ही लुटते हैं । उसी प्रकार जीव में रहने वाले कर्मों के और नोकर्मों के वर्णों को देखकर यह वर्ण जीव का है ऐसा व्यवहार से जिनेन्द्रदेव कहते हैं । इसी प्रकार गंध, रस, स्पर्शरूप शरीर के आकार इत्यादि सभी व्यवहार से हैं ऐसा निश्चयनय के जानने वाले लोग कहते हैं ।।६३ से ६५।।

तात्पर्यवृत्तिः–पंथे मुस्संतं पस्सिदूण लोगा भणंति ववहारी पथि मार्गे मुष्यमाणं सार्थं दृष्ट्वा व्यवहारिलोका भणंति किं भणंति **मुस्सदि एसो पंथो** मुष्यत एषः प्रत्यक्षीभूतः पंथाश्चौरैः कर्तृभूतैः **ण य पंथो मुस्सदे कोई** न च विशिष्टशुद्धाकाशलक्षणः पंथा मुष्यते कश्चिदपि किंतु पंथानमाधारीकृत्य तदाधेयभूता जना मुष्यंत इति दृष्टांतगाथा गता **तह जीवे कम्माणं णोकम्माणं च पस्सिदुं वण्णं** तथा तेन पथि सार्थदृष्टांतेन जीवेऽधिकरणभूते कर्मनोकर्मणां शुक्लादिवर्णं दृष्ट्वा **जीवस्स एस वण्णो जिणेहिं ववहारदो उत्तो** जीवस्य एष वर्णो जिनैर्व्यवहारतो भणित इति दार्ष्टांतगाथा गता । **एवं रसगंधफासा संठाणादीय जे समुद्दिट्ठा** एवमनेनैव दृष्टांतदार्ष्टांतन्यायेन रसगंधस्पर्शसंस्थानसंहननरागद्वेषमोहादयो ये पूर्वगाथाषट्केन समुद्दिष्टाः **सव्वे ववहारस्स य णिच्छयदण्हू ववदिसंति** ते सर्वे व्यवहारनयस्याभिप्रायेण निश्चयज्ञा जीवस्य व्यपदिशंति कथयंतीति नास्ति व्यवहारविरोधः । इति दृष्टांतदार्ष्टांताभ्यां व्यवहारनयसमर्थनरूपेण गाथात्रयं गतं । एवं शुद्धजीव एवोपादेय इति प्रतिपादनमुख्यत्वेन द्वादशगाथाभिर्द्वितीयांतराधिकारो व्याख्यातः ।

अतः परं जीवस्य निश्चयेन वर्णादितादात्म्यसंबंधो नास्तीति पुनरपि दृढीकरणार्थं गाथाष्टकपर्यंतं व्याख्यानं करोति । तत्रादौ संसारिजीवस्य व्यवहारेण वर्णादितादात्म्यं भवति मुक्तावस्थायां नास्तीति ज्ञापनार्थं **तत्थभवे** इत्यादिसूत्रमेकं । ततःपरं जीवस्य वर्णादितादात्म्यमस्तीति दुरभिनिवेशे सति जीवाभावो दूषणं प्राप्नोतीति कथनमुख्यत्वेन **जीवो चेवहि** इत्यादिगाथात्रयं । तदनंतरमेकेंद्रियादिचतुर्दशजीवसमासानां जीवेन सह शुद्धनिश्चयनयेन तादात्म्यं नास्तीति कथनार्थं तथैव वर्णादितादात्म्यनिषेधार्थं च **एक्कं च दोण्णि** इत्यादिगाथात्रयं । ततश्च मिथ्यादृष्ट्यादिचतुर्दशगुणस्थानानामपि जीवेन सह शुद्धनिश्चयनयेन तादात्म्यनिराकरणार्थं तथैवाभ्यंतरे रागादितादात्म्यनिषेधार्थं

च **मोहणकम्म** इत्यादिसूत्रमेकं । एवमष्टगाथाभिस्तृतीयस्थले समुदायपातनिका । तद्यथा—अथ कथं जीवस्य वर्णादिभिः सह तादात्म्यलक्षणसंबंधो नास्तीति पृष्टे प्रत्युत्तरं ददाति ।

टीका :—(पंथे मुस्संतं पस्सिदूण लोगा भणंति ववहारी) मार्ग में चलते हुए को लुटा हुआ देखकर सर्व साधारण लोग ऐसा कह दिया करते हैं कि (मुस्सदि एसो पंथो) यह सामने वाला मार्ग तो चोरों द्वारा लूट लिया जाता है, किन्तु (ण य पंथो मुस्सदे कोई) मार्ग तो शुद्ध आकाश स्वरूप है उसे कोई भी लूट नहीं सकता किन्तु उस मार्ग को आधार लेकर चलने वाले पथिक लुटते हैं यह दृष्टांत हुआ । (तह जीवे कम्माणं णोकम्माणं च पस्सिदु वण्णं) उसीप्रकार अधिकरणभूत जीव में होने वाले कर्म नोकर्म के शुक्लादि वर्ण को देखकर (जीवस्स एस वण्णो जिणेहिं ववहारदो उत्तो) व्यवहार से जिनेन्द्र भगवान ने ऐसा कहा है कि अमुक जीव का अमुक वर्ण है यह दार्ष्टांत गाथा हुई । (एवं रसगंधफासा संठाणादीय जे समुदिट्ठा) इसी प्रकार उपर्युक्त दृष्टांत दार्ष्टांत के न्याय से रस, गंध, स्पर्श, संस्थान, संहनन और राग, द्वेष, मोहादिक जो पहले छह गाथा में बता आये हैं (सव्वे ववहारस्स य णिच्छयदण्हू ववदिसंति) उन सब को निश्चय के जानने वाले (महापुरुष) व्यवहार नय के द्वारा जीव के कहते हैं । इसमें किसी प्रकार का विरोध नहीं है । इस प्रकार दृष्टांत और दार्ष्टांत के द्वारा व्यवहारनय का समर्थन करते हुए तीन गाथा पूर्ण हुई ॥ ६३-६४-६५ ॥

विशेषार्थः— बात यह है कि शुद्ध निश्चयनय तो शुद्धात्मा के अनुभव स्वरूप है जहां गुणस्थानादि न झलक कर वहां तो केवल मात्र ज्ञाता द्रष्टापन हो झलकता है और उसीका अनुमनन चिंतन होता है । किन्तु जहां ध्यानस्वरूप निश्चयनय का अवलंबन छूटा कि साधक को कर्त्तव्यशीलता पर आकर कि मैं कौन हूं और मुझे क्या करना चाहिए ? मैं मुनि हूं और छट्ठे गुणस्थान की अवस्था में हूं अतः मुझे स्तवन आदि षट् आवश्यक करना चाहिए इत्यादि विकल्पों को अपनाना होता है । किन्तु व्यवहार सम्पन्न कर फिर ध्यानस्वरूप निश्चय पर पहुँचता है । वहां थक जाने पर फिर व्यवहार में आता है । इस प्रकार अभ्यास दशा में साधक को निश्चय से व्यवहार और व्यवहार से निश्चय पर बार बार जाना आना होता है । इसी को लक्ष्य रखकर आचार्यदेव ने दोनों नयों का व्याख्यान किया है, और दोनों को अपने अपने स्थान पर उपयोगी दिखलाया है । इस प्रकार अभ्यास द्वारा अशुद्धता को दूर कर शुद्धता पर आना यह प्रत्येक साधक का मुख्य कर्तव्य है ।

शुद्ध जीव ही उपादेय है इस व्याख्यान को लेकर बारह गाथाओं द्वारा यह दूसरा अन्तर अधिकार पूर्ण हुआ ।

इसके आगे निश्चय से जीव के साथ वर्णादिक का तादात्म्य संबंध नहीं है इसी बात को दृढ़ करने के लिए आठ गाथा पर्यंत व्याख्यान करते हैं । वहां पहले व्यवहार नय से संसारी जीव के वर्णादिक के साथ एकमेकता है किन्तु मुक्त अवस्था में नहीं, इस प्रकार बतलाने के लिये 'तत्थभवे' इत्यादि रूप से एक सूत्र है । फिर 'जीवोचेवहि' इत्यादि तीन गाथायें हैं जिनमें यह कहा गया है कि यदि जीव के साथ वर्णादिकका तादात्म्य मानने का दुराग्रह किया जायगा तो जीवद्रव्य का ही अभाव हो जायगा यह बड़ा भारी दूषण है । फिर 'एक्कं च दोण्णि' इत्यादि तीन गाथायें ऐसी हैं जिनमें बतलाया गया है कि एकेन्द्रियादि चौदह जीव समासों का जीव के साथ शुद्ध निश्चय नय से तादात्म्य संबंध नहीं है । और वर्णादिकका भी तादात्म्य संबंध नहीं है । इसके आगे 'मोहण कम्म' इत्यादि एक गाथा सूत्र है जिसमें मिथ्यादृष्टि आदि चौदह गुणस्थानों का भी जीवके साथ शुद्ध निश्चयनय से तादात्म्य संबंध नहीं है । वैसे ही अंतरंग में होनेवाले रागादि भावोंका भी तादात्म्य (अटल) संबंध नहीं है । इस प्रकार आठ गाथाओं द्वारा पूरे होने वाले तीसरे स्थल की यह समुदाय पातनिका है ।

अब यहां कोई प्रश्न करता है कि जीवके साथ वर्णादिकका तादात्म्य संबंध क्यों नहीं है इसका उत्तर देते हैं:—

तत्थभवे जीवाणं संसारत्थाणं होंति वण्णादी ।
संसारपमुक्काणं णत्थि हु वण्णादओ केई ॥६६॥
तत्र भवे जीवानां संसारस्थानां भवंति वर्णादयः ।
संसारप्रमुक्तानां न संति खलु वर्णादयः केऽपि ॥६६॥

अर्थ—संसारमें स्थित जीवोंके साथ वर्णादिकका संबंध है परन्तु संसार से रहित मुक्त जीवोंके साथ वर्णादिक का कोई भी संबंध नहीं है ॥६६॥

तात्पर्यवृत्तिः—तत्थभवे जीवाणं संसारत्थाणं होंति वण्णादी तत्र विवक्षिताविवक्षितभवे संसारस्थानां जीवानामशुद्धनयेन वर्णादयो भवंति **संसारपमुक्काणं** संसारप्रमुक्तानां **णत्थि दु वण्णादओ केई** पुद्गलस्थ वर्णादि-तादात्म्यसंबंधाभावात् केवलज्ञानादिगुणसिद्धत्वादिपर्यायैः सह यथा तादात्म्यसंबंधोस्ति तथा वा तादात्म्यसंबंधाभावाद-शुद्धनयेनापि न संति पुनर्वर्णादयः केऽपि । इति वर्णादितादात्म्यनिषेधरूपेण गाथा गता । अथ जीवस्य वर्णादितादात्म्य-दुराग्रहे सति दोषं दर्शयति ।

टीका:—(तत्थभवे जीवाणं संसारत्थाणं होंति वण्णादी) वहां विवक्षित (वर्तमान) और अविव-क्षित (भूत या भावी) भवमें जो संसारमें स्थित हैं उन्हीं जीवोंके अशुद्धनय से वर्णादिकका संबंध है किन्तु (संसारपमुक्काणं णत्थि दु वण्णादओ केई) संसार से रहित मुक्त जीवोंके, वर्णादिक जो पुद्गलके गुण हैं, उनका तादात्म्य संबंध नहीं है क्योंकि जैसा तादात्म्य संबंध जीवके साथ केवलज्ञानादि गुणोंका और सिद्धत्वादि पर्यायोंका है वैसा तादात्म्य संबंध वर्णादिकके साथ अशुद्धनयसे भी जीव का नहीं है । इस प्रकार जीवका वर्णादिक के साथ तादात्म्य संबंध का निषेध करनेवाली गाथा पूर्ण हुई ॥६६॥

इस पर भी यदि जीवके साथ वर्णादिकका दुराग्रह किया जाता है तो क्या दोष उत्पन्न होता है उसे दिखलाते हैं—

जीवो चेव हि एदे सव्वे भावत्ति मण्णसे जदि हि ।
जीवस्साजीवस्स य णत्थि विसेसो दु दे कोई ॥६७॥
जीवश्चैव ह्येते सर्वे भावा इति मन्यसे यदि हि ।
जीवस्याजीवस्य च नास्ति विशेषस्तु ते कोऽपि ॥६७॥

अर्थः—(संसारी जीव को संबोधकर आचार्यदेव कहते हैं कि हे भाई!) यदि इन सबही भावोंमें जीवको माना जायगा तो कहनेमें जीव और अजीव (पुद्गल) में परस्पर कोई भेद नहीं रहता ॥६७॥

तात्पर्यवृत्तिः—जीवो चेव हि एदे सव्वे भावत्ति मण्णसे जदि हि यथानंतज्ञानाव्याबाधसुखादिगुणा एव जीवो भवति वर्णादिगुणाएव पुद्गलस्तथा जीव एव हि स्फुटमेते वर्णादयः सर्वे भावा मनसि मन्यसे यदि चेत् **जीवस्साजी-वस्स य णत्थि विसेसो हि दे कोई** तदा किं दूषणं विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावजीवस्य जडत्वादिलक्षणाजीवस्य च तस्यैवमते कोपि विशेषो भेदो नास्ति । ततश्च जीवाभावदूषणं प्राप्नोतीति सूत्रार्थः । अथ संसारावस्थायामेव जीवस्य वर्णादितादात्म्य संबंधोस्तीति दुरभिनिवेशेपि जीवाभाव एव दोष इत्युपदिशति ।

टीका:—(जीवो चेव हि एदे सव्वे भावत्ति मण्णसे जदि हि) जैसे अनंत ज्ञान और अव्याबाध सुख आदि जीव में होते हैं वैसे ही वर्णादिगुण पुद्गलमें हैं ऐसा स्पष्ट है फिर भी यदि तू अपने मनमें ऐसा समझता है कि वर्णादिक भी जीवके गुण हैं तो (जीवस्साजीवस्स य णत्थि विसेसो हि दे कोई) यह

बड़ा भारी दूषण आता है कि विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभाववाला जीव और जड़त्वादि स्वभाववाला अजीव इस प्रकार का जो भेद है, वह तेरे मतमें सर्वथा नहीं रहता एवं फिर शुद्ध जीवका अभाव ही होजाता है ऐसा इस सूत्र का अर्थ है ।।६७।।

अब यदि जीव के साथ में सर्वथा वर्णादिक का तादात्म्य न मानकर केवल संसार अवस्था में ही तादात्म्य मानने का दुराग्रह किया जाता है तो भी जीव का अभावरूप दूषण आता है ऐसा कहते हैं:—

जदि संसारत्थाणं जीवाणं तुज्झ होंति वण्णादी ।
तम्हा संसारत्था जीवा रूवित्तमावण्णा ।।६८।।
एवं पोग्गलदव्वं जीवो तह लक्खणेण मूढमदी ।
णिव्वाणमुवगदो वि य जीवत्तं पोग्गलो पत्तो ।।६९।।(युगलम्)

यदि संसारस्थानां जीवानां तव भवंति वर्णादयः ।
तस्मात्संसारस्था जीवा रूपित्वमापन्नाः ।।६८।।
एवं पुद्गलद्रव्यं जीवस्तथा लक्षणेन मूढमते ।
निर्वाणमुपगतोऽपि च जीवत्वं पुद्गलः प्राप्तः ।।६९।।

अर्थ—यदि संसार अवस्था में जीव के साथ तादात्म्य मान लिया जाय तो तेरे कहने में संसारी जीव रूपी ठहरे । अतः फिर हे भोलेभाई ! पुद्गल द्रव्य स्वरूप ही जीव ठहरा तब फिर निर्वाण भी पुद्गल का होगा, क्योंकि दोनों के लक्षण में कोई भेद नहीं रहा ।। ६८–६९ ।।

तात्पर्यवृत्तिः—जदि संसारत्थाणं जीवाणं तुज्झ होंति वण्णादी यदि चेत्संसारस्थजीवानां पुद्गलस्येव वर्णादयो गुणास्तव मतेन तवाभिप्रायेणैकांतेन भवंतीति **तम्हा संसारत्था जीवा रूवित्तमावण्णा** ततः किं दूषणं,संसारस्थ जीवा अमूर्त्तमनंतज्ञानादिचतुष्टयस्वभावलक्षणं त्यक्त्वा शुक्लकृष्णादिलक्षणं रूपित्वमापन्ना भवंति । अथ—**एवं पुग्गलदव्वं जीवो तह लक्खणेण मूढमई** एवं पूर्वोक्तप्रकारेण जीवस्य रूपित्वे सति पुद्गलद्रव्यमेव जीवः नान्यः कोपि विशुद्धचैतन्य-चमत्कारमात्रस्तवलक्षणेन तवाभिप्रायेण हे मूढमते ! न केवलं संसारावस्थायां पुद्गल एव जीवत्वं प्राप्तः **णिव्वाणमु-वगदो वि य जीवत्तं पुग्गलो पत्तो** निर्वाणमुपगतोपि पुद्गल एव जीवत्वं प्राप्तः नान्यः कोपि चिद्रूपः । कस्मादिति चेत्, वर्णादितादात्म्यस्य पुद्गलद्रव्यस्येव निषेधयितुमशक्यत्वादिति भवत्येव जीवाभावः । किं च संसारावस्थायामेकांतेन वर्णादितादात्म्ये सति मोक्ष एव न घटते, कस्मादिति चेत् ? केवलज्ञानादिचतुष्टयव्यक्तिरूपस्य कार्यसमय-सारस्यैव मोक्षसंज्ञा सा च जीवस्य पुद्गलत्वे सति न संभवंतीति भावार्थः । एवं जीवस्य वर्णादितादात्म्ये सति जीवाभाव-दूषणद्वारेण गाथात्रयं गतं । अथैवं स्थितं बादरसूक्ष्मैकेंद्रियादिसंज्ञिपचेंद्रियपर्यंतंचतुर्दशजीवस्थानानि शुद्धनिश्चयेन जीव-स्वरूपं न भवंति तथा देहगता वर्णादयोपीत्यावेदयति :—

टीका—(जदि संसारत्थाणं जीवाणं तुज्झ होंति वण्णादी) यदि संसार में स्थित जीवों के, तेरे कहने के अनुसार पुद्गल के समान, वर्णादिक गुण एकांत से मान लिये जायं (तम्हा संसारत्था जीवा रुवित्तमावण्णा) तो संसार में स्थित जो जो जीव हैं वे अमूर्तस्वरूप जो अनंतज्ञानादि चतुष्टयमय लक्षण को छोड़कर शुक्ल कृष्णादि लक्षण वाले रूपीपन को प्राप्त हो जायंगे यह दूषण आयगा । (एवं पुग्गलदव्वं जीवो तह लक्खणेण मूढमई) हे भोले ! इस प्रकार जीव के रूपीपना आजाने पर जीव भी पुद्गल ही ठहरा, उससे भिन्न विशुद्ध चैतन्य चमत्कार वाला जीव तेरे अभिप्राय में कोई नहीं रहा । इतना ही नहीं

कि संसार अवस्था में ही जीव पुद्गल ठहरा, परन्तु (णिव्वाणमुवगदो वि य जीवत्तं पुग्गलो पत्तो) निर्वाण अवस्था को प्राप्त होते हुए भी यह पुद्गल ही जीवपने को प्राप्त होगा न कि उससे भिन्न चैतन्य स्वरूप जीव। कारण कि वहां पर भी पुद्गल द्रव्य के वर्णादिक गुणों का निषेध नहीं किया जा सकेगा इसलिये जीवका अभाव हो जायगा, और संसार अवस्था में एकांत से वर्णादि का तादात्म्य मान लेने पर मोक्ष कोई वस्तु ही नहीं ठहरेगी। क्योंकि केवलज्ञानादि चतुष्टय की अभिव्यक्तिरूप कार्य समयसार का ही नाम मोक्ष है जो कि जीव को पुद्गलपना प्राप्त होजाने पर किसी भी प्रकार से सम्भव नहीं है ऐसा आचार्य का तात्पर्य है ।। ६८-६९ ।।

इस प्रकार जीव का वर्णादिक के साथ तादात्म्य सम्बन्ध मान लेने पर (जीव और पुद्गल इन दोनों का एक ही लक्षण हो जाने से) जीव का अभाव होजायगा इस प्रकार का वर्णन करते हुए तीन गाथायें हुईं ।

आगे कहते हैं कि बादर और सूक्ष्मके भेदसे एकेन्द्रिय जीव और द्विन्द्रिय आदि पंचेन्द्रिय पर्यंत जो चौदह जीव समास हैं वे भी शुद्ध निश्चयनयसे जीव के स्वरूप नहीं हैं तो फिर वर्णादिक जो देहगत धर्म हैं वे जीवके कैसे हो सकते हैं :—

एक्कं चं दोण्णि तिण्णि य चत्तारि य पंच इंदिया जीवा।
बादरपज्जत्तिदरा पयडीओ णामकम्मस्स ।।७०।।
एदाहि य णिव्वता जीवट्ठाणा दु करणभूदाहिं।
पयडीहिं पुग्गलमईहिं ताहिं कहं भण्णदे जीवो ।।७१।।

एकं वा द्वे त्रीणि च चत्वारि च पंचेंद्रियाणि जीवाः।
बादरपर्याप्तेतराः प्रकृतयो नामकर्मणः ।।७०।।
एताभिश्च निवृत्तानि जीवस्थानानि करणभूताभिः।
प्रकृतिभिः पुद्गलमयीभिस्ताभिः कथं भण्यते जीव ।।७१।।

तात्पर्यवृत्तिः—एकद्वित्रिचतुःपंचेंद्रियसंज्ञ्यसंज्ञिबादरपर्याप्त तराभिधानाः प्रकृतयो भवंति । कस्य संबंधिन्यो नामकर्मण इति । अथ—एताभिरमूर्त्तातींद्रियनिरंजनपरमात्मतत्त्वविलक्षणाभिर्नामकर्मप्रकृतिभिः पुद्गलमयीभिः पूर्वोक्ताभिर्निर्वर्तितानि चतुर्दशजीवस्थानानि निश्चयनयेन कथं जीवा भवंति ? न कथमपि । तथाहि—यथा रुक्मेण करणभूतेन निर्वृत्तमसिकोशं तु रुक्मैव भवति तथा पुद्गलमयप्रकृतिभिर्निष्पन्नानि जीवस्थानानि पुद्गलद्रव्यस्वरूपाण्येव भवंति न च जीवस्वरूपाणि । तथा तेनैव जीवस्थानदृष्टांतेन तदाश्रिता वर्णादयोपि पुद्गलस्वरूपा भवंति न च जीवस्वरूपा इत्यभिप्रायः । अथ—ग्रंथांतरे पर्याप्तापर्याप्तबादरसूक्ष्मजीवाः कथ्यंते तत्कथं घटत इति पूर्वपक्षे परिहारं ददाति ।

अर्थ व टीका—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय व पंचेन्द्रिय असंज्ञी संज्ञी बादर और सूक्ष्म पर्याप्त और अपर्याप्त ये सब नामकर्म संबंधी प्रकृतियां हैं जो कि अमूर्त्त, अतीन्द्रिय, और निरंजन ऐसे परमात्मतत्व से विलक्षणता लिए हुए हैं। इन पूर्वोक्त पुद्गलमयी नाम प्रकृतियों द्वारा निष्पन्न १४ जीव समास हैं। अतः वे निश्चय नय से जीव कैसे कहे जा सकते हैं ? कभी नहीं कहे जा सकते। जैसे करणभूत सोने के द्वारा बनाया गया तलवार का म्यान स्वर्णरूप ही होता है वैसे ही पुद्गलमय प्रकृतियों के द्वारा निष्पन्न हुए जीवसमास भी पुगद्ल द्रव्य स्वरूप ही हैं न कि जीव स्वरूप हैं। ऐसा कहने

से यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि जब जीवस्थान ही पुद्गल हैं तो वर्णादिक तो सर्वथा ही पुद्गलाश्रित हैं, अतः फिर वे तो जोव के स्वरूप किसी भी प्रकार न होकर पुगद्ल स्वरूप ही हैं। ऐसा इन दोनों गाथाओं का अभिप्राय है।

आगे शिष्य प्रश्न करता है कि पर्याप्त, अपर्याप्त, बादर और सूक्ष्म जीव होते हैं ऐसा अन्य ग्रन्थों में लिखा हुआ है वह क्यों ? इस पर आचार्य उत्तर देते हैं:—

पज्जत्ता पज्जत्ता जे सुहुमा बादरा य जे चेव।
देहस्स जीवसण्णा सुत्ते ववहारदो उत्ता ॥७२॥
पर्याप्तापर्याप्ता ये सूक्ष्मा बादराश्च ये चैव।
देहस्य जीव संज्ञा सूत्रे व्यवहारतः उक्ताः ॥७२॥

अर्थ— पर्याप्त, अपर्याप्त, एवं सूक्ष्म और बादर ये सब देह की संज्ञायें हैं । उन्हीं को व्यवहार नय से परमागम में (अभेद अपेक्षा से) जीव की बताई हैं ॥७२॥

तात्पर्यवृत्तिः—पज्जत्तापज्जत्ता जे सुहुमा बादरा य जे चेव पर्याप्तापर्याप्ता ये जीवाः कथिताः सूक्ष्मबादराश्चैव ये कथिताः **देहस्स जीवसण्णा सुत्ते ववहारदो उत्ता** पर्याप्तापर्याप्तदेहं दृष्ट्वा पर्याप्तापर्याप्तबादरसूक्ष्मविलक्षणपरमचिज्ज्योतिर्लक्षणशुद्धात्मस्वरूपात्पृथग्भूतस्य देहस्य सा जीवसंज्ञा कथिता। क्व ? सूत्रे परमागमे। कस्मात् व्यवहारादिति नास्ति दोषः। एवं जीवस्थानानि जीवस्थानाश्रिता वर्णादयश्च निश्चयेन जीवस्वरूपं न भवंतीति कथनरूपेण गाथात्रयं गतं। अथ न केवलं बहिरंगवर्णादयो शुद्धनिश्चयेन जीवस्वरूपं न भवंति अभ्यंतरमिथ्यात्वादिगुणस्थानरूपरागादयोपि न भवंतीति स्थितं।

टीकाः- (पज्जात्तापज्जत्ता जे सुहुमा बादरा य जे चेव) जीवों को पर्याप्त और अपर्याप्त, सूक्ष्म और बादर कहा गया है वह (देहस्स जीवसण्णा सुत्ते ववहारदो उत्ता) वह पर्याप्त और अपर्याप्त शरीर को देखकर पर्याप्त, अपर्याप्त, बादर और सूक्ष्मपने से विलक्षण जो परम चैतन्य ज्योति लक्षण वाला शुद्धात्मा उससे पृथग्भूत जो यह देह है उसी की संज्ञा को परमागम में व्यवहार से जीव संज्ञा कही गई है, इसमें कोई दोष नहीं हैं। इस प्रकार जीवस्थान और उसके आश्रित वर्णादिक ये सभी निश्चय से जीव का स्वरूप नहीं है। इस प्रकार के कथन को लेकर तीन गाथायें पूर्ण हुईं ॥ ७२ ॥

अब बाहर में जो वर्णादिक हैं वे शुद्ध निश्चयनय से जीव के स्वरूप नहीं हैं। इतना ही नहीं, किन्तु अंतरंग में होनेवाले मिथ्यात्वादि गुणस्थानरूप रागादिक भी शुद्ध निश्चयनय से जोव के स्वरूप नहीं हैं इसीको बतलाते हैं :—

मोहणकम्मस्सुदया दु वण्णिदा जे इमे गुणट्ठाणा।
ते कह हवंति जीवा ते णिच्चमचेदणा उत्ता ॥ ७३ ॥
मोहन कर्मण उदयात्तु वर्णितानी यानीमानि गुणस्थानानि।
तानि कथं भवंति जीवा यानि नित्यमचेतनान्युक्तानि ॥७३॥

अर्थ— मोहनीय कर्म के उदय से जो यह गुणस्थान कहे गए हैं वे किस प्रकार से जीव हो सकते हैं क्योंकि वे सदा ही अचेतन हैं (शुद्ध चेतना से भिन्न हैं) ॥७३॥

तात्पर्यवृत्तिः— मोहणकम्मस्सुदया दु वण्णिदा जे इमे गुणट्ठाणा निर्मोहपरमचैतन्यप्रकाशलक्षणपरमात्मतत्त्वप्रतिपक्षभूतानाद्यविद्याकंदलीकंदायमानसंतानागतमोहकर्मोदयात्सकाशात् यानीमानि वर्णितानि कथितानि गुण-

स्थानानि तथा चोक्तं "गुणसण्णा सा च मोहजोगभवा" **ते कह हवंति जीवा** तानि कथं भवंति जीवा न कथमपि। कथंभूतानि **ते णिच्चमचेदणा उत्ता** यद्यप्यशुद्धनिश्चयेन चेतनानि तथापि शुद्धनिश्चयेन नित्यं सर्वकालमचेतनानि। अशुद्धनिश्चयस्तु वस्तुतो यद्यपि द्रव्यकर्मापेक्षयाभ्यंतररागादयश्चेतना इति मत्वा निश्चयसंज्ञां लभते तथापि शुद्धनिश्चयापेक्षया व्यवहार एव। इति व्याख्यानं निश्चयव्यवहारनयविचारकाले सर्वत्र ज्ञातव्यं। एवमभ्यंतरे यथा मिथ्यादृष्ट्यादिगुणस्थानानि जीवस्वरूपं न भवंति तथा रागादयोपि शुद्धजीवस्वरूपं न भवंतीति कथनरूपेणाष्टमगाथा गता। एवमष्टगाथाभिस्तृतीयांतराधिकारो व्याख्यातः। ननु रागादयो जीवस्वरूपं न भवंतीति जीवाधिकारे व्याख्यातं अस्मिन्नजीवाधिकारेपि तदेवेति पुनरुक्तमिदं। तन्न, विस्तररुचिशिष्यं प्रति नवाधिकारैः समयसार एव व्याख्यायते न पुनरन्यदिति प्रतिज्ञावचनं। तत्रापि समयसारव्याख्यानमत्रापि समयसारव्याख्यानमेव। यदि पुनः समयसारं त्यक्त्वान्यद्व्याख्यायते तदा प्रतिज्ञाभंग इति नास्ति पुनरुक्तं। अथवा भावनाग्रंथे समाधिशतकपरमात्मप्रकाशादिग्रंथवद्रागिणां शृंगारकथावत् वा पुनरुक्तदोषो नास्ति। अथवा तत्र जीवस्य मुख्यता अत्राजीवस्य मुख्यता। विवक्षितो मुख्य इति वचनात्। अथवा तत्र सामान्यव्याख्यानमत्र तु विस्तरेण। अथवा तत्र रागादिभ्यो भिन्नो जीवो भवतीति विधिमुख्यतया व्याख्यानं, अत्र तु रागादयो जीवस्वरूपं न भवंतीति निषेधमुख्यतया व्याख्यानं। किंवत्, एकत्वान्यत्वानुप्रेक्षाप्रस्तावे विधिनिषेधव्याख्यानवदिति परिहारपंचकं ज्ञातव्यं।

इति श्री जयसेनाचार्यकृतायां समयसारव्याख्यायां शुद्धात्मानुभूतिलक्षणायां तात्पर्यवृत्तौ स्थलत्रयसमुदायेन त्रिंशद्गाथाभिरजीवाधिकारः समाप्तः।

एवं जीवाजीवाधिकाररंगभूमौ शृंगारसहितपात्रवद्व्यवहारेणैकीभूतौ प्रविष्टौ निश्चयेन तु शृंगाररहितपात्रवत्पृथग्भूत्वा निष्क्रांताविति।

टीका:— (मोहणकम्मस्सुदया दु वण्णिदा जे इमे गुणट्ठाणा) मोह रहित परम चैतन्य का प्रकाश वही है लक्षण जिसका ऐसे परमात्मतत्व से विपरीत स्वरूप वाले और अनादि अविद्या कदली के कंदस्वरूप संतान से प्राप्त हुए मोह कर्म के उदय से होने वाले बताये गये हैं वे गुणस्थान हैं। जैसा कि गोमट्टसार में कहा गया है— 'गुणसण्णा सा च मोह जोगभवा'। (ते कह हवंति जीवा) वे जीव कैसे हो सकते हैं अर्थात् नहीं हो सकते। वे गुणस्थान कैसे हैं? (ते णिच्चमचेदणा उत्ता) यद्यपि अशुद्ध निश्चयनय से ये गुणस्थान चेतन हैं (क्योंकि चेतना के विकार हैं) तो भी शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा वे सब सदा अचेतन हैं। अशुद्ध निश्चयनय यद्यपि द्रव्य कर्म आदि की अपेक्षा से अंतरंग में होने वाले रागादि भावों को चेतन मानकर निश्चय संज्ञा को प्राप्त होता है फिर भी वास्तव में वह शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा व्यवहार ही है। इस प्रकार का व्याख्यान निश्चयनय और व्यवहारनय के काल में सर्वत्र लगा लेना॥ ७३॥

विशेषार्थः— यहां पर रागादि भावकर्म को भी अचेतन बताया गया है सो अचेतन शब्द का अर्थ चेतना रहित भी होता है और किंचित् चेतन अर्थात् चेतनता के विकार रूप भी होता है। वहां ज्ञानावरणादिरूप द्रव्य कर्म तो उपादान रूप में पुद्गलद्रव्य स्वरूप है अतः स्पष्ट रूप से अचेतन है; किन्तु रागादिभावों का उपादान अशुद्ध जीव होता है, केवल उनके होने में निमित्त रूप से द्रव्य कर्मरूप पुद्गल काम करता है, अतः रागादिभाव अशुद्ध निश्चयनय से विकारी चेतन के परिणाम हैं। इसलिए अशुद्ध निश्चयनय से चेतन के भाव हैं ऐसा टीकाकार का कहना है। किन्तु शुद्ध निश्चयनय शुद्ध जीव के परिणामों को ही कहता है, अतः इसके विचार में तो वे सब पौद्गलिक अर्थात् पुद्गल के निमित्त से होने वाले ही हैं ऐसा समझना चाहिए।

इस प्रकार अभ्यंतर में जसे मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थान जीव का स्वरूप नहीं है वैसे ही रागादिक भी शुद्ध जीव का स्वरूप नहीं है ऐसा कथन करते हुए आठ गाथायें पूर्ण हुईं।

इस प्रकार आठ गाथाओं में तीसरे अन्तर अधिकार का व्याख्यान किया गया।

यहां पर कोई शंका करता है कि रागादि जीव के स्वरूप नहीं हैं ऐसा जीवाधिकार में बता चुके हैं वही बात इस अजीवाधिकार में क्यों कही गई है यह पुनरुक्त दोष है। इसका आचार्य समाधान करते हैं कि पहले हम यही प्रतिज्ञा कर आये हैं कि यहां तक जो बात कही है उसी को विस्तार रुचि वाले शिष्यों के लिए नव अधिकारों से उसी समयसार का व्याख्यान करके बतलायेंगे। इस प्रतिज्ञा के अनुसार वहां भी समयसार का व्याख्यान संक्षेप से किया था वही समयसार का व्याख्यान कुछ विस्तार से है। यदि उस समयसार के व्याख्यान को छोड़कर दूसरा व्याख्यान करें तो की हुई प्रतिज्ञा का भंग होता है इसलिए यहां पर पुनरुक्त दोष नहीं है, (अपितु गुण ही है) प्रत्युत यह तो भावनात्मक ग्रंथ है इसलिए इसमें परमात्मप्रकाश, समाधिशतक आदि ग्रंथों की भांति पुनरुक्त दोष नहीं है किन्तु जैसे रागी जीवों को शृंगार की कथा बार बार कही जाती है वैसे ही यहां पर भी एक ही बात बार बार शिष्य को कहा जाना ठीक है। अथवा यों समझो कि वहां पर तो जीवाधिकार में जीवकी मुख्यता है और यहां अजीवाधिकार में अजीव की मुख्यता है। जहां पर जिसकी विवक्षा होती है वह मुख्य समझा जाता है। अथवा वहां सामान्य कथन है और यहां पर उसीका विस्तार है। अथवा वहां रागादिक से जीव भिन्न होता है ऐसा निषेधात्मक व्याख्यान है। जैसे एकत्व भावना और अन्यत्व भावना में विधि और निषेध रूप कथन है। इस प्रकार शंका का पांच प्रकार से परिहार किया गया है।

इस प्रकार जीव और अजीव जीवाजीवाधिकार रूप रंगभूमि में शृंगार सहित पात्र के समान व्यवहार नय से एकरूपता को प्राप्त हुये प्रविष्ट हुए थे सो निश्चयनय से शृंगार रहित पात्र के समान पृथक् २ होकर निकल गये।

इस प्रकार **श्री जयसेनाचार्य** के द्वारा बनाई हुई शुद्धात्मा की अनुभूति स्वरूप लक्षण वाली तात्पर्य वृत्ति नामकी समयसार की व्याख्या में तीन स्थलों के समुदाय से तीस गाथाओं द्वारा यह **अजीवाधिकार** समाप्त हुआ।

अथ कर्तृकर्माधिकारः (तीसरा अधिकार)

तात्पर्यवृत्तिः—अथ पूर्वोक्तजीवाधिकाररंगभूमौ जीवाजीवावेव यद्यपि शुद्धनिश्चयनयेन कर्तृकर्मभावरहितौ तथापि व्यवहारनयेन कर्तृकर्मवेषेण शृंगारसहितपात्रवत्प्रविशत इति दंडकान्विहायाष्टाधिकसप्ततिगाथापर्यंतं नवभिः स्थलैर्व्याख्यानं करोतीति पुण्यपापादिसप्तपदार्थपीठिकारूपेण तृतीयाधिकारे समुदायपातनिका। अथवा **जो खलु संसारत्थो जीवो** इत्यादिगाथात्रयेण पुण्यपापादिसप्तपदार्था जीवपुद्गलसंयोगपरिणामनिर्वृत्ता न च शुद्धनिश्चयेन शुद्धजीवस्वरूपमिति पंचास्तिकायप्राभृते यत्पूर्वं संक्षेपेण व्याख्यातं तस्यैवेदानीं व्यक्त्यर्थं पुण्यपापादिसप्तपदार्थानां पीठिकासमुदायकथनं तात्पर्यं कथ्यत इति द्वितीयपातनिका। प्रथमतस्तावत् **जावणवेदिविसेसंतरं** इत्यादिगाथामादिं कृत्वा पाठक्रमेण गाथाषट्कपर्यंतं व्याख्यानं करोति। तत्र गाथाद्वयमज्ञानीजीवमुख्यत्वेन गाथाचतुष्टयं संज्ञानीजीवमुख्यत्वेन कथ्यत इति प्रथमस्थले समुदायपातनिका। तद्यथा—अथ क्रोधाद्यास्रवशुद्धात्मनोर्यावतकालं भेदविज्ञानं न जानाति तावदज्ञानी भवतीत्यावेदयति।

अब पूर्वोक्त जीवाधिकार की रंगभूमि में यद्यपि शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से कर्ताकर्म भाव रहित जीव और अजीव हैं किन्तु व्यवहारनय की अपेक्षा से वही जीव और अजीव कर्ता और कर्म के भेष में शृंगार सहित पात्र के समान प्रवेश करते हैं। इस प्रकार के दंडकों को छोड़कर ७८ (अठत्तर) गाथा पर्यन्त नव स्थलों से व्याख्यान करते हैं। इस प्रकार पुण्य पापादि सप्त पदार्थों की पीठिका के रूप में तीसरे अधिकार में यह समुदाय पातनिका हुई। अथवा यों कहो कि 'जो खलु संसारत्थो जीवो' इत्यादि तीन गाथाओं के द्वारा पुण्यपापादि रूप सप्त पदार्थ जो कि जीव और पुद्गल के संयोगरूप परिणाम से उत्पन्न हुए हैं, वे शुद्ध निश्चयनय से शुद्ध जीव के स्वरूप नहीं हैं। इस प्रकार का व्याख्यान पंचास्तिकाय प्राभृत ग्रन्थ में जो पहले संक्षेप से कह आये हैं, उन्हीं पुण्य पापादि सप्त पदार्थों को स्पष्ट वर्णन करने के लिए ये पीठिका के समुदायरूप कथन किया जाता है यह दूसरी पातनिका हुई। वहां सबसे पहले 'जाव ण वेदि विसेसंतरं' इत्यादि गाथा से प्रारंभ करके पाठ के क्रम से छह गाथा पर्यन्त व्याख्यान करते हैं। वहां दो गाथा तो अज्ञानी जीवकी मुख्यता से और चार गाथा ज्ञानी जीव की मुख्यता से कही गई है। इस प्रकार पहले स्थल में समुदाय पातनिका हुई।

वही आगे बतलाते हैं कि यह जीव क्रोधादि आस्रव भाव और शुद्धात्मा इन दोनों में जो भेद है उसको जब तक भली प्रकार नहीं जान लेता है तब तक यह जीव अज्ञानी बहिरात्मा रहता है:—

जाव ण वेदि विसेसंतरं तु आदासवाण दोह्णंपि।
अण्णाणी तावदु सो कोधादिसु वट्टदे जीवो ॥७४॥
कोधादिसु वट्टंतस्स तस्स कम्मस्स संचओ होदि।
जीवस्सेवं बंधो भणिदो खलु सव्वदरसीहिं ॥७५॥ (युग्मम्)

यावन्न वेत्ति विशेषांतरं त्वात्मास्रवयोर्द्वयोरपि।
अज्ञानी तावत्स क्रोधादिषु वर्त्तते जीवः ॥७४॥
क्रोधादिषु वर्त्तमानस्य तस्य कर्मणः संचयो भवति।
जीवस्यैवं बंधो भणितः खलु सर्वदर्शिभिः ॥७५॥

अर्थ—आत्मभाव और आस्रवभाव दोनों में परस्पर में होने वाली विशेषता को जब तक यह जीव अपने उपयोग में ठीक प्रकार नहीं जान लेता है तब तक अज्ञानी बना रहता हैं। और तभी तक क्रोधादिक करने में प्रवृत्त होता है। अतः (क्रोध आदि में प्रवृत्त होने वाले) इसके नवीन कर्मों का भी बंध होता रहता है। सर्वज्ञ भगवान ने नूतन कर्म बंध होने का यही ढंग बतलाया है।७४-७५।

तात्पर्यवृत्तिः—जाव ण वेदि विसेसंतरं तु आदासवाण दोण्हंपि यावत्कालं न वेत्ति न जानाति विशेषांतरं भेदज्ञानं शुद्धात्मक्रोधाद्यास्रवस्वरूपयोर्द्वयोः **अण्णाणी ताव दु सो** तावत्कालपर्यंतमज्ञानी बहिरात्मा भवति। स जीवः अज्ञानी सन्किं करोति, **कोधादिसु वट्टदे जीवो** यथा ज्ञानमहं इत्यभेदेन वर्त्तते तथा क्रोधाद्यास्रवरहितनिर्मलात्मानुभूति-लक्षणनिजशुद्धात्मस्वभावात्पृथग्भूतेषु क्रोधादिष्वपि क्रोधोहमित्यभेदेन वर्त्तते परिणमतीति अथ-**कोधादिसु वट्टंतस्स तस्स** उत्तमक्षमादिस्वरूपपरमात्मविलक्षणेषु क्रोधादिषु वर्त्तमानस्य तस्य जीवस्य किं फलं भवति **कम्मस्स संचओ होदी** परमात्मप्रच्छादककर्मणः संचयः आस्रव आगमनं भवति। **जीवस्सेवं बंधो भणिदो खलु सव्वदरसीहिं** तैल-म्रक्षिते धूलिसमागमवदास्रवे सति ततो मलादितैलसंबंधेन मलबंधवत्प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशलक्षणः स्वशुद्धात्मावाप्ति-

स्वरूपमोक्षविलक्षणो बंधो भवति । जीवस्यैवं खलु स्फुटं भणितं सर्वदर्शिभिः सर्वज्ञैः । किं च यावत्क्रोधाद्यास्रवेभ्यो भिन्नं शुद्धात्मस्वरूपं स्वसंवेदनज्ञानबलेन न जानाति तावत्कालमज्ञानी भवति । अज्ञानी सन् अज्ञानजां कर्तृकर्मप्रवृत्तिं न मुंचति तस्माद्बंधो भवति । बंधात्संसारं परिभ्रमतीत्यभिप्रायः । एवमज्ञानी जीवस्वरूपकथनरूपेण गाथाद्वयं गतं । अथ कदा कालेऽस्याः कर्तृकर्मप्रवृत्तेर्निवृत्तिरित्येवं पृष्टे प्रत्युत्तरं ददाति ।

टीका:—(जाव ण वेदि विसेसंतरं तु आदासवाण दोण्हंपि) शुद्धात्मा और क्रोधादि आस्रवोंके स्वरूप में जो विशेषता है उसको यह जीव जबतक नहीं जानलेता—समझलेता (अण्णाणी तावदु सो) तबतक यह अज्ञानी और बहिरात्मा बना रहता है। अज्ञानी होकर वह क्या करता है कि (कोधादिसु वट्टदे जीवो) जैसे मैं ज्ञान हूं (अर्थात् ज्ञान मेरा स्वभाव है) इस प्रकार ज्ञानके साथ एकता को लिये हुए है वैसे ही क्रोधादिक आस्रव भावों से रहित ऐसी निर्मल आत्मानुभूति है लक्षण जिसका ऐसे शुद्धात्म स्वभावसे पृथक् भूत क्रोधादिक भाव हैं उनमें भी मैं क्रोध हूँ (क्रोध करना मेरा स्वभाव है) इस प्रकार एकता को लिये हुये रहता है, परिणमन करता है। (क्रोधादिसु वट्टंतस्स तस्स) उत्तम क्षमादि स्वरूप जो परमात्मा उससे विलक्षण जो क्रोधादि भाव उनमें प्रवर्तन करनेवाले इस जीव के (कम्मस्स संचओ होदि) परमात्म स्वरूप का तिरोहित करनेवाले कर्मका संचय, आस्रव, आगमन होता रहता है। (जीवस्सेवं बंधो भणिदो खलु सव्वदरसीहिं) जैसे तेल लगाये हुए जीवके शरीर में धूलिका समागम हो जाता है, वैसे ही नूतन कर्मों का आस्रव होने पर फिर तेल के संबंधसे मैलके चिपक जाने के समान प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, प्रदेश लक्षण वाला जोकि अपने शुद्धात्माकी प्राप्ति स्वरूप मोक्ष से विलक्षण है ऐसा बंध अवश्य ही होता है। सर्वज्ञ भगवानने नूतन बंधका ऐसा वर्णन किया है। और जबतक अपने शुद्धात्मके स्वरूपको स्वसंवेदन ज्ञानके बलसे क्रोधादिक से पृथक् करके नहीं जानता है (अपने अनुभवमें नहीं लाता है) तबतक अज्ञानी रहता है। जबतक अज्ञानी रहता है तबतक अज्ञानके द्वारा उत्पन्न होनेवाली कर्त्ताकर्मरूप प्रवृत्ति को भी नहीं छोड़ता है इसलिए बंध होता रहता है। बंधसे संसारका परिभ्रमण होता रहता है ऐसा अभिप्राय है। इस प्रकार अज्ञानी जीवके स्वरूप का कथन करनेवाली दो गाथा हुईं ।।७४-७५।।

विशेषार्थ:—आचार्य महाराज कहते हैं कि वीतरागता तो आत्माका स्वभाव है और क्रोधादिक भाव आत्माके कर्मजन्य विकारी भाव हैं जो कि अनादि से आत्मामें होते आ रहे हैं। एवं यह आत्मा इन बाह्य दृश्यमान वस्तुओं पर क्रोधादिक करना मेरा काम है ऐसा समझते हुए क्रोधादिक रूप परिणमन करता रहता है तबतक यह बाह्यपदार्थ में प्रवृत्ति करनेवाला बहिरात्मा एवं अज्ञानी होता हुआ नवीन बंध करता रहता है।

इस कर्त्ता कर्म रूप प्रवृत्ति की निवृत्ति किस प्रकार होती है उसे कहते हैं:—

जइया इमेण जीवेण अप्पणो आसवाण य तहेव।
णादं होदि विसेसंतरं तु तइया ण बंधो से ।।७६।।

यदानेन जीवेनात्मनः आस्रवाणां च तथैव ।
ज्ञातं भवति विशेषांतरं तु तदा न बंधस्तस्य ।।७६।।

अर्थ:—जिस समय यह जीव आत्मभाव और आस्रवभावों में जो विलक्षणता है उसे अपने उपयोग में भली प्रकार उतारता है (अर्थात् क्रोधादिक रूप परिणमन नहीं करता) उस समय नूतन बंध नहीं होता है।

तात्पर्यवृत्ति:—**जइया** यदा श्रीधर्मलब्धिकाले **इमेण जीवेण** अनेन प्रत्यक्षीभूतेन जीवेन **अप्पणो आसवाण य**

तहेव णादं होदि विसेसंतरं तु यथा शुद्धात्मनस्तथैव कामक्रोधाद्यास्रवाणां च ज्ञातं भवति विशेषांतरं भेदज्ञानं **तइया** तदाकाले सम्यग्ज्ञानी भवति । सम्यग्ज्ञानी सन् किं करोति, अहं कर्त्ता भावक्रोधादिरूपमंतरंगं मम कर्मेत्यज्ञानजां कर्तृकर्मप्रवृत्तिं मुंचति । ततः कर्तृकर्मप्रवृत्तेर्निवृत्तौ सत्यां निर्विकल्पसमाधौ सति **ण बंधो** न बंधो भवति **से** तस्य जीवस्येति । अथ कथं ज्ञानमात्रादेव बंधनिरोध इति पूर्वपक्षे कृते परिहारं ददाति ।

टीका:—(जइया) जब सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक् चारित्रात्मक रत्नत्रय धर्म की प्राप्ति के कालमें (इमेण जीवेण) इस प्रत्यक्षीभूत जीवके द्वारा (अप्पणो आसवाण य तहेव णादं होदि विसेसंतरं तु) जैसे शुद्धात्मा का तथा काम क्रोधादि आस्रव भावों का जो भेद है—परस्परमें विलक्षणपन है—वैसा ही जब जान लेता है अर्थात् अपने उपयोगमें उतारलेता है (एवं पर स्वरूप जो क्रोधादिक भाव हैं उनको करने से रह जाता है) (तइया) उस समय सम्यग्ज्ञानी होता है । सम्यग्ज्ञानी होकर क्या करता है कि मैं तो करनेवाला हूं और भावक्रोधादिक जो अंतरंगमें होते हैं वे मेरे कर्म हैं इस प्रकार जो अज्ञान जन्य कर्ता कर्म की प्रवृत्ति उसे छोड़ देता है, और उस कर्ता कर्म की प्रवृत्ति का अभाव हो जानेपर निर्विकल्प समाधि होती है तब (ण बंधो से) उस जीवके नूतन बंध नहीं होता ।।७६।।

विशेषार्थ:—यहां अज्ञानी से ज्ञानी कब होता है यह बतलाते हुए आचार्यदेव ने बतलाया है कि जब तक यह क्रोधादिक भाव किसी भी रूपमें करता रहता है तब तक अज्ञानी है किन्तु जब क्रोधादिरूप आर्त्त रौद्रभाव से रहित होकर निर्विकल्प समाधिमें लीन हो जाता है उस समय ज्ञानी बनता है तब उस समय उसके नूतन बंध नहीं होता । सारांश यह है कि जब यह अप्रमत्त अवस्था को प्राप्त होता है तब ही ज्ञानी होता है यही बात गोमट्टसार जीवकाण्ड में बताई है:—णट्ठा सेस पमादो वयगुणसीलोलिमंडिओ णाणी, अणुवसमओ अखवओ झाणणिलीणोहु अपमत्तो ।।४६।। अर्थात् जिस संयत के सारे प्रमाद नष्ट होगये और जो समग्र ही महाव्रत, अट्ठाईस मूलगुण तथा शीलसे युक्त है, शरीर और आत्माके भेदज्ञानमें तथा मोक्ष के कारणभूत ध्यानमें निरन्तर लीन रहता है, वह ज्ञानी है । और जबतक उपशमक या क्षपक श्रेणीका आरोहण नहीं करता तबतक स्वस्थान अप्रमत्त रहता है । यही बात परमात्म प्रकाशमें भी कही है-'देह विभिण्णउ णाणमउ जो परमप्पु णिएइ । परम समाहि परिट्ठियउ पंडिउ सो जि हवेइ' ।।१४।। अर्थात् जो जीव परम समाधिमें स्थित होकर देहसे रहित केवलमात्र ज्ञानमय परमात्मा का ही अनुभव करता है अर्थात् तन्मय होकर रहता है वही पण्डित अर्थात् ज्ञानी होता है ।

ज्ञान प्राप्तकर ज्ञानी हो जाने से निर्बन्ध कैसे होता है अर्थात् बंध का निरोध कैसे करता है इसका उत्तर देते हैं:—

णादूण आसवाणं असुचित्तं च विवरीय भावं च ।
दुक्खस्स कारणं ति य तदो णियत्तिं कुणदि जीवो ।।७७।।

ज्ञात्वा आस्रवाणामशुचित्वं च विपरीतभावं च ।
दुःखस्य कारणानीति च ततो निवृत्तिं करोति जीवः ।। ७७ ।।

अर्थ—जब यह जीव आस्रवों के अशुचिपने को, जड़तारूप विपरीतपने को और दुःख के कारणपने को जान लेता है तब अपने आप उनसे दूर रहता है ।।७७।।

तात्पर्यवृत्तिः—क्रोधाद्यास्रवाणां संबंधि कालुष्यरूपमशुचित्वं जडत्वरूपं विपरीतभावं व्याकुलत्वलक्षणं दुःखकारणत्वं च ज्ञात्वा तथैव निजात्मनः संबंधि निर्मलात्मानुभूतिरूपं शुचित्वं सहजशुद्धाखंडकेवलज्ञानरूपं ज्ञातृत्वमनाकुलत्वलक्षणानंतसुखत्वं च ज्ञात्वा ततश्चस्व संवेदनज्ञानानंतरं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैकाग्र्यपरिणतिरूपे परमसामयिके स्थित्वा

क्रोधाद्यास्रवाणां निवृत्तिं करोति जीवः। इति ज्ञानमात्रादेव बंधनिरोधो भवति नास्ति सांख्यादिमतप्रवेशः। किं च यच्चात्मास्रवयोः संबंधि भेदज्ञानं तद्रागाद्यास्रवेभ्यो निवृत्तं न वेति, निवृत्तं चेत्तर्हि तस्य भेदज्ञानस्य मध्ये पानकवदभेदनयेन वीतरागचारित्रं वीतरागसम्यक्त्वं च लभ्यत इति सम्यग्ज्ञानादेव बंधनिरोधसिद्धिः। यदि रागादिभ्यो निवृत्तं न भवति तदा तत्सम्यग्भेदज्ञानमेव न भवतीति भावार्थः। अथ केन भावनाप्रकारेणायमात्माक्रोधाद्यास्रवेभ्यो निवर्त्तते इति चेत्:—

टीका— क्रोधादि आस्रवों के कलुषतारूप अशुचिपने को, जड़तारूप विपरीतपने को, और व्याकुलता लक्षण दुःख के कारणपने को जानकर एवं अपने आत्मा के निर्मल आत्मानुभूति रूप शुचिपने को सहज शुद्ध अखण्ड केवलज्ञानरूप ज्ञातापन को और अनाकुलता लक्षण अनंत सुखरूप स्वभाव को जानकर उसके द्वारा स्वसंवेदनज्ञान को प्राप्त होने के अनंतर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र में एकाग्रतारूप परम सामायिक में स्थित होकर यह जीव क्रोधादिक आस्रवों की निवृत्ति करता है अर्थात् अपने आप दूर रहता है। इस प्रकार ज्ञानमात्र से ही बंध का निरोध सिद्ध हो जाता है। यहां सांख्यमत सरीखा ज्ञानमात्र से बंधका निरोध नहीं माना गया है। (किन्तु वैराग्यपूर्ण ज्ञान को ज्ञान कहा गया है और उससे बंधका निरोध होता है) किं च हम तुमसे पूछते हैं कि आत्मा और आस्रव संबंधी जो भेद ज्ञान है वह रागादि आस्रवों से निवृत्त है या नहीं ? यदि कहो कि निवृत्त है तब तो उस भेदज्ञान में पानक (पीने की वस्तु ठंडाई इत्यादि) के समान अभेदनय से वीतराग चारित्र भी और वीतराग सम्यक्त्व भी है ही, इस प्रकार सम्यग्ज्ञान से ही बंध का निरोध सिद्ध हो ही जाता है, और यदि वह भेदज्ञान रागादि से निवृत्त नहीं है तो वह सम्यग्भेदज्ञान ही नहीं है ॥ ७७ ॥

विशेषार्थ—आचार्यदेवने यहां पर ज्ञान शब्द से उसी ज्ञान को लिया है जो कि वैराग्य पूर्ण हो, सांसारिक विषय वासनादिरूप झंझटों से सर्वथा दूर हो और शुद्धात्मस्वभाव में तल्लीन रहने वाला हो अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों की एकता को ही सम्यग्ज्ञान शब्द से लिया है जो कि निर्विकल्प समाधि की अवस्था में होता है, एवं इतर आचार्यों ने जो रत्नत्रय को मोक्ष का मार्ग बताया है इससे पृथक् नहीं है।

अब वह ज्ञानी आत्मा किस भावना के बल से क्रोधादि आस्रव भावों से निवृत्त होता है सो बताते हैं:—

अहमिक्को खलु सुद्धो णिम्ममओ णाणदंसणसमग्गो।
तह्मि ठिदो तच्चित्तो सव्वे एए खयं णेमि ॥७८॥

अहमेकः खलु शुद्धश्च निर्ममतः ज्ञानदर्शनसमग्रः।
तस्मिन् स्थितस्तच्चित्तः सर्वानेतान् क्षयं नयामि ॥७८॥

अर्थ—ज्ञानी जीव (समाधिस्थ जीव) विचारता है कि मैं निश्चय से एक हूँ, शुद्ध हूँ, ममता रहित हूं और ज्ञान दर्शन से परिपूर्ण हूँ। अतः उसी स्वभाव में स्थित होता हुआ एवं चैतन्य के अनुभव में लीन होता हुआ मैं उन क्रोधादि सब आस्रव भावों का क्षय करता हूं। (ऐसा सोच वह उन क्रोधादि विकार रूप आर्त्तरौद्रभावो से अपने आप दूर होकर समाधि में लग जाता है) ॥७८॥

तात्पर्यवृत्तिः—अहं निश्चयनयेन स्वसंवेदनज्ञानप्रत्यक्षं शुद्धचिन्मात्रज्योतिरहं **इक्को** अनाद्यनंतटंकोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावत्वादेकः **खलु** स्फुटं **सुद्धो**—कर्तृकर्मकरणसंप्रदानापादानाधिकरणषट्कारकीय विकल्पचक्ररहितत्वाच्छुद्धश्च **णिम्ममओ** निर्मोहशुद्धात्मतत्वविलक्षणमोहोदयजनितक्रोधादिकषायचक्रस्वामित्वाभावात् ममत्वरहितः। **णाणदंसणसमग्गो** प्रत्यक्षप्रतिभासमयविशुद्धज्ञानदर्शनाभ्यां समग्रः परिपूर्णः एवं गुणविशिष्टपदार्थविशेषोस्मि भवामि। **तह्मि ठिदो** तस्मिन्नुक्तलक्षणे शुद्धात्मस्वरूपे स्थितः। **तच्चित्तो** तच्चित्तः सहजानंदैकलक्षणसुखसमरसीभावेन तन्मयो भूत्वा **सव्वे एदे खयं-**

णेमि सर्वानिताश्निरास्रवपरमात्मपदार्थपृथग्भूतांसूतान् कामक्रोधाद्यास्रवान् क्षयं विनाशं नयामि प्रापयामीत्यर्थः । अथ यस्मिन्नेव काले स्वसंवेदनज्ञानं तस्मिन्नेव काले रागाद्यास्रवनिवृत्तिरिति समानकालत्वं दर्शयति ।

टीका—(अहं) निश्चयनय से मैं स्वसंवेदन ज्ञान के प्रत्यक्ष शुद्ध चिन्मात्र ज्योति स्वरूप हूँ, (इक्को) अनादि अनंत टंकोत्कीर्ण अर्थात् टांकी से उकेरे हुए के समान अटल एक ज्ञायक स्वभाव वाला होने से एक हूं, (खलु सुद्धो) कर्त्ता, कर्म, करण, संप्रदान, अपादान और अधिकरण रूप षट्कारक के विकल्प समूह से रहित हूं इसलिए शुद्ध हूं, (णिम्ममओ) मोह रहित शुद्धात्मतत्व उससे विलक्षण मोह के उदय से होने वाले क्रोधादि कषायों का समूह उसका स्वामी (करने वाला) न होने से मैं ममत्व रहित हूं। (णाणदंसणसमग्गो) प्रत्यक्ष प्रतिभासमय विशुद्ध ज्ञान दर्शन से परिपूर्ण हूं। इस प्रकार मैं तो इन गुणों से विशिष्ट हूं इसलिए (तम्हि ठिदो) इन उपर्युक्त लक्षण वाले शुद्धात्म स्वरूप में स्थित होता हुआ तथा (तच्चित्तो) सहजानंद है एक लक्षण जिसका ऐसे सुखरूप समरसी भाव के साथ तन्मय होकर (सव्वे एदे खयं णेमि) निरास्रव रूप जो परमात्मतत्व उससे पृथक्भूत जो काम क्रोधादि आस्रव भाव हैं उन सब भावों को नष्ट कर रहा हूं— दूर हटा रहा हूं। (मै इनको अब कभी नहीं होने दूंगा) ।।७८।।

आगे दिखलाते हैं कि जिस समय स्वसंवेदनज्ञान होता है उसी समय रागादि आस्रव भावों का अभाव हो जाता है एवं इन दोनों का समकालपना है :—

जीवणिबद्धा एए अधुव अणिच्चा तहा असरणा य ।
दुक्खा दुक्खफलाणि य णादूण णिवत्तए तेहिं ।।७९।।

जीवनिबद्धा एते अध्रुवा अनित्यास्तथा अशरणाश्च ।
दुःखानि दुःखफलानि च ज्ञात्वा निवर्त्तते तेभ्यः ।।७९।।

अर्थ—जीव के साथ लगे हुए ये क्रोधादिक आस्रव भाव अध्रुव हैं, अनित्य हैं, अशरण हैं दुःखरूप हैं और जिनका फल दुःख ही है ऐसा ज्ञानी जब जान लेता है तब उसी समय उनसे दूर हो जाता है ।। ७९ ।।

तात्पर्यवृत्तिः—एदे जीवणिबद्धा एते क्रोधाद्यास्रवा जीवेन सह निबद्धा संबद्धा औपाधिकाः । न पुनःनिरुपाधिस्फटिकवच्छुद्धजीवस्वभावाः । **अधुवा** विद्युच्चमत्कारवदध्रुवा अतीवक्षणिकाः । ध्रुवः शुद्धजीव एव । **अणिच्चा** शीतोष्णज्वरावेशवदध्रुवापेक्षया क्रमेण स्थिरत्वं न गच्छंतीत्यनित्या विनश्वराः नित्यश्चिच्चमत्कारमात्रशुद्धजीव एव । **तहा असरणा य** तथा तेनैव प्रकारेण तीव्रकामोद्रेकवत् त्रातुं धर्तुं रक्षितुं न शक्यंत इत्यशरणाः शरणो निर्विकारबोधस्वरूपः शुद्धजीव एव । **दुक्खा** आकुलत्वोत्पादकत्वाद् दुःखानि भवंति कामक्रोधाद्यास्रवाः अनाकुलत्वलक्षणत्वात्पारमार्थिकसुखरूपशुद्धजीव एव । **दुक्खफलाणि य** आगामिनारकादिदुःखफलकारणत्वाद् दुःखफलाः खल्वास्रवाः वास्तवसुखफलस्वरूपशुद्धजीव एव । **णादूण णिवत्तदे तेसु** इति भेदविज्ञानानंतरमेव इत्थंभूतान्मिथ्यात्वरागाद्यास्रवान् ज्ञात्वास्रवेभ्यो यस्मिन्नेव क्षणे मेघपटलरहितादित्यवन्निवर्त्तते तस्मिन्नेव क्षणे ज्ञानी भवतीति भेदज्ञानेन सहास्रवनिवृत्तेः समानकालत्वं सिद्धमिति । ननु पुण्यपापादिसप्तपदार्थानां पीठिकाव्याख्यानं क्रियत इति पूर्वं प्रतिज्ञा कृता भवद्भिः व्याख्यानं पुनः अज्ञानीसज्ञानीजीवस्वरूपमुख्यत्वेन कृतं पुण्यपापादिसप्तपदार्थानां पीठिकाव्याख्यानं कथं घटत इति । तन्न । जीवाजीवौ यदि नित्यमेकांतेनापरिणामिनौ भवतस्तदा द्वावेव पदार्थौ जीवाजीवाविति । यदि च एकांतेन परिणामिनौ भवतस्तदैक एव पदार्थः । किंतु कथंचित्परिणामिनौ भवतः । कथंचित्कोर्थः ? यद्यपि जीवः शुद्धनिश्चयेन स्वरूपं न त्यजति तथापि व्यवहारेण कर्मोदयवशाद्रागाद्युपाधिपरिणामं गृह्णाति । यद्यपि रागाद्युपाधि-

परिणामं गृह्णाति तथापि स्वरूपं न त्यजति स्फटिकवत्। तत्रैवं कथंचित्परिणामित्वे सति अज्ञानी बहिरात्मा मिथ्यादृष्टिर्जीवो विषयकषायरूपाशुभोपयोगपरिणामं करोति । कदाचित्पुनश्चिदानंदैकस्वभावं शुद्धात्मानं त्यक्त्वा भोगाकांक्षानिदानस्वरूपं शुभोपयोगपरिणामं च करोति। तदा काले द्रव्यभावरूपाणां पुण्यपापास्रवबंधपदार्थानां कर्तृत्वं घटते। तत्र ये भावरूपाः पुण्यपापादयस्ते जीवपरिणामा द्रव्यरूपास्ते चाजीवपरिणामा इति । यः पुनः सम्यग्दृष्टिरंतरात्मा सज्ञानीजीवः स मुख्यवृत्या निश्चयरत्नत्रयलक्षणशुद्धोपयोगबलेन निश्चयचारित्राविनाभाविवीतरागसम्यग्दृष्टिर्भूत्वा निर्विकल्पसमाधिरूपपरिणामपरिणतिं करोति तदा तेन परिणामेन संवरनिर्जरामोक्षपदार्थानां द्रव्यभावरूपाणां कर्त्ता भवति। कदाचित्पुनः निर्विकल्पसमाधिपरिणामाभावे सति विषयकषायवंचनार्थं शुद्धात्मभावनासाधनार्थं बहिर्बुद्धया ख्यातिपूजालाभभोगाकांक्षानिदानबंधरहितः सन् शुद्धात्मलक्षणार्हत्सिद्धशुद्धात्माराधकप्रतिपादकसाधकाचार्योपाध्यायसाधूनां गुणस्मरणादिरूपं शुभोपयोगपरिणामं च करोति । अस्मिन्नर्थे दृष्टांतमाहुः । यथा कश्चिद्देवदत्तः स्वकीयदेशांतरस्थितस्त्रीनिमित्तं तत्समीपागतपुरुषाणां सन्मानं करोति, वार्त्तां पृच्छति, तत्स्त्रीनिमित्तं तेषां स्वीकारं स्नेहदानादिकं च करोति । तथा सम्यग्दृष्टिरपि शुद्धात्मस्वरूपोपलब्धिनिमित्तं शुद्धात्माराधकप्रतिपादकाचार्योपाध्यायसाधूनां गुणस्मरणं दानादिकं च स्वयं शुद्धात्माराधनारहितः सन् करोति । एवमज्ञानीसज्ञानीजीवस्वरूपव्याख्याने कृते सति पुण्यपापादिसप्तपदार्था जीवपुद्गलसंयोगपरिणामनिर्वृत्ता इति पीठिकाव्याख्यानं घटते। नास्ति विरोधः। एवं सज्ञानीजीवव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथाचतुष्टयं गतं इति पुण्यपापादिसप्तपदार्थपीठिकाधिकारे गाथाषट्केन प्रथमांतराधिकारो व्याख्यातः ।

अतः परं यथाक्रमेणैकादशगाथापर्यंतं पुनरपि सज्ञानीजीवस्य विशेषव्याख्यानं करोति । तत्रैकादशगाथासु मध्ये जीवः कर्त्ता मृत्तिकाकलशमिवोपादानरूपेण निश्चयेन कर्म नोकर्म च न करोतीति जानन् सन् शुद्धात्मानं स्वसंवेदनज्ञानेन जानाति यः स ज्ञानी भवतीति कथनरूपेण **'कम्मस्स य परिणामं'** इत्यादिप्रथमगाथा। ततः परं पुण्यपापादिपरिणामान् व्यवहारेण करोति निश्चयेन न करोतीति मुख्यत्वेन सूत्रमेकं । अथ कर्मत्वं स्वपरिणामत्वं सुखदुःखादिकर्मफलं चात्मा जानन्नप्युदयागतपरद्रव्यं न करोतीति प्रतिपादनरूपेण **'णवि परिणमदि'** इत्यादिगाथात्रयं तदनंतरं पुद्गलोपि वर्णादिस्वपरिणामस्यैव कर्त्ता न च ज्ञानादिजीवपरिणामस्येति कथनरूपेण **'णवि परिणमदि'** इत्यादिसूत्रमेकं । अतः परं जीवपुद्गलयोरन्योन्यनिमित्तकर्तृत्वेपि सति परस्परोपादानकर्तृत्वं नास्तीति कथनमुख्यतया **'जीवपरिणाम'** इत्यादि गाथात्रयं। तदनंतरं निश्चयेन जीवस्य स्वपरिणामैरेव सह कर्तृकर्मभावो भोक्तृभोग्यभावश्चेति प्रतिपादनरूपेण **'णिच्छयणयस्स'** इत्यादिसूत्रमेकं। ततश्च व्यवहारेण जीवः पुद्गलकर्मणां कर्त्ता भोक्ता चेति कथनरूपेण **'ववहारस्स दु'** इत्यादिसूत्रमेकं । एवं ज्ञानी जीवस्य विशेषव्याख्यानमुख्यत्वेनैकादशगाथाभिर्द्वितीयस्थले समुदायपातनिका। तद्यथा—अथ कथमात्मा ज्ञानीभूतो लक्ष्य इति प्रश्ने प्रत्युत्तरं ददाति ।

टीका:—(एदे जीवणिबद्धा) ये क्रोधादिक आस्रवभाव जो जीवके साथ निबद्ध हैं औपाधिक रूप हैं (पर संयोग से उत्पन्न हुए हैं) किन्तु उपाधिरहित शुद्ध स्फटिक सरीखे शुद्ध जीव के स्वभाव नहीं हैं। (अधुव) बिजली के चमत्कारके सामान चंचल हैं अत्यन्त क्षणिक हैं किन्तु शुद्ध जीव ही ध्रुव है—अटल है। (अणिच्चा) शीतोष्ण ज्वरके वेगके समान एकसे रहनेवाले नहीं हैं, कभी कम कभी अधिक होते हैं स्थिरता को प्राप्त नहीं होते हैं, विनश्वर हैं किन्तु चैतन्य चमत्कार मात्र एक शुद्ध जीव ही नित्य है। (तहा असरणा य) वैसे ही अशरण हैं क्योंकि तीव्र कामवेग के समान इनको नियंत्रित करके रखा नहीं जा सकता, किन्तु शुद्ध जीव ही निर्विकार बोध स्वरूप शरणभूत है। (दुक्खा) आकुलता के उत्पादक होने से काम क्रोधादिक आस्रवभाव स्वयं दुःख स्वरूप हैं। किन्तु शुद्ध जीव ही अनाकुलत्व लक्षण वाला होने से वास्तविक सुख स्वरूप ही है (दुःख फलाणिय) भविष्य काल में होनेवाले नारकादि दुःखों के कारणभूत होनेसे क्रोधादिक आस्रवभाव दुःख फलरूप हैं किन्तु शुद्ध जीव ही वास्तवमें सुख फलस्वरूप है।

(णादूण णियत्तए तेहिं) इस प्रकार के भेदज्ञान के अनंतर समय में ही जब कि मिथ्यात्व रागादि आस्रव भावों को उपर्युक्त प्रकार जानकर जिस समय मेघपटल रहित सूर्यके समान इन सबसे दूर हो जाता है उस ही क्षणमें यह जीव ज्ञानी होता है। इस प्रकार भेदज्ञान के सास्रव भावों की निवृत्तिका समान काल सिद्ध होता है ।।७६।।

विशेषार्थः—आचार्यदेव ने इस गाथामें यह स्पष्ट बतलाया है कि क्रोधादिक विकारी भावोंका न होना कहो अथवा भेद विज्ञान का होना कहो यह दोनों एक हैं और इन दोनों का काल समान है। ऐसा नहीं हो सकता कि भेदज्ञान तो हो जाय और क्रोधादिक विकारी भाव फिर भी बने ही रहें। एवं जिसकी आत्मा में क्रोधादिक विकारी भाव नहीं है वही ज्ञानी है।

यहां शिष्य शंका करता कि हे प्रभो ! इस प्रकरण के पूर्व में आपने प्रतिज्ञा तो यह की थी कि अब पुण्यपापादि सात पदार्थों की पीठिका का व्याख्यान किया जाता है और यहां व्याख्यान में सम्यग्ज्ञानी और अज्ञानी जीव का स्वरूप मुख्यतासे कहा गया तब यहां पुण्यपापादि सात पदार्थों की पीठिका का व्याख्यान कैसे हुआ ? इसका समाधान आचार्य करते हैं कि यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि यदि जीव और अजीव एकांतरूप से अपरिणामी ही हों परिणमन शील नहीं हों तब तो दो ही पदार्थ ठहरें और यदि सर्वथा परिणमन शील ही हों-एक दूसरे के साथ सर्वथा तन्मय होकर रहनेवाले हों तो एक ही पदार्थ ठहरे। इसलिए ये दोनों ही कथंचित् परिणामनशील हैं। कथंचित् का क्या अर्थ है ? इसको स्पष्ट कर बतलाते हैं कि यह जीव शुद्ध निश्चयनय से अपने स्वरूप को नहीं छोड़ता है तथापि व्यवहार से कर्मों के उदयके वश होकर रागद्वेषादि औपाधिक (विकारी) परिणामों को ग्रहण करता है। यद्यपि स्फटिकके समान यह जीव रागादि विकारी परिणामों को अंगीकार करता है फिर भी अपने स्वरूप को नहीं छोड़ता है जबकि इसमें कथंचित् परिणामीपना सिद्ध है। इसलिये जबतक अज्ञानी बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि की अवस्था में रहता है तबतक प्रधानतासे विषय कषायरूप अशुभ परिणाम करता रहता है किन्तु कभी कभी चिदानंद स्वरूप शुद्धात्मा को प्राप्त किये बिना उससे शून्य केवल भोग आकांक्षा के निदानबंध स्वरूप शुभ परिणाम भी करता है। उस समय (इस अज्ञान दशामें) इसके द्रव्य और भावरूप पुण्य पापमय आस्रव पदार्थका और बंध पदार्थका कर्तापना घटित होता है। वहां पर जो भावरूप पुण्यपापादि होते हैं वे जीव के परिणाम होते हैं और द्रव्य रूप पुण्यपापादि हैं वे अजीव के अर्थात् पुद्गलके परिणाम होते हैं। किन्तु जो सम्यग्दृष्टि अर्थात् अन्तरात्मा या ज्ञानी होता है वह प्रधानता से निश्चय रत्नत्रय है लक्षण जिसका ऐसे शुद्धोपयोगके बलसे निश्चय चारित्र के साथ अविनाभाव रखनेवाले वीतराग सम्यग्दर्शन वाला होता हुआ निर्विकल्प समाधिरूप परिणाममें परिणमन करता है तो उस परिणाम से द्रव्य भावरूप संवर, निर्जरा और मोक्ष पदार्थ का कर्ता होता है। किन्तु कभी कभी निर्विकल्प समाधिरूप परिणामों का अभाव होजाने पर विषय कषाय रूप परिणामों से बचने के लिये शुद्धात्मा की भावना को पुनः प्राप्त करने के लिये बहिर्दृष्टि होते हुए भी ख्याति, लाभ, पूजा भोग आकांक्षा निदान बंध से रहित होता हुआ वह शुद्धात्मा है लक्षण जिनका ऐसे अर्हंत सिद्ध और शुद्धात्मा की आराधना करनेवाले और उसी का प्रतिपादन करनेवाले एवं उसी शुद्धात्माके साधक ऐसे आचार्य, उपाध्याय और साधुओंका गुण स्मरणादि रूप शुभ उपयोगरूप परिणाम को भी करता है। इसी बात को दृष्टांतसे समझाते हैं—जैसे कोई पुरुष जिसकी स्त्री देशांतर में है उस स्त्री का समाचार जानने के लिये उसके पाससे आये हुए लोगों का सन्मान करता है, उसकी बात पूछता है, और उनको अपनाकर व उनसे प्रेम दिखलाकर उनको दानादिक भी देता है यह उसका सारा बर्ताव केवल स्त्री का परिचय प्राप्त करने के निमित्त होता है। वैसे ही सम्यग्दृष्टि (ज्ञानी) जीवभी जिस

कालमें स्वयं शुद्धात्मा की आराधनासे रहित होता है उस समय शुद्धात्मा के स्वरूपकी उपलब्धिके लिये शुद्धात्माके आराधक व प्रतिपादक ऐसे आचार्य, उपाध्याय व साधु हैं उनका गुणस्मरण दान सन्मान आदि करता है। इस प्रकार ज्ञानी और अज्ञानी जीवके स्वरूपका व्याख्यान कर लेने पर पुण्यपापादि सात पदार्थ हैं वे जीव और पुद्गलके संयोगरूप परिणामसे संपन्न हुए हैं ऐसा ज्ञान हो जानेसे उपर्युक्त पीठिका का व्याख्यान अपने आप आजाता है और इसमें कोई विरोध भी नहीं है। इस प्रकार ज्ञानी जीव की मुख्यता से चार गाथायें पूर्ण हुईं। इस प्रकार पुण्य पाप आदि सप्त पदार्थों के अधिकारमें छह गाथाओं से प्रथम अधिकार पूर्ण हुआ ॥७६॥

इसके आगे ग्यारह गाथाओं तक क्रम से उसी ज्ञानी जीव का विशेष व्याख्यान करते हैं। वहां ग्यारह गाथाओं में भी 'कम्मस्स य परिणामं' इत्यादि प्रथम गाथा में यह बतलाया है कि जिस प्रकार कलश का उपादान रूप से कर्त्ता मिट्टी का लोंदा है, उसी प्रकार निश्चय रूप से जीव कर्म और नोकर्मों का कर्त्ता नहीं है ऐसा समझकर जो पुरुष अपने स्वसंवेदन (समाधिरूप) ज्ञान से जो अपने शुद्धात्मा को जानता है वही ज्ञानी होता है। इसके आगे प्रधानता से एक गाथा में यह बतलाया है कि यह जीव व्यवहार से पुण्य पापादिपरिणामों काकर्त्ता है निश्चयसे नहीं। इसके आगे कर्मपने को अर्थात् अपने आपके परिणमन स्वरूपता को और सुख दुखादि रूप कर्म के फल को जानता हुआ भी यह आत्मा उदय में आए हुए पर द्रव्य को नहीं करता है इस प्रकार का कथन करते हुए 'ण वि परिणमदि' इत्यादि तीन गाथा सूत्र हैं। इसके आगे 'ण वि परिणमदि' इत्यादि रूप से एक गाथा सूत्र है जिसमें बतलाया है कि पुद्गल भी वर्णादिरूप अपने परिणाम का ही कर्त्ता है, किन्तु ज्ञानादि रूप जीव के परिणाम का कर्त्ता नहीं है ऐसा कथन है। आगे 'जीव परिणाम' इत्यादि तीन गाथा हैं उसमें बतलाया है कि यद्यपि जीव और पुद्गल में परस्पर निमित्त कर्त्तापना तो है किन्तु परस्पर में उपादान कर्तापना तो किसी भी दशा में नहीं है उसके आगे 'णिच्छय णयस्स' इस प्रकार जिसमें यह बतलाया है कि निश्चय से इस जीव का कर्त्ता कर्म भाव और भोक्ता भोग्य भाव भी अपने परिणामों के साथ ही है। इसके आगे 'ववहारस्स दु' इत्यादि एक सूत्र है जिसमें कहा गया है कि व्यवहार नय से जीव पुद्गल कर्मों का कर्त्ता और भोक्ता भी है। इस प्रकार ज्ञानी जीव की विशेष व्याख्यान की मुख्यता से ग्यारह गाथाओं में दूसरा स्थल पूर्ण होता है उसकी यह समुदाय पातनिका हुई।

अब यहां सबसे प्रथम यह बताते हैं कि यह आत्मा ज्ञानी है यह बात कैसे जानी जाती है:—

कम्मस्स य परिणामं णोकम्मस्स य तहेव परिणामं।
ण करेदि एयमादा जो जाणदि सो हवदि णाणी ॥८०॥

कर्मणश्च परिणामं नोकर्मणश्च तथैव परिणामं।
न करोत्येनमात्मा यो जानाति स भवति ज्ञानी ॥८०॥

यह आत्मा उपदान रूप से कर्म के परिणाम का और नोकर्म के परिणाम का करने वाला नहीं है इस प्रकार जो जानता है (अर्थात् समाधिस्थ होकर अनुभव करता है) वही ज्ञानी होता है ॥८०॥

तात्पर्यवृत्तिः—कम्मस्स य परिणामं णोकम्मस्स य तहेव परिणामं ण करेदि एवमादा जो जाणदि यथा मृत्तिकाकलशमुपादानरूपेण करोति तथा कर्मणः नोकर्मणश्च परिणामं पुद्गलेनोपादानकारणभूतेन क्रियमाणं न करोत्यात्मेति यो जानाति **सो हवदि णाणी** स निश्चयशुद्धात्मानं परमसमाधिबलेन भावयन्सन् ज्ञानी भवति। इति ज्ञानीभूतजीवलक्षणकथनरूपेण गाथा गता। अथ पुण्यपापादिपरिणामान् व्यवहारेण करोतीति प्ररूपयति।

टीका—(कम्मस्स य परिणामं णोकम्मस्स य तहेव परिणामं ण करेदि एदमादा) जिस प्रकार कलश का उपादान कर्ता मिट्टी है उसी प्रकार कर्म और नोकर्म के परिणाम कर्ता भी पुद्गल द्रव्य हैं, परन्तु आत्मा उनका उपादान कर्ता नहीं है इस प्रकार (जो जाणदि सो हवदि णाणी) जो जानता है वह निश्चय शुद्ध आत्मा का परम समाधि के द्वारा अनुभव करता हुआ ज्ञानी होता है ।।८०।।

विशेषार्थ—यद्यपि उपर्युक्त गाथा में 'जानाति' क्रिया पद आया है जिसका अर्थ केवल जानना मात्र होता है किन्तु आचार्य श्री ने उसे समाधि में स्थित रहने वाले के लिए प्रयुक्त किया है, जैसा कि टीकाकार स्पष्ट कर बतला रहे हैं; क्योंकि आर्त्त रौद्रभाव से रहित शुद्ध ज्ञान छद्मस्थ को उसी समय होता है । अन्य समय में तो इष्ट अनिष्ट कल्पनापूर्वक बाह्य वातावरण में लगकर वह रागद्वेष करता ही रहता है । इसी प्रकार 'जानाति' या 'वेत्ति' क्रियायें जहां आवें वहां सब ही स्थान पर आचार्य महाराज का यही अभिप्राय समझना चाहिये ।

आगे व्यवहार से यह आत्मा पुण्य पापादि परिणामों का कर्ता है (निश्चय से नहीं) ऐसा कहते हैं:-

***कत्ता आदा भणिदो ण य कत्ता केण सो उवाएण ।**
धम्मादी परिणामे जो जाणदि सो हवदि णाणी ।।८१।।

कर्त्ता आत्मा भणितः न च कर्त्ता केन स उपायेन ।
धर्मादीन् परिणामान् यो जानाति स भवति ज्ञानी ।।८१।।

अर्थ—किसी एक नयसे (व्यवहार नयसे) आत्मा पुण्य पापादि परिणामोंका कर्त्ता है और किसी एक नयसे (निश्चयनय से) आत्मा इन परिणामों का कर्ता नहीं है, इस प्रकार जो जानता है वह ज्ञानी होता है ।।८१।।

तात्पर्यवृत्तिः—कत्ता आदा भणिदो कर्त्तात्मा भणितः **ण य कत्ता सो** न च कर्त्ता भवति स आत्मा **केण उवायेण** केनाप्युपायेन नयविभागेन । केन नयविभागेनेति चेत् निश्चयेन अकर्त्ता व्यवहारेण कर्त्तेति । कान् **धम्मादी परिणामे** पुण्यपापादिकर्मजनितोपाधिपरिणामान् **जो जाणदि सो हवदि णाणी** ख्यातिपूजालाभादिसमस्तरागादि-विकल्पोपाधिरहितसमाधौ स्थित्वा यो जानाति स ज्ञानी भवति । इति निश्चयनयव्यवहाराभ्यामकर्तृत्वकर्तृत्वकथनरूपेण गाथा गता । अथ पुद्गलकर्म जानतो जीवस्य पुद्गलेन सह तादात्म्यसंबंधो नास्तीति निरूपयति ।

टीकाः—(कत्ता आदा भणिदो ण य कत्ता सो) आत्मा कर्त्ता भी है और अकर्त्ता भी है, (केण उवाएण) किसी एक नय विभागसे अर्थात् निश्चयनयसे अकर्त्ता और व्यवहारनयसे कर्त्ता (धम्मादी परिणामे) पुण्य पापादि कर्म जनित विकारी भावों का है । इस प्रकार (जो जाणदि सो हवदि णाणी) ख्याति लाभ पूजादि समस्त रागादि विकल्पमय औपाधिक परिणामों से रहित समाधिमें स्थित होकर जो जानता है वह ज्ञानी होता है । इस प्रकार निश्चयनयसे अकर्त्तापन और व्यवहारनय से कर्त्तापन का व्याख्यान करनेवाली गाथा हुई ।।८१।।

आगे कहते हैं कि पुद्गल कर्मों को जानते हुए इस जीव का पुद्गल के साथ तादात्म्य संबंध नहीं है:—

ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाये ।
णाणी जाणंतो वि हु पुग्गलकम्मं अणेयविहं ।।८२।।

नापि परिणमति न गृह्णात्युत्पद्यते न परद्रव्यपर्याये ।
ज्ञानी जानन्नपि खलु पुद्गल कर्मानेकविधं ।।८२।।

---

* यह गाथा आत्मख्याति में नहीं है ।

अर्थः—ज्ञानी जीव अनेक प्रकार पुद्‌गल द्रव्य के पर्यायरूप कर्मों को जानता हुआ भी तन्मयता के साथ परद्रव्य की पर्यायों में उन स्वरूप न तो परिणमता है, न ग्रहण ही करता है और न उन रूप उत्पन्न ही होता है ।।८२।।

तात्पर्यवृत्तिः—पुग्गलकम्मं अणेयविहं कर्मवर्गणायोग्यपुद्‌गलद्रव्येणोपादानकारणभूतेन क्रियमाणं पुद्‌गलकर्मानेकविधं मूलोत्तरप्रकृतिभेदभिन्नं **जाणंतो वि हु** विशिष्टभेदज्ञानेन जानन्नपि हु स्फुटं सः कः कर्त्ता **णाणी** सहजानंदैकस्वभावनिजशुद्धात्मरागाद्यास्रवयोर्भेदज्ञानी **णवि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाये** तत्पूर्वोक्तं परद्रव्यपर्यायरूपं कर्म निश्चयेन मृत्तिकाकलशरूपेणेव न परिणमति न तादात्म्यरूपतया गृण्हाति न च तदाकारेणोत्पद्यते । कस्मादिति चेत् मृत्तिकाकलशयोरिव तेन पुद्‌गलकर्मणा सह तादात्म्यसंबंधाभावात् । तत एतदायाति पुद्‌गलकर्म जानतो जीवस्य पुद्‌गलेन सह निश्चयेन कर्तृकर्मभावो नास्तीति । अथ स्वपरिणामं संकल्पविकल्परूपं जानतो जीवस्य तत्परिणामनिमित्तेनोदयागतकर्मणा सह तादात्म्यसंबंधो नास्तीति दर्शयति ।

टीकाः—(पुग्गलकम्मं अणेयविहं) उपादान कारणभूत कर्म वर्गणा योग्य पुद्‌गलद्रव्य द्वारा किया हुआ है ऐसे मूल और उत्तर प्रकृतिके भेदसे अनेक प्रकार होने वाले पुद्‌गल कर्मको (जाणंतो विहु) विशिष्ट भेदज्ञान के द्वारा स्पष्टरूप से जानता हुआ भी (णाणी) सहजानंद स्वरूप एक स्वभाववाला निज शुद्धात्मा और रागादि आस्रव इन दोनों के भेद का ज्ञान रखने वाला जीव (ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उपज्जदि ण पर द्रव्य पज्जाए) न तो परद्रव्य पर्याय स्वरूप पूर्वोक्त कर्म के रूपमें निश्चयसे परिणमन ही कर्त्ता है जैसे कि मिट्टी कलशरूप में परिणमन कर जाती है, और न तादात्म्य संबंधसे ग्रहण ही करता है और न उसके आकार होकर उत्पन्न ही होता है, क्योंकि जिस प्रकार मिट्टी और कलश में परस्पर तादात्म्य संबंध है वैसा तादात्म्य संबंध जीव का पुद्‌गल कर्म के साथ नहीं है । इसका अर्थ यह हुआ कि पुद्‌गल कर्म को जाननेवाले जीव का पुद्‌गल के साथ निश्चयसे कर्त्ता कर्म भाव नहीं है ।।८२।।

आगे कहते हैं कि अपने संकल्प विकल्प जालरूप परिणाम को जानते हुए इस जीव का उन परिणामों के निमित्त से उदय में आए हुए कर्मों के साथ तादात्म्य संबंध नहीं है :—

णवि परिणमदि ण गिण्हदि उपज्जदि ण परदव्वपज्जाए ।
णाणी जाणंतो वि हु सगपरिणामं अणेयविहं ।। ८३ ।।
नापि परिणमति न गृह्णात्युत्पद्यते न परद्रव्यपर्याये ।
ज्ञानी जानन्नपि खलु स्वकपरिणाममनेकविधं ।।८३।।

अर्थ— ज्ञानी जीव अपने अनेक प्रकार के होने वाले परिणामों को जानता हुआ भी निश्चय से परद्रव्य की अवस्थारूप न परिणमन करता है, न उसको ग्रहण करता है न उस रूप उत्पन्न ही होता है (इसलिए निश्चय से उसके साथ कर्त्ता कर्म भाव नहीं है ।। ८३ ।।

तात्पर्यवृत्तिः—सगपरिणामं अणेयविहं क्षायोपशमिकं संकल्पविकल्परूपं स्वेनात्मनोपादानकारणभूतेन क्रियमाणं स्वपरिणाममनेकविधं **णाणी जाणंतो वि हु** निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानीजीवः स्वपरमात्मनोर्विशिष्टभेदज्ञानेन जानन्नपि हु स्फुटं **णवि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाये** तस्य पूर्वोक्तस्वकीयपरिणामस्य निमित्तभूतमुदयागतं पुद्‌गलकर्मपर्यायरूपं मृत्तिकाकलशरूपेणेव शुद्धनिश्चयनयेन न परिणमति न तन्मयत्वेन गृह्णाति न तत्पर्यायेणोत्पद्यते च । कस्मात् मृत्तिकाकलशयोरिव तेन पुद्‌गलकर्मणा सह परस्परोपादानकारणाभावादिति । एतावता किमुक्तं भवति स्वकीयक्षायोपशमिकपरिणामनिमित्तमुदयागतं कर्म जानतोपि जीवस्य तेन सह निश्चयेन कर्तृकर्मभावो नास्तीति । अथ पुद्‌गलकर्मफलं जानतो जीवस्य पुद्‌गलकर्मफलनिमित्तेन द्रव्यकर्मणा सह निश्चयेन कर्तृकर्मभावो नास्तीति कथयति ।

टीका— (सगपरिणामं अणेयविहं) क्षयोपशम भाव के कारण होने वाले संकल्प विकल्प रूप अपने परिणाम जिसको आत्मा ने स्वयं उपादानरूप होकर किया है और जो अनेक प्रकार है उनको (णाणी जाणंतो विहु) अपने परमात्मस्वरूप विशेष भेदज्ञान के बल से स्पष्ट जानता हुआ भी वह निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञानी जीव (ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उपज्जदि ण परदव्व पज्जाये) उन पूर्वोक्त अपने परिणामों के निमित्त से उदय में आये हुए पुद्गल कर्म की पर्याय रूप में जैसे मिट्टी कलशरूप में परिणमन करती है वैसे शुद्ध निश्चयनय से न तो परिणमन ही करता है और न तन्मयता के साथ उसे ग्रहण ही करता है और न उस रूप से उत्पन्न ही होता है क्योंकि मिट्टी और कलश में परस्पर जिस प्रकार उपादान और उपादेय भाव है। उस प्रकार उस पुद्गल कर्म के साथ आत्मा का उपादान उपादेय भाव नहीं है। इसलिये अपने क्षायोपशमिक परिणाम के निमित्त से उदय में आए हुए कर्म को जानते हुए जीवका भी उस कर्म के साथ निश्चय से कर्ता कर्म भाव नहीं है ।।८३।।

आगे पुद्गल कर्म के फल को जानते हुए ज्ञानी जीव के साथ पुद्गल कर्म के फल के कारण से फिर द्रव्य कर्म के साथ निश्चय से कर्ता कर्म भाव नहीं है ऐसा वर्णन करते हैं:—

णवि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए ।
णाणी जाणंतो वि हु पुग्गलकम्मफलमणंतं ।।८४।।
नापि परिणमति न गृह्णात्युत्पद्यते न परद्रव्यपर्याये ।
ज्ञानी जानन्नपि खलु पुद्गलकर्मफलमनंतं ।।८४।।

अर्थ—ज्ञानी जीव पुद्गल कर्मों के अनन्त सुख दु:ख फलों को जानता हुआ भी निश्चय से पर द्रव्य की पर्याय रूप में न तो परिणमन ही करता है और न उसे ग्रहण ही करता है और न उस रूप से उत्पन्न ही होता है ।।८४।।

तात्पर्यवृत्तिः—पुग्गलकम्मफलमणंतं उदयागतद्रव्यकर्मणोपादानकारणभूतेन क्रियमाणं सुखदु:खरूपशक्त्यपेक्षयानंतकर्मफलं **णाणी जाणंतो वि हु** वीतरागशुद्धात्मसंवित्तिसमुत्पन्नसुखामृतरसतृप्तो भेदज्ञानी निर्मलविवेकभेदज्ञानेन जानन्नपि हि स्फुटं **ण परिणमदि ण गिह्णदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाये** वर्त्तमानसुखदु:खरूपं शक्त्यपेक्षानिमित्तमुदयागतं परपर्यायरूपं पुद्गलकर्म मृत्तिकाकलशरूपेणेव शुद्धनयेन न परिणमति न तन्मयत्वेन गृह्णाति न तत्पर्यायेणोत्पद्यते च। कस्मादिति चेत् मृत्तिकाकलशयोरिव तेन द्रव्यकर्मणा सह तादात्म्यलक्षणसंबंधाभावादिति । किं च विशेष: यदि पुद्गलद्रव्यकर्मरूपेण न परिणमतिन गृह्णाति न तदाकारेणोत्पद्यते । तर्हि किं करोति ज्ञानी जीव: मिथ्यात्वविषयकषायख्यातिपूजालाभभोगाकांक्षारूपनिदानबंधशल्यादिविभावपरिणामकर्तृत्वभोक्तृत्वविकल्पशून्यं पूर्णकलशवच्चिदानंदैकस्वभावेन भरितावस्थं शुद्धात्मानं निर्विकल्पसमाधौ ध्यायतीति भावार्थ: । एवमात्मा निश्चयेन द्रव्यकर्मादिकं परद्रव्यं न परिणमतीत्यादिव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथात्रयं गतं । अथ जीवपरिणामं, स्वपरिणामं स्वपरिणामफलं च जडस्वभावत्वादजानत: पुद्गलस्य निश्चयेन जीवेन सह कर्तृकर्मभावो नास्तीति प्रतिपादयति ।

टीका—(पुग्गलकम्मफलमणंतं) पौद्गलिक कर्मों का फल जो कि उपादान कारण रूप से उदयागत द्रव्य कर्म के द्वारा किया जाता है तथा सुख दु:ख रूप शक्ति की अपेक्षा से अनंत प्रकार का होता है उसको (णाणी जाणंतो विहु) वीतरागरूप जो शुद्धात्मा उसके संवेदन से समुत्पन्न सुखामृत रस उससे तृप्त होता हुआ भेदज्ञानी जीव अपने निर्मल विवेकरूप भेदज्ञान से स्पष्ट रूप जानता हुआ भी (ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उपज्जदि ण पर दव्व पज्जाये) वर्तमान सुख दुख रूप शक्ति की अपेक्षा का निमित्त (उपादान रूप में) उदय में आया हुआ पुद्गल कर्म जो कि पर द्रव्य पर्याय स्वरूप है उसके रूप में जैसे

मिट्टी कलश के रूप में परिणमन करती है वैसे शुद्धनयकी अपेक्षा से न तो परिणमन ही करता है, न तन्मयता के साथ उसे ग्रहण ही करता है और न उसकी पर्यायरूप से उत्पन्न ही होता है क्योंकि मृत्तिका और कलशमें परस्पर जैसा तादात्म्य लक्षण संबंध है वैसा संबंध ज्ञानी जीव का द्रव्य कर्म के साथ नहीं है।

यहां कोई प्रश्न करता है कि ज्ञानी जीव जब पुद्‌गल द्रव्य कर्म के रूप में न तो परिणमन ही करता है, न उसे ग्रहण ही करता है और न तदाकार रूप से उत्पन्न ही होता है तब वह ज्ञानी जीव क्या करता है ? इसका उत्तर आचार्य देते हैं कि वह तो मिथ्यात्व, विषय, कषाय, ख्याति, पूजा, लाभ और भोगों की आकांक्षारूप निदान बंध, शल्य आदि विभाव परिणामों का कर्तापन और भोक्तापन के विकल्प से रहित अपनी शुद्धात्मा का स्वरूप जो कि जल के भरे हुए कलश के समान केवलमात्र एक चिदानंद स्वभाव से परिपूर्ण है उसीका निर्विकल्प समाधि में स्थित होकर ध्यान करता है ।।८४।।

विशेषार्थ—आचार्यदेव ने यहां पर इन तीन गाथाओं में यही बतलाया है कि ज्ञानी जीव जानने के स्वभाव वाला है। वह अपने परिणामों को ही जानता है और कर्म व कर्म के फल को भी जानता है, किन्तु अपने परिणामों को तो तन्मय होकर जानता है। पर कर्म व कर्मके फलको अपनेसे पृथक्‌रूप जानता है। अतः इनके रूप में किसी भी दशा में परिणमन नहीं करता, विकारी नहीं बनता, क्योंकि वह तो वीतराग स्वरूप निर्विकल्प समाधि में तल्लीन होकर रहता है इसीलिये वह ज्ञानी नाम पाता है।

इस प्रकार निश्चयनय से आत्मा द्रव्यकर्मादि स्वरूप परद्रव्य के रूप में कभी नहीं परिणमता इस प्रकार की व्याख्यान करने वाली तीन गाथा हुईं ।।८४।।

आगे जड़ स्वभाव होने से जो पुद्‌गलद्रव्य जीवके परिणाम को और अपने परिणाम को तथा अपने परिणाम के फलको भी नहीं जानता उस पुद्‌गल का भी निश्चयनय से जीव के साथ कर्त्ता कर्म भाव नहीं है ऐसा बतलाते हैं:—

णवि परिणमदि ण गिण्हदि उपज्जदि ण परदव्वपज्जाए।
पुग्गलदव्वं पि तहा परिणमदि सएहिं भावेहिं ।।८५।।

नापि परिणमति न गृह्णात्युत्पद्यते न परद्रव्यपर्याये।
पुद्‌गलद्रव्यमपि तथा परिणमति स्वकैर्भावैः ।।८५।।

अर्थ—उसी प्रकार पुद्‌गलद्रव्य भी पर द्रव्य की पर्याय रूप में न तो परिणमन ही करता है न कभी उसको ग्रहण ही करता है और न उस रूप में कभी उत्पन्न ही होता है किन्तु अपने आपके परिणामों से ही परिणमन करता है ।। ८५ ।।

तात्पर्यवृत्तिः— णवि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए यथा जीवो निश्चयेनानंतसुखादिस्वरूपं त्यक्त्वा पुद्‌गलद्रव्यरूपेण न परिणमति न च तन्मयत्वेन गृह्णाति न तत्पर्यायेणोत्पद्यते। **पुग्गलदव्वं पि तहा** तथा पुद्‌गलद्रव्यमपि स्वयमंतर्व्यापकं भूत्वा मृत्तिकाद्रव्यकलशरूपेणेव चिदानंदैकलक्षणजीवस्वरूपेण न परिणमति न च जीवस्वरूपं तन्मयत्वेन गृह्णाति न च जीवपर्यायेणोत्पद्यते । तर्हि किं करोति **परिणमइ सएहिं भावेहिं** परिणमति स्वकीयैर्वर्णादिस्वभावैः परिणामैर्गुणैर्धर्मैरिति। कस्मादिति चेत् मृत्तिकाकलशयोरिव जीवेन सह तादात्म्यलक्षणसंबंधाभावादिति । एवं पुद्‌गलद्रव्यमपि जीवेन सह न परिणमतीत्यादिव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथा गता। अथ यद्यपि जीवपुद्‌गलपरिणामयोरन्योन्यनिमित्तमात्रत्वमस्ति तथापि निश्चयनयेन तयोर्न कर्तृकर्मभावं इत्यावेदयति।

टीका—(णवि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्व पज्जाए) जैसे निश्चयनय से जीव

अपने अनंत सुखादि स्वरूप को छोड़कर पुद्गलद्रव्य के रूप में न तो परिणमन ही करता है, न तन्मयता से ग्रहण ही करता है और न उसके आकाररूप उत्पन्न ही होता है (पुग्गलदव्वं पि तहा) उसी प्रकार पुद्गलद्रव्य भी स्वयं तादात्म्य स्वरूप से जिस प्रकार मिट्टी कलश रूप में परिणमन करती है उस प्रकार चिदानंद है लक्षण जिसका ऐसे जीव स्वरूप में न तो परिणमन ही करता है, न तन्मयता के साथ ग्रहण ही करता है और न जीव के आकार ही बनता है, किन्तु (परिणमदि सएहिं भावेहिं) वह भी सदा अपने वर्णादि स्वभावरूप गुण धर्मों के द्वारा ही परिणमन करता है क्योंकि मृत्तिका और कलश में जैसा तादात्म्य संबंध है वैसा संबंध पुद्गलद्रव्य का जीव के साथ नहीं है ॥८५॥

विशेषार्थ:—आचार्य महाराज कहते हैं कि जीव और पुद्गल ये दोनों ही द्रव्य परिणमन शील हैं, अतः परस्पर संयोगात्मक परिणमन को भी प्राप्त होते हैं परन्तु फिर भी अपनेपन को नहीं छोड़ते। जैसे जीव कार्माण पुद्गलों के संयोग से भी वर्णादिमान नहीं होता वैसे ही संसारी जीव के साथ संबंधित होकर भी पुद्गलद्रव्य कभी भी ज्ञानादिमान नहीं होता परन्तु जीव रागादिमान होकर भी चेतनावाला ही रहता है तो पुद्गल भी कर्मरूप से परिणमन करके भी जड़ स्वरूप ही रहता है।

इस प्रकार पुद्गल द्रव्य भी जीव के साथ उस रूप होकर परिणमन नहीं करता है इत्यादि व्याख्यान की मुख्यता करके गाथा पूर्ण हुई।

आगे जीव और पुद्गल के परस्पर में निमित्त नैमित्तिक संबंध होने पर भी निश्चयनयसे इनका आपस में कर्त्ता कर्म भाव नहीं है ऐसा कहते हैं:—

जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमइ ॥८६॥
ण वि कुव्वइ कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे।
अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणामं जाण दोण्हंपि ॥८७॥
एएण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण।
पुग्गलकम्मकयाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं ॥८८॥ (त्रिकलम्)

जीवपरिणामहेतुं कर्मत्वं पुद्गलाः परिणमंति।
पुद्गलकर्मनिमित्तं तथैव जीवोऽपि परिणमति ॥८६॥
नापि करोति कर्मगुणान् जीवः कर्म तथैव जीवगुणान्।
अन्योन्यनिमित्तेन तु परिणामं जानीहि द्वयोरपि ॥८७॥
एतेन कारणेन तु कर्त्ता आत्मा स्वकेन भावेन।
पुद्गलकर्मकृतानां न तु कर्ता सर्वभावानां ॥८८॥

अर्थ—यद्यपि जीव के रागद्वेषी परिणामों का निमित्त पाकर पुद्गल द्रव्य कर्मत्व रूप परिणमन करता है। वैसे ही पौद्गलिक कर्मों के उदय का निमित्त पाकर जीव रागादि रूप परिणमन करता है। तथापि जीव कर्म के गुण रूपादिक को स्वीकार नहीं करता उसी भांति कर्म भी जीव के चेतनादि गुणों को स्वीकार नहीं करता, किन्तु केवल-

मात्र इन दोनों का परस्पर एक दूसरे के निमित्त से उपर्युक्त विकारी परिणमन होता है। इस कारण से वास्तव में आत्मा अपने भावों से ही अपने भावों का कर्त्ता होता है किन्तु पुद्गल कर्मों के द्वारा किये गए सर्व भावों का कर्त्ता नहीं है।

तात्पर्यवृत्तिः—जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति यथा कुंभकारनिमित्तेन मृत्तिकाघटरूपेण परिणमति तथा जीवसंबंधिमिथ्यात्वरागादिपरिणामहेतुं लब्ध्वा कर्मवर्गणायोग्यं पुद्गलद्रव्यं कर्मत्वेन परिणमति **पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमदि** यथैव च घटनिमित्तेन एवं घटं करोमीति कुंभकारः परिणमति तथैवोदयागतपुद्गलकर्महेतुं लब्ध्वा जीवोपि निर्विकारचिच्चमत्कारपरिणतिमलभमानः सन् मिथ्यात्वरागादिविभावेन परिणमतीति। अथ—**णवि कुव्वदि कम्मगुणे जीवो** यद्यपि परस्परनिमित्तेन परिणमति तथापि निश्चयनयेन जीवो वर्णादिपुद्गलकर्मगुणान्न करोति। **कम्मं तहेव जीवगुणे** कर्म च तथैवानंतज्ञानादिजीवगुणान्न करोति **अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणामं जाण दोण्हंपि** यद्यप्युपादानरूपेण न करोति तथाप्यन्योन्यनिमित्तेन घटकुंभकारयोरिव परिणामं जानीहि द्वयोरपि जीवपुद्गलयोरिति। अथ—**एदेण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण** एतेन कारणेन पूर्वसूत्रद्वयव्याख्यानरूपेण तु निर्मलात्मानुभूतिलक्षणपरिणामेन शुद्धोपादानकारणभूतेनाव्याबाधानंतसुखादिशुद्धभावानां कर्त्ता। तद्विलक्षणेनाशुद्धोपादानकारणभूतेन रागाद्यशुद्धभावानां कर्त्ता भवत्यात्मा। कथं। यथा मृत्तिकाकलशस्येति **पुग्गलकम्मकदाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं** पुद्गलद्रव्यकर्मकृतानां न तु कर्ता सर्वभावानां ज्ञानावरणादिपुद्गलकर्मपर्यायाणामिति। एवं जीवपुद्गलपरस्परनिमित्तकारणव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथात्रयं गतं। अथ तत एतदायाति—जीवस्य स्वपरिणामैरेव सह निश्चयनयेन कर्तृकर्मभावो भोक्तृभोग्यभावश्च भवति।

टीकाः— (जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति) जैसे कुंभकारके निमित्त से मिट्टी घड़े के रूप में परिणमन करती है उसी प्रकार जीव संबंधी मिथ्यात्व व रागादि परिणामों का निमित्त पाकर कर्मवर्गणा योग्य पुद्गलद्रव्य भी कर्मरूप में परिणमन करता है। (पुग्गलकम्म णिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमइ) जिस प्रकार घट का निमित्त पाकर कुम्हार 'मैं घड़े को बनाता हूँ' इस प्रकार भावरूप परिणमन करता है वैसे ही उदय में आये हुए द्रव्य कर्मोंका निमित्त पाकर अपने विकार रहित चेतनामात्र परिणति को प्राप्त नहीं होता हुआ जीव भी मिथ्यात्व और रागादिरूप विभाव परिणाम रूप परिणमन करता है। (णवि कुव्वइ कम्मगुणे जीवो) यद्यपि परस्पर एक दूसरे के निमित्त से इन दोनोंका परिणमन होता है तो भी निश्चयनय से जीव पुद्गलकर्म के वर्णादि गुणों को पैदा नहीं करता है (कम्मं तहेव जीवगुणे) वैसे कर्म भी जीव के अनंत ज्ञानादि गुणों को उत्पन्न नहीं करता है। (अण्णोणणिमित्तेण दु परिणाम जाण दोण्हंपि) यद्यपि उपादान रूप से नहीं करता फिर भी घट और कुम्हार की भांति इन दोनों जीव और पुद्गलोंका परस्पर में एक दूसरे के निमित्त से परिणमन होता है (एदेण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण) इस प्रकार पूर्वोक्त दो सूत्रों में जैसा बतलाया गया है उस रूप जीव जब निर्मल आत्मा की अनुभूति है लक्षण जिसका ऐसा शुद्ध उपादान ही है कारण भूत जिसमें अथवा शुद्ध उपादान का कारणभूत जो परिणाम उससे यह जीव अव्याबाध और अनंत सुखादिरूप शुद्धभावों का कर्त्ता होता है और इससे विलक्षण एवं अशुद्ध उपादान ही है कारण जिसमें या अशुद्ध उपादान का कारणभूत ऐसे विकारी परिणमन के द्वारा रागादि अशुद्ध भावों का कर्त्ता होता है जैसे मिट्टी कलश का कर्त्ता होती है। (पुग्गल कम्मकदाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं) किन्तु पुद्गलकर्म के किये हुए जो ज्ञानावरणादि पुद्गलकर्म पर्यायरूप जो सब भाव हैं उन सबका कर्त्ता आत्मा नहीं है।

इस प्रकार जीव और पुद्गल के परस्पर में निमित्त कारणपना है इस व्याख्यान की मुख्यता से से तीन गाथाएं पूर्ण हुईं ।। ८६-८७-८८ ।।

विशेषार्थ—यहां आचार्य देव ने स्पष्ट कर बतलाया है कि वस्तु परिणमन स्वभाववाला है, अतः साधारण परिणमन तो इसका अपने आप समयानुसार सहजतया होता ही रहता है किन्तु परिणमन विशेष के लिए उपादान के साथ साथ निमित्त विशेष की भी आवश्कता होती है। जैसे कि पुद्गल का जो कर्मरूप में परिणमन होता है वह जीव के रागादिक भावों के बिना नहीं होता। रागादि भावों से सब ही पुद्गलों का परिणमन न होकर कार्माण वर्गणाओं का ही कर्मरूप परिणमन होता है। इसी प्रकार जीव का भी जो रागादिरूप परिणमन होता है वह भी पूर्व कर्म के उदय से ही होता है। किन्तु कर्मोदय से भी रागादिरूप परिणमन उसी जीव का होता है जो शुद्धात्मा के अनुभव से अर्थात् समाधि से विमुखता रूप अज्ञानभाव को अपनाने वाला होता है। इसी प्रकार प्रत्येक जीव और पुद्गल का व्यंजन पर्यायरूप विशेष परिणमन उपादान और निमित्त इन दोनों कारणों के सहयोग से सम्पन्न होता है किसी एक से नहीं।

इसलिये यह बात सिद्ध हुई कि निश्चयनय से जीव का कर्ता कर्म भाव और भोक्तृ भोग्य भाव अपने परिणामों के साथ ही हैं—सो ही कहते हैं:—

णिच्छयणयस्स एवं आदा अप्पाणमेव हि करेदि ।
वेदयदि पुणो तं चेव जाण अत्ता दु अत्ताणं ।।८९।।

निश्चयनयस्यैवमात्मात्मानमेव हि करोति ।
वेदयते पुनस्तं चैव जानीहि आत्मा त्वात्मानं ।।८९।।

अर्थः— हे शिष्य, तू ऐसा समझ कि निश्चयनय की अपेक्षा से आत्मा अपने आपका ही कर्त्ता है और अपने आपका ही भोक्ता है (किन्तु दूसरे का नहीं)।

तात्पर्यवृत्तिः—णिच्छयणयस्स एवं आदा अप्पाणमेव हि करेदि यथा यद्यपि समीरो निमित्तं भवति तथापि निश्चयनयेन पारावार एव कल्लोलान् करोति परिणमति च। एवं यद्यपि द्रव्यकर्मोदयसद्भावासाद्भावात् शुद्धाशुद्धभावयोर्निमित्तं भवति तथापि निश्चयेन निर्विकारपरमस्वसंवेदनज्ञानपरिणतः केवलज्ञानादिशुद्धभावान् तथैवाशुद्धपरिणतस्तु सांसारिकसुखदुःखाद्यशुद्धभावांश्चोपादानरूपेणात्मैव करोति। अत्र परिणामानां परिणमनमेव कर्तृत्वं ज्ञातव्यमिति न केवलं करोति **वेदयदि पुणो तं चेव जाण अत्ता दु अत्ताणं** वेदयत्यनुभवति भुंक्ते परिणमति पुनश्च स्वशुद्धात्मभावनोत्थसुखरूपेण शुद्धोपादानेन तदेव शुद्धात्मानमशुद्धोपादानेनाशुद्धात्मानं च। स कः कर्ता ? आत्मेति जानीहि एवं निश्चयकर्तृत्वभोक्तृत्वव्याख्यानरूपेण गाथा गता। अथ लोकव्यवहारं दर्शयति।

टीकाः— (णिच्छयणयस्स एवं आदा अप्पाणमेव हि करेदि) जैसे समुद्र की तरंगों के उत्पन्न होने में पवन निमित्त कारण है फिर भी निश्चयनय से समुद्र ही तरंगों को उत्पन्न करता है उसी प्रकार द्रव्य कर्मों के उदय का सद्भाव आत्मा के अशुद्धभावों में निमित्त होता है और द्रव्यकर्म के उदय का न होना आत्मा के शुद्ध भावों में निमित्त होता है। फिर भी निश्चयनय की अपेक्षा उपादानरूप से तो स्वयं आत्मा ही जब निर्विकार परम स्वसंवेदन ज्ञानरूप परिणत होता है तब केवलज्ञान आदि शुद्ध भावों को उत्पन्न करता है और अशुद्ध रूप में परिणत हुआ आत्मा ही उपादान रूप से सांसारिक सुख दुख आदि रूप अशुद्ध भावों को उत्पन्न करता है। यहां पर उन परिणामों के रूप में परिणमन करना ही कर्त्तापन से विवक्षित है। आत्मा केवल अपने भावों का कर्त्ता ही हो इतना ही नहीं है किन्तु (वेदयदि पुणो तं

चेव जाण अत्ता दु अत्ताणं) अपने शुद्ध आत्मा की भावना से उत्पन्न सुखरूप शुद्ध उपादान के द्वारा अनुभव भी आत्मा अपने शुद्धात्मा का ही करता है, उसीको भोगता है, और उसीका संवेदन करता है, और उसी रूप में परिणमन करता है, किन्तु अशुद्ध उपादान से अपनी अशुद्ध आत्मा का ही अनुभवन या संवेदन करता हुआ उसी रूप परिणमन करता है ऐसा हे शिष्य ! तुम समझो । इस प्रकार निश्चय कर्तृत्व भोक्तृत्व का व्याख्यान करने वाली गाथा हुई ।।८९।।

अब आगे लोक व्यवहार जैसा होता है वैसा बतलाते हैं:—

ववहारस्स दु आदा पुग्गलकम्मं करेदि अणेयविहं ।
तं चेव य वेदयदे पुग्गलकम्मं अणेयविहं ।। ९० ।।

व्यवहारस्य त्वात्मा पुद्गलकर्म करोति नैकविधम् ।
तच्चैव पुनर्वेदयते पुद्गलकर्मानेकविधं ।। ९० ।।

अर्थ:—व्यवहार नय की अपेक्षा से आत्मा अनेक प्रकार के अपने पुद्गल कर्मों का करता है और उन्हीं अनेक प्रकार के कर्मों को भोगता भी है ।

तात्पर्यवृत्तिः— **ववहारस्स दु आदा पुग्गलकम्मं करेदि अणेयविहं** यथा लोके यद्यपि मृत्पिंड उपादान-कारणं तथापि कुंभकारो घटं करोति तत्फलं च जलधारणमूल्यादिकं भुंक्त इति लोकानामनादिरूढोस्ति व्यवहारः । तथा यद्यपि कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्यमुपादनकारणभूतं तथापि व्यवहारनयस्याभिप्रायेणात्मा पुद्गलकर्मानेकविधं मूलोत्तरप्रकृतिभेदभिन्नं करोति **तं चेव य वेदयदे पुग्गलकम्मं अणेयविहं** तथैव च तदेवोदयागतं पुद्गलकर्मानेकविधं इष्टानिष्टपंचेंद्रियविषयरूपेण वेदयति अनुभवति इत्यज्ञानिनां निर्विषयशुद्धात्मोपलंभसंजातसुखामृतरसास्वादरहितानाम-नादिरूढोस्ति व्यवहारः । एवं व्यवहारेण सुखदुःखकर्तृत्वभोक्तृत्वकथनमुख्यतया गाथा गता । इति ज्ञानिजीवस्य विशेषव्याख्यानरूपेणैकादशगाथाभिर्द्वितीयांतराधिकारो व्याख्यातः ।

अतः परं पंचविंशतिगाथापर्यंतं द्विक्रियावादिनिराकरणरूपेण व्याख्यानं करोति । तत्र चेतनाचेतनयोरेकोपा-दानकर्तृत्वं द्विक्रियावादित्वमुच्यते तस्य संक्षेपव्याख्यानरूपेण **जदिपुग्गलकम्ममिणं** इत्यादि गाथाद्वयं भवति । तद्वि-वरणद्वादशगाथासु मध्ये **पुग्गलकम्मणिमित्तं** इत्यादिगाथाक्रमेण प्रथमगाथाषट्कं स्वतंत्रं । तदनंतरमज्ञानिज्ञानिजीवक-र्तृत्वाकर्तृत्वमुख्यतया **परमप्पाणं कुव्वी** इत्यादिद्वितीयषट्कं । अतः परं तस्यैव द्विक्रियावादिनः पुनरपि विशेष-व्याख्यानार्थमुपसंहाररूपेणैकादशगाथा भवंति । तत्रैकादशगाथासु मध्ये व्यवहारनयमुख्यत्वेन **ववहारस्स दु** इत्यादि गाथात्रयं । तदनंतरं निश्चयनयमुख्यतया **जो पुग्गलदव्वाणं** इत्यादिसूत्रचतुष्टयं । ततश्च द्रव्यकर्मणामुपचारकर्तृत्व-मुख्यत्वेन **जीवं हि हेदुभूदे** इत्यादिसूत्रचतुष्टयमिति समुदायेन पंचविंशतिगाथाभिस्तृतीयस्थले समुदायपातनिका । तद्यथा—अथेदं पूर्वोक्तं कर्मकर्तृत्वभोक्तृत्वनयविभागव्याख्यानं कर्मतापन्नमनेकांतेन सम्मतमप्येकांतनयेन मन्यते । किं मन्यते भावकर्मवन्निश्चयेन द्रव्यकर्मापि करोतीति चेतनाचेतनकार्ययोरेकोपादानकर्तृत्वलक्षणं द्विक्रियावादित्वं स्यात् तान् द्विक्रियावादिनो दूषयति ।

टीका:—(ववहारस्स दु आदा पुग्गलकम्मं करेदि अणेयविहं) जैसे देखने में आता है कि घड़े का उपादान कारण मिट्टी का पिण्ड है उसीका घड़ा बनता है तथापि घड़े को बनाने वाला कुम्हार है और जल धारण करना उसका मूल्य लेना आदि फल का भोक्ता भी वही कुम्हार है यह अनादिकाल से लोगों का व्यवहार चला आ रहा है । वैसे ही उपादान रूप से कर्मों का पैदा करने वाला भी कार्माण वर्गणा योग्य पुद्गलद्रव्य है, जो अनेक प्रकार के मूल उत्तर प्रकृति भेद लिए हुए नाना प्रकार

ज्ञानावरणादि पुद्गलकर्म हैं उसका करने वाला व्यवहार नय से आत्मा है (ऐसा समझा जाता है)। (तं चेव य वेदयदे पुग्गलकम्मं अणेयविहं) और उदय में आये हुए उसी अनेक प्रकार के पौद्गलिक कर्मों को इष्ट व अनिष्ट जो पंचेन्द्रिय के विषय उनके रूप में आत्मा अनुभवन करने वाला होता है ऐसा अन्य विषय से रहित शुद्धात्मा के उपलंभ से समुत्पन्न जो सुखामृत रस उसके आस्वाद से रहित रहने वाले अज्ञानी लोगों का अनादि काल का व्यवहार चला आता है ॥९०॥

इस प्रकार व्यवहारनय की मुख्यता से सुख दुख के कर्ता और भोक्तापन के कथन करने वाली गाथा पूर्ण हुई।

विशेषार्थः—निश्चयनय अभिन्न तादात्म्य संबंध या उपादान उपेय भावको ही ग्रहण करता है। उसकी दृष्टि संयोग संबंध पर नहीं होती किन्तु व्यवहारनय संयोग संबंध, और निमित्त नैमित्तिक भावको बतलाने वाला है। इसलिये आचार्य महाराज कहते हैं कि आत्मा निश्चयनयसे तो अपने भावोंका ही कर्त्ता भोक्ता है किन्तु व्यवहारनयसे वह द्रव्य कर्मों का करनेवाला व भोगनेवाला भी है। यह व्यवहारनय समाधि अवस्थासे च्युत अज्ञान दशामें स्वीकार किया जाता है किन्तु समाधि दशामें निश्चयनय का अवलंबन रहता है।

ज्ञानी जीव का विशेष व्याख्यान करनेके रूपमें ग्यारह गाथाओं द्वारा दूसरा अधिकार पूर्ण हुआ।

इसके पश्चात २५ गाथा पर्यंत चेतन और अचेतन इन दोनों का एक ही उपादान कर्त्ता है ऐसा कहने वाले द्विक्रियावादियोंका निराकरण करते हुए संक्षेप से व्याख्यान करनेरूप में "जदि पुग्गल कम्ममिणं" इत्यादि दो गाथाएं हैं। फिर उसका विवरण करनेवाली १२ गाथाओं में से "पोग्गल कम्म णिमित्तं" इत्यादि कमसे प्रथम ६ स्वतंत्र गाथाएं हैं। इसके आगे अज्ञानी जीव पर द्रव्यका कर्त्ता है किन्तु ज्ञानी जीव अकर्ता है इस प्रकार की मुख्यता से "परमप्पाणं कुव्वदि" इत्यादि दूसरी ६ गाथाएं हैं। इसके आगे उसी द्विक्रियावादी का विशेष व्याख्यान करने के लिये उपसंहार रूपसे ११ ग्यारह गाथाएं हैं। उन ११ गाथाओं में व्यवहारनय की मुख्यतासे "ववहारस्स दु" इत्यादि तीन गाथाएं हैं। उसके आगे निश्चयनय की मुख्यतासे "जो पुग्गल दव्वाणं" इत्यादि चार सूत्र हैं। उसके आगे द्रव्य कर्मों का उपचार से जीव कर्ता है इस मुख्यतासे "जीवंहि हेदुभूदे" इत्यादि चार गाथायें हैं। इस प्रकार समुदाय पातनिका रूपसे २५ गाथाओं द्वारा तीसरा स्थल है।

पहले जो कर्म का कर्त्तापन और भोक्तापन के बारे में जो नय विभाग कहा गया है वह अनेकांत सम्मत है। किन्तु एकान्त नयसे जो ऐसा मानता है कि यह जीव भावकर्म रागद्वेषादि को जैसे करता है वैसे ही निश्चयसे द्रव्यकर्मों को भी करता है। इस प्रकार चेतन और अचेतन कार्यों का एक ही उपादान कारण है ऐसी द्विक्रियावादियों की मान्यता को दूषित बतलाते हैं:—

जदि पुग्गलकम्ममिणं कुव्वदि तं चेव वेदयदि आदा।
दो किरियावादित्तं पसजदि सम्मं जिणावमदं ॥९१॥

यदि पुद्गलकर्मेदं करोति तच्चैव वेदयते आत्मा।
द्विक्रियावादित्वं प्रसजति सम्यक् जिनावमतं ॥९१॥

अर्थ—पुद्गल कर्मों का कर्ता भी उपादान रूप से आत्मा ही है और भोक्ता भी आत्मा ही है, इस प्रकार की मान्यता का नाम द्विक्रियावाद है जो कि किसी भी प्रकार से जिन भगवान के मत से सम्मत नहीं हैं ।।९१।।

तात्पर्यवृत्तिः— जदि पुग्गलकम्ममिणं कुव्वदि तं चेव वेदयदि आदा यदि चेत्पुद्गलकर्मोदयमुपादानरूपेण करोति तदेव च पुनरुपादानरूपेण वेदयत्यनुभवत्यात्मा **दोकिरियावादित्तं पसजदि** तदा चेतनाचेतनक्रियाद्वयस्योपादानकर्तृत्वरूपेण द्विक्रियावादित्वं प्रसजति प्राप्नोति । अथवा **दो किरियाविदिरित्तो पसजदि सो** तत्र पाठांतरे द्वाभ्यां चेतनाचेतनक्रियाभ्यामव्यतिरिक्तोऽभिन्नः प्रसजति प्राप्नोति स पुरुषः । **सम्मं जिणवामदं** तच्च व्याख्यानं जिनानां सम्यगसंमतं । यश्चेदं व्याख्यानं मन्यते स निजशुद्धात्मोपादेयरुचिरूपं निर्विकारचिच्चमत्कारमात्रलक्षणं शुद्धोपादानकारणोत्पन्नं निश्चयसम्यक्त्वमलभमानो मिथ्यादृष्टिर्भवतीति । अथ कुतो द्विक्रियावादी मिथ्यादृष्टिर्भवतीति प्रश्ने प्रत्युत्तरं प्रयच्छंतस्तमेवार्थं प्रकारांतरेण दृढयति ।

टीका—(जदि पुग्गलकम्ममिणं कुव्वदि तं चेव वेदयदि आदा) यदि पुद्गल कर्मों का भी उपादान रूप से करने वाला और भोगने वाला—अनुभव करने वाला भी आत्मा ही है तब (दो किरियावादित्तं पसजदि) चेतन और अचेतन इन दोनों क्रियाओं का एक उपादान कर्ता रूप से द्विक्रियावादीपने का प्रसंग आता है अथवा पाठांतर से (दो किरियावदिरित्तो पसजदि सो) इसका अर्थ ऐसा होता है कि चेतन क्रिया और अचेतन क्रिया इन दोनों से आत्मा अभिन्न ठहरता है। (सम्मं जिणावमदं) यह व्याख्यान जिन भगवान के द्वारा सम्मत नहीं है (प्रत्युत जिन भगवान द्वारा इसका निराकरण किया गया है) । किन्तु जो उपर्युक्त द्विक्रियावादी के व्याख्यान को मानता है वह जीव निश्चय सम्यक्त्व जो कि निज शुद्धात्मा में ही उपादेय रूप से रूचि स्वरूप है और विकार रहित चित् चमत्कार लक्षणवाला है एवं शुद्ध उपादान रूप कारण से उत्पन्न है ऐसे निश्चय सम्यक्त्व को नहीं प्राप्त होता हुआ मिथ्यादृष्टि होता है ।।९१।।

द्विक्रियावादी जीव मिथ्यादृष्टि क्यों होता है प्रकारान्तर से इसको स्पष्ट करते हैं—

जम्हा दु अत्तभावं पुग्गलभावं च दोवि कुव्वंति ।
तेण दु मिच्छादिट्ठी दो किरियावादिणो होंति ।।९२।।

यस्मात्त्वात्मभावं पुद्गलभावं च द्वावपि कुर्वंति ।
तेन तु मिथ्यादृष्टयो द्विक्रियावादिनो भवंति ।।९२।।

अर्थ—क्योंकि द्विक्रियावादी जन आत्मा के परिणाम और पुद्गल के परिणाम इन दोनो को आत्मा करता है ऐसा कहते हैं इसलिये द्विक्रियावादी मिथ्यादृष्टि होते हैं ।।९२।।

तात्पर्यवृत्तिः—जह्मा दु अत्तभावं पुग्गलभावं च दोवि कुव्वंति यस्मादात्मभावं चिद्रूपं पुद्गलभावं चाचेतनं जडस्वरूपं द्वयमप्युपादानरूपेण कुर्वंति **तेण दु मिच्छादिठ्ठी दोकिरियावादिणो हुंति** ततस्तेन कारणेन चेतनाचेतनक्रियाद्वयवादिनः पुरुषा मिथ्यादृष्टयो भवंतीति । तथाहि—यथा कुंभकारः स्वकीयपरिणाममुपादानरूपेण करोति तथा घटमपि यद्युपादानरूपेण करोति तदा कुंभकारस्याचेतनत्वं घटरूपत्वं प्राप्नोति । घटस्य वा चेतनकुंभकाररूपत्वं प्राप्नोतीति । तथा जीवोपि यद्युपादानरूपेण पुद्गलद्रव्यकर्म करोति तदा जीवस्याचेतनपुद्गलद्रव्यत्वं प्राप्नोति । पुद्गलकर्मणो वा चिद्रूपं जीवत्वं प्राप्नोति । किं च शुभाशुभं कर्म कुर्वेहमिति महाहंकाररूपं तमो मिथ्याज्ञानिनां न नश्यति तर्हि केषां नश्यतीति चेत् विषयसुखानुभवानंदवर्जिते वीतरागस्वसंवेदनवेद्ये भूतार्थनयेनैकत्वव्यवस्थापिते चिदानंदैकस्वभावे शुद्धपरमात्मद्रव्ये स्थितनामेव समस्तशुभाशुभपरभावशून्येन निर्विकल्पसमाधिलक्षणेन शुद्धोपयोगभावनाबलेन

संज्ञानिनामेव विलयं विनाशं गच्छति । तस्मिन्महाहंकारविकल्पजाले नष्टे सति पुनरपि बंधो न भवतीति ज्ञात्वा बहिर्द्रव्य-विषये इदं करोमि इदं न करोमीति दुराग्रहं त्यक्त्वा रागादिविकल्पजालशून्ये पूर्णकलशवच्चिदानंदैकस्वभावेन भरिता-वस्थे स्वकीयपरमात्मनि निरंतरं भावना कर्त्तव्येति भावार्थः । इति द्विक्रियावादिसंक्षेपव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथाद्वयं गतं । अथ तस्यैव विशेषव्याख्यानं करोति ।

टीका—(जम्हा दु अत्तभावं पुग्गलभावं च दोवि कुव्वंति) जबकि आत्मा के भाव चेतनपन को और पुद्गल के भाव अचेतनपन रूपादिस्वरूप जड़भाव को इन दोनों को आत्मा ही उपादानरूप से करने वाला एक ही है (तेण दु मिच्छादिट्ठी दो किरियावादिणो होंति) ऐसा मानता है वह चेतन और अचेतन क्रियाओं का एक आधार मानने वाला जीव मिथ्यादृष्टि होता है । तात्पर्य यह है कि जैसे कुम्हार अपने ही आत्मभाव को उपादान रूप से करता है वैसे ही उपादान रूप से घड़े का भी करनेवाला मान लिया जाय तब कुम्हार को घटपना या अचेतनपना प्राप्त हो जायगा अथवा घड़े को चेतनपना कुम्हारपना प्राप्त हो जायगा । इसी प्रकार जीव भी यदि उपादान रूप से कर्मों का कर्ता हो जाय तो जीव को अचेतन पुद्गलद्रव्यपना प्राप्त हो जायगा अथवा पुद्गल कर्म को जीवपना व चेतनपना मानना पड़ेगा । प्रयोजन यह है कि शुभ और अशुभ कर्मों का करने वाला मैं ही हूँ इस प्रकार का अहंकार रूप अन्धकार अज्ञानियों का नष्ट नहीं होता । तब किनका नष्ट होता है ? सो सुनो, जो जीव पंचेन्द्रिय विषयसुख के अनुभवरूप आनन्द से रहित किन्तु वीतराग स्वसंवेदन के द्वारा अनुभव करने योग्य तथा निश्चयनय से अपने एक स्वरूप में लवलीन चिदानंदमई एक स्वभावमय शुद्ध परमात्म द्रव्य में तिष्टे हुए हैं उन्हीं सम्यग्ज्ञानियों का वह अज्ञान अन्धकार या अहंकार रूप भाव दूर होता है जो कि समस्त प्रकार के शुभा-शुभभावों से शून्य और निर्विकल्प समाधि लक्षण वाले एवं शुद्धोपयोग की भावना के बलवाले होते हैं उनके निर्मल भाव के द्वारा वह नष्ट होता है । उस अज्ञानरूप या अहंकाररूप विकल्प जाल के नष्ट होजाने पर फिर कर्म का नया बंध भी नहीं होता है । ऐसा जानकर इन दृश्यमान बाह्य द्रव्यों के संबंध में मैं करता हूं मैं नहीं करता हूँ इस प्रकार के दुराग्रह को छोड़कर रागादि विकल्प जालों से सर्वथा रहित किन्तु पूर्ण कलश के समान चिदानंदरूप शुद्धभाव से परिपूर्ण अपने परमात्म द्रव्य में (ज्ञानियों को) निरन्तर भावना करनी चाहिये ।।९२।।

इस प्रकार द्विक्रियावादी का संक्षेप से व्याख्यान की मुख्यता से दो गाथाएं पूर्ण हुईं ।

अब उसी द्विक्रियावादि का विशेष व्याख्यान करते हैं:—

पोग्गलकम्मणिमित्तं जह आदा कुणदि अप्पणो भावं ।
पोग्गलकम्मणिमित्तं तह वेददि अप्पणो भावं ।।९३।।

पुद्गलकर्मनिमित्तं यथात्मा करोति आत्मनः भावं ।
पुद्गलकर्म निमित्तं तथा वेदयति आत्मनो भावं ।।९३।।

अर्थ:—जैसे यह आत्मा पौद्गलिक ज्ञानावरणादि कर्मके उदयके निमित्त से होनेवाले अपने भावों को करता है उसी प्रकार पौद्गलिक कर्मके निमित्त से होनेवाले अपने भावों को भोगता भी है ।।९३।।

तात्पर्यवृत्तिः—**पुग्गलकम्मणिमित्तं जह आदा कुणदि अप्पणो भावं** उदयागतं द्रव्यकर्मनिमित्तं कृत्वा यथात्मा निर्विकारस्वसंवित्तिपरिणामशून्यः सन्करोत्यात्मनः संबंधिनं सुखदुःखादिभावं परिणामं **पुग्गलकम्मणिमित्तं तह वेददि अप्पणो भावं** तथैवोदयागतद्रव्यकर्मनिमित्तं लब्ध्वा स्वशुद्धात्मभावनोत्थवास्तवसुखास्वादमवेदयन्सन् तमेव

कर्मोदयजनितस्वकीयरागादिभावं वेदयत्यनुभवति। न च द्रव्यकर्म रूपपरभावमित्यभिप्राय:। अथ चिद्रूपानात्मभावनात्मा करोति तथैवाचिद्रूपान् द्रव्यकर्मादिपरभावान् पर: पुद्गल: करोतीत्याख्याति।

टीका:—(पोग्गलकम्मरिणमित्तं जह आदा कुणदि अप्पणोभावं) उदयमें आये हुए द्रव्य कर्मोंका निमित्त पाकर निर्विकार स्वसंवेदन परिणामसे रहित होता हुआ यह आत्मा सुख दु:खादि रूप अपने भावोंको करता है, (पोग्गलकम्मनिमित्तं तह वेददि अप्पणो भावं) उसी प्रकार उदयमें आये हुए द्रव्यकर्म के निमित्त को पाकर अपने स्वशुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न हुआ जो वास्तविक सुख उसका आस्वाद नहीं लेता हुआ उसी कर्म उदय जनित अपने रागादि भावों को संवेदन करनेवाला या अनुभवन करने वाला भी होता है। किन्तु द्रव्य कर्मरूप जो परभाव हैं उसका कर्त्ता आत्मा नहीं होता ऐसा समझना चाहिये ॥९३॥

अब यह बतलाते हैं कि चेतनरूप आत्मभावों का कर्त्ता आत्मा होता है उसी प्रकार अचेतन रूप द्रव्य कर्मादिमय पर भावों का कर्त्ता पुद्गल होता है:—

मिच्छत्तं पुण दुविहं जीवमजीवं तहेव अण्णाणं।
अविरदि जोगो मोहो कोधादीया इमे भावा ॥९४॥

मिथ्यात्वं पुनर्द्विविधं जीवोऽजीवस्तथैवाज्ञानं।
अविरतियोगो मोहः क्रोधाद्या इमे भावाः ॥ ९४ ॥

अर्थ:— मिथ्यात्वभाव दो प्रकार का है। एक जीव मिथ्यात्व दूसरा अजीव मिथ्यात्व। उसी प्रकार अज्ञान, अविरति मोह और क्रोधादिक कषायभाव ये सब भी जीव और अजीव के भेद से दो दो प्रकार होते हैं ॥ ९४ ॥

तात्पर्यवृत्ति:—मिच्छत्तं पुण दुविहं जीवमजीवं मिथ्यात्वं पुनर्द्विविधं जीवस्वभावमजीवस्वभावं च **तहेव अण्णाणं अविरदि जोगो मोहो कोहादीया इमे भावा** तथैव चाज्ञानमविरतिर्योगो मोह: क्रोधादयोऽमीभावा: पर्याया: जीवरूपा अजीवरूपाश्च भवंति मयूरमुकुरंदवत्। तद्यथा—यथा मय रेण भाव्यमाना अनुभूयमानानीलपीताद्याकारविशेषा मयूरशरीराकारपरिणता मयूर एव चेतना एव। तथा निर्मलात्मानुभूतिच्युतजीवेन भाव्यमाना अनुभूयमाना: सुखदु:खादिविकल्पा जीव एवाशुद्धनिश्चयेन चेतना एव। यथा च मुकुरंदेन स्वच्छतारूपेण भाव्यमाना: प्रकाशमानमुखप्रतिबिंबादिविकारा मुकुरंद एव अचेतना एव तथा कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्येणोपादानभूतेन क्रियमाणा ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मपर्याया पुद्गल एव अचेतना एवेति। अथ कतिविधौ जीवाजीवाविति पृष्टे प्रत्युत्तरमाह।

टीका:—(मिच्छत्तं पुण दुविहं जीवमजीवं) जीव स्वभाव और अजीव स्वभाव के भेद से मिथ्यात्व दो प्रकार का है (तहेव अण्णाणं अविरदि जोगो मोहो कोधादीया इमे भावा) उसी प्रकार अज्ञान, अविरति, योग, मोह और क्रोधादि ये सब ही भाव अर्थात् पर्याय मयूर और दर्पण के समान जीव स्वरूप और अजीवस्वरूप भी होते हैं। जैसे मयूर और दर्पण में मयूर के द्वारा पैदा किये हुए अनुभव में आने वाले नील पीतादि आकार विशेष जो कि मयूर के शरीर के आकार परिणत हो रहे हैं वे मयूर ही हैं चेतनमय हैं, वैसे ही निर्मल आत्मानुभूति से च्युत हुए जीव के द्वारा उत्पन्न किये हुए अनुभव में आने वाले सुख दुखादि विकल्प रूप भाव हैं, वे अशुद्ध निश्चयनयसे जीवरूप ही हैं चेतनामय हैं। और जैसे स्वच्छतारूप दर्पण के द्वारा उत्पन्न किये हुए प्रकाशमान मुख का प्रतिबिम्ब आदि रूप विकार हैं वे सब दर्पणमयी हैं अतएव अचेतन हैं उसी प्रकार उपादान भूत कर्म वर्गणारूप पुद्गल कर्म के द्वारा किये हुए ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म रूप पर्याय तो पुद्गलमय ही है अतएव अचेतन ही है ॥ ९४ ॥

विशेषार्थः— कर्म के उदय के निमित्त से जो विभाव भाव होते हैं वे चेतना के विकार होने से जीव रूप ही होते हैं किन्तु इन विकारी भावों के निमित्त से जो पुद्गल परमाणु मिथ्यात्व आदि कर्म रूप परिणमते हैं वे सब अजीव हैं ऐसे मिथ्यात्वादि भाव जीव और अजीव के भेद से दो दो प्रकार के होते हैं।

अब जीव और अजीव कितने प्रकार के हैं इसे बताते हैं:—

पोग्गलकम्मं मिच्छं जोगो अविरदि अण्णाणमज्जीवं।
उवओगो अण्णाणं अविरदि मिच्छत्त जीवो दु ॥९५॥

पुद्गलकर्म मिथ्यात्वं योगोऽविरतिरज्ञानमजीवः।
उपयोगोऽज्ञानमविरति मिथ्यात्वं च जीवस्तु ॥९५॥

अर्थः—जो मिथ्यात्व, योग, अविरति और अज्ञान कर्मवर्गणारूप हैं वे तो अजीव हैं किन्तु जो अज्ञान, अविरति, मिथ्यात्व उपयोगात्मक हैं वे जीव हैं ॥ ९५ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—**पुग्गलकम्मं मिच्छं जोगो अविरदि अणाणमज्जीवं** पुद्गलकर्मरूपं मिथ्यात्वं योगोऽविरतिरज्ञानमित्यजीवः। **उवओगो अण्णाणं अविरदि मिच्छत्त जीवो दु** उपयोगरूपो भावरूपः शुद्धात्मादितत्त्वभावविषये विपरीतपरिच्छित्तिविकारपरिणामो जीवस्याज्ञानं। निर्विकारस्वसंवित्तिविपरीताव्रपरिणामविकारोऽविरतिः। विपरीताभिनिवेशोपयोगविकाररूपं शुद्धजीवादिपदार्थविषये विपरीतश्रद्धानं मिथ्यात्वमिति जीवः जीव इति कोर्थः। जीवरूपा भावप्रत्यया इति। अथ शुद्धचैतन्यस्वभावजीवस्य कथं मिथ्यादर्शनादिविकारो जात इति चेत्।

टीका:—(पोग्गलकम्मं मिच्छं जोगो अविरदि अण्णाणमज्जीवं) पुद्गल कर्मरूप जो मिथ्यात्व योग, अविरति और अज्ञान है वह तो अजीव है किन्तु (उवओगो अण्णाणं अविरदि मिच्छत्त जीवो दु) उपयोग रूप भाव जो कि शुद्धात्मादि तत्वों के विषयमें विपरीत जानकारीमय रूप विकार भाव है वह जीव का अज्ञान भाव है और निर्विकार स्वसंवेदनसे विपरीतात्मकरूप अविरतिरूप विकारी परिणाम है वह जीवका अविरति भाव है, और शुद्ध जीवादि पदार्थके विषयमें विपरीत अभिप्राय लिये हुए उपयोगात्मक विकारमय विपरीत श्रद्धानरूप भाव है वह जीवका मिथ्यात्व भाव है। अर्थात् ये सब जीवके विकार रूप परिणाम हैं ॥९५॥

अब जो जीव शुद्ध चैतन्य स्वभाववाला है उसमें मिथ्यादर्शन आदि विकारी भाव कैसे उत्पन्न हुए सो बतलाते हैं:—

उवओगस्स अणाई परिणामा तिण्णि मोहजुत्तस्स
मिच्छंत अण्णाणं अविरदि भावो य णादव्वो ॥९६॥

उपयोगस्यानादयः परिणामास्त्रयो मोहयुक्तस्य।
मिथ्यात्वमज्ञानमविरति भावश्चेति ज्ञातव्य ॥९६॥

अर्थ—अनादिकाल से ही मोह सहित उपयोगवान आत्मा के मिथ्यात्व, अज्ञान, और अविरति ये तीनों भाव भी अनादिसे ही चले आ रहे हैं ऐसा जानना चाहिये ॥९६॥

तात्पर्यवृत्तिः—**उवओगस्स अणाई परिणामा तिण्णि** उपयोगलक्षणत्वादुपयोग आत्मा तस्य संबंधित्वेनादिसंतानापेक्षया त्रयः परिणामा ज्ञातव्याः। कथंभूतस्य तस्य **मोहजुत्तस्स** मोहयुक्तस्य। के ते परिणामाः। **मिच्छत्तं अण्णाणं अविरदिभावो य णादव्वो** मिथ्यात्वमज्ञानमविरतिभावश्चेति ज्ञातव्य इति। तथाहि—यद्यपि शुद्धनिश्चय-

नयेन शुद्धबुद्धैकस्वभावो जीवस्तथाप्यनादिमोहनीयादिकर्मबंधवशान्मिथ्यात्वाज्ञानाविरतिरूपास्त्रयः परिणामविकाराः संभवंति। तत्र शुद्धजीवस्वरूपमुपादेयं मिथ्यात्वादिविकारपरिणामा हेया इति भावार्थः। अथात्मनो मिथ्यात्वादित्रिविधपरिणामविकारस्य कर्तृत्वमुपदिशति।

टीका:—(उवओगस्स अणाई परिणामा तिण्णि मोहजुत्तस्स) उपयोग लक्षणवाला होनेसे यहां पर उपयोग शब्दसे आत्मा को लिया गया है। एवं जो आत्मा मोह से युक्त है उसके संतान परम्परासे ये तीन परिणाम अनादिसे चले आ रहे हैं (मिच्छत्तं अण्णाणं अविरदि भावो य णादव्वो) वे परिणाम मिथ्यात्व अज्ञान और अविरति भाव हैं ऐसा जानना चाहिये। इसीको स्पष्टतया समझाते हैं कि यद्यपि शुद्ध निश्चय नयसे यह जीव शुद्ध बुद्ध एक स्वभाववाला है तथापि अनादिकालीन मोहनीय आदि कर्मबंध के वशसे मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति रूप तीन विकारी परिणाम जीव के हो रहे हैं, वहां पर शुद्ध जीव का स्वरूप तो उपादेय है अर्थात् प्राप्त करने योग्य है और मिथ्यात्वादि विकारी भाव छोड़ने योग्य है ऐसा तात्पर्य है।

अब आत्माके उपर्युक्त तीन विकारी परिणामों का कर्तापन है ऐसा बतलाते हैं:—

एदेसु य उवओगो तिविहो सुद्धो णिरंजणो भावो।
जं सो करेदि भावं उवओगो तस्स सो कत्ता ॥९७॥

एतेषु चोपयोगस्त्रिविधः शुद्धो निरंजनो भावः।
यं स करोति भावमुपयोगस्तस्य स कर्ता ॥९७॥

अर्थ:—यद्यपि शुद्धनय की अपेक्षा से आत्मा का उपयोग शुद्ध है, निर्विकार है तो भी अनादिकाल से इन उपर्युक्त तीन भावरूप परिणामों में से आत्मा जिस भाव को करता है उसका उस समय कर्ता होता है ॥९७॥

तात्पर्यवृत्ति:—**एदेसु य** एतेषु च मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रेषूदयागतेषु निमित्तभूतेषुसत्सु **उवओगो** ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणत्वादुपयोग आत्मा **तिविहो** कृष्णनीलपीतत्रिविधोपाधिपरिणतस्फटिकवत्त्रिविधो भवति। परमार्थेन तु **सुद्धो** शुद्धो रागादिभावकर्मरहितः **णिरंजणो** निरंजनो ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मांजनरहितः। पुनश्च कथंभूतः **भावो** भावपदार्थः। अखंडैकप्रतिभासमयज्ञानस्वभावेनैकविधोपि पूर्वोक्तमिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रपरिणामविकारेण त्रिविधो भूत्वा **जं सो करेदि भावं** परिणामं करोति स आत्मा **उवओगो** चैतन्यानुविधायिपरिणाम उपयोगो भण्यते तल्लक्षणत्वादुपयोगरूपः। **तस्स सो कत्ता** निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानपरिणामच्युतः सन् तस्यैव मिथ्यात्वादित्रिविधविकारपरिणामस्य कर्ता भवति। न च द्रव्यकर्मण इति भावः। अथात्मनो मिथ्यात्रिविधपरिणामविकारकर्तृत्वे सति कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्यं स्वत एवोपादानरूपेण कर्मत्वेन परिणमतीति कथयति।

टीका—(एदेसुय) उदयागत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र के होने पर उनके निमित्त से (उवओगो) यहां उपयोग शब्द से आत्मा ही लिया है। क्योंकि ज्ञान दर्शनमय जो उपयोग है वह आत्मा से अभिन्न होते हुए उसका लक्षण स्वरूप है। आत्मा (तिविहो) जिस प्रकार कृष्ण, नील, पीत उपाधि के द्वारा स्फटिक कृष्ण, नील, पीतरूप हो जाता है, वैसे ही आत्मा भी तीन प्रकार का हो रहा है। किन्तु वस्तुतः तो वह (सुद्धो) रागादि भाव कर्मों से रहित शुद्ध है, (णिरंजणो) ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मरूपी अंजन से रहित है। (भावो) वह आत्म पदार्थ एक अखंड प्रतिभासरूप होने वाला ज्ञान स्वभावमय होने के कारण एक प्रकार का होने पर भी पूर्व कथित मिथ्यादर्शन, मिथ्या-

ज्ञान और मिथ्याचारित्ररूप परिणाम विकार से तीन प्रकार का होकर (जं सो करेदि भावं) उनमें से जिस किसी परिणाम को करताहै, वह (उवओगो) चैतन्य परिणमन रूप उपयोग का धारक आत्मा (तस्स सो कत्ता) निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञानरूप परिणाम से च्युत होता हुआ उसी मिथ्यात्वादि तीन प्रकार के विकारी परिणाम का कर्त्ता होता है, किन्तु द्रव्यकर्म का कर्त्ता नहीं होता ।।९७।।

विशेषार्थ—आचार्यदेव ने यहां पर बतलाया है कि आत्मा जब परमार्थ रूप होता है अर्थात् समाधिस्थ होता है तब वह रागादि भावों से रहित व नवीन ज्ञानवरणादि कर्म के बंध से भी रहित होता है। किन्तु समाधि से च्युत होने की दशा में उपर्युक्त तीन प्रकार के परिणामों में से जिस किसी परिणाम को करता है उसी परिणाम का कर्ता रहता है। समाधि दशा में ज्ञान का कर्त्ता होकर ज्ञानी होता है पर समाधि से च्युत अवस्था में इससे विपरीत हो जाता है।

अब आत्मा के मिथ्यादर्शनादि रूप तीन प्रकार विकारमय परिणाम का कर्तापना होने पर कर्म वर्गणा योग्य जो पुद्गल द्रव्य है वह अपने आप ही उपादान रूप से कर्म के रूप में परिणत हो जाता है ऐसा कथन करते हैं:—

जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स ।
कम्मत्तं परिणमदे तम्हि सयं पोग्गलं दव्वं ।।९८।।

यं करोति भावमात्मा कर्त्ता स भवति तस्य भावस्य ।
कर्मत्वं परिणमते तस्मिन् स्वयं पुद्गलद्रव्यं ।।९८।।

अर्थ—(१) विपरीताभिनिवेश रूप मिथ्यात्व (२) कलुषतारूप अज्ञान (३) और पर पदार्थों में प्रवृत्तिरूप अविरति इन तीन प्रकार के भावों में से आत्मा जिस भाव को करता है तब उसी भाव का कर्त्ता होता है। किन्तु उसके इस प्रकार विकारी होने पर पुद्गल द्रव्य अपने आप कर्म रूप में परिणमन कर जाता है ।।९८।।

तात्पर्यवृत्तिः— जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स यं भावं मिथ्यात्वादिविकारपरिणामं शुद्धस्वभावच्युतः सन् आत्मा करोति तस्य भावस्य स कर्त्ता भवति **कम्मत्तं परिणमदे तम्हि सयं पुग्गलं दव्वं** तस्मिन्नेव त्रिविधविकारपरिणामकर्तृत्वे सति कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्यं स्वयमेवोपादानरूपेण द्रव्यकर्मत्वेन परिणमति। गारुडादिमंत्रपरिणतपुरुषपरिणामे सति देशांतरे स्वयमेव तत्पुरुषव्यापारमंतरेणापि विषापहारबंधविध्वंसस्त्रीविडंबनादिपरिणामवत्। तथैव च मिथ्यात्वरागादिविभावविनाशकाले निश्चयरत्नत्रयस्वरूपशुद्धोपयोगपरिणामे सति गारुडमंत्रसामर्थ्येन निर्बीजविषवत्। स्वयमेव नीरसीभूय पूर्वबद्धं द्रव्यकर्म जीवात्पृथग्भूत्वा निर्जरां गच्छतीति भावार्थः। एवं स्वतंत्रव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथाषट्कं गतं। अथ निश्चयेन वीतरागस्वसंवेदनज्ञानस्याभाव एवाज्ञानं भण्यते। तस्मादज्ञानादेव कर्म प्रभवतीति तात्पर्यमाह।

टीका—(जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स) जब यह आत्मा शुद्ध स्वभाव से च्युत होता है उस समय मिथ्यात्व आदि तीन प्रकार के विकारी परिणामों में से जिस विकाररूप परिणाम को करता है उस समय वह उसी विकारी भाव का कर्त्ता होजाता है। (कम्मत्तं परिणमदे तम्हि सयं पोग्गलं दव्वं) और जब यह आत्मा उपर्युक्त तीन प्रकार के परिणाम का कर्त्ता होता है तब कर्म वर्गणा योग्य जो पुद्गलद्रव्य वह अपने आप उपादान रूप से द्रव्य कर्म रूप में परिणमन कर जाता है। जैसे गारुड आदि मंत्र को सिद्ध करने वाला पुरुष एकाग्रचित्त होकर उस मंत्र को सिद्ध करता है तब उसके सिद्ध हो जाने पर विषापहार, बंध विध्वंस या स्त्री विडंबना आदि जिस उद्देश्य को लेकर वह उस मंत्र

को सिद्ध कर रहा था वह कार्य देशांतर में उस मंत्र साधक के अन्य किसी प्रकार के व्यापार के बिना सिद्ध हो जाता है। उसी प्रकार मिथ्यात्व और रागादिरूप विभाव के विनाश के काल में निश्चय रत्नत्रय स्वरूप शुद्धोपयोग परिणाम के होने पर पूर्वबद्ध द्रव्यकर्म नीरस होकर अपने आप जीव से पृथक् होकर निर्जीर्ण हो जाते हैं। जैसे कि गारुड़ी मंत्र के सामर्थ्य से विष निर्विषरूप में परिणत हो जाता है। ऐसा इस गाथा का भावार्थ है ॥ ९८ ॥

विशेषार्थ:— उपर्युक्त गाथा में जो 'स्वयं' शब्द आया है, वह पुद्गल के कर्म रूप परिणमन करने के विषय में जीव के विकारी परिणाम की साधकतमता बताने के लिए आया है। और इसीलिए टीकाकारने उसे मंत्र साधक का दृष्टांत देकर स्पष्ट बतलाया है कि कोई भी मंत्र साधक जिस किसी उद्देश्य को लेकर मंत्र जपता है तब उस मंत्र के सिद्ध हो जाने मात्र से वह उसका अभीष्ट कार्य अनायास ही सम्पन्न हो जाता है वैसे ही जीव के रागीद्वेषी होने पर कर्मवर्गणायें अवश्यमेव कर्मरूप में परिणत होकर उसके साथ बंध जाती हैं। इस प्रकार कर्मवर्गणाओं के कर्मरूप परिणमन करने में जीव का विकारी भाव साधकतम है। हां, जीव का विकारी भाव भी पूर्वकृत कर्म के उदय से होता है, कर्मों के उदय के बिना जीव का भाव विकाररूप नहीं होता है। किन्तु कर्म का उदय होने पर भी समाधि में परिणत जीव का भाव विकार रूप नहीं होता अपितु समाधि विपरिणत जीव का भाव कर्मोदय के निमित्त से विकार रूप होता है। इस प्रकार जीव को विकारी बनाने में कर्म उदासीन निमित्त है किन्तु जीव का विकारी भाव पुद्गल को कर्म रूप करने में असाधारण निमित्त है।

इस प्रकार स्वतंत्र व्याख्यान की मुख्यता से छह गाथायें पूर्ण हुईं।

आगे आचार्यदेव यह बतलाते हैं कि वास्तव में वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान का न होना ही अज्ञान नाम से कहा गया है और उस अज्ञान से ही नूतन कर्म बंधते हैं:—

परमप्पाणं कुव्वदि अप्पाणं पि य परं करंतो सो।
अण्णाणमओ जीवो कम्माणं कारगो होदि ॥९९॥

परमात्मानं करोति आत्मानमपि च परं कुर्वन् सः।
अज्ञानमयो जीवः कर्मणां कारको भवति ॥९९॥

अर्थ—अज्ञानमय यह संसारी जीव पर को अपनाता है और अपने आपको परका बनाता है अतः यह कर्मों का कर्ता होता है ॥९९॥

तात्पर्यवृत्तिः—**परं** परद्रव्यं भावकर्मद्रव्यकर्मरूपं **अप्पाणं कुव्वदि** परद्रव्यात्मनोर्भेदज्ञानाभावादात्मानं करोति **अप्पाणं पि य परं करंतो** शुद्धात्मानं च परं करोति यः **सो अण्णाणमओ जीवो कम्माणं कारगो होदि** स चाज्ञानमयो जीवः कर्मणां कर्ता भवति। तद्यथा—यथा कोपि पुरुषः शीतोष्णरूपायाः पुद्गलपरिणामावस्थायास्तथाविधशीतोष्णानुभवस्य चैकत्वाभ्यासाद्भेदमजानन् शीतोहमुष्णोहमिति प्रकारेण शीतोष्णपरिणतेः कर्ता भवति। तथा जीवोपि निजशुद्धात्मानुभूतेर्भिन्नाया उदयागतपुद्गलपरिणामावस्थायास्तन्निमित्तसुखदुःखानुभवस्य चैकत्वाध्यवसायारोपात् परद्रव्यात्मनोः समस्तरागादिविकल्परहितस्वसंवेदनज्ञानाभावाद्भेदमजानन्नहं सुखीदुःखीति प्रकारेण परिणमत्कर्मणां कर्ता भवतीति भावार्थः। अथ वीतरागस्वसंवेदनज्ञानात्सकाशात्कर्म न प्रभवतीत्याह।

टीका—(परं) भावकर्म रूप व द्रव्यकर्म रूप पर द्रव्य को (अप्पाणं कुव्वदि) पर द्रव्य और आत्मा के परस्पर का भेदज्ञान न होने के कारण आपरूप किये हुए रहता है। (अप्पाणं पि य परं करंतो) तथा अपनी शुद्धात्मा को भी पररूप (विकारी) करता है (सो अण्णाणमओ जीवो कम्माणं कारगो होदि) वह अज्ञानी जीव नूतन कर्मों का करने वाला अर्थात् बांधने वाला होता है। जैसे कोई पुरुष शीत या उष्ण पुद्गलों के परिणामों की अवस्था में और उसी प्रकार शीतोष्ण रूप अनुभव में जो भेद है उसको एकता के अभ्यास के कारण नहीं जानता हुआ "मैं शीतरूप हूँ या उष्णरूप हूं (मुझे ठंड लगती है या गर्मी लगती है) इस प्रकार शीतोष्ण रूप परिणति का कर्ता बन जाता है, वैसे ही यह संसारी जीव भी अपनी शुद्धात्मा की अनुभूति से भिन्न जो उदयागत पुद्गल कर्म की अवस्था और उसके निमित्त से होने वाले सुख दुख रूप अनुभव में एकता का आरोप कर लेने से उसको समस्त प्रकार के रागादि विकल्प से रहित स्व-संवेदन ज्ञान के न होने पर परद्रव्य में और आत्मा में जो भेद है उसे नहीं जानता है। इसलिये मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूं इस प्रकार से परिणमन करता हुआ कर्मों का कर्त्ता बनता है ॥६६॥

आगे कहते हैं कि वीतराग स्वसंवेदनज्ञान के प्रभाव से कर्मों का बंध नहीं होता:—

परमप्पाणमकुव्वं अप्पाणं पि य परं अकुव्वंतो।
सो णाणमओ जीवो कम्माणमकारओ होदि ॥१००॥

परमात्मनमकुर्वन्नात्मानमपि च परमकुर्वन्।
स ज्ञानमयो जीवः कर्मणामकारको भवति ॥१००॥

अर्थ—जो जीव किसी प्रकार भी परको अपने रूप और अपने आप को पररूप नहीं करता वह जीव ज्ञानी होता है वह नूतन कर्मों का करने वाला नहीं होता ॥१००॥

तात्पर्यवृत्तिः—परं परं परद्रव्यं बहिर्विषये देहादिकमभ्यंतरे रागादिकं भावकर्मद्रव्यकर्मरूपं वा **अप्पाणमकुव्वी** भेदविज्ञानबलेनात्मानमकुर्वन्नात्मसंबंधमकुर्वन् **अप्पाणं पि य परं अकुव्वंतो** शुद्धद्रव्यगुणपर्यायस्वभावं निजात्मानं च परमकुर्वन् **सो णाणमओ जीवो कम्माणमकारगो होदि** स निर्मलात्मानुभूतिलक्षणभेदज्ञानी जीवः कर्मणामकर्ता भवतीति। तथाहि—यथा कश्चित् पुरुषः शीतोष्णरूपायाः पुद्गलपरिणामावस्थायास्तथाविधशीतोष्णानुभवस्य चात्मनः सकाशादभेदज्ञानात् शीतोहमुष्णोहमिति परिणतेः कर्ता न भवति। तथा जीवोपि निजशुद्धात्मानुभूतेर्भिन्नायाः पुद्गलपरिणामावस्थायास्तन्निमित्तसुखदुःखानुभवस्य च स्वशुद्धात्मभावनोत्थसुखानुभवभिन्नस्य भेदज्ञानाभ्यासात्परात्मनोर्भेदज्ञाने सति रागद्वेषमोहपरिणाममकुर्वाणः कर्मणां कर्ता न भवति। ततः स्थितं ज्ञानात्कर्म न प्रभवतीत्यभिप्रायः। अथ कथमज्ञानात्कर्म प्रभवतीति पृष्टे गाथाद्वयेन प्रत्युत्तरमाह।

टीका—(परं) बाह्य में देहादिक और अभ्यन्तर में रागादिक रूप जो परद्रव्य हैं अथवा द्रव्यकर्म और भावकर्म रूप जो पर द्रव्य हैं उनको (अप्पाणमकुव्वी) अपने भेद विज्ञान के बल से नहीं अपनाता है—उनसे किसी भी प्रकार का संबंध नहीं रखता है (अप्पाणं पि य परं अकुव्वंतो) और शुद्ध द्रव्य, गुण, और पर्याय स्वरूप आत्मा को पर रूप (विकारी) नहीं करता है, (सो णाणमओ जीवो कम्माणमकारगो होदि) निर्मल आत्मा की अनुभूति ही है लक्षण जिसका ऐसे भेद विज्ञानवाला जीव कर्मों का उत्पन्न करने वाला नहीं होता। जैसे कोई पुरुष शीत उष्ण रूप पुद्गल परिणामकी अवस्था का तथा उससे होने वाले शीतोष्ण रूप अनुभव का और आत्मा का भेदज्ञान रखने के कारण से मैं शीतरूप हूँ या उष्णरूप हूं इस

परिणति का कर्त्ता नहीं होता है। वैसे ही निज शुद्धात्मा की अनुभूति से भिन्न स्वरूप जो पुद्गल परिणाम की अवस्था तथा उसके निमित्त से होने वाले सुख या दुःख के अनुभव का और अपने शुद्ध आत्मा की भावना से उत्पन्न सुख के अनुभव का भेद ज्ञान का अभ्यास रखने के कारण पर और आत्मा का भेद ज्ञान होने पर रागद्वेष मोहरूप परिणाम को नहीं करता है वह (नूतन) कर्मों का कर्त्ता नहीं होता है। इससे यह बात सिद्ध हुई कि ज्ञान से कर्मों का बंध नहीं होता है।

विशेषार्थ—आचार्यदेव ने ९९ नं की गाथा में अज्ञानी जीव और इस गाथा में ज्ञानी जीवका स्वरूप बताते हुए कहा है कि जो कोई आत्मा के अतिरिक्त किसी भी पदार्थ से संबंध रखते हुए संकल्प विकल्प रूप परिणाम का धारक होता है वह नूतन कर्म का बंध करने वाला अज्ञानी जीव कहलाता है किन्तु जो बाह्य पदार्थ के विषय में किसी भी प्रकार के संकल्प विकल्प से रहित होकर अपनी शुद्ध आत्मा के अनुभव स्वरूप समाधि में लग जाता है वह ज्ञानी जीव कहलाता है जो कि नूतन कर्म बन्ध करने वाला नहीं होता है।

अब अज्ञान से ही नूतन कर्मों का बंध क्यों होता है इसका उत्तर देते हैं।—

तिविहो एसुवओगो अस्सवियप्पं करेदि कोधोहं।
कत्ता तस्सुवओगस्स होदि सो अत्तभावस्स ॥१०१॥

त्रिविध एष उपयोग असद्विकल्पं करोति क्रोधोहं।
कर्ता तस्योपयोगस्य भवति स आत्मभावस्य ॥१०१॥

अर्थ—पूर्वोक्त मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति रूप विकार भाव को धारण करने वाला आत्मा ऐसा असत्य विकल्प करता है कि मैं क्रोध स्वरूप हूं इत्यादि, उस समय वह अपने उस भाव रूप उपयोग का करने वाला होता है। १०१॥

तात्पर्यवृत्तिः—**तिविहो एसुवओगो** त्रिविधस्त्रिप्रकार एष प्रत्यक्षीभूत उपयोगलक्षणत्वादुपयोग आत्मा **अस्सवियप्पं करेदि** स्वस्थभावस्याभावादसद्विकल्पं मिथ्याविकल्पं करोति। केन रूपेण **कोधोहं** क्रोधोहमित्यादि **कत्ता तस्सुवओगस्स होदि सो** स जीवः तस्य क्रोधाद्युपयोगस्य विकल्पस्य कर्ता भवति। कथंभूतस्य **अत्तभावस्स** आत्मभावस्याशुद्धनिश्चयेन जीवपरिणामस्येति। तथाहि—सामान्येनाज्ञानरूपेणैकविधोपि विशेषेण मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्ररूपेण त्रिविधो भूत्वा एष उपयोग आत्मा क्रोधाद्यात्मनोर्भाव्यभावकभावापन्नयोः। भाव्यभावकभावापन्नयोः कोर्थः? भाव्यः क्रोधादिपरिणत आत्मा, भावको रंजकश्चांतरात्मभावनाविलक्षणो भावक्रोधः इत्थंभूतयोर्द्वयोर्भेदज्ञानाभावाद्भेदमजानन्निर्विकल्पस्वरूपाद् भ्रष्टः सन् क्रोधोहमित्यात्मनो विकल्पमुत्पादयति, तस्यैव क्रोधाद्युपयोगपरिणामस्याशुद्धनिश्चयेन कर्ता भवतीति भावार्थः। एवमेव च क्रोधपदपरिवर्त्तनेन मानमायालोभमोहरागद्वेषकर्मनोकर्ममनोवचनकायश्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयानि। अनेन प्रकारेणाविक्षिप्तचित्तस्वभावशुद्धात्मतत्वविलक्षणा असंख्येयलोकमात्रप्रमिता विभावपरिणामा ज्ञातव्या इति। अथः—

टीका-(तिविहो एसुवओगो) उपर्युक्त मिथ्यादर्शन आदि रूप तीन प्रकार का उपयोग है लक्षण जिसका ऐसी आत्मा (अस्सवियप्पं करेदि) स्वस्थभाव के न होने के कारण असत् मिथ्या विकल्प करता है कि (कोहोहं) मैं क्रोध रूप हूँ इत्यादि (कत्ता तस्सुव ओगस्स होदि सो) तब उस समय वह जीव क्रोधादि विकल्प रूप उपयोग का कर्त्ता होता है। वह उपयोग कैसा है कि (अत्तभावस्स) अशुद्ध निश्चय नय से वह उस जीव का अपना ही परिणाम है। स्पष्ट यह है कि सामान्य रूप में जिसे अज्ञान नाम से

कहा जाता है ऐसा एक प्रकार का उपयोग भी विशेष विवक्षा में मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अचारित्र रूप से तीन प्रकार का होता है वह अपने को और क्रोधादि भावों को भाव्य भावक भाव से प्राप्त करता है। भाव्य भावक को प्राप्त करता है इसका क्या अर्थ है? इन दोनों में भाव्य शब्द से क्रोधादि परिणत आत्मा और भावक शब्द से अन्तरात्मपन से विलक्षण रूप जो भाव क्रोध है उसको लेना। इस प्रकार इन दोनों में जो भेद है उस भेदज्ञान के न होने से अर्थात् उस भेदज्ञान को नहीं जानता हुआ निर्विकल्प स्वरूप से भ्रष्ट होता हुआ (संसारी आत्मा) मैं क्रोध हूँ इत्यादि रूप से अपने आपमें विकल्प उत्पन्न करता है, उस समय वह अशुद्ध निश्चयनय से उसी क्रोधादि रूप अपने आत्म परिणाम का करने वाला होता है।

इस गाथा में जो क्रोध शब्द आया है उसके स्थान में मान, माया, लोभ, मोह, राग, द्वेष, कम, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना और स्पर्शन इनको भी क्रम से लगाकर उसी प्रकार का व्याख्यान करना। इसी प्रकार से अविक्षिप्त (अशांत) चित्त स्वभाव वाला जो शुद्ध आत्म तत्व से विलक्षण ऐसे असंख्यात लोक प्रमाण विभाव भाव होते हैं उनको लगा लेना।

विशेषार्थ-यहां आचार्यदेव क्रोधादि सभी प्रकार के विकारी भावों को विकल्प कारक बताकर कर्म बंध करने वाला बता रहे हैं। और जो कर्म बंध करने से दूर रहना चाहता है उसे इन सभी विकल्पों से दूर रहने की शिक्षा दे रहे हैं। क्योंकि इन सबसे दूर होने पर ही वह नूतन बंधकारकपने से रहित होकर ज्ञानी कहलाने का अधिकारी है।

तिविहो एसुवओगो अस्सवियप्पं करेदि धम्मादी।
कत्ता तस्सुवओगस्स होदि सो अत्तभावस्स ॥१०२॥

त्रिविध एष उपयोग असद्विकल्पं करोति धर्मादिकं।
कर्त्ता तस्योपयोगस्य भवति स आत्मभावस्य ॥१०२॥

अर्थ—उपर्युक्त मिथ्यात्वादि रूप तीन प्रकार के विकारी परिणामवाला आत्मा, जिनके साथ में केवल मात्र ज्ञेय ज्ञायक रूप संबंध है ऐसे धर्मादिक द्रव्यों के विषयों में भी, अपनेपन का (मिथ्या) विकल्प करता है, उस समय वह उस विकल्प रूप आत्मभाव का कर्त्ता होता है ॥१०२॥

तात्पर्यवृत्तिः-तिविहो एसुवओगो सामान्येनाज्ञानरूपेणैकविधोपि विशेषेण मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्ररूपेण त्रिविधः सन्नेष उपयोग आत्मा **अस्सवियप्पं करेदि धम्मादी** परद्रव्यात्मनोर्ज्ञेयज्ञायकभावापन्नयोर्विशेषदर्शनेनाविशेषज्ञानेनाविशेषपरिणत्या च भेदज्ञानाभावाद्भेदमजानन् धर्मास्तिकायोहमित्याद्यात्मनोऽसद्विकल्परूपमुत्पादयति **कत्ता तस्सुवओगस्स होदि सो अत्तभावस्स** निर्मलात्मानुभूतिरहितस्वस्यैव मिथ्याविकल्परूपजीवपरिणामस्याशुद्धनिश्चयेन कर्ता भवति। ननु धर्मास्तिकायोहमित्यादि कोपि न ब्रूते तत्कथं घटत इति? अत्र परिहारः। धर्मास्तिकायोयमिति योसौ परिच्छित्तिरूपविकल्पो मनसि वर्तते सोप्युपचारेण धर्मास्तिकायो भण्यते। यथा घटाकारविकल्पपरिणतिज्ञानं घट इति। तथा तद्धर्मास्तिकायोयमित्यादिविकल्पः यदा ज्ञेयतत्वविचारकाले करोति जीवः तदा शुद्धात्मास्वरूपं विस्मरति तस्मिन्विकल्पे कृते सति धर्मोहमिति विकल्प उपचारेण घटत इति भावार्थः। ततःस्थितं शुद्धात्मसंवित्तेरभावरूपमज्ञानं कर्मकर्तृत्वस्य कारणं भवति।

टीका:— (तिविहो एसुवओगो) सामान्यतया अज्ञान नाम से कहा जाने वाला एक प्रकार का विकारी भाव भी विशेष अपेक्षा में मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अचारित्ररूप तीन प्रकार का हो जाता है,

ऐसे उस विकारी परिणाम वाला आत्मा (अप्प वियप्पं करेदि धम्मादी) जिन धर्मादि पर द्रव्यों के साथ में आत्मा का ज्ञेय ज्ञायक मात्र संबंध है उनके भी विशेष को न जानने से, न देखने से और न विशेषरूप परिणमन करने से प्राप्त हुए भेद ज्ञान के अभाव के कारण भेद को नहीं जानता हुआ यह छद्मस्थ आत्मा 'मैं धर्मास्तिकाय हूं' इस प्रकार का व्यर्थ का विकल्प करता है (कत्ता तस्सुवओगस्स होदि सो अत्तभावस्स) उस समय वह अशुद्ध निश्चयनय से उस निर्मल आत्मानुभूति से रहित होने वाले मिथ्या विकल्परूप अपने परिणाम का कर्ता होता है। यहां ऐसी शंका हो सकती है कि 'मैं धर्मास्तिकाय हूं' ऐसा कोई नहीं कहता तब ऐसा कहना कैसे घटित हो सकता है ? उसका समाधान यह है कि यह धर्मास्तिकाय है, ऐसा ज्ञानरूप जो विकल्प मन में उठता है उसको ही उपचार से यहां धर्मास्तिकाय कहा गया है। जैसे कि घटाकार परिणत ज्ञान को घट कहा जाता है एवं जब ज्ञेय तत्व के विचार काल में यह जीव 'यह धर्मास्तिकाय है' इस प्रकार का विकल्प करता है उस समय शुद्धात्म स्वरूप को विस्मरण कर देता है। इस प्रकार से इस विकल्प के उत्पन्न होने पर 'मै धर्मास्तिकाय हूं' ऐसा विकल्प उपचार से घटित हो जाता है। सब वर्णन से यह बात सिद्ध हुई कि शुद्धात्मा के अनुभव का न होना ही अज्ञान है और वह अज्ञान ही कर्ता कर्म भाव का कारण होता है ॥ १०२ ॥

विशेषार्थ:—आचार्य महाराज का कहना है कि छद्मस्थ आत्मा जिस प्रकार इन दृश्यमान पदार्थों में इष्ट अनिष्ट कल्पना करते हुए क्रोधादिरूप विकल्प उत्पन्न करता है उसी प्रकार धर्मादिरूप ज्ञेय पदार्थों में भी 'यह धर्मास्तिकाय है' जो मेरे चलने में सहायक होता है इस प्रकार का विकल्प लेकर उसको जानने के समय शुद्धात्मा के अनुभव से च्युत होता है अर्थात् निर्विकल्प समाधि से च्युत होता है और विकल्प कारक बनकर नूतन कर्म का बंध करने वाला होता है।

एवं पराणिदव्वाणि अप्पयं कुणदि मंदबुद्धीओ ।
अप्पाणं अवि य परं करेदि अण्णाणभावेण ॥ १०३ ॥

एवं पराणि द्रव्याणि आत्मानं करोति मंदबुद्धिस्तु ।
आत्मानमपि च परं करोति अज्ञानभावेन ॥ १०३ ॥

अर्थ:— इस प्रकार अज्ञानी जीव अपने अज्ञान भाव से पर पदार्थों को अपना करता है और इसी प्रकार अपने आप को पररूप कर लेता है ॥ १०३ ॥

तात्पर्यवृत्ति:—**एवं** एवं पूर्वोक्तगाथाद्वयकथितप्रकारेण **पराणि दव्वाणि अप्पयं कुणदि** क्रोधोहमित्यादिवद्धर्मास्तिकायोहमित्यादिवच्च क्रोधादिस्वकीयपरिणामरूपाणि तथैव धर्मास्तिकायादिज्ञेयरूपाणि च परद्रव्याणि आत्मानं करोति । सः कः कर्ता **मंदबुद्धीओ** मंदबुद्धिर्निर्विकल्पसमाधिलक्षणभेदविज्ञानरहितः **अप्पाणं अवि य परं करेदि** शुद्धबुद्धैकस्वभावमात्मानमपि च परं स्वस्वरूपाद्भिन्नं करोति रागादिषु योजयतीत्यर्थः। केन **अण्णाणभावेण** अज्ञानभावेनेति । ततः स्थितं क्रोधादिविषये भूताविष्टदृष्टांतेन धर्मादिज्ञेयविषये ध्यानाविष्टदृष्टांतेनैव शुद्धात्मसंवित्यभावरूपमज्ञानं कर्मकर्तृत्वस्य कारणं भवति । तद्यथा—यथा कोपि पुरुषो भूतादिग्रहाविष्टो भूतात्मनोर्भेदमजानन् सन्नमानुषोचितशिलास्तंभचालनादिकमद्भुतव्यापारं कुर्वन्सन् तस्य व्यापारस्य कर्ता भवति । तथा जीवोपि वीतरागपरमसामायिकपरिणतशुद्धोपयोगलक्षणभेदज्ञानाभावात्कामक्रोधादिशुद्धात्मनोर्द्वयोर्भेदमजानन् क्रोधोहं कामोहमित्यादिविकल्पं कुर्वन्सन् कर्मणः कर्ता भवति । एवं क्रोधादिविषये भूताविष्टदृष्टांतो गतः । तथैव च यथा कश्चिद् महामहिषादि-

ध्यानाविष्टो महिषाद्यात्मनोर्द्वयोर्भेदमजानन्महामहिषोहं गरुडोहं कामदेवोहमग्निरहं दुग्धधारासमानामृतराशिरहमित्याद्यात्मविकल्पं कुर्वाणः सन् तस्य विकल्पस्य कर्ता भवति । तथा च जीवोपि सुखदुःखादिसमताभावनापरिणतशुद्धोपयोगलक्षणभेदज्ञानाभावाद्धर्मादिज्ञेयपदार्थानां शुद्धात्मनश्च भेदमजानन् धर्मास्तिकायोहमित्याद्यात्मविकल्पं करोति, तस्यैव विकल्पस्य कर्ता भवति । तस्मिन् विकल्पकर्तृत्वे सति द्रव्यकर्मबंधो भवतीति । एवं धर्मास्तिकायादिज्ञेयपदार्थविषये ध्यानदृष्टांतो गतः । हे भगवन् ! धर्मास्तिकायोयं जीवोयमित्यादिज्ञेयत्तत्वविचारविकल्पे क्रियमाणे यदि कर्मबंधो भवतीति तर्हि ज्ञेयतत्वविचारो वृथेति न कर्तव्यः : नैवं वक्तव्यं । त्रिगुप्तिपरिणतनिर्विकल्पसमाधिकाले यद्यपि न कर्तव्यस्तथापि तस्य त्रिगुप्तिध्यानस्याभावे शुद्धात्मानमुपादेयं कृत्वा आगमभाषया तु मोक्षमुपादेयं कृत्वा सरागसम्यक्त्वकाले विषयकषायवंचनार्थं कर्तव्यः । तेन तत्वविचारेण मुख्यवृत्त्या पुण्यबंधो भवति परंपरया निर्वाणं च भवतीति नास्ति दोषः किंतु तत्र तत्त्वविचारकाले वीतरागस्वसंवेदनज्ञानपरिणतः शुद्धात्मा साक्षादुपादेयः कर्तव्यः इति ज्ञातव्यं । ननु वीतरागस्वसंवेदनविचारकाले वीतरागविशेषणं किमिति क्रियते प्रचुरेण भवद्भिः, किं सरागमपि स्वसंवेदनज्ञानमस्तीति ? अत्रोत्तरं । विषयसुखानुभवानंदरूपं स्वसंवेदनज्ञानं सर्वजनप्रसिद्धं सरागमप्यस्ति । शुद्धात्मसुखादिभूतिरूपं स्वसंवेदनज्ञानं वीतरागमिति । इदं व्याख्यानं स्वसंवेदनज्ञानव्याख्यानकाले सर्वत्र ज्ञातव्यमिति भावार्थः । ततः स्थितमेतत् शुद्धात्मानुभूतिलक्षणसम्यग्ज्ञानान्नश्यति कर्मकर्तृत्वं ।

टीका:—(एवं) जैसा कि पहले दो गाथाओं में कहा जा चुका है उस प्रकार से (पराणि दव्वाणि अप्पयं कुणदि) मैं क्रोध हूँ इत्यादि, अथवा मैं धर्मास्तिकाय हूँ इत्यादि, क्रोधादिक अपने परिणामरूप अथवा धर्मास्तिकाय आदि ज्ञेय रूप पर द्रव्य हैं उनको अपना लेता है। (मंद बुद्धीओ) वह निर्विकल्प समाधि है लक्षण जिसका ऐसे भेद ज्ञान से रहित मंद बुद्धि जीव (अप्पाणं अवि य परं करेदि) शुद्ध बुद्ध स्वरूप एक स्वभाव वाले अपने आत्मा को भी पर बना देता है अर्थात् अपने स्वरूप से भ्रष्ट कर लेता है रागादिक संयुक्त कर लेता है (अण्णाणभावेण) अपने अज्ञान भाव से पराधीन होता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि भूताविष्ट दृष्टांत के द्वारा जिस प्रकार क्रोधादिक के विषय में उसी प्रकार ध्यानाविष्ट दृष्टांत के द्वारा धर्मादि ज्ञेय पदार्थ के विषय में जो इस जीव का अपने शुद्धात्मा के संवेदन से पृथक् भावरूप अज्ञान होता है वही कर्ता कर्म भाव का कारण होता है। जैसे किसी पुरुष के भूत आदि ग्रह लग गया हो तो वह भूत में और अपने आप में भेद को नहीं जानता हुआ मनुष्य से न करने योग्य ऐसी बड़ी भारी शिला उठाना आदि आश्चर्यजनक व्यापार को करता हुआ दीख पड़ता है उसी प्रकार यह जीव भी वीतरागमय परम सामायिक भाव में परिणत होने वाला शुद्धोपयोग है लक्षण जिसका ऐसे भेदज्ञान के न होने से काम क्रोधादि भावों में और शुद्धात्मा में जो भेद है उसको न जानता हुआ "मैं क्रोध रूप हूं, मैं काम रूप हूं" इत्यादि विकल्पों को करता हुआ कर्मों का करने वाला बनता है। यह तो क्रोधादिक के विषय में भूताविष्ट का दृष्टान्त हुआ। अथवा जैसे भैंसा आदि का ध्यान करनेवाला जीव भैंसा आदि में और अपने आप में भेद को नहीं जानता हुआ (उसे भुलाकर) मैं भैंसा हूं, मैं गारुड़ हूँ, मैं कामदेव हूँ, मैं अग्नि हूँ, या दूध की धारा के समान अमृत की राशि हूँ" इत्यादि आत्म विकल्पों को करता हुआ वह इन विकल्पों का करने वाला बनता है। वैसे ही छद्मस्थ जीव भी सुख दुखादि में समता भावना को लिये हुए जो शुद्धोपयोग वही है लक्षण जिसका ऐसे भेदज्ञान के न होने से धर्मादिक ज्ञेय पदार्थों में और अपने आप की शुद्धात्मा में भेद है उसको नहीं जानता हुआ 'मैं धर्मास्तिकाय हूँ' इत्यादि रूप आत्म विकल्प करता है तो वह उस विकल्प का कर्ता होता है, और उस विकल्प के करने पर उस जीव के नूतन द्रव्य कर्मों का बंध भी अवश्य होता है। इस प्रकार धर्मास्तिकाय आदि ज्ञेय पदार्थों में ध्यान का दृष्टान्त हुआ। इस पर यदि कोई ऐसा कहे कि 'हे भगवन् ! यह

धर्मास्तिकाय है, यह जीव है, इत्यादि ज्ञेय तत्व का विचार रूप विकल्प करने पर भी यदि कर्मों का बंध होता है तो फिर ज्ञेय तत्वों का विचार करना वृथा है अतः वह नहीं करना चाहिये। इस पर आचार्य देव उत्तर देते हैं कि नहीं भाई ! ऐसा नहीं है अपितु बात ऐसी है कि त्रिगुप्ति रूप निर्विकल्प समाधिकाल में तो ऐसा विकल्प नहीं करना चाहिये किन्तु उस त्रिगुप्ति रूप ध्यान के अभाव में (अध्यात्म भाषा में) शुद्धात्मा को ही उपादेय मान कर व आगम भाषा में मोक्ष को उपादेय मानकर सराग सम्यक्त्व के काल में विषय कषायों से दूर होने के लिए ऐसा विकल्प करना ही चाहिये, क्योंकि उस उपर्युक्त तत्व विचार के द्वारा मुख्यता से पुण्य बंध होता है और परंपरा से निर्वाण लाभ होता है, इसलिये वैसा विचार करने में कोई दोष नहीं है। हां, उस तत्व विचार के काल में भी वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान परिणत साक्षात् शुद्धात्मा ही उपादेय होता है ऐसा समझना चाहिये। यहां कोई शंका करे कि हे भगवन् ! वीतराग स्वसंवेदन के विचार काल में आपने जो बार २ वीतराग विशेषण दिया है वह क्यों देते आ रहे हैं, क्या कोई सराग स्वसंवेदन ज्ञान भी होता है ? इसके उत्तर में आचार्य देव उत्तर देते हैं कि हां भाई ! विषय सुखानुभव के आनन्द रूप स्वसंवेदन ज्ञान होता है वह सर्वजन प्रसिद्ध है (अर्थात् यह सब लोगों के अनुभव में आया करता है) वह सराग होता है किन्तु जो शुद्धात्मा के सुखानुभव रूप स्वसंवेदन ज्ञान होता है वह वीतराग होता है ऐसा स्वसंवेदन ज्ञान के व्याख्यान काल में सब ही स्थान पर समझना चाहिये ।।१०३।।

इस कथन से यह सिद्ध हुआ कि शुद्धात्मा की अनुभूति है लक्षण जिसका ऐसा सम्यग्ज्ञान हो जाने पर कर्ता कर्म भाव नष्ट हो जाता है यही आगे की गाथा में बतलाते हैं:—

एदेण दु सो कत्ता आदा णिच्छयविदूहिं परिकहिदो।
एवं खलु जो जाणदि सो मुंचदि सव्वकत्तित्तं ।।१०४।।

एतेन तु स कर्त्तात्मा निश्चयविद्भिः परिकथितः।
एवं खलु यो जानाति स मुंचति सर्वकर्त्तृत्वं ।।१०४।।

अर्थ:— निश्चयनय के जानने वालों ने उपर्युक्त प्रकार से आत्मा को कर्ता बतलाया है इस प्रकार जो दृढ़ता से जान लेता है वह सब कर्तापन से दूर हो जाता है।

तात्पर्यवृत्ति:— एदेण दु सो कत्ता आदा णिच्छयविदूहिं परिकहिदो एतेन पूर्वोक्तगाथात्रयव्याख्यानरूपेणाज्ञानभावेन स आत्मा कर्त्ता भणितः। कैर्निश्चयविद्भिर्निश्चयज्ञैः सर्वज्ञैः। तथाहि—वीतरागपरमसामायिकसंयमपरिणताभेदरत्नत्रयस्य प्रतिपक्षभूतेन पूर्वगाथात्रयव्याख्यानप्रकारेणाज्ञानभावेन यदात्मा परिणमति, तदा तस्यैव मिथ्यात्वरागादिरूपस्याज्ञानभावस्य कर्त्ता भवति। ततश्च द्रव्यकर्मबंधो भवति। यदा तु चिदानंदैकस्वभावशुद्धात्मानुभूतिपरिणामेन परिणमति, तदा सम्यग्ज्ञानी भूत्वा मिथ्यात्वरागादिभावकर्मरूपस्याज्ञानभावस्य कर्ता न भवति। तत्कर्तृत्वाभावेपि द्रव्यकर्मबंधोपि न भवति। **एवं खलु जो जाणदि सो मुंचदि सव्वकत्तित्तं** एवं गाथापूर्वार्द्धव्याख्यानप्रकारेण मनसि योसौ वस्तुस्वरूपं जानाति स सरागसम्यग्दृष्टिः सन्नशुभकर्मकर्तृत्वं मुंचति। निश्चयचारित्राविनाभाविवीतरागसम्यग्दृष्टिर्भूत्वा शुभाशुभसर्वकर्मकर्तृत्वं च मुंचति। एवमज्ञानात्कर्म प्रभवति संज्ञानान्नश्यतीति स्थितं। इत्यज्ञानिसंज्ञानिजीवप्रतिपादनमुख्यत्वेन द्वितीयस्थले गाथाषट्कं गतं। एवं द्विक्रियावादिनिराकरणविशेषव्याख्यानरूपेण द्वादशगाथा गताः। अथ पुनरप्युपसंहाररूपेणैकादशगाथापर्यंतं द्विक्रियावादिनिराकरणविषये विशेषव्याख्यानं करोति। तद्यथा—परभावानात्मा करोतीति यद्व्यवहारिणो वदंति स व्यामोह इत्युपदिशति।

टीका—(एदेण दु सो कत्ता आदा णिच्छयविदूहिं परिकहिदो) पूर्वोक्त तीन गाथाओं में जैसा कहा है उस अज्ञान भाव से यह आत्मा कर्ता बनता है ऐसा निश्चय के जानने वाले सर्वज्ञ भगवान ने कहा है। तात्पर्य यह है कि जब यह आत्मा वीतराग परम सामायिक स्वरूप संयम भावात्मक अभेद रत्नत्रय का प्रतिपक्षीभूत जो अज्ञानभाव जिसका उपर्युक्त तीन गाथाओं में व्याख्यान किया गया है उस रूप परिणत होता है तब उसी मिथ्यात्व और रागादि भाव का कर्ता होता है जिससे इसके द्रव्यकर्म का बंध हुआ करता है। किन्तु जब यह आत्मा चिदानन्दमय एक स्वभाववाले शुद्ध आत्मा के अनुभवरूप परिणाम से परिणत होता है उस समय यह सम्यग्ज्ञानी होकर मिथ्यात्व और रागाद्यात्मक भावकर्मरूप अज्ञान भाव का करने वाला नहीं होता है। तब इस कर्तापन के अभाव होने पर उसके द्रव्यकर्मों का भी बंध नहीं होता है। (एवं खलु जो जाणदि सो मुंचदि सव्व कत्तित्तं) गाथा के पूर्वार्द्ध में कहे अनुसार मनमें जो वस्तु स्वरूप जानता है वह सराग सम्यग्दृष्टि होता हुआ अशुभ कर्म के कर्तापन को छोड़ता है (उससे दूर हो जाता है) किन्तु जब वही निश्चय चारित्र के साथ में अविनाभाव रखने वाले वीतराग सम्यग्दर्शन का धारक होता है तब शुभ अशुभ सभी प्रकार के कर्म के कर्तापन को छोड़ देता है (और नूतन कर्म बंध नहीं होता है)। इस प्रकार जीवके रागादि रूप अज्ञान भाव से तो कर्मबंध होता है और वीतरागभाव रूप सम्यग्ज्ञान से कर्म बंध का अभाव होता है। यह बात निश्चित हुई ।।१०४।।

विशेषार्थ—आचार्यदेव बताते हैं कि सब प्रकार के कर्तापन से दूर होने पर ही ज्ञानी होता है। वह कर्तापन मुख्यता से तीन प्रकार का है—(१) शरीरात्मक (२) अविरतात्मक (३) विरतात्मक। (१) शरीरात्मक—जीव यह सोचता है कि मैं मनुष्य हूँ अतः मेरे जीवन के लिए उपयोगी वस्तुओं को अपने परिश्रम से संपादन करके सुखी बनूं ऐसा विचार कर मनमानी करते हुए पाप पाखण्ड में लगा रहता है यह शरीरात्मक कर्तापन है। (२) अविरतात्मक—जब यह जान लेता है कि मुझे नाना प्रकार की कुयोनियों में जन्म मरण करते हुए अनन्त काल बीत गया जिसमें यह मनुष्य जन्म कठिनता से प्राप्त हुआ है अतः अब ऐसा करूं कि कमसे कम कुयोनियों में तो जन्म धारण न करना पड़े। ऐसा सोच कर अन्याय अभक्ष्यसे बचकर न्यायोपार्जित कर्त्तव्य करने में लग रहता है, दान पूजादिक षट् कर्म करने लग जाता है यह अविरतात्मक कर्तापन है। (३) विरतात्मक—जब यह जान लेता है कि यह ससार का दृश्यमान ठाठ क्षण भंगुर है और जो यह मानव पर्याय मिली है उसका भी कोई भरोसा नहीं है अतः अब शेष जीवन को भगवान भजन में बिताऊं ऐसा सोच कर गृहस्थाश्रम से विरक्त होकर साधु सेवा में लगा रहता है तब वहां पर शुद्धोपयोग के साधन स्वरूप आवश्यक कर्म करने लगता है यह विरतात्मक कर्तापन है। इससे भी उऋण होकर जब अपनी शुद्धात्मा के अनुभव स्वरूप निर्विकल्प परम समाधि में लगता है, तल्लीन हो जाता है उस समय तीनों प्रकार के कर्तापन से रहित होता हुआ ज्ञानीपन को प्राप्त होता है, तब उस अवस्था में उसे नूतन कर्म बंध भी नहीं होता है।

इस प्रकार अज्ञानी और सम्यग्ज्ञानी जीव के स्वरूप का प्रतिपादन की मुख्यता से दूसरे स्थल में छह गाथायें पूर्ण हुईं। इस प्रकार द्विक्रियावादी का निराकरण करते हुए विशेष व्याख्यान के रूप में कही हुई बारह गाथायें पूर्ण हुईं। अब फिर भी ११ गाथाओं से उपसंहार रूप में आचार्यदेव इसी द्विक्रियावादी का निराकरण के विषय में और भी विशेष व्याख्यान करते हैं ।।१०४।।

अब सबसे पहले यह बताते हैं कि पर भावों को भी आत्मा करता है ऐसा जो व्यवहारी लोग कहा करते हैं वह सब उनके साथ लगे हुए मोह की महिमा ही है—

ववहारेण दु आदा करेदि घडपडरथाणि दव्वाणि ।
करणाणि य कम्माणि य णोकम्मणीह विविहाणि ।।१०५।।

व्यवहारेण त्वात्मा करोति घटपटरथादि द्रव्याणि ।
करणानि च कर्माणि च नोकर्माणीह विविधानि ।।१०५।।

अर्थ—यह आत्मा व्यवहारनय से घट पट और रथ आदि वस्तुओं को करता है और इन्द्रियादिक को करता है तथा ज्ञानावरणादिक द्रव्यकर्म एवं शरीरादिक नोकर्मों ~~व क्रोधादिक भावकर्मों~~ को भी करता है ।।१०५।।

तात्पर्यवृत्तिः—ववहारेण दु एवं करेदि घडपडरथाणि दव्वाणि यतो यथा अन्योन्यव्यवहारेणैवं तु पुनः घटपटरथादिबहिर्द्रव्याणीहापूर्वेण करोत्यात्मा **करणाणि य कम्माणि य णोकम्माणीह विविहाणि** तथाभ्यंतरेपि करणानींद्रियाणि च नोकर्माणि इह जगति विविधानि क्रोधादिद्रव्यकर्माणीहापूर्वेणविशेषेण करोतीति मन्यंते, ततोस्ति व्यामोहो मूढत्वं व्यवहारिणां । अथ स व्यामोहः सत्यो न भवतीति कथयति ।

टीका—(ववहारेण दु आदा करेदि घड़पड़रथाणिदव्वाणि) यह आत्मा आपस के व्यवहार से घट पट रथादि बाह्य वस्तुओं को ~~नाना प्रकार के~~ इच्छा पूर्वक जैसे करता रहता है (करणाणि य कम्माणि य णोकम्माणीह विविहाणि) उसी प्रकार भीतर में नाना प्रकार की स्पर्शन आदि इन्द्रियों को और बाह्य में नोकर्म शरीरादिक को तथा ~~क्रोधादि रूप भावकर्मों को और~~ नाना प्रकार के ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों को निरन्तर इच्छापूर्वक करता रहता है। ऐसा जो व्यवहारी लोग मानते हैं वह उन व्यवहारियों का व्यामोह अर्थात् मूढ़पना है ।

यह मूढ़ता क्यों हैं सो आचार्य आगे बताते हैं—

जदि सो परदव्वाणि य करिज्ज णियमेण तम्मओ होज्ज ।
जम्हा ण तम्मओ तेण सो ण तेसिं हवदि कत्ता ।।१०६।।

यदि स परद्रव्याणि च कुर्यान्नियमेन तन्मयो भवेत् ।
यस्मान्न तन्मयस्तेन स न तेषां भवति कर्ता ।।१०६।।

अर्थ—यदि आत्मा पर द्रव्यों को भी करे तो वह उन पर द्रव्यों के साथ नियम से तन्मय हो जावे, परन्तु तन्मय तो होता नहीं है । इसलिये वह उनका कर्ता नहीं है ।।१०६।।

तात्पर्यवृत्तिः—जदि सो परदव्वाणि य करिज्ज णियमेण तम्मओ होज्ज यदि स आत्मा परद्रव्याणि नियमेनैकातरूपेण करोति तदा तन्मयः स्यात् **जम्हा ण तम्मओ तेण सो ण तेसिं हवदि कत्ता** यस्मात्सहजशुद्धस्वाभाविकानंतसुखादिस्वरूपं त्यक्त्वा परद्रव्येण सह तन्मयो न भवति । ततः स आत्मा तेषां परद्रव्याणामुपादानरूपेण कर्ता न भवतीत्यभिप्रायः । अथ न केवलमुपादानरूपेण कर्ता न भवति किंतु निमित्तरूपेणापीत्युपदिशति ।

टीका:—(जदि सो पर दव्वाणि य करिज्ज णियमेण तम्मओ होज्ज) यदि आत्मा घट, पट आदि पर द्रव्यों को भी नियमपूर्वक अवश्य ही करने वाला हो तो वह उनसे तन्मय हो जाय (जम्हा ण तम्मओ तेण सो ण तेसिं हवदि कत्ता) क्योंकि यह आत्मा शुद्ध स्वाभाविक ऐसे अपने अनन्त सुख और

ध्यानादि को छोड़कर पर द्रव्य के साथ तन्मय तो होता नहीं है। इसलिए आत्मा पर द्रव्यों का उपादान रूप से कर्त्ता नहीं होता है ॥ १०६ ॥

विशेषार्थः—कर्त्ता दो प्रकार के हैं। (१) उपादान कर्त्ता (२) निमित्त कर्त्ता। जो उस पदार्थरूप परिणमन करे वह उपादान कर्त्ता है। किन्तु उस पदार्थरूप स्वयं परिणमन तो न करे पर उसको तद्रूप परिणमा देवे वह निमित्त कर्त्ता कहलाता है। जिसका कथन करना व्यवहार है। आचार्य देव उपादान कर्ता को दृष्टि में रखकर कहते हैं कि आत्मा घट, पटादि को भी बनाने वाला हो तो उसे रूप में परिणमन करना चाहिए किन्तु वह उस रूप परिणमन नहीं करता है, अतः वास्तव में उपादान रूप से वह उनका कर्त्ता नहीं होता।

आगे कहते हैं कि केवल उपादान रूप से कर्ता नहीं होता यह बात नहीं है किन्तु निमित्त रूप से भी आत्मा घटपटादि का कर्ता नहीं होताः—

जीवो ण करेदि घडं णेव पडं णेव सेसगे दव्वे।
जोगुवओगा उप्पादगा य सो तेंसि हवदि कत्ता ॥१०७॥

जीवो न करोति घटं नैव पटं नैव शेषकानि द्रव्याणि।
योगोपयोगावुत्पादकौ च तयोर्भवति कर्त्ता ॥१०७॥

अर्थ—जीव कभी भी घट को नहीं करता, न पटको ही करता और न शेष द्रव्यों को ही करता है। जीव के योग और उपयोग दोनों घटपटादि के उत्पत्ति करने में निमित्त होते हैं। इन दोनों योग उपयोग का यह आत्मा करने वाला होता है ॥१०७॥

तात्पर्यवृत्तिः—**जीवो ण करेदि घडं णेव पडं णेव सेसगे दव्वे** न केवलमुपादानरूपेण निमित्तरूपेणापि जीवो न करोति घटं न पटं नैव शेषद्रव्याणि। कुत इति चेत्? नित्यं सर्वकाल कर्मकर्तृत्वाननुषंगात्। कर्त्तर्हि करोति **जोगुवओगा उप्पादगा य** आत्मनो विकल्पव्यापाररूपौ विनश्वरौ योगोपयोगावेव तत्रोत्पादकौ भवतः। **सो तेंसि हवदि कत्ता** सुखदुःखजीवितमरणादिसमताभावनापरिणता भेदरत्नत्रयलक्षणभेदविज्ञानाभावाद्यदा काले शुद्धबुद्धैकस्वभावात्पर-मात्मस्वरूपाद्भ्रष्टो भवति तदा स जीवस्तयोर्योगोपयोगयोः कदाचित्कर्ता भवति। न सर्वदा। अत्र योगशब्देन बहिरंग-हस्तादिव्यापारः उपयोगशब्देन चांतरंगविकल्पो गृह्यते। इति परंपरया निमित्तरूपेण घटादिविषये जीवस्य कर्तृत्वं स्यात् यदि पुनः मुख्यवृत्त्या निमित्तकर्तृत्वं भवति तर्हि जीवस्य नित्यत्वात् सर्वदैव कर्मकर्तृत्वप्रसंगात् मोक्षाभावः। इति व्यवहारव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथात्रयं गतं। अथ वीतरागस्वसंवेदनज्ञानी ज्ञानस्यैव कर्ता न च परभावस्येति कथयति।

टीकाः—(जीवो ण करेदि घडं णेव पडं णेवसेसगे दव्वे) उपादन रूप से ही क्या किन्तु निमित्त रूप से भी जीव घट, पटादि शेष द्रव्यों का कर्त्ता नहीं होता। यदि वह उनका कर्त्ता हो तो हर समय अविच्छिन्न रूप से उन्हें करता ही रहे। तब उनका कर्त्ता कौन है कि (जोगुवओगा उप्पादगा) आत्मा का विकल्प और व्यापार रूप जो योग और उपयोग है जो कि स्वयं विनश्वर है वे उनके उत्पादक होते हैं। (सो तेंसि हवदि कत्ता) सुख और दुख, जीवन और मरण इत्यादि परस्पर विरुद्ध बातों में समभाव धारण रूप अभेद रत्नत्रय ही है लक्षण जिसका ऐसे भेद विज्ञान के न होने पर जिस काल में यह आत्मा अपने

शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव वाले परमात्म स्वरूप से भ्रष्ट होता है, उस समय यह जीव उपर्युक्त योग और उपयोग का किसी समय कर्ता होता है, सर्वदा नहीं। यहां पर योग शब्द से बाह्य अवयव हस्तादिक का हिलाना डुलाना और उपयोग शब्द से अन्तरंग के विकल्प को ग्रहण करना चाहिए। इस प्रकार घटादिक के विषय में जीव का निमित्त रूप में कर्तापना परंपरा से है (साक्षात नहीं) क्योंकि यदि मुख्यरूप से साक्षात निमित्त कर्तापना जीव के मान लिया जाय तब फिर जीव तो नित्य शाश्वत है, अतः वह कर्म करता ही रहेगा तब मोक्ष का अभाव हो जायगा। इस प्रकार व्यवहार के व्याख्यान की मुख्यता से तीन गाथायें समाप्त हुईं ॥ १०७ ॥

विशेषार्थः—आत्मा के योग और उपयोग घटादिक के बनने में निमित्त होते हैं। अतः उन्हें निमित्त कर्त्ता कहा जा सकता है, परन्तु आत्मा को उनका निमित्त कर्त्ता नहीं कहा जा सकता। आत्मा जब समाधि दशा से च्युतरूप अज्ञान दशा में होता है, तब किसी समय उनके करने रूप योग उपयोग का कर्त्ता होता है इसलिए व्यवहार से भी आत्मा को जो घटादिक का साक्षात कर्ता कहा जाता है वह भी सही नहीं है। ऐसा आचार्य देव के कहने का तात्पर्य है।

आगे आचार्यदेव बतलाते हैं कि वीतराग स्वसंवेदन ज्ञानी जीव तो ज्ञान का ही कर्ता होता है परभाव का कर्ता कभी नहीं होताः—

जे पुग्गलदव्वाणं परिणामा होंति णाणआवरणा।
ण करेदि ताणि आदा जो जाणदि सो हवदि णाणी ॥१०८॥

ये पुद्गलद्रव्याणां परिणामा भवंति ज्ञानावरणानि।
न करोति तान्यात्मा यो जानाति स भवति ज्ञानी ॥१०८॥

अर्थः—पुद्गल द्रव्यों का परिणमन जो ज्ञानावरणादि कर्मरूप होता है उसका भी कर्त्ता वास्तवमें आत्मा नहीं है। इस प्रकार (स्वानुभव द्वारा) जो जानता है वह ज्ञानी होता है ॥१०८॥

तात्पर्यवृत्तिः—**जे पुग्गलदव्वाणं परिणामा होंति णाणआवरणा** ये कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलपरिणामाः पर्याया ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मरूपा भवंति **ण करेदि ताणि आदा** तान् पर्यायान् व्याप्यव्यापकभावेन मृत्तिकाकलशमिवात्मा न करोति गोरसाध्यक्षवत् **जो जाणदि सो हवदि णाणी** इति यो जानाति मिथ्यात्वविषयकषायपरित्यागं कृत्वा निर्विकल्पसमाधौ स्थितः सन् स ज्ञानी भवति। न च परिज्ञानमात्रेण। इदमत्र तात्पर्यं। वीतरागस्वसंवेदनज्ञानी जीवः शुद्धनयेन शुद्धोपादानरूपेण शुद्धज्ञानस्यैव कर्ता। किंवदिति चेत्। पीतत्वादिगुणानां सुवर्णवत् उष्णादिगुणानामग्निवत् अनंतज्ञानादिगुणानां सिद्धपरमेष्ठिवदिति। न च मिथ्यात्वरागादिरूपस्याज्ञानभावस्य कर्त्तेति शुद्धोपादानरूपेण शुद्धज्ञानादिभावनामशुद्धोपादानरूपेण मिथ्यात्वरागादिभावनां च तद्रूपेण परिणमन्नेव कर्तृत्वं ज्ञातव्यं। भोक्तृत्वं च। न च हस्तव्यापारवदीहापूर्वकं घटकुंभकारवदिति। एवमेव च ज्ञानावरणपदपरिवर्तनेन दर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रांतरायसंज्ञैः सप्तभिः कर्मभेदैः सह मोहरागद्वेषक्रोधमानमायलोभनोकर्ममनोवचनकायश्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयानि। अनेन प्रकारेण शुद्धात्मानुभूतिविलक्षणा असंख्येयलोकमात्रप्रमिता अन्येपि विभावपरिणामा ज्ञातव्याः। अथाज्ञानी चापि रागादिस्वरूपस्याज्ञानभावस्यैव कर्ता न च ज्ञानावरणादिपरद्रव्यस्येति निरूपयति।

टीकाः—(जे पुग्गलदव्वाणं परिणामा होंति णाणआवरण) जो कर्मवर्गणा योग्य पुद्गल द्रव्यों का परिणमन ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मरूप होता है, (ण करेदि ताणि आदा) उसको भी आत्मा व्याप्य

व्यापक भाव से जैसे मिट्टी कलशको करती है, वैसे नहीं करता है। जिस प्रकार ग्वाले से गोरस भिन्न है उसी प्रकार ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म आत्मा से भिन्न है। (जो जाणदि सो हवदि णाणी) इस प्रकार मिथ्यात्व और विषय कषायों का त्याग करके निर्विकल्प समाधिमें स्थित होकर जो जानता है वह ज्ञानी होता है। जानने मात्र से ही ज्ञानी नहीं हो जाता। तात्पर्य यह है कि वीतराग स्वसंवेदन ज्ञानी जीव शुद्ध उपादान रूप शुद्धनय से शुद्ध ज्ञान का ही कर्ता होता है, जैसे कि स्वर्ण अपने पीतत्वादि गुणों का, अग्नि अपने उष्णत्वादि गुणों का और सिद्ध परमेष्ठी अनन्त ज्ञानादि गुणों का कर्ता होता है किन्तु मिथ्यात्व और रागादिरूप अज्ञान भाव का कर्ता ज्ञानी नहीं होता। यहां पर कर्तापन और भोक्तापन जो बताया गया है वह शुद्ध उपादान रूपसे शुद्ध ज्ञानादि भावों का और अशुद्ध उपादानरूप से मिथ्यात्व तथा रागादिरूप विकारी भावों का उन उन रूप से परिणमन करना ही कर्तापन व भोक्तापन बताया गया है। किन्तु घट और कुंभकार के समान इच्छा पूर्वक हस्तादिक का व्यापार करनेरूप कर्तापन या भोक्तापन को यहां नहीं लिया गया है ऐसा समझना चाहिये। गाथामें मूल ग्रन्थकारने जो ज्ञानावरण शब्द दिया है वह उपलक्षण रूप है, इसलिए उसके स्थान पर दर्शनावरण, वेदनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तरायरूप सात कर्मों के साथ इन मोह, राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, तथा नोकर्म और मन, वचन, काय तथा श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना और स्पर्शन इन सोलह को भी लगाकर क्रम से व्याख्यान करना चाहिये। इसी प्रकार शुद्धात्मा की अनुभूति से विलक्षणरूप और भी असंख्यात लोक प्रमाण विभाव भाव हैं ऐसा समझना चाहिए।

अज्ञानी जीव भी रागादि रूप अज्ञान भाव का ही कर्त्ता होता है किन्तु ज्ञानावरणादि पर द्रव्य का कर्त्ता नहीं होता ऐसा आगे बतलाते हैं:—

जं भावं सुहमसुहं करेदि आदा स तस्स खलु कत्ता
तं तस्स होदि कम्मं सो तस्स दु वेदगो अप्पा ॥१०९॥

यं भावं शुभमशुभं करोत्यात्मा स तस्य खलु कर्ता।
तत्तस्य भवति कर्म स तस्य तु वेदक आत्मा ॥१०९॥

अर्थः—वास्तवमें आत्मा अपना शुभ या अशुभ जैसा भी भाव करता है तो वह अपने भाव का करने वाला होता है और वह भाव ही उसका कर्म होता है और अपने भाव रूप कर्म का ही भोक्ता भी होता है ॥१०९॥

तात्पर्यवृत्तिः—**जं भावं सुहमसुहं करेदि आदा स तस्स खलु कत्ता** सातासातोदयावस्थाभ्यां तीव्रमंदस्वादाभ्यां सुखदुःखरूपाभ्यां वा चिदानंदैकस्वभावेनैकस्याप्यात्मनो द्विधाभेदं कुर्वाणः सन् यं भावं शुभमशुभं वा करोत्यात्मनः स्वतंत्ररूपेण व्यापकत्वात्स तस्य भावस्य खलु स्फुटं कर्त्ता भवति **तं तस्स होदि कम्मं** तदेव तस्य शुभाशुभरूपं भावकर्म भवति। तेनात्मना क्रियमाणत्वात् **सो तस्स दु वेदगो अप्पा** स आत्मा तस्य तु शुभाशुभरूपस्य भावकर्मणो वेदको भोक्ता भवति स्वतंत्ररूपेण भोक्तृत्वात् न च द्रव्यकर्मणः, किं च विशेषः। अज्ञानी जीवोऽशुद्धनिश्चयनयेनाशुद्धोपादानरूपेण मिथ्यात्वरागादिभावानामेव कर्ता न च द्रव्यकर्मणः। स चाशुद्धनिश्चयः यद्यपि द्रव्यकर्मकर्तृत्वरूपासद्भूतव्यवहारापेक्षया निश्चयसंज्ञां लभते तथापि शुद्धनिश्चयापेक्षया व्यवहार एव। हे भगवन् ! रागादीनामशुद्धोपादानरूपेण कर्तृत्वं भणितं तदुपादानं शुद्धाशुद्धभेदेन कथं द्विधा भवतीति। तत्कथ्यते। औपाधिकमुपादानमशुद्धं तप्तायःपिंडवत्, निरुपाधिरूपमुपादानं शुद्धं पीतत्वादिगुणानां सुवर्णवत्, अनंतज्ञानादिगुणानां सिद्धजीववत्, उष्णत्वादिगुणानामग्निवत्। इदं व्याख्यानमुपादानकारणव्याख्यानकाले शुद्धाशुद्धोपादानरूपेण सर्वत्र स्मरणीयमिति भावार्थः। अथ न च परभावः केनाप्युपादानरूपेण कर्तुं शक्यते।

टीका—(जं भावं सुहमसुहं करेदि आदा स तस्स खलु कत्ता) चिदानंद एक स्वभाव रूप से जो आत्मा एक है उसीके साता व असाता के रूप में, तीव्र मंद के रूप में, अथवा सुख दुख के रूप में दो भेद करता हुआ यह छद्मस्थ जीव जैसा शुभ व अशुभ भाव करता है, उसके प्रति स्वतंत्रतया व्यापक होने से वह उसका कर्त्ता होता है, (तं तस्स होदि कम्मं) और वह भाव इस आत्मा का कर्म होता है; क्योंकि वह भाव उसी के द्वारा किया गया है (सो तस्स दु वेदगो अप्पा) और इसलिए यह आत्मा उसी शुभ या अशुभ भाव का भोगने वाला होता है क्योंकि स्वतंत्र रूप से उसे ही संवेदन करता है किन्तु द्रव्य कर्म का कर्त्ता और भोक्ता आत्मा नहीं होता है। तात्पर्य यह है कि अज्ञानी जीव अशुद्ध उपादानरूप अशुद्ध निश्चयनय से मिथ्यात्व अथवा रागादि भावों का ही कर्त्ता होता है ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म का नहीं। आत्मा को द्रव्य कर्म का कर्त्ता असद्भूत व्यवहार नय की अपेक्षा से कहा गया है। इस कारण इस अशुद्ध निश्चयनय को निश्चय की संज्ञा दी गई है। तो भी शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से वह व्यवहार ही है। यहां कोई शिष्य पूछता है कि हे भगवन्! आपने अशुद्ध उपादान रूप से आत्मा को रागादिक का कर्ता बताया है तो क्या उपादान भी शुद्ध अशुद्ध के भेद से दो प्रकार का होता है? इसके उत्तर में आचार्य कहते हैं कि अग्नि के द्वारा गर्म हुए लोहे के पिण्ड के समान आत्मा औपाधिक भावों को स्वीकार किये हुए है वह अशुद्ध उपादान होता है। किन्तु जो निरुपाधिक (सहज) भाव को स्वीकार किये हुए है वह शुद्ध उपादान कहलाता है। जैसे सोना अपने पीतत्वादि गुणों का सिद्ध जीव अपने अनंत ज्ञानादि गुणों का और अग्नि अपने उष्णत्वादि गुणों का उपादान है इस प्रकार शुद्ध या अशुद्ध उपादान का स्वरूप व्याख्यान के समय सभी स्थान पर स्मरण रखना चाहिये ॥१०६॥

आगे आचार्य बताते हैं कोई भी किसी भी प्रकार के उपादान से पर भाव का कर्त्ता नहीं होता:—

जो जह्मि गुणो दव्वे सो अण्णह्मि दु ण संकमदि दव्वे।
सो अण्णमसंकंतो कह तं परिणामए दव्वं ॥११०॥

यो यस्मिन् गुणो द्रव्ये सोन्यस्मिंस्तु न संक्रामति द्रव्ये।
सोन्यदसंक्रांतः कथं तत्परिणामयति द्रव्यं ॥११०॥

अर्थ—जो गुण जिस द्रव्य में होता है वह उसको छोड़कर अन्य द्रव्य में कभी नहीं जाता और जब वह अन्य द्रव्य में नहीं जाता तब वह अन्य को कैसे परिणमा सकता है—कभी नहीं परिणमा सकता ॥११०॥

तात्पर्यवृत्तिः—**जो जह्मि गुणो दव्वे सो अण्ण दु ण संकमदि दव्वे** यो गुणश्चेतनस्तथैवाचेतनो वा यस्मिश्चेतनाचेतने द्रव्ये अनादिसंबंधेन स्वभावत एव स्वत एव प्रवृत्तः सोऽन्यद्रव्ये तु न संक्रमत्येव सोपि **सो अण्णम-संकंतो कह तं परिणामए दव्वं** स चेतनोऽचेतनो वा गुणः कर्त्ता अन्यद्भिन्नं द्रव्यांतरमसंक्रांतः सन् कथं द्रव्यांतरं परिणामयेत्तत्कथं कुर्यादुपादानरूपेण न कथमपि। ततः स्थितं आत्मा पुद्गलकर्मणामकर्तेति।

टीका—(जो जह्मि गुणो दव्वे अण्णं दु ण संकमदि दव्वे) चेतनरूप या अचेतनरूप गुण जिस चेतन या अचेतन द्रव्य में अनादि संबंध से स्वभावतः प्रवर्तमान है, वह उसे छोड़कर कभी भी किसी अन्य द्रव्य में नहीं जाता, (सो अण्णमसंकंतो कह तं परिणामए दव्वं) जब वह चेतन या अचेतन गुण अन्य में नहीं जाता, तब वह उस अन्य द्रव्य को उपादान रूप से कैसे परिणमा सकता है, कभी नहीं परिणमा सकता। इसलिए यह बात निश्चित हुई कि यह आत्मा पुद्गल द्रव्यों का कर्त्ता नहीं है ॥११०॥

यही बात आचार्य देव आगे की गाथा में कहते हैं :—

दव्वगुणस्स य आदा ण कुणदि पुग्गलमयह्मि कम्मह्मि ।
तं उभयमकुव्वंतो तह्मि कहं तस्स सो कत्ता ॥१११॥

द्रव्यगुणस्य च आत्मा न करोति पुद्गलमये कर्मणि ।
तदुभयमकुर्वंस्तस्मिन्कथं तस्य स कर्त्ता ॥१११॥

अर्थ—आत्मा पुद्गलमय कर्म में द्रव्य को अथवा गुण को नहीं करता है। जब वह उसमें उन दोनों को नहीं करता तब वह उसका कर्त्ता कैसे कहा जा सकता है ॥१११॥

तात्पर्यवृत्तिः—**दव्वगुणस्स य आदा ण कुणदि पुग्गलमयह्मि कम्मह्मि** यथा कुंभकारः कर्ता मृन्मयकलशकर्मविषये मृत्तिकाद्रव्यस्य संबंधि जडस्वरूपं वर्णादिमृत्तिका गुणस्य वा संबंधिस्वरूपंमृत्तिकाकलशमिव तन्मयत्वेन न करोति तथात्मापि पुद्गलमयद्रव्यकर्मविषये पुद्गलद्रव्यकर्मसंबंधिजडस्वरूपं वर्णादिपुद्गलद्रव्यगुणसंबंधिस्वरूपं वा तन्मयत्वेन न करोति **तं उभयमकुव्वंतो तह्मि कहं तस्स सो कत्ता** तदुभयमपि पुद्गलद्रव्यकर्मस्वरूपं वर्णादितद्गुणं वा तन्मयत्वेनाकुर्वाणः सन् तत्र पुद्गलकर्मविषये स जीवः कथं कर्ता भवति न कथमपि। चेतनाचेतनेन परस्वरूपेण न परिणमतीत्यर्थः। अनेन किमुक्तं भवति यथा स्फटिको निर्मलोपि जपापुष्पादिपरोपाधिना परिणमति तथा कोपि सदाशिवनामा सदामुक्तोप्यमूर्तोपि परोपाधिना परिणम्य जगत् करोति तं निरस्तं। कस्मादिति चेत्। मूर्तस्फटिकस्य मूर्तेन सहोपाधिसंबंधो घटते तस्य पुनः सदामुक्तस्यामूर्तस्य कथं मूर्तोपाधिः ? न कथमपि सिद्धजीववत्। अनादिबद्धजीवस्य पुनः शक्तिरूपेण शुद्धनिश्चयेनामूर्तस्यापि व्यक्तिरूपेण व्यवहारेण मूर्तस्य मूर्तोपाधिदृष्टांतो घटत इति भावार्थः। एवं निश्चयनयमुख्यत्वेनगाथाचतुष्टयं गतं। अतः कारणादात्मा द्रव्यकर्म करोतीति यदभिधीयते स उपचारः।

टीका—(दव्वगुणस्स य आदा ण कुणदि पुग्गलमयह्मि कम्मह्मि) जैसे मिट्टी का कलश करने के समय मिट्टी कलश को तन्मय होकर करती है, वैसे कुम्हार मृत्तिका द्रव्य संबंधी जड़ स्वरूप वर्णादिक को तन्मय होकर नहीं करता उसी प्रकार आत्मा भी पुद्गलमय द्रव्यकर्म के विषयमें पुद्गल द्रव्य संबंधी स्वरूपवाले वर्णादि को तन्मय होकर नहीं करता (तं उभयमकुव्वंतो तह्मि कहं तस्स सो कत्ता) और जब आत्मा पुद्गल द्रव्य कर्म संबंधी स्वरूप को और उसके गुण वर्णादि को तन्मय होकर नहीं करता तब उस पुद्गल द्रव्य कर्म के विषय में जीव कर्त्ता कैसे कहा जा सकता है, कभी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि चेतन पर स्वरूप अर्थात् अचेतन स्वरूप से कभी भी परिणमन नहीं करता है। आचार्य के इस कथन का मूल आशय यह है कि जैसे स्फटिक स्वयं निर्मल है वही जपा पुष्पादि किसी पर की उपाधि के निमित्त से अन्यथा परिणमन कर जाता है, वैसे ही कोई सदाशिव नाम का व्यक्ति, जो कि सदा से मुक्त है, अमूर्त है, वह परकी उपाधि से अन्यथा रूप होकर जगत् को बनाता है ऐसी किन्हीं की जो मान्यता है वह ठीक नहीं है। क्योंकि स्फटिक मूर्तिक है, अतः उसका मूर्तिक पदार्थ के साथ सम्बन्ध घटित हो जाता है, किन्तु सदामुक्त और अमूर्त सदाशिव के साथ मूर्त उपाधि का सम्बन्ध कैसे घटित हो सकता है, कभी नहीं हो सकता, जैसे कि शुद्धजीव के साथ उपाधि का सम्बन्ध नहीं होता। किन्तु अनादि बंधन बद्धजीव शुद्ध निश्चय नय से शक्ति रूप से अमूर्त है पर व्यक्ति रूप से व्यवहारनय से मूर्त है, उसके साथ मूर्त उपाधि का सम्बन्ध ठीक बन जाता है ऐसा आचार्य का अभिप्राय है। इस प्रकार चार गाथाओं से निश्चयनय की मुख्यता से व्याख्यान किया गया ॥१११॥

विशेषार्थः— आचार्य देव ने यहां यह स्पष्ट किया है कि कोई भी जीव प्रारम्भ में शुद्ध से अशुद्ध हुआ हो, एकाकी होकर भी अन्य द्रव्य के साथ मिश्रित हुआ हो ऐसा नहीं है। किन्तु तिलका तैल के साथ में जिस प्रकार सदा का संबंध है उसी प्रकार संसारी जीव के साथ अनादि से ही प्रवाह रूप से द्रव्य कर्मों का संबंध है, जिससे यह संसारी आत्मा कथंचित् मूर्त बना हुआ है– पकड़ में आनेवाला है और पर द्रव्यों के संबंध से उत्पन्न हुए रागादि भावों से नये नये कर्म बांधता रहता है। किन्तु जब वह जीव अपने शुद्ध स्वरूप को जान लेता है तब पर द्रव्यों में रागद्वेष करना छोड़कर अपने शुद्ध स्वरूप में लीन हो जाता है तब इसे नूतन कर्मों का बंध भी नहीं होता और पुरातन कर्म जो इस आत्मा के साथ लगे हुए हैं वे भी निर्जीर्ण होकर पृथक् हो जाते हैं। तब यह आत्मा सदा के लिए मुक्त हो जाता है, जन्म मरण के दुःखों से दूर हो जाता है यह जैन दर्शन का सार है।

इससे यह बात सिद्ध हुई कि आत्मा द्रव्य कर्मों का करता है ऐसा जो कहा जाता है सो केवल उपचार मात्र है ऐसा बतलाते हैं:—

जीवह्मि हेदुभूदे बंधस्स दु पस्सिदूण परिणामं।
जीवेण कदं कम्मं भण्णदि उवयारमत्तेण ॥११२॥

जीवे हेतुभूते बंधस्य तु दृष्ट्वा परिणामं।
जीवेन कृतं कर्म भण्यते उपचारमात्रेण ॥११२॥

अर्थः— जीव के निमित्तभूत होने पर कर्मबंध की पर्याय होती है, ऐसा देखकर उपचार मात्र से यह कहा जाता है कि कर्म जीव के द्वारा किये हुए हैं ॥ ११२ ॥

तात्पर्यवृत्तिः-जीवह्मि हेदुभूदे बंधस्स दु पस्सिदूण परिणामं परमोपेक्षासंयमभावनापरिणताभेदरत्नत्रय-लक्षणस्य भेदज्ञानस्याभावे मिथ्यात्वरागादिपरिणतिनिमित्तहेतुभूते जीवे सति मेघाडंबरचंद्रार्कपरिवेषादियोग्यकाले नि-मित्तभूते सति मेघेंद्रचापादिपरिणतपुद्गलानामिव कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलानां ज्ञानावरणादिरूपेण द्रव्यकर्मबंधस्य परिणामं पर्यायं दृष्ट्वा **जीवेण कदं कम्मं भण्णदि उवयारमत्तेण** जीवेन कृतं कर्मेति भण्यते उपचारमात्रेणेति। अथ तदेवो-पचारकर्मकर्तृत्वं दृष्टांतदार्ष्टांताभ्यां दृढयति।

टीकाः—(जीवह्मि हेदुभूदे बंधस्स दु पस्सिदूण परिणामं) निमित्त रूप से बादलों की छाया अथवा चांद सूर्य का परिवेष आदि के योग्य काल होने पर पानी का बरसना और इन्द्र धनुष आदि में परिणत पुद्गलों का परिणाम होता देखा जाता है, वैसे ही परमउपेक्षा संयम भाव से परिणत अभेद रत्नत्रय है लक्षण जिसका ऐसे भेद ज्ञान के न होने पर मिथ्यात्व तथा रागादिरूप में परिणत जीव के होने पर कर्म वर्गणा योग्य पुद्गलों का ज्ञानावरणादि रूप से द्रव्य कर्म बंधमय परिणाम— पर्याय को देखकर (जीवेण कदं कम्मं भण्णदि उवयारमत्तेण) कर्म जीव के द्वारा किये गये हैं ऐसा उपचार मात्र से कहा जाता है ॥ ११२ ॥

विशेषार्थः— उप समीपे पृष्ठपोषकत्वेन प्रोत्साहकत्वेन वा चरणं प्रवर्तनं उपचारः। इस निरुक्ति के अनुसार उपचार का अर्थ प्रेरणा होता है जैसे महाभारत में कौरवों के साथ युद्ध तो अर्जुन ने किया किन्तु इसके समर्थक श्री कृष्ण नारायण रहे, उनकी प्रेरणा से ही उसने कौरवों से युद्ध किया। इसी प्रकार कर्म वर्गणाएं जो कर्म रूप बनती हैं वे सब रागी द्वेषी संसारी आत्मा की प्रेरणा से बनती हैं न कि स्वयं।

इसी बात को आचार्य उदाहरण देकर समझाते हैं:-

जोधेहिं कदे जुद्धे राएण कदंति जंपदे लोगो।
तह ववहारेण कदं णाणावरणादि जीवेण ॥११३॥

योधैः कृते युद्धे राज्ञाकृतमिति जल्पते लोकः।
तथा व्यवहारेण कृतं ज्ञानावरणादि जीवेन ॥११३॥

अर्थः- योद्धाओं के द्वारा किए हुए युद्ध को लोक जिस प्रकार व्यवहार से राजा का किया हुआ कहा करते हैं वैसे ही ज्ञानावरणादि कर्म जीव के किये हुए हैं ऐसा कहना भी व्यवहार से है ॥११३॥

तात्पर्यवृत्तिः— जोधेहिं कदे जुद्धे राएण कदंति जंपदे लोगो यथा योधैः युद्धे कृते सति राज्ञा युद्धं कृतमिति जल्पति लोकः। **तह ववहारेण कदं णाणावरणादि जीवेण** तथा व्यवहारनयेन कृतं भण्यते ज्ञानावरणादि-कर्म जीवेनेति। ततः स्थितमेतत्। यद्यपि शुद्धनिश्चयनयेन शुद्धबुद्धैकस्वभावत्वान्नोत्पादयति न करोति न बध्नाति न परिणमयति न गृह्णाति च तथापि।

टीकाः- (जोधेहिं कदे जुद्धे राएण कदंति जंपदे लोगो) जैसे योद्धाओं के द्वारा किये हुए युद्ध को राजा के द्वारा किया हुआ कहा करते हैं, (तह ववहारेण कदं णाणावरणादि जीवेण) वैसे ही ज्ञाना-वरणादि कर्म जीव के द्वारा किये हुए हैं यह व्यवहारनय से कहा जाता है। अतः यह बात निश्चित हुई कि शुद्ध निश्चयनय से यह जीव शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव वाला है इस कारण यह न तो किसी को उप-जाता है, न करता है, न बांधता है, न परिणमाता है और न ग्रहण ही करता है ॥ ११३ ॥

उप्पादेदि करेदि य बंधदि परिणामएदि गिह्णदि य।
आदा पुग्गलदव्वं ववहारणयस्स वत्तव्वं ॥ ११४ ॥

उत्पादयति करोति च बध्नाति परिणामयति गृह्णाति च।
आत्मा पुद्गलद्रव्यं व्यवहारनयस्य वक्तव्यं ॥ ११४ ॥

अर्थः—व्यवहारनय का यह कहना है कि आत्मा पुद्गलद्रव्य रूप कर्म को उपजाता है, करता है, बांधता है, परिणमाता है और ग्रहण भी करता है ॥ ११४ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—अनादिबंधपर्यायवशेन वीतरागस्वसंवेदनलक्षणभेदज्ञानाभावात् रागादिपरिणामस्निग्धः सन्नात्मा कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्यं कुंभकारो घटमिव द्रव्यकर्मरूपेणोत्पादयति प्रकृतिबंधं करोति स्थितिबंधं बध्नात्यनुभागबंधं परिणमयति प्रदेशबंधं तप्तायः पिंडो जलवत्सर्वात्मप्रदेशैर्गृह्णाति चेत्यभिप्रायः। अथैतदेवव्याख्यानं दृष्टांतदार्ष्टांताभ्यां समर्थयति।

टीकाः—अनादिकालीन बंध पर्याय के वशवर्तीपने से वीतराग स्वसंवेदन लक्षण वाले भेद ज्ञान के न होने के कारण रागादि परिणाम से स्निग्ध होता हुआ आत्मा कर्म वर्गणा योग्य पुद्गलद्रव्य को द्रव्य कर्म के रूप में उत्पन्न करता है जैसे कि कुम्हार घड़े को उत्पन्न करता है। द्रव्य कर्मों को करता है, बांधता है, परिणमन कराता है व ग्रहण करता है ऐसा व्यवहारनय का अभिप्राय है। अथवा प्रकृति बंध को पैदा करता है स्थिति बंध को करता है, अनुभाग बंध को बांधता है व प्रदेश बंध को परिणमाता है।

जैसे गर्म किया हुआ लोहे का गोला अपने सम्पूर्ण प्रदेशों से जल ग्रहण करता है वैसे ही रागी आत्मा अपने सम्पूर्ण आत्म प्रदेशों से प्रदेश बंध को ग्रहण करता है ऐसा अभिप्राय है ।। ११४ ।।

अब इस ही व्याख्यान को दृष्टांत से दृढ़ करते हैं:—

जह राया ववहारा दोसगुणुप्पादगोत्ति आलविदो ।
तह जीवो ववहारा दव्वगुणुप्पादगो भणिदो ।।११५।।

यथा राजा व्यवहाराद्दोषगुणोत्पादक इत्यालपितः ।
तथा जीवो व्यवहाराद् द्रव्यगुणोत्पादको भणितः ।।११५।।

अर्थ—व्यवहार में कहा जाता है कि प्रजा में दोष और गुणों को पैदा करने वाला राजा होता है वैसे ही यह कहना व्यवहार से है कि पुद्गलद्रव्य में कर्मरूप गुण को उत्पन्न करने वाला जीव होता है ।। ११५ ।।

तात्पर्यवृत्तिः—जह राया ववहारा दोसगुणुप्पादगोत्ति आलविदो यथा राजा लोके व्यवहारेण सदोषिनिर्दोषिजनानां दोषगुणोत्पादको भणितः **तह जीवो ववहारा दव्वगुणुप्पादगो भणिदो** तथा जीवोपि व्यवहारेण पुद्गलद्रव्यस्य पुण्यपापगुणयोरुत्पादको भणितः। इति व्यवहारमुख्यत्वेन सूत्रचतुष्टयं गतं । एवं द्विक्रियावादिनिराकरणोपसंहारव्याख्यानमुख्यत्वेनैकादशगाथा गताः ।

ननु निश्चयेन द्रव्यकर्म न करोत्यात्मा बहुधा व्याख्यातं तेनैव द्विक्रियावादिनिराकरणं सिद्धं पुनरपि किमर्थं पिष्टपेषणमिति । नैवं हेतुहेतुमद्भावव्याख्यानज्ञापनार्थमिति नास्ति दोषः । तथाहि—यत एव हेतोर्निश्चयेन द्रव्यकर्म न करोति ततएव हेतोर्द्विक्रियावादिनिराकरणं सिद्ध्यतीति हेतुमद्भावव्याख्यानं ज्ञातव्यं । इति पुण्यपापादिसप्तपदार्थपीठिकारूपे महाधिकारमध्ये पूर्वोक्तप्रकारेण **जदि सो पुग्गलदव्वं करेज्ज** इत्यादिगाथाद्वयेन संक्षेपव्याख्यानं । ततः परं द्वादशगाथाभिस्तस्यैव विशेषव्याख्यानं ततोप्येकादशगाथाभिस्तस्यैवोपसंहाररूपेण पुनरपि विशेषविवरणमिति समुदायेन पंचविंशतिगाथाभिः द्विक्रियावादिनिषेधकनामा तृतीयोऽन्तराधिकारः समाप्तः ।

अथानंतरं **सामण्णपच्चया** इत्यादिगाथामादिं कृत्वा पाठक्रमेण सप्तगाथापर्यन्तं मूलप्रत्ययचतुष्टयस्य कर्मकर्तृत्वमुख्यत्वेन व्याख्यानं करोति । तत्र सप्तकमध्ये जैनमते शुद्धनिश्चयेन शुद्धोपादानरूपेण जीवः कर्म न करोति प्रत्यया एव कुर्वन्तीति कथनरूपेण गाथाचतुष्टयं । अथवा शुद्धनिश्चयविवक्षां ये नेच्छंत्येकांतेन जीवो न करोतीति वदंति सांख्यमतानुसारिणः तान्प्रति दूषणं ददाति । कथमिति चेत् । यदि ते प्रत्यया एव कर्म कुर्वन्ति तर्हि जीवो न हि वेदकस्तेषां कर्मणामित्येकं दूषणं । अथवा तेषां मते जीव एकांतेन कर्म न करोतीति द्वितीयं दूषणं । तदनंतरं शुद्धनिश्चयेन शुद्धोपादानरूपेण न च जीवप्रत्यययोरेकत्वं जैनमताभिप्रायेणेति गाथात्रयं । अथवा पूर्वोक्तप्रकारेण ये नयविभागं नेच्छंति तान्प्रति पुनरपि दूषणं । कथमिति चेत् । जीवप्रत्यययोरेकांतेनैकत्वे सति जीवाभाव इत्येकं दूषणं । एकांतेन भिन्नत्वे सति संसाराभाव इति द्वितीयं दूषणमिति चतुर्थांतराधिकारे समुदायपातनिका । तद्यथा—निश्चयेन मिथ्यात्वादि पौद्गलिकप्रत्यया एव कर्म कुर्वंतीति प्रतिपादयति ।

टीका—(जह राया ववहारा दोसगुणुप्पादगोत्ति आलविदो) जैसे व्यवहार से प्रजा में होने वाले सदोष और निर्दोष लोगों के दोष और गुणों का उत्पादक राजा को कहा जाता है (तह जीवो ववहारा दव्वगुणुप्पादगो भणिदो) उसी प्रकार पुद्गल द्रव्य में पुण्य पाप रूप गुणों का उत्पादक जीव होता है यह भी व्यवहारनय से कहा गया है । इस प्रकार व्यवहारनय की मुख्यता से चार गाथायें कही गईं ।।११५।।

इस प्रकार द्विक्रियावादी के निराकरणके उपसंहार की मुख्यतासे ग्यारह गाथायें पूर्ण हुईं ।

यहां पर कोई शंका कर सकता है कि निश्चयनय से आत्मा द्रव्य को नहीं करता है, ऐसा व्याख्यान बहुत बार किया है, उसी से द्विक्रियावादी का निराकरण अपने आप हो जाता है, फिर भी यह व्याख्यान करके पिष्टपेषण क्यों किया ? आचार्य समाधान करते हैं कि यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि निश्चयनय में और द्विक्रियावादीपने में हेतुभाव और हेतुमद्भाव को बतलाने के लिया ऐसा किया है। निश्चय से आत्मा द्रव्य कर्म का कर्ता नहीं है इसी हेतुसे द्विक्रियावादीपने का निराकरण भी सिद्ध है, इस प्रकार इनमें परस्पर हेतु हेतुमद्भाव है।

इस प्रकार पुण्य पापादि सात पदार्थों की पीठिकारूप महाधिकार में पूर्वोक्त प्रकार से "जदि सो पुग्गल दव्वं करिज्ज" इत्यादि दो गाथाओं से संक्षेप व्याख्यान किया है। इसके पश्चात् १२ गाथाओं से उसका विशेष व्याख्यान है। तत्पश्चात् ११ गाथाओं से उपसंहार करते हुए उसी का विशेष विवरण है इस प्रकार समुदाय रूपसे २५ गाथाओं में यह द्विक्रियावादी का निषेध रूप तीसरा अवान्तर अधिकार समाप्त हुआ।

अथानंतर 'सामण्ण पच्चया' इत्यादि गाथाको आदि लेकर पाठ्यक्रम से सात गाथा पर्यन्त मूल प्रत्यय चतुष्टय को कर्म का कर्ता बनाने की मुख्यतासे व्याख्यान करते हैं। इन सात गाथाओं में से चार गाथाओं में यह बताया है कि जैनमत में शुद्धउपादान वाले शुद्ध निश्चयनय से जीव कर्मों का कर्ता नहीं है, किन्तु मिथ्यात्वादि चार प्रत्यय ही कर्म के कर्ता हैं। अथवा यों कहो कि जो लोग शुद्धनिश्चयनय की विवक्षा न करके एकांत से ऐसा कहते हैं कि जीव कर्मों का कर्ता नहीं है ऐसा कहने वाले उन सांख्यमतानुयायिओं के प्रति दूषण दिया है कि यदि मिथ्यात्वादि प्रत्यय ही कर्म के कर्ता हैं तो जीव उन कर्मों का वेदक भी नहीं होना चाहिए यह एक मोटा दूषण आयगा। अथवा इनके मत में एकान्तसे जब जीव कर्म नहीं करता है तो कौन करता है ऐसा यह दूसरा दूषण है। इसके पश्चात् यह बतलाया है कि जैनमत में शुद्ध उपादान रूप शुद्ध निश्चयनय से जब विचार करें तो जीव और मिथ्यात्वादि प्रत्यय इन दोनों में एकता नहीं है परन्तु वे दोनों भिन्न भिन्न हैं ऐसा कथन करते हुए तीन गाथाएं हैं। अथवा जो लोग पूर्वोक्त रीति से नय विभाग नहीं मानते हैं उनको दूषण दिया है कि जीव और प्रत्यय इन दोनों में एकान्त से एकपना मानने पर जीव का अभाव हो जायगा यह एक दूषण हुआ और एकान्त से यदि भिन्नपना ही मानलें तो संसार का अभाव हो जायगा वह भी ठीक नहीं है यह दूसरा दूषण है। यह चौथे अन्तर अधिकार की सामुदायिक पातनिका हुई।

यहां सबसे पहले यह बताया जाता है कि निश्चय नय से मिथ्यात्वादि पौद्‌गलिक प्रत्यय ही कर्म को करते हैं।

सामण्यपच्चया खलु चउरो भण्णंति बंधकत्तारो।
मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य बोद्धव्वा ॥११६॥
तेसिं पुणोवि य इमो भणिदो भेदो दु तेरस वियप्पो।
मिच्छादिट्ठीआदी जाव सजोगिस्स चरमंतं ॥११७॥
एदे अचेदणा खलु पुग्गलकम्मुदयसंभवा जह्मा।
ते जदि करंति कम्मं णवि तेसिं वेदगो आदा ॥११८॥

गुण सण्णिदा दु एदे कम्मं कुव्वंति पच्चया जह्मा।
तम्हा जीवोऽकत्ता गुणा य कुव्वंति कम्माणि ।।११९।। (चतुष्कं)

सामान्यप्रत्ययाः खलु चत्वारो भण्यंते बंधकर्त्तारः।
मिथ्यात्वमविरमणं कषाययोगौ च बोद्धव्याः ।। ११६ ।।
तेषां पुनरपि चायं भणितो भेदस्तु त्रयोदशविकल्पः।
मिथ्यादृष्ट्यादिर्यावत्सयोगिनश्चरमांतम् ।।११७ ।।
एते अचेतनाः खलु पुद्गलकर्मोदयसंभवा यस्मात्।
ते यदि कुर्वंति कर्म नापि तेषां वेदक आत्मा ।। ११८ ।।
गुणसंज्ञितास्तु एते कर्म कुर्वंति प्रत्यया यस्मात्।
तस्माज्जीवोऽकर्त्ता गुणाश्च कुर्वंति कर्माणि ।। ११९ ।।

अर्थः—वास्तव में सामान्य से मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग के भेद से चार प्रकार के प्रत्यय हैं वे बंध के करने वाले कहे गये हैं। उनके उत्तर भेद मिथ्यादृष्टि आदि सयोगी केवली पर्यंत गुणस्थान के नाम से तेरह प्रकार के हो जाते हैं। वे गुणस्थान या प्रत्यय निश्चय दृष्टि में अचेतन हैं क्योंकि वे सभी पौद्गलिक कर्म के उदय से होते हैं। और जब वे कर्म को करते हैं तो फिर उनका भोक्ता भी आत्मा नहीं होता है। और जब कि ये गुणस्थान संज्ञा वाले प्रत्यय ही कर्म को करते हैं तब फिर जीव कर्म का कर्त्ता नहीं है, ये गुणस्थान ही कर्म के करने वाले हैं।

तात्पर्यवृत्तिः—सामण्णपच्चया खलु चउरो भणंति बंधकत्तारो निश्चयनयेनाभेदविवक्षायां पुद्गल एक एव कर्ता भेदविवक्षायां तु सामान्यप्रत्यया मूलप्रत्यया खलु स्फुटं चत्वारो बंधस्य कर्तारो भण्यंते सर्वज्ञैः उत्तरप्रत्ययाश्च पुनर्बहवो भवंति। सामान्यं कोर्थः। विवक्षाया अभावः सामान्यमिति सामान्यशब्दस्यार्थः सर्वत्र सामान्यव्याख्यानकाले ज्ञातव्य इति। **मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य बोद्धव्वा** ते च मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगा बोद्धव्याः। अथ— **तेसिं पुणो वि य इमो भणिदो भेदो दु तेरसवियप्पो** तेषां प्रत्ययानां गुणस्थानभेदेन पुनरसौ भणितो भेदस्त्रयोदशविकल्पः केन प्रकारेण **मिच्छादिट्ठी आदी जाव सजोगिस्स चरमंतं** मिथ्यादृष्टिगुणस्थानादिसयोगिभट्टारकस्य चरमसमयं यावदिति। अथ **एदे अचेदणा खलु पुग्गलकम्मुदयसंभवा जह्मा** एते मिथ्यात्वादिभावप्रत्ययाः शुद्धनिश्चयेनाचेतनाः खलु स्फुटं। कस्मात् पुद्गलकर्मोदयसंभवा यस्मादिति। यथा स्त्रीपुरुषाभ्यां समुत्पन्नः पुत्रोविवक्षावशेन देवदत्तायाः पुत्रोयं केचन वदंति। देवदत्तस्य पुत्रोऽयमिति केचन वदंति दोषो नास्ति। तथा जीवपुद्गलसंयोगेनोत्पन्नाः मिथ्यात्वरागादिभावप्रत्यया अशुद्धनिश्चयेनाशुद्धोपादानरूपेण चेतना जीवसंबद्धाः शुद्धनिश्चयेन शुद्धोपादानरूपेणाचेतनाः पौद्गलिकाः परमार्थतः। पुनरेकांतेन न जीवरूपाः न च पुद्गलरूपाः सुधाहरिद्रयोः संयोगपरिणामवत्। वस्तुतस्तु सूक्ष्मशुद्धनिश्चयनयेन न संत्येवाज्ञानोद्भवाः कल्पिता इति। एतावता किमुक्तं भवति। ये केचन वदंत्येकांतेन रागादयो जीवसंबंधिनः पुद्गलसंबंधिनो वा तदुभयमपि वचनं मिथ्या। कस्मादिति चेत् पूर्वोक्तस्त्रीपुरुषदृष्टांतेन संयोगोद्भवत्वात्। अथ मतं सूक्ष्मशुद्धनिश्चयनयेन कस्येति प्रयच्छामो वयं सूक्ष्मशुद्धनिश्चयेनतेषामस्तित्वमेव नास्ति पूर्वमेव भणितं तिष्ठति कथमुत्तरं प्रयच्छामः इति। **ते जदि करंति कम्मं** ते प्रत्यया यदि चेत् कुर्वंति कर्म तदा कुर्युरेव जीवस्य किमायातं शुद्धनिश्चयेन सम्मतमेव 'सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया' इति वचनात्। अथमतं। जीवो मिथ्यात्वोदयेन मिथ्यादृष्टिर्भूत्वा मिथ्यात्वरागादिभावकर्म भुंक्ते यतस्ततः कर्तापि भवतीति। नैवं। **णवि तेसिं वेदगो आदा** यतः शुद्धनिश्चयेन वेदकोपि न हि तेषां कर्मणां, यदा वेदको न भवति तदा कर्त्तापि कथं भविष्यति न कथमपि शुद्धनिश्चयेन सम्मतमेव।

अथवा ये पुनरेकांतेनाकर्त्तेति वदंति तान्प्रति दूषणं । कथमिति चेत्, यदैकांतेनाकर्ता भवति तदा यथा शुद्धनिश्चयेनाकर्ता तथा व्यवहारेणाप्यकर्ता प्राप्नोति । ततश्च सर्वथैवाकर्तृत्वे सति संसाराभाव इत्येकं दूषणं । तेषा मते वेदकोपि न भवतीति द्वितीयं च दूषणं । अथ च वेदकमात्मानं मन्यंते सांख्यास्तेषां स्वमतव्याघातदूषणं प्राप्नोतीति । अथ **गुणसण्णिदा दु एदे कम्मं कुव्वंति पच्चया जह्मा** ततः स्थितं गुणस्थानसंज्ञिताः प्रत्ययाः एते कर्म कुर्वंतीति यस्मादेवं पूर्वसूत्रेण भणितं । **तह्मा जीवो कत्ता गुणा य कुव्वंति कम्माणि** तस्मात् शुद्धनिश्चयेन तेषां कर्मणां जीवः कर्ता न भवति गुणस्थानसंज्ञिताः प्रत्यया एव कर्म कुर्वंतीति सम्मतमेव । एवं शुद्धनिश्चयेन प्रत्यया एव कर्म कुर्वंतीति व्याख्यानरूपेण गाथाचतुष्टयं गतं । अथ न च जीवप्रत्यययोरेकत्वमेकांतेनेति कथयति ।

टीका—(सामण्णपच्चया खलु चउरो भण्णंति बंध कत्तारो) निश्चयनय से अभेद विवक्षा में तो एक पुद्गल ही कर्मों का कर्त्ता है और भेद विवक्षा में सामान्य मूल प्रत्यय चार हैं जो कि बंध के करने वाले हैं ऐसा सर्वज्ञ देव ने कहा है। उत्तर प्रत्यय तो बहुत हैं। विवक्षा का न होना यहां पर सामान्य शब्द का अर्थ है—यह सामान्य के व्याख्यान के काल में सब स्थान पर लगाया जा सकता है। (मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य बोद्धव्वा) सामान्य प्रत्यय मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग इन नाम वाले हैं। (तेसिं पुणोवि य इमो भणिदो भेदो दु तेरसवियप्पो) उन्हीं प्रत्ययों के उत्तर भेद गुणस्थान के नाम से तेरह प्रकार का बताया गया है जो कि (मिच्छादिट्ठीआदी जाव सजोगिस्स चरमंतं) मिथ्यादृष्टि गुणस्थान को आदि ले अंतिम सयोगी गुणस्थान तक है। (एदे अचेदणा खलु पुग्गल कम्मुदयसंभवा जम्हा) ये सभी मिथ्यात्वादि प्रत्यय द्रव्य रूप प्रत्यय तो अचेतन हैं किन्तु मिथ्यात्वादि भाव प्रत्यय भी शुद्ध निश्चयनय की विवक्षा में अचेतन ही हैं, क्योंकि ये सभी पौद्गलिक कर्म के उदय से होने वाले हैं। जैसे पुत्र जो उत्पन्न होता है वह स्त्री और पुरुष दोनों के संयोग से होता है। अतः विवक्षा वश से उसकी माता की अपेक्षा से देवदत्ता का यह पुत्र है ऐसा कोई कहते हैं, दूसरे पिता की अपेक्षा से यह देवदत्त का पुत्र है ऐसा कहते हैं। परन्तु इस कथन में कोई दोष नहीं है क्योंकि विवक्षा भेद से दोनों ही ठीक हैं। वैसे ही जीव और पुद्गल इन दोनों के संयोग से उत्पन्न होने वाले मिथ्यात्व रागादिरूप जो भाव प्रत्यय हैं वे अशुद्ध उपादान रूप अशुद्ध निश्चयनय से चेतन हैं क्योंकि जीव से सम्बद्ध हैं, किन्तु शुद्ध उपादान रूप शुद्ध निश्चयनय से ये सभी अचेतन हैं क्योंकि पौद्गलिक कर्म के उदय से हुए हैं। किन्तु वस्तु स्थिति में ये सभी न तो एकांत से जीवरूप ही हैं और न पुद्गल ही हैं। किन्तु चूना और हल्दी के संयोग से उत्पन्न हुई कुंकुम के समान ये प्रत्यय भी जीव और पुद्गल के संयोग से उत्पन्न होने वाले संयोगी भाव हैं। और जब गहराई से सोचें तो सूक्ष्मरूप शुद्ध निश्चयनय की दृष्टि में इनका अस्तित्व ही नहीं हैं क्योंकि अज्ञान द्वारा उत्पन्न हैं अतएव कल्पित हैं, इस सब कथन का सार यह है कि जो एकांत में रागादिकों को जीव संबंधी कहते हैं अथवा जो इनको पुद्गल संबंधी कहते हैं उन दोनों का कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ये सभी जीव और पुद्गल के संयोग से उत्पन्न हुए हैं जैसे, पहले स्त्री और पुरुष के संयोग से पैदा हुए दृष्टांत द्वारा बताया जा चुका है। यदि यहां कोई प्रश्न करे कि सूक्ष्म शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से किसके हैं तो इसका उत्तर तो हम पहले ही दे चुके हैं कि सूक्ष्म शुद्ध निश्चयनय में तो इन सबका अस्तित्व ही नहीं है। (ते जदि करंति कम्मं) ये मिथ्यात्वादि प्रत्यय ही कर्म हैं तो करते रहें इसमें क्या हानि लाभ है, कुछ नहीं, ऐसा शुद्ध निश्चयनय के द्वारा सम्मत ही है क्योंकि "सव्वे सुद्धाहु सुद्ध नया" क्योंकि शुद्ध नय की दृष्टि में सब शुद्ध हैं ऐसा आर्ष वचन है। यदि यहां कोई कहे कि मिथ्यात्व के उदय से यह जीव मिथ्यादृष्टि होकर मिथ्यात्व और रागादिरूप भाव कर्म को भोगता रहता है, अतः उनका कर्त्ता भी है ऐसा मानना चाहिए। इसका उत्तर यह है कि (णवि तेसिं वेदगो आदा) शुद्ध निश्चयनय

की विवक्षा में आत्मा कर्मों का वेदक भी नहीं है और जब वेदक भी नहीं तब कर्त्ता भी कैसे हो सकता है—कभी नहीं हो सकता, ऐसा शुद्ध निश्चयनय का मत है। इस उपर्युक्त बात को लेकर जो लोग आत्मा को सर्वथा अकर्ता ही कहते हैं उनके प्रति यह दोष अवश्य है कि यदि आत्मा सर्वथा अकर्ता ही है तब तो शुद्ध निश्चयनय से जैसे अकर्ता हुआ वैसे व्यवहार से भी अकर्ता हुआ और इस प्रकार सर्वथा अकर्ता पन होने पर संसार का अभाव हुवा जो कि एक बड़ा भारी दूषण है। तथा उनके मत में आत्मा कर्ता नहीं है तो कर्मों का वेदक भी नहीं हो सकता यह दूसरा दूषण है। इस प्रकार आत्मा को केवल मात्र वेदक मानने वाले सांख्य लोग हैं उनके लिए स्वमत व्याघात रूप दूषण होता है। (गुण सण्णिदा दु एदे कम्मं कुव्वंति पच्चया जह्मा) इसलिये गुणस्थान ही हैं संज्ञा जिनकी ऐसे प्रत्यय ही कर्म करते हैं जैसा कि पूर्व सूत्र में बताया है। (तह्मा जीवोऽकत्ता गुणा य कुव्वंति कम्माणि) अतः यह कहना ठीक ही है कि शुद्ध निश्चयनय से इन कर्मों का कर्त्ता जीव नहीं है अपितु गुणस्थान नाम वाले प्रत्यय ही कर्म करते हैं। इस प्रकार शुद्ध निश्चयनय से कर्म करने वाले प्रत्यय ही हैं इसके व्याख्यान में चार गाथायें हुईं ।।११६, ११७, ११८, ११९ ।।

विशेषार्थः—अशुद्ध निश्चयनय आत्मा को विकारमय देखता है अतः उसकी दृष्टि में रागादिक भाव आत्मामें ही उत्पन्न होते हैं इसलिये चेतन ही हैं। किन्तु शुद्ध निश्चयनय आत्मा को शुद्ध देखता है तो वहां रागादिक भाव होते नहीं है अतः उसकी दृष्टि में रागादिक भाव कर्म के उदयसे होते हैं इसलिये वे पौद्गलिक हैं और अचेतन हैं। किन्तु सूक्ष्म शुद्ध निश्चयनयमें तो जिस प्रकार आत्मा शुद्ध है उसी प्रकार पुद्गल भी शुद्ध परमाणुरूप है अतः वहां कर्म कोई भी वस्तु नहीं है फिर उनके उदयसे रागद्वेष कैसे हो सकते हैं इसलिये इसकी दृष्टि में रागादिक भाव न तो जीवकृत चेतन हैं और न पौद्गलिक कर्म कृत अचेतन ही हैं किन्तु स्वप्न के समान काल्पनिक ही हैं जो कि जीव की अज्ञान दशामें होते हैं। यहां पर आचार्य देव के कहने का यह भाव है कि जीव को रागादि के वशमें न होकर इन्हें दूर करना चाहिये जो कि केवल मिथ्यात्वादि प्रत्ययों के वश से होने वाले हैं।

आगे कहते हैं कि एकांतसे जीव और प्रत्ययों का एकपना नहीं है:—

जह जीवस्स अणण्णुवओगो कोधो वि तह जदि अणण्णो।
जीवस्साजीवस्स य एवमणण्णत्तमावण्णं ।।१२०।।
एवमिह जो दु जीवो सो चेव दु णियमदो तहाजीवो।
अयमेयत्ते दोसो पच्चयणोकम्मकम्माणं ।।१२१।।
अह पुण अण्णो कोहो अण्णुवओगप्पगो हवदि चेदा।
जह कोहो तह पच्चय कम्मं णोकम्ममवि अण्णं ।।१२२।।

यथा जीवस्यानन्य उपयोगः क्रोधोऽपि तथा यद्यनन्यः।
जीवस्याजीवस्य चैवमनन्यत्वमापन्नम् ।।१२०।।
एवमिव यस्तु जीवः स चैव तु नियमतस्तथा जीवः।
अयमेकत्वे दोषः प्रत्ययनोकर्मकर्मणां ।।१२१।।

अथ पुनः अन्यः क्रोधोऽन्यः उपयोगात्मको भवति चेतयिता ।
यथा क्रोधस्तथा प्रत्ययाः कर्म नोकर्माप्यन्यत् ॥१२२॥

अर्थः—जिस प्रकार जीव के साथ ज्ञानदर्शनोपयोग की एकता है उसी प्रकार क्रोधादि भी जीव के साथ एकमेक हों तो जीव और अजीव में नियमसे एकपना हो जायगा, कोई भेद नहीं रहेगा। क्योंकि जैसा जीव वैसा ही अजीव दोनों सर्वथा एक हो रहेंगे तब यह दोष आयगा कि देहादि नोकर्म, ज्ञानावरणदि द्रव्य कर्म तथा मिथ्यात्वादि भावकर्म के साथ इस जीव की एकता हो जायगी। इस दोष से बचने के लिये ऐसा मानना चाहिये कि क्रोध अन्य है तथा उपयोगवान आत्मा अन्य है। तो जैसे आत्मासे क्रोध अन्य है उसी प्रकार इतर सब प्रत्यय भी तथा कर्म और नोकर्म भी आत्मा के अन्य ही हैं ॥१२०-१२१-१२२॥

तात्पर्यवृत्तिः—जह जीवस्स अणण्णुवओगो यथा जीवस्यानन्यस्तन्मयो ज्ञानदर्शनोपयोगः। कस्मात् अनन्यवेद्यत्वात् अशक्यविवेचनत्वाच्चाग्नेरुष्णत्ववत् **कोहो वि तह जदि अणण्णो** तथा क्रोधोपि यद्यनन्यो भवत्येकान्तेन तदा किं दूषणं **जीवस्साजीवस्स य एवमणण्णत्तमावण्णं** एवमभेदे सति सहजशुद्धाखंडैकज्ञानदर्शनोपयोगमयजीवस्याजीवस्य चैकत्वमापन्नमिति। अथ-**एवमिह जो दु जीवो सो चेव दु णियमदो तहाजीवो** एवं पूर्वोक्तसूत्रव्याख्यानक्रमेण य एव जीवः स एव तथैवाजीवः भवति नियमान्निश्चयात्। तथा सति जीवाभावाद् दूषणं प्राप्नोति। **अयमेयत्ते दोसो पच्चयणोकम्मकम्माणं** अयमेव च दोषो जीवाभावरूपः। कस्मिन् सति। एकांतेन निरंजननिजानंदैकलक्षणजीवेन सहैकत्वे सति। केषां। मिथ्यात्वादिप्रत्ययनोकर्मकर्मणामिति। अथ-प्राकृतलक्षणबलेन प्रत्ययशब्दस्य ह्रस्वत्वमिति **अह पुण अण्णो कोहो अण्णुवओगप्पगो हवदि चेदा** अथ पुनरभिप्रायो भवतां पूर्वोक्तजीवाभावदूषणभयात् अन्योभिन्नः क्रोधो जीवादन्यश्च विशुद्धज्ञानदर्शनमय आत्मा क्रोधात्सकाशात्। **जह कोहो तह पच्चय कम्मं णोकम्म मवि अण्णं** यथा जडः क्रोधो निर्मलचैतन्यस्वभावजीवाद्भिन्नस्तथा प्रत्ययकर्म नोकर्माण्यपि भिन्नानि शुद्धनिश्चयेन सम्मतएव। किंच शुद्धनिश्चयेन जीवस्याकर्तृत्वमभोक्तृत्वं च क्रोधादिभ्यश्च भिन्नत्वं च भवतीति व्याख्याने कृते सति द्वितीयपक्षे व्यवहारेण कर्तृत्वं भोक्तृत्वं च क्रोधादिभ्यश्चाभिन्नत्वं च लभ्यते एव। कस्मात्। निश्चयव्यवहारयोः परस्परसापेक्षत्वात्। कथमिति चेत्। यथा दक्षिणेन चक्षुषा पश्यत्ययं देवदत्तः इत्युक्ते वामेन न पश्यतीत्यनुक्तसिद्धमिति। ये पुनरेवं परस्परसापेक्षनयविभागं न मन्यंते सांख्यसदाशिवमतानुसारिणस्तेषां मते यथा शुद्धनिश्चयनयेन कर्ता न भवति क्रोधादिभ्यश्च भिन्नो भवति तथा व्यवहारेणापि। ततश्च क्रोधादिपरिणमनाभावे सति सिद्धानामिव कर्मबंधाभावः। कर्मबंधाभावे संसाराभावः संसाराभावे सर्वदा मुक्तत्वं प्राप्नोति स च प्रत्यक्षविरोधः संसारस्य प्रत्यक्षेण दृश्यमानत्वादिति। एवं प्रत्ययजीवयोरेकांतेनैकत्वनिराकरणरूपेण गाथात्रयं गतं। अत्राह शिष्यः। शुद्धनिश्चयेनाकर्ता व्यवहारेण कर्तेति बहुधा व्याख्यातं तत्रैवं सति तथा द्रव्यकर्मणां व्यवहारेण कर्तृत्वं तथा रागादिभावकर्मणां च द्वयोर्द्रव्यभावकर्मणोरेकत्वं प्राप्नोतीति। नैवं। रागादिभावकर्मणां योसौ व्यवहारस्तस्याशुद्धनिश्चयसंज्ञा भवति द्रव्यकर्मणां भावकर्मभिः सह तारतम्यज्ञापनार्थं। कथंतारतम्यमिति चेत्। द्रव्यकर्माण्यचेतनानि भावकर्माणि च चेतनानि तथापि शुद्धनिश्चयापेक्षया अचेतनान्येव। यतः कारणादशुद्धनिश्चयोपि शुद्धनिश्चयापेक्षया व्यवहारएव। अयमत्र भावार्थः—द्रव्यकर्मणां कर्तृत्वं भोक्तृत्वं चानुपचरितासद्भूतव्यवहारेण रागादिभावकर्मणां चाशुद्धनिश्चयेन। सचाशुद्धनिश्चयापेक्षया व्यवहारएवेति। एवं पुण्यपापादिसप्तपदार्नां पीठिकारूपे महाधिकारे सप्तगाथाभिः चतुर्थोतराधिकारः समाप्तः अतः परं **जीवेण सयं बद्धं** इत्यादि गाथामादिं कृत्वा गाथाष्टकपर्यंतं सांख्यमतानुसारिशिष्यसंबोधनार्थं जीवपुद्गलयोरेकांतेनापरिणामित्वं निषेधयन् सन् कथंचित् परिणामित्वं स्थापयति। तत्र गाथाष्टकमध्ये पुद्गलपरिणामित्वव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथात्रयं। तदनंतरं जीवपरिणामित्वमुख्यत्वेन गाथापंचकमिति पंचमस्थले समुदायपातनिका। अथ सांख्यमतानुयायिशिष्यं प्रति पुद्गलस्य कथंचित्परिणामस्वभावत्वं साधयति।

टीका:-(जह जीवस्स अवणण्णुव ओगो) जैसे ज्ञान दर्शनरूप उपयोग जीव से तन्मय है क्योंकि अग्नि से उष्णता के समान वह आत्मा के साथ अनन्य ही देखने में आता है, कभी किसी भी प्रकार उससे पृथक् देखने में नहीं आता। (कोहो वि तह जदि अणण्णो) उसी प्रकार यदि एकान्त से क्रोध को भी जीव के साथ अनन्य ही मान लिया जायगा तो (जीवस्सजीवस्स य एवमणण्णत्तमावण्णा) ऐसा मान लेने पर सहज शुद्ध अखण्ड ज्ञान दर्शन उपयोग वाला जीव और अजीव ये दोनों एक हो जायेंगे। (एवमिह जोदु जीवो सो चेव दु णियमदो तहा जीवो) इस प्रकार जो जीव है वही फिर नियम से अजीव समझा जायगा अर्थात् फिर जीव का अभाव ठहरेगा यह बड़ा दूषण आयगा। (अयमेयत्ते दोसो पच्चयणो कम्म कम्माणं) और यही जीव अभाव रूप दोष एकांत रूप से निरंजन निजानन्द रूप लक्षण वाले जीव के साथ मिथ्यात्वादि प्रत्यय, कर्म तथा नोकर्म के एकमेक मानने में आयगा। यहां प्राकृत भाषा के कारण प्रत्यय शब्द ह्रस्व आया है। (अह पुण अण्णो कोहो अण्णुवओगप्पगो हवदि चेदा) अब जब पूर्वोक्त दोष से बचने के लिये क्रोध को जीव से भिन्न मानोगे और क्रोध से विशुद्ध दर्शन ज्ञानमय आत्मा को भिन्न मानोगे तो (जह कोहो तह पच्चय कम्मं णोकम्ममवि अण्णं) जड़ रूप क्रोध जिस प्रकार निर्मल चैतन्य स्वभावमय जीव से भिन्न है उसी प्रकार प्रत्यय, कर्म और नोकर्म भी आत्मा से भिन्न हैं ऐसा शुद्ध निश्चयनय से मानना ही चाहिये। इस प्रकार शुद्ध निश्चयनय से जीव को अकर्ता और अभोक्ता तथा क्रोधादि से भिन्न बताने पर दूसरे पक्ष में व्यवहारनय से जीवका कर्तापन, भोक्तापन और क्रोधादिक से अभिन्नपना भी अपने आप आ जाता है। क्योंकि निश्चयनय और व्यवहारनय इन दोनों में परस्पर सापेक्षपना है। जैसे किसी ने कहा कि देवदत्त अपनी दाहिनी आंख से देखता है, तब इस कहने में यह बात भी अपने आप आ जाती है कि वह बांई आंख से नहीं देखता। हां, सांख्य या सदाशिव मतानुयायी लोग इस प्रकार के परस्पर सापेक्ष नय विभाग को नहीं मानते हैं उनके मत में जिस प्रकार शुद्ध निश्चयनय से जीव कर्ता नहीं होता और क्रोधादि से भिन्न होता है वैसे ही व्यवहार से भी वह अकर्ता और क्रोधादिक से भिन्न ही ठहरता है, ऐसी दशा में जीव का क्रोधादि रूप परिणमन न होने पर जिस प्रकार सिद्धों को कर्म बंध नहीं होता, उसी प्रकार किसी भी जीव को कर्मबंध नहीं होना चाहिये। कर्म बन्ध न होने से संसार का अभाव और उसके अभाव में सदा ही मुक्तपने का प्रसंग प्राप्त होता है जो कि प्रत्यक्ष में विरुद्ध है क्योंकि संसार तो प्रत्यक्ष देखने में आ रहा है। इस प्रकार प्रत्यय और जीव दोनों में एकान्त रूप से एकता मानने का निराकरण तीन गाथाओं में किया।

यहां कोई शंका करता है कि आपने ऐसा बहुत बार कहा है कि शुद्ध निश्चयनय से जीव अकर्ता है किन्तु व्यवहारनय से कर्ता भी है। तब आपके कहने से जीव व्यवहारनय से जिस प्रकार द्रव्य कर्मों का कर्ता है उसी प्रकार रागादि भाव कर्मों का कर्ता भी है। तब द्रव्य कर्म और भावकर्म दोनों एक हो जायेंगे। आचार्य कहते हैं कि ऐसी बात नहीं है अपितु दोनों एक न होकर भिन्न हैं। इस भेद को बताने के लिये ही रागादि भाव कर्मों का कर्तापना बताने वाली व्यवहारनय की अशुद्ध निश्चयनय संज्ञा है जो द्रव्य कर्म और भावकर्मों में तारतम्य रूप से भेद स्थापन करती है। जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि द्रव्य कर्म तो अचेतन जड़ हैं जब कि भावकर्म विकारमय चेतन रूप हैं तथापि शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से इनको (भावकर्मों को) अचेतन ही कहते हैं क्योंकि यह अशुद्ध निश्चयनय भी शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से व्यवहार कोटि में ही गिना जाता है। तात्पर्य यह है कि द्रव्य कर्मों का कर्तापन और भोक्तापन जीव में अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से है किन्तु रागादि भावकर्मों का कर्तापन और भोक्तापन अशुद्ध निश्चयनय से है जो कि शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा में व्यवहार ही है। इस प्रकार पुण्य पाप आदि

सात पदार्थों की पीठिका रूप महाधिकार में सात गाथाओं से चोथा अन्तर अधिकार समाप्त हुआ। १२०- १२१- १२२ ॥

अब इसके आगे 'जीवेण सयं बद्धं' इत्यादि गाथा को आदि लेकर आठ गाथा पर्यंत सांख्य मतानुसारी शिष्य को समझाने के लिये जीव और पुद्गल के अपरिणामीपन का निषेध करते हुए इनमें किसी अपेक्षा परिणामीपना है ऐसा स्थापित करते हैं। इन आठ गाथाओं में पुद्गल के परिणामीपने की मुख्यता से तीन गाथायें हैं। तत्पश्चात् जीव के परिणामीपने की मुख्यता से पांच गाथाएं हैं। इस प्रकार पांचवें स्थल में समुदाय पातनिका है।

अब यहां सांख्यमतानुयायी शिष्य को लक्ष्य में लेकर पुद्गल के कथंचित परिणामी स्वभावपने को सिद्ध करते हैं:—

जीवे ण सयं बद्धं ण सयं परिणमदि कम्मभावेण।
जदि पुग्गलदव्वमिणं अप्परिणामी तदा होदि ॥१२३॥
कम्मइयवग्गणासु य अपरिणमंतीसु कम्मभावेण।
संसारस्स अभावो पसज्जदे संखसमओ वा ॥१२४॥
जीवो परिणामयदे पुग्गलदव्वाणि कम्मभावेण।
ते सयमपरिणमंतं कह तु परिणामयदि णाणी ॥१२५॥ (त्रिकलम्)

जीवे न स्वयं बद्धं न स्वयं परिणमते कर्मभावेन।
यदि पुद्गलद्रव्यमिदमपरिणामि तदा भवति ॥ १२३ ॥
कार्मणवर्गणासु चापरिणममानासु कर्मभावेन।
संसारस्याभावः प्रसजति सांख्यसमयो वा ॥ १२४ ॥
जीवः परिणामयति पुद्गलद्रव्याणि कर्मभावेन।
तानि स्वयमपरिणममानानि कथं तु परिणामयति ज्ञानी ॥१२५॥

अर्थः—पुद्गलद्रव्य जीव में न तो आप बंधा ही है और न कर्म के रूप में परिणमा ही है ऐसा यदि माना जाय तो पुद्गलद्रव्य अपरिणामी ठहरेगा। कर्मवर्गणा स्वयं कर्म रूप से नहीं परिणमती हैं यदि ऐसा मान लिया जायगा तो फिर संसार का अभाव ठहरेगा और सांख्यमत का प्रसंग आयगा। यदि ऐसा माना जायगा कि पुद्गल द्रव्यों को जीव (हठपूर्वक) आप कर्मरूप में परिणमाता है तो वहां यह प्रश्न खड़ा होता है कि जब पुद्गलद्रव्य स्वयं अपरिणामी है तब जीव उसको कैसे परिणमा सकता है ॥ १२३, १२४, १२५ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—जीवे ण सयं बद्धं जीवे अधिकरणभूते स्वयं स्वभावेन पुद्गलद्रव्यकर्मबद्धं नास्ति। कस्मात् सर्वदा जीवस्य शुद्धत्वात् **ण सयं परिणमदि कम्मभावेण** न च स्वयं स्वममेव कर्मभावेन द्रव्यकर्मपर्यायेण परिणमति कस्मात्? सर्वथा नित्यत्वात्। **जदि पुग्गलदव्वमिणं** एवमित्थंभूतमिदं पुद्गलद्रव्यं यदि चेद्भवतां सांख्यमतानुसारिणां **अप्परिणामी तदा होदि** ततः कारणात्तत्पुद्गलद्रव्यमपरिणाम्येव भवति। ततश्चापरिणामित्वे सति किं दूषण भवति।

अथ—कार्माणवर्गणाभिरपरिणमतीभिः कर्मभावेन द्रव्यकर्मपर्यायेण तदा संसारस्याभावः प्रसजति प्राप्नोति हे शिष्य सांख्यसमयवदिति । अथ मतं । **जीवोपरिणामयदे पुग्गलदव्वाणि कम्मभावेण** जीवः कर्त्ता कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्याणि ज्ञानावरणादिकर्मभावेन द्रव्यकर्मपर्यायेण हठात्परिणामयति ततः कारणात्संसाराभावदूषणं न भवतीति चेत् **ते सयमपरिणमंतं कहं तु परिणामयदि णाणी** ज्ञानीजीवः स्वयमपरिणममानः सन् तत्पुद्गलद्रव्यं किं स्वयमपरिणममानं परिणममानं वा परिणमयेत् । न तावदपरिणममानं परिणमयति न च स्वतोसती शक्तिः कर्तुमन्येन पार्येत । तथा जपापुष्पादिकं कर्तृ स्फटिके जनयत्युपाधिं तथा काष्ठस्तंभादौ किं न जनयतीति । अथैकांतेन परिणममानं परिणामयति । तदपि न घटते । नहि वस्तुशक्तयः परमपेक्षंते तर्हि जीवनिमित्तकर्त्तारमंतरेणापि स्वयमेव कर्मरूपेण परिणमतु । तथा च सति किं दूषणं । घटपटस्तंभादिपुद्गलानां ज्ञानावरणादिकर्मपरिणतिः स्यात् । स च प्रत्यक्षविरोधः । ततः स्थिता पुद्गलानां स्वभावभूता कथंचित्परिणामित्वशक्तिः तस्यां परिणामशक्तौ स्थितायां स पुद्गलः कर्ता । यं स्वस्य संबंधितं ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मपरिणामं पर्यायं करोति तस्य सएवोपादानकारणं कलशस्य मृत्पिंडमिव । न च जीवः स तु निमित्तकारणमेव हेयतत्त्वमिदं । तस्मात्पुद्गलाद्व्यतिरिक्तशुद्धपरमात्मभावनापरिणताऽभेदरत्नत्रयलक्षणेन भेदज्ञानेन गम्यश्चिदानंदैकस्वभावो निजशुद्धात्मैव शुद्धनिश्चयेनोपादेयं भेदरत्नत्रयस्वरूपं तु उपादेयो भेदरत्नत्रयसाधकत्वाद्व्यवहारेणोपादेयमिति । एवं गाथात्रयशब्दार्थव्याख्यानेन शब्दार्थौ ज्ञातव्यः । व्यवहारनिश्चयरूपेण नयार्थौ ज्ञातव्यः । सांख्यंप्रति मतार्थो ज्ञातव्यः । आगमार्थस्तु प्रसिद्धः । हेयोपादानव्याख्यानरूपेण भावार्थोपि ज्ञातव्यः । इति शब्दनयमतागमभावार्थाः व्याख्यानकाले यथासंभवं सर्वत्र ज्ञातव्याः । एवं पुद्गलपरिणामस्थापनामुख्यत्वेन गाथात्रयं गतं । सांख्यमतानुसारिशिष्यं प्रति जीवस्य कथंचित्परिणामस्वभावत्वं साधयति ।

टीका:—(जीवे ण सयं बद्धं) पुद्गल द्रव्यरूप कर्म अधिकरणभूत जीव में न तो स्वयं बद्ध है क्योंकि जीव तो सदा शुद्ध है और (ण सयं परिणमदि कम्मभावेण) अपने आप कर्म रूप से भी अर्थात् द्रव्यकर्म के पर्याय रूप से भी नहीं परिणमता है क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य भी सदा नित्य है। (जदि पुग्गलदव्वमिणं) यदि इस प्रकार पुद्गलद्रव्य को माना जायगा (अप्परिणामी तदा होदि) तो आप सांख्यमतवालों के मत से यह पुद्गलद्रव्य अपरिणामी ही हुआ। ऐसी दशा में (कम्मइय वग्गणासु य अपरिणमंतीसु कम्मभावेण) कार्माण वर्गणाओं के ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म रूप नहीं परिणमन करने पर (संसारस्स अभावो पसज्जदे संखसमओ वा) इस संसार का सांख्यमत के समान अभाव प्राप्त हो जायगा। (जीवो परिणामयदे पुग्गलदव्वाणि कम्मभावेण) यदि ऐसा कहा जाय कि जीव हठात् कर्मवर्गणा योग्य पुद्गल द्रव्यों को ज्ञानावरणादि कर्मरूप से परिणमा लेता है अतः संसार का अभाव नहीं है (तं सयमपरिणमंतं कह तु परिणामयदि णाणी) तो वहां यह प्रश्न होता है कि ज्ञानी जीव जो स्वयं अपरिणमन शील है वह उस पुद्गलद्रव्य को जो परिणमाता है वह नहीं परिणमन करते हुए को परिणमाता है या परिणमन करते हुए को ? यदि कहा जाय कि नहीं परिणमते हुए को परिणमाता है सो यह तो बन नहीं सकती क्योंकि जहां जो शक्ति स्वयं में नहीं है वहां वह शक्ति दूसरे के द्वारा भी नहीं की जा सकती यह अटल नियम है। जैसे जपा पुष्पादिक स्फटिक मणि में उपाधि को पैदा कर सकता है वैसे काठ के खंभे आदि में नहीं कर सकता क्योंकि उसमें वैसी शक्ति नहीं है। यदि कहा जाय कि एकान्त रूप से परिणमन करते हुए को ही परिणमाता है तो यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि वस्तु में जो शक्तियां होती हैं वे (अपने परिणमन में) दूसरे की अपेक्षा नहीं रखतीं ऐसा नियम है। अतः जबकि पुद्गल में स्वयं परिणमन शक्ति है तब तो वह निमित्तकर्त्ता जीव के बिना ही अपने आप ही कर्म रूप में परिणमन करते रहना चाहिए, ऐसी दशा में फिर कार्माण वर्गणायें जिस प्रकार ज्ञानावरणादि कर्म के रूप में परिणमन करती हैं वैसे ही घटपटादि रूप पुद्गल भी कर्मरूप में परिणमन करें यह प्रत्यक्ष विरोधरूप दूषण आयगा। अतः

यह बात स्वयं सिद्ध हो जाती है कि पुद्गलों में कथंचित् परिणमने की शक्ति सहज स्वभाव से है। जब उनमें यह शक्ति है तो उसका कर्त्ता स्वयं पुद्गल ही है। इस प्रकार अपने संबंधी ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म जिस परिणाम को करता है उसका उपादान पुद्गल ही होता है, जैसे कि कलश का उपादान कारण मिट्टी का पिण्ड है, किन्तु ज्ञानावरणादि कर्मों का उपादान जीव नहीं है। जीव तो उसका निमित्त कारण मात्र है जो कि हेय तत्व है (अर्थात् जीव का जो भाव, कर्मों का निमित्त कारण होता है, वह भी आस्रवरूप होने से हेय तत्व है)। उपादेय रूप तत्व तो शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से निज शुद्धात्मा ही है जो उस उपर्युक्त पुद्गल से भिन्न एवं शुद्ध परमात्मभावना रूप में परिणत ऐसा अभेद रत्नत्रय ही है लक्षण जिसका ऐसे भेदज्ञान के द्वारा जानने योग्य है और चिदानंद रूप एक स्वभाववाला है। हां, इस अभेद रत्नत्रय का साधक होने से व्यवहारनय से भेद रत्नत्रय भी उपादेय है। इस प्रकार तीन गाथाओं के शब्दार्थ के व्याख्यान से शब्दार्थ जानना चाहिए, व्यवहार निश्चयरूप से नयार्थ को भी जानना चाहिए। सांख्य के लिए मतार्थ का व्याख्यान हुआ। आगम का अर्थ स्पष्ट ही है। हेय और उपादेय के रूप में भावार्थ का भी व्याख्यान हुआ। इस प्रकार शब्द, नय, मत, आगम और भावार्थ इन पांच अर्थों से कथन किया, यह व्याख्यान कालमें यथासंभव सर्व ही ठिकाने जानते रहना चाहिए। इस प्रकार पुद्गल को परिणमन शील बताने के रूप में तीन गाथाओं का व्याख्यान हुआ ॥१२३-१२४-१२५॥

अब सांख्य मतानुसारी शिष्य को समझाते हुए जीव को भी कथंचित परिणामी सिद्ध करने के लिए कहते हैं:—

ण सयं बद्धो कम्मे ण सयं परिणमदि कोहमादीहिं।
जदि एस तुज्झ जीवो अप्परिणामी तदा होदि ॥१२६॥
अपरिणमंते हि सयं जीवे कोहादिएहि भावेहिं।
संसारस्स अभावो पसज्जदे संखसमओ वा ॥१२७॥
पुग्गलकम्मं कोहो जीवं परिणामएदि कोहत्तं।
तं सयमपरिणमंतं कह परिणमाएदि कोहत्तं ॥१२८॥
अह सयमप्पा परिणमदि कोहभावेण एस दे बुद्धि।
कोहो परिणामयदे जीवस्स कोहमिदि मिच्छा ॥१२९॥
कोहुवजुत्तो कोहो माणुवजुत्तो य माणमेवादा।
माउवजुत्तो माया लोहुवजुत्तो हवदि लोहो ॥१३०॥

न स्वयं बद्धः कर्मणि न स्वयं परिणमते क्रोधादिभिः।
यद्येषः तव जीवोऽपरिणामी तदा भवति ॥१२६॥

अपरिणममाने हि स्वयं जीवे क्रोधादिभिः भावैः।
संसारस्याभावः प्रसजति सांख्यसमयो वा ॥१२७॥

पुद्गलकर्म क्रोधो जीवं परिणामयति क्रोधत्वं ।
तं स्वयमपरिणममानं कथं परिणामयति क्रोधत्वं ॥१२८॥
अथ स्वयमात्मा परिणमते क्रोधभावेन एषा तव बुद्धिः ।
क्रोधः परिणामयति जीवं क्रोधत्वमिति मिथ्या ॥१२९॥
क्रोधोपयुक्तः क्रोधो मानोपयुक्तश्च मान एवात्मा ।
मायोपयुक्तो माया लोभोपयुक्तो भवति लोभः ॥१३०॥

अर्थ—उसी सांख्यमतानुसारी शिष्य को लक्ष्य में लेकर आचार्य देव कहते हैं कि हे भाई ! यदि तेरे विचार में यह जीव कर्मों से स्वयं बद्ध नहीं है और क्रोधादि भावों से आप परिणमन भी नहीं करता है तो वह अपरिणामी हुआ । इस प्रकार जीव के अपरिणामी होने पर क्रोधादिक रूप से जीव के स्वयं परिणमन न करने पर संसार के अभाव का प्रसंग आवेगा तब सांख्य मत का कहना हो जायगा । यदि ऐसा कहा जाय कि क्रोधरूप जो पुद्गल कर्म हैं वह जीव को क्रोधरूप में परिणमा देता है तब यहां ऐसा विचार आता है कि वह पुद्गल कर्म स्वयं न परिणमन करते हुए जीव को क्रोधरूप में कैसे परिणमा सकता है कभी नहीं परिणमा सकता । यदि ऐसा कहो कि आत्मा स्वयं ही क्रोध रूप में परिणमन करता है तब पहले वाला कहना कि क्रोधकर्म जीव को क्रोधरूप में परिणमाता है यह असत्य ठहरेगा इसलिए ऐसा मानना चाहिए कि जब आत्मा क्रोध से उपयुक्त होता है अर्थात् इस आत्मा का उपयोग क्रोधरूप में परिणमन करता है तब आत्मा ही क्रोधरूप होता है, मानसे उपयुक्त होता हुआ मानरूप, माया से उपयुक्त होता हुआ माया रूप और लोभ से उपयुक्त होता हुआ स्वयं लोभरूप होता है ।

तात्पर्यवृत्तिः—ण सयं बद्धो कम्मे स्वयं स्वभावेन कर्मण्यधिकरणभूते एकांतेन बद्धो नास्ति सदा मुक्तत्वात् । **ण सयं परिणमदिकोहमादीहिं** न च स्वयं स्वयमेव द्रव्यकर्मोदयनिरपेक्षो भावक्रोधादिभिः परिणमति । कस्मादेकांतेनापरिणामित्वात् । **जदि एस तुज्झ जीवो अप्परिणामी तदा होदि** यदि चेदेष जीवः प्रत्यक्षीभूतः तव मताभिप्रायेणेत्थंभूतः स्यात्ततः कारणादपरिणाम्येव भवति । अपरिणामित्वे सति किं दूषणं ? अथ—अपरिणममाने सति तस्मिन् जीवे स्वयं स्वयमेव भावक्रोधादिपरिणामैः तदा संसारस्याभावः प्राप्नोति हे शिष्य, सांख्यसमयवत् । अथ मतं **पुग्गलकम्मं कोहो जीवं परिणामएदि कोहत्तं** पुद्गलकर्मरूपो द्रव्यक्रोधउदयागतः कर्ता जीवं कर्मतापन्नं हठात्परिणामयति भावक्रोधत्वेनेति चेत् **तं सयमपरिणमंतं कह परिणामएदि कोहत्तं** अथ किं स्वयमपरिणममानं परिणममानं वा परिणामयेत् ? न तावत्स्वयमपरिणममानं परिणामयेत् । कस्मात् । नहि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन पार्यते । नहि जपापुष्पादयः कर्तारो यथा स्फटिकादिषु जनयंत्युपाधिं तथा काष्ठस्तंभादिष्वपि । अथैकांतेन परिणममानं वा तर्हि उदयागतद्रव्यक्रोधनिमित्तमंतरेणापि भावक्रोधादिभिः परिणमतु । कस्मादिति चेत् । नहि वस्तुशक्तयः परमपेक्षंते । तथा च सति मुक्तात्मनामपिद्रव्यकर्मोदयनिमित्ताभावेपि भावक्रोधादयः प्राप्नुवंति । न च तदिष्टमागमविरोधात् । अथ मतं **अह सयमप्पा परिणमदि कोहभावेण एस दे बुद्धी** अथ पूर्वदूषणभयात्स्वयमेवात्मा द्रव्यकर्मोदयनिरपेक्षो भावक्रोधरूपेण परिणमत्येषा तव बुद्धिः हे शिष्य ! **कोहो परिणामयदे जीवस्स कोहत्तमिदि मिच्छा** तर्हि द्रव्यक्रोधः कर्ता जीवस्य भावक्रोधत्वं परिणामयति करोति यदुक्तं पूर्वगाथायां तद्वचनं मिथ्या प्राप्नोति । ततः स्थितं—घटाकारपरिणता मृत्पिंडपुद्गलाः घट इव अग्निपरिणतायःपिंडोऽग्निवत् तथात्मापि क्रोधोपयोगपरिणतः क्रोधो भवति मानोपयोगपरिणतो मानो भवति मायोपयोगपरिणतो माया भवति । लोभोपयोगपरिणतो लोभो भवतीति स्थिता सिद्धा जीवस्य स्वभावभूतापरिणामशक्तिः । तस्यां परिणामशक्तौ स्थितायां स जीवः कर्ता यं परिणाममात्मनः करोति तस्य स एवोपादानकर्ता द्रव्यकर्मोदयस्तु निमित्तमात्रमेव । तथैव च स एव जीवो निर्विकारचिच्चमत्कारशुद्धभावेन परिणतः सन् सिद्धात्मापि भवति ।

किं च विशेषः—**'जाव ण वेदिविसेसंतरं'** इत्याद्यज्ञानिज्ञानिजीवयोः संक्षेपव्याख्यानरूपेण गाथाष्टकं यदुक्तं पूर्वं पुण्यपापादिसप्तपदार्थजीवपुद्गलसंयोगपरिणामनिवृत्तास्ते च जीवपुद्गलयोः कथंचित्परिणामित्वे सति घटंते। तस्यैव कथंचित्परिणामित्वस्य विशेषव्याख्यानमिदं। अथवा **सामण्णपच्चयाखलु चउरो'** इत्यादि गाथासप्तके यदुक्तं पूर्वं सामान्यप्रत्यया एवम्शुद्धनिश्चयेन कर्म कुर्वंतीति न जीव इति जैनमतं। एकांतेनाकर्तृत्वे सति सांख्यानां संसाराभावदूषणं तस्यैव संसाराभावदूषणस्य विशेषदूषणमिदं। कथमिति चेत्। तत्रैकांतेन कर्तृत्वाभावे सति संसारभावदूषणं अत्र पुनरेकांतेन परिणामित्वाभावे सति संसाराभावदूषणं। यतः कारणाद्भावकर्मपरिणामित्वमेव कर्तृत्वं भोक्तृत्वं च भण्यते। इति जीवपरिणामित्वे व्याख्यानमुख्यत्वेन गाथापंचकं गतं। एवं पुण्यपापादि सप्तपदार्थानां पीठिकारूपे महाधिकारे जीवपुद्गलपरिणामित्वव्याख्यानमुख्यत्वेनाष्टगाथाभिः पंचमांतराधिकारः समाप्तः।

तथा हि—

अथ—जाव ण वेदि विसेसंतरं तु आदासवाण दोण्हंपि। अण्णाणी तावदु इत्यादि गाथाद्वये तावदज्ञानी जीवस्वरूपं पूर्वं भणितं स चाज्ञानी जीवो यदा **विसयकसाययुगाढ** इत्याद्यशुभोपयोगेन परिणमति तदा पापास्रवबंधपदार्थानां त्रयाणां कर्त्ता भवति। यदा तु मिथ्यात्वकषायाणां मंदोदये सति भोगाकांक्षारूपनिदानबंधादिरूपेण दानपूजादिनिदानं परिणमति तदा पुण्यपदार्थस्यापि कर्ता भवतीति पूर्वं संक्षेपेण सूचितं **जइया इमेण जीवेण आदासवाण दोण्हंपि। णादं होदि विसेसंतरं तु** इत्यादिगाथाचतुष्टये ज्ञानीजीवस्वरूपं च संक्षेपेण सूचितं। स च ज्ञानी जीवः शुद्धोपयोगभावपरिणतोऽभेदरत्नत्रयलक्षणेनभेदज्ञानेन यदा परिणमति तदा निश्चयचारित्राविनाभाविवीतरागसम्यग्दृष्टिर्भूत्वा संवरनिर्जरामोक्षपदार्थानां त्रयाणां कर्ता भवतीत्यपि संक्षेपेण निरूपितं पूर्वं, निश्चयसम्यक्त्वस्याभावे यदा तु सरागसम्यक्त्वेन परिणमति तदा शुद्धात्मानमुपादेयं कृत्वा परंपरया निर्वाणकारणस्य तीर्थंकरप्रकृत्यादिपुण्यपदार्थस्यापि कर्ता भवतीत्यपि पूर्वं निरूपितं, तत्सर्वं जीवपुद्गलयोः कथंचित्परिणामित्वे सति भवतीति तत्कथंचित्परिणामित्वमपि पुण्यपापादिसप्तपदार्थानां संक्षेपसूचनार्थं पूर्वमेव संक्षेपेण निरूपितं। पुनश्च जीवपुद्गलपरिणामित्वव्याख्यानकाले विशेषेण कथितं। तत्रैवं कथंचित्परिणामित्वे सिद्धे सति अज्ञानिज्ञानिजीवयोः गुणिनोः पुण्यपापादिसप्तपदार्थानां संक्षेपसूचनार्थं संक्षेपव्याख्यानं कृतं। इदानीं पुनरज्ञानमयगुणज्ञानमयगुणयोः मुख्यत्वेन व्याख्यानं क्रियते। न च जीवाजीवगुणिमुख्यत्वेनेति। किमर्थमिति चेत्? तेषामेव पुण्यपापादिसप्तपदार्थानां संक्षेपसूचनार्थमिति। तत्र **जो संगं तु मुइत्ता** इत्यादिगाथामादिं कृत्वा पाठक्रमेण गाथानवकपर्यंतं व्याख्यानं करोति। तत्रादौ गाथात्रयं ज्ञानभावमुख्यत्वेन तदनंतरं गाथाषट्कं ज्ञानिजीवस्य ज्ञानमयो भावो भवत्यज्ञानिजीवस्याज्ञानमयो भावो भवतीति मुख्यत्वेन कथ्यत इति षष्ठांतराधिकारे समुदायपातनिका। तद्यथा—कथंचित्परिणामित्वे सिद्धे सति ज्ञानी जीवो ज्ञानमयस्य भावस्य कर्ता भवीतीत्यभिप्रायं मनसि संप्रधार्येदं सूत्रत्रयं प्रतिपादयति।

टीका:—(ण सयं बद्धो कम्मे) जीव स्वयं अपने भाव से अधिकरण भूत कर्मों से बंधा हुआ नहीं है क्योंकि वह एकांत से सदा मुक्त है। (ण सयं परिणमदि कोहमादीहिं) और वह जीव द्रव्यकर्म के उदय के बिना स्वयं भाव क्रोधादि रूप से भी परिणमन नहीं करता है क्योंकि वह एकांत से अपरिणामी है। (जदि एस तुज्झ जीवो अप्परिणामी तदा होदि) इस प्रकार यह प्रत्यक्षरूप संसारी जीव भी तेरे अभिप्राय से अपरिणामी ही हुआ (सदा एकसा रहने वाला हुआ)। और सदा एकसा मान लेने पर (अपरिणमंते हि सयं जीवे कोहादिएहि भावेहिं) उसका स्वयं क्रोधादिक भावरूप से परिणमन न होने पर (संसारस्स अभावो पसज्जदे संखसमओ वा) सांख्यमत के अनुसार संसार का अभाव ठहरेगा। यदि कहे कि (पुग्गलकम्मं कोहो जीवं परिणामएदि कोहत्तं) उदय में आया हुआ पुद्गलमई द्रव्य क्रोध हठात् इस जीव को भाव क्रोध रूप में परिणमा देता है—क्रोधी बना देता है। यदि ऐसा माना जायगा तो द्रव्य क्रोध (तं सयमपरिणमंतं कह परिणामएदि कोहत्तं) इस जीव को क्रोध रूप में न परिणमन करते

हुए को क्रोधरूप से परिणमाता है या क्रोधरूप में परिणमन करते हुए को ? यदि कहो कि स्वयं क्रोध रूप में न परिणमन करते हुए को क्रोधरूप परिणमाता है तो यह बन नहीं सकता । क्योंकि जिसमें जो शक्ति नहीं है वह दूसरे के द्वारा कभी उत्पन्न नहीं की जा सकती । देखो, जैसे जपा पुष्पादिक का डाक स्फटिक आदि में विकार पैदा करता है वैसे काठ के खंभे आदिक में नहीं कर सकता । यदि एकान्त से यह कहा जाय कि क्रोधादिक से परिणत होते हुए जीव को ही पौद्गलिक कर्म क्रोधादि रूप से परिणमाने वाला होता है तब तो उदयागत द्रव्य क्रोधादिक के निमित्त बिना ही भाव क्रोधादि रूप से जीव को परिणमन कर जाना चाहिए, क्योंकि वस्तु की शक्तियां दूसरे की अपेक्षा नहीं किया करतीं ऐसा अटल नियम है । ऐसा होने पर कर्मोदय के बिना होने वाले भाव क्रोधादिक विकार मुक्तात्मा में भी होने का प्रसंग आवेगा । जो ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा आगम नहीं कहता । (अह सयमप्पा परिणमदि कोह-भावेण एस दे बुद्धी) और यदि पूर्वोक्त दूषण के भय से हे भाई ! अगर तुम ऐसा कहो कि द्रव्यकर्मोदय अपेक्षा के बिना ही जीव अपने आप भाव क्रोधादिरूप से परिणमन करता है तो (कोहो परिणामयदे जीवस्स कोहमिदिमिच्छा) द्रव्य क्रोध जीव को भाव क्रोध रूप से परिणमाता है, ऐसा जो तुमने ऊपर कहा है वह मिथ्या ठहरेगा । इससे यह बात आई कि घटाकार रूप से परिणत मिट्टी के परमाणु ही जैसे घट हैं अथवा अग्निरूप में परिणत लोह पिण्ड ही स्वयं अग्नि हो जाता है वैसे ही (कोहुवजुत्तो कोहो माणुवजुत्तो य माणमेवादा माउवजुत्तो माया लोहुवजुत्तो हवदि लोहो) क्रोध उपयोग से परिणत आत्मा स्वयं क्रोध होता है, मान उपयोग से परिणत आत्मा मान होता है, माया उपयोग से परिणत आत्मा माया होता है और लोभ उपयोग से परिणत आत्मा लोभ होता है । इस प्रकार से यह बात सिद्ध हो जाती है कि जीव की परिणमन शक्ति स्वभाव भूत है । इस परिणमन शक्ति के रहते हुए यह जीव अपने जिस परिणाम को करता है उस भाव का वही उपादान कर्त्ता वह स्वयं होता है और द्रव्य कर्म का उदय उसमें निमित्तमात्र ही है और जब यह जीव निर्विकार चिद् चमत्कार रूप शुद्ध भाव से परिणत होता है उस समय यह सिद्ध बन जाता है । इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि 'जावण वेदि विसेसंतरं' इत्यादि रूप से अज्ञानी और ज्ञानी जीव का संक्षेप में व्याख्यान करते हुए पूर्व में जो छः गाथायें कही थीं, वहां बताया था कि पुण्यपापादि जो सात पदार्थ हैं वे जीव और पुद्गल के परस्पर संयोग रूप परिणाम से सम्पन्न होते हैं । इस प्रकार का कहना जब ही बन सकता है जब जीव और पुद्गल में कथंचित् परिणामीपना माना जावे सो यहां उसी ही कथंचित् परिणामीपने का ही यह विशेष व्याख्यान है । अथवा "सामण्णपच्चया खलु चउरो" इत्यादि सात गाथाओं में जो पहले बताया था कि शुद्ध निश्चय से मिथ्यात्व आदि सामान्य प्रत्यय ही नूतन कर्म उत्पन्न करते हैं, जीव नहीं करता । ऐसा जैन मत है । इसको लेकर जीव को सर्वथा एकान्त रूप से अकर्ता ही मान लिया जाय तो सांख्यों की भांति संसार के अभाव होने का प्रसंग आवेगा । उसी संसार अभाव रूप दूषण का यह विशेष विवरण है । क्योंकि वहां एकान्त रूप से अकर्ता मानने पर संसार अभाव का प्रसंग आया था और यहां एकान्त रूप से अपरिणामीपना मानने पर वही संसार अभाव रूप दूषण है । क्योंकि भावकर्म रूप से परिणमन करना ही कर्तापना है और उसी का नाम भोक्तापना है ।

विशेषार्थः—इस भूतल पर जीव और पुद्गल ये दो पदार्थ ऐसे हैं जो न तो सर्वथा नित्य अर्थात् जैसे हैं वैसे ही रहने वाले हैं और न सर्वथा अनित्य अर्थात् और के और हो जाने वाले हैं । कथंचित् परिणमनशील हैं, एक दूसरे के निमित्त से परिवर्तन करने वाले हैं । जैसे अग्नि का निमित्त पाकर घी पिघल जाता है, घी का निमित्त पाकर अग्नि की लो भभक उठती है । उसी प्रकार पूर्व कर्म के उदय

का निमित्त पाकर जीव रागद्वेषमय विकार भाव को प्राप्त होता है, तो उसके विकार भाव का निमित्त पाकर पुद्गल परमाणु कर्म रूप में परिणत होकर उसके साथ चिपकते रहते हैं जिससे कि यह जीव नर नारकादि रूप अवस्थाओं को प्राप्त होता रहता है। हां, जब यह जीव उपर्युक्त निमित्त नैमित्तिक भाव को छोड़ कर राग द्वेष रहित होता हुआ स्वस्थ हो जाता है तो उपर्युक्त जन्म मरण के चक्कर से रहित होकर सदा के लिये सिद्ध या शुद्ध हो जाता है।

इस प्रकार जीव का परिणामीपना सिद्ध करने के लिये व्याख्यान की मुख्यता से ये पांच गाथायें पूरी हुई ॥ १२६-१२७-१२८-१२९-१३० ॥

इस प्रकार पुण्य पापादि रूप जो सात पदार्थ हैं उनकी पीठिका रूप इस महाधिकार में जीव और पुद्गल के परिणामीपने की मुख्यता से कथन करते हुए आठ गाथाओं से यह पांचवा अंतर अधिकार समाप्त हुआ।

अब "जाव ण वेदि विसेसंतरं तु आदासवाण दोण्हंपि अण्णाणी तावदु" इत्यादि दो गाथाओं से जो पहले अज्ञानी का स्वरूप बता चुके हैं, वही अज्ञानी जीव जब "विसय कसाओ गाढ़" इत्यादि विषय कषायमय अशुभोपयोग में परिणत होता है तब तक पाप, आस्रव और बंध इन तीन पदार्थों का कर्त्ता होता है, और जब वही अज्ञानी जीव मिथ्यात्व और कषायों का मन्द उदय होने पर भोगों की इच्छारूप निदान बंध आदि रूप से दान, पूजादिमय परिणमन करता है उस समय पुण्य पदार्थ का भी कर्ता होता है। यह कथन संक्षेप से पहले सूचित किया है। इसके आगे "जइया इमेण जीवेण आदासवाण दोण्हंपि णादं होदि विसेसंतरंतु" इत्यादि चार गाथाओं में ज्ञानी जीवका स्वरूप भी पहले बता चुके हैं। वही ज्ञानी जीव शुद्धोपयोग रूप से परिणत होने वाला अभेद रत्नत्रय वही है लक्षण जिसका ऐसे भेद-ज्ञान के रूप में जब परिणत होता है, तब निश्चय चारित्र के साथ में अविनाभाव रखने वाला जो वीतराग सम्यग्दर्शन उस रूप होकर संवर, निर्जरा और मोक्ष इन तीन पदार्थों का कर्त्ता होता है। ऐसा संक्षेप से पहले बता चुके हैं। किन्तु निश्चय सम्यक्त्व के अभाव में जब वह सराग सम्यक्त्व के रूप में परिणत रहता है उस समय शुद्ध आत्मा को उपादेय मानकर परंपरा निर्वाण के लिए कारण ऐसे तीर्थंकर प्रकृति आदि पुण्य पदार्थ का कर्त्ता भी होता है यह भी पहले कह चुके हैं। यह सब बातें जीव और पुद्गल इन दोनों में कथंचित् परिणामीपना होने पर ही हो सकती हैं। यह कथंचित् परिणामीपना भी पुण्य पापादि सात पदार्थों के संक्षेप वर्णन की सूचना के लिये पहले संक्षेप में कह चुके हैं। जिसका विशेष व्याख्यान फिर जीव और पुद्गल के परिणामीपने के व्याख्यान के काल में किया है। वहां इस प्रकार कथंचित् परिणामीपना सिद्ध होने पर ही अज्ञानी और ज्ञानी जीव जो कि गुण के धारक हैं इन दोनों जीवों के पुण्य पापादि सात पदार्थों के होने की संक्षेप रूप से सूचना देने के लिये ही संक्षेप व्याख्यान किया है। अब यहां ज्ञानमय और अज्ञानमय गुणों की मुख्यता से व्याख्यान किया जाता है किन्तु जीव और और अजीव के गुण की मुख्यता से नहीं, यह कथन भी उन्हीं पुण्य पापादि सात पदार्थों की संक्षेप सूचना करने के लिये यह सब प्रयास है।

यहां "जो संगं तु मुइत्ता" इत्यादि गाथा को लेकर पाठ क्रम से ९ गाथा पर्यंत वर्णन करते हैं। उसमें सबसे पहले तीन गाथा में ज्ञान भाव की मुख्यता से वर्णन है उसके पश्चात छह (६) गाथा में ज्ञानी जीव का ज्ञानमय भाव ही होता है और अज्ञानी जीव का अज्ञानमय भाव होता है ऐसा वर्णन है, इस प्रकार छठे अन्तर अधिकार में समुदाय पातनिका हुई।

यहां कथंचित् परिणामीपना सिद्ध होने पर ही ज्ञानी जीव ज्ञानभाव का कर्ता होता है ऐसा अभिप्राय मन में रख कर आगे तीन सूत्र कहते हैं:—

***जो संगं तु मुइत्ता जाणदि उवओगमप्पगं सुद्धं ।**
तं णिस्संगं साहुं परमट्ठवियाणया विंति ।।१३१।।
यः संगं तु मुक्त्वा जानाति उपयोगमात्मकं शुद्धं ।
तं निस्संगं साधुं परमार्थविज्ञायका विदंति ।।१३१।।

अर्थ—जो साधु बाह्य और अभ्यन्तर दोनों प्रकार के सम्पूर्ण परिग्रह को छोड़कर अपने आपकी आत्मा को दर्शन ज्ञानोपयोग स्वरूप शुद्ध अनुभव करता है उसको परमार्थ स्वरूप के जानने वाले गणधरादिक देव निर्ग्रन्थ साधु कहते हैं ।।१३१।।

तात्पर्यवृत्तिः—जो संगं तु मुइत्ता जाणदि उवओगमप्पगं सुद्धं यः परमसाधुर्बाह्याभ्यंतरपरिग्रहं मुक्त्वा वीतरागचरित्राविनाभूतभेदज्ञानेन जानात्यनुभवति । कं कर्मतापन्नं आत्मानं । कथं भूतं विशुद्धज्ञानदर्शनोपयोगस्वभावत्वादुपयोगस्तमुपयोगं ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणं । पुनरपि कथं भूतं । शुद्धं भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मरहितं । **तं णिस्संगं साहुं परमट्ठवियाणया विंति** तं साधुं निस्संगं संगरहितं विदंति जानंति ब्रुवंति कथयंति वा । के ते परमार्थविज्ञायका गणधरदेवादय इति ।

टीका—(जो संगं तु मुइत्ता जाणदि उवओगमप्पगं सुद्धं) जो परम साधु बाह्य और अभ्यन्तर दोनों प्रकार के परिग्रह का त्याग कर वीतराग चारित्र के साथ अविनाभाव रखने वाला ऐसे भेदज्ञान से जो अपनी आत्मा को जानता है—अनुभव करता है । कैसा अनुभव करता है कि आत्मा विशुद्ध ज्ञान दर्शनोपयोग स्वभाव वाला होने से उपयोगमय है; ज्ञानदर्शन उपयोग को लिए हुए है । फिर कैसा है कि शुद्ध है, भावकर्म, द्रव्यकर्म और नोकर्म से रहित है इस प्रकार (समाधि में स्थित होकर) अनुभव करता है; (तं णिस्संगं साहुं परमट्ठवियाणया विंति) उस साधु को परमार्थ के जाननेवाले गणधर देवादिक संग अर्थात् परिग्रह रहित अत एव निसंग साधु कहते हैं ।।१३१।।

***जो मोहं तु मुइत्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं ।**
तं जिदमोहं साहुं परमट्ठवियाणया विंति ।।१३२।।
यो मोहं तु मुक्त्वा ज्ञानस्वभावाधिकं मनुते आत्मानम् ।
तं जितमोहं साधुं परमार्थविज्ञायका विदंति ।।१३२।।

अर्थ—जो पर पदार्थों में होने वाले मोह को छोड़कर अपने आप को केवलमात्र निर्विकल्प ज्ञानस्वभावमय अनुभव करता है । परमार्थ के जानने वाले तीर्थंकरादिक परमेष्ठी उसी साधु को मोह रहित कहते हैं ।।१३२।।

तात्पर्यवृत्तिः—जो मोहं तु मुइत्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं यः परमसाधुः कर्ता समस्तचेतनाचेतनशुभाशुभपरद्रव्येषु मोहं मुक्त्वात्मशुभाशुभमनोवचनकायव्यापाररूपयोगत्रयपरिहारपरिणताभेदरत्नत्रयलक्षणेन भेदज्ञानेन मनुते जानाति कं कर्मतापन्नं आत्मानं, किं विशिष्टं ? निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानेनाधिकं परिणतं परिपूर्णं । **तं जिदमोहं साहुं परमट्ठवियाणया विंति** तं साधुं कर्मतापन्नं जितमोहं निर्मोहं विदंति जानंति । के ते ? परमार्थविज्ञायकाः

*यह आत्मख्याति में नहीं है ।

तीर्थंकरपरमदेवादय इति। एवं मोहपदपरिवर्तनेन रागद्वेषक्रोधमानमायालोभकर्मनोकर्ममनोवचनकायबुद्ध्युदयशुभाशुभ-परिणामश्रोत्रचक्षुघ्राणजिह्वास्पर्शनसंज्ञानि विंशति सूत्राणि व्याख्येयानि। तेनैव प्रकारेण निर्मलपरमचिज्ज्योतिः परिणते-विलक्षणासंख्येयलोकमात्रविभावपरिणामा ज्ञातव्याः। अथ—

टीका—(जो मोहं तु मुइत्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं) जो परम ऋषि समस्त प्रकार के चेतन या अचेतन, शुभ व अशुभ पर द्रव्यों में मोह को छोड़कर शुभ व अशुभ मन, वचन, काय के व्यापार रूप तीनों योगों के परिहार (न होने देना) करने रूप अभेद रत्नत्रय के लक्षण के धरने वाले भेदज्ञान के द्वारा आत्मा का अनुभव करता है। किस प्रकार करता है कि आत्मा विकार रहित शुद्ध स्वसंवेदन ज्ञान से सहित है, परिपूर्ण है, तद्रूप परिणत है इस प्रकार का अनुभव करता है (तं जिदमोहं साहुं परमट्ठवियाणया विंति) परमार्थ के जाननेवाले तीर्थंकर परमदेवादिक उस साधु को ही मोह से रहित हुआ मानते हैं ॥१३२॥

यहां पर जिस प्रकार मोह पद दिया है उसी प्रकार यहां पर राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, बुद्धि, उदय, शुभ परिणाम, अशुभ परिणाम, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना, स्पर्शन, इस प्रकार २० पद क्रमसे रखकर २० सूत्रों का व्याख्यान कर लेना चाहिये। इस प्रकार निर्मल परम ज्योति की परिणतिसे विलक्षण (विरुद्ध) असंख्यात लोकमात्र विभाव भाव हैं ऐसा समझ लेना चाहिए।

***जो धम्मं तु मुइत्ता जाणदि उवओगमप्पगं सुद्धं।**
तं धम्मसंगमुक्कं परमट्ठवियाणया विंति ॥१३३॥

यः धर्मं तु मुक्त्वा जानाति उपयोगात्मकं शुद्धं।
तं धर्मसंगमुक्तं परमार्थविज्ञायका विदंति ॥१३३॥

अर्थः—जो कोई साधु व्यवहारिक धर्म को छोड़कर शुद्ध ज्ञान दर्शन उपयोगरूप आत्मा को जानता है उसको परमार्थ के ज्ञाता धर्म के परिग्रहसे रहित जानते हैं

तात्पर्यवृत्तिः—जो धम्मं तु मुइत्ता जाणदि उवओगमप्पगं सुद्धं यः परमयोगींद्रः स्वसंवेदनज्ञाने स्थित्वा शुभोपयोगपरिणामरूपं धर्मं पुण्यसंगं त्यक्त्वा निजशुद्धात्मपरिणताभेदरत्नत्रयलक्षणेनाभेदज्ञानेन जानात्यनुभवति। कं कर्मतापन्नं आत्मानं। कथंभूतं विशुद्धज्ञानदर्शनोपयोगपरिणतं। पुनरपि कथंभूतं। शुद्धं शुभाशुभसंकल्पविकल्परहितं। **तं धम्मसंगमुक्कं परमट्ठवियाणया विंति**। तं परमतपोधनं निर्विकारस्वकीयशुद्धात्मोपलंभरूपनिश्चयधर्मविलक्षण-भोगाकांक्षास्वरूपनिदानबंधादिपुण्यपरिग्रहरूपव्यवहार धर्मरहितं विदंति जानंति। के ते ? परमार्थविज्ञायकाः प्रत्यक्षज्ञानिन इति। किं च कथंचित्परिणामित्वे सति जीवः शुद्धोपयोगेन परिणमति पश्चान्मोक्षं साधयति परिणामित्वाभावे बद्धो बद्ध एव शुद्धोपयोगरूपं परिणामांतरस्वरूपं न घटते ततश्च मोक्षाभाव इत्यभिप्रायः। एवं शुद्धोपयोगरूपज्ञानमयपरिणामगुण-व्याख्यानमुख्यत्वेन गाथात्रयं गतं। तदनंतरं यथा ज्ञानमयाऽज्ञानमयभावद्वयस्य कर्ता भवति तथा कथयति।

टीकाः—(जो धम्मं तु मुइत्ता जाणदि उवओगमप्पगं सुद्धं) जो योगीन्द्र शुभ उपयोगरूप धर्म परि-णामको भी जीतकर अपने शुद्धात्मा के रूपमें परिणत ऐसे अभेद रत्नत्रय लक्षण वाले भेदज्ञान के द्वारा अपने आपको अनुभव करता है कि मैं विशुद्ध ज्ञान दर्शनोपयोगमय हूं, तथा शुभ अशुभरूप जो संकल्प विकल्प हैं उनसे रहित शुद्ध हूं। (तं धम्मसंगमुक्कं परमट्ठवियाणया विंति) उसी परम साधु को परमार्थ

* यह गाथा आत्मख्याति में नहीं है।

के जाननेवाले प्रत्यक्ष ज्ञानी लोग विकार रहित अपनी शुद्धात्मा के उपलंभरूप जो निश्चयधर्म उससे विलक्षणता को लिए हुए ऐसे भोग, आकांक्षा स्वरूप निदान बंध आदिमय पुण्य के परिग्रहवाले व्यवहार धर्म से दूर होने वाला मानते हैं।

जीव के कथंचित् परिणामीपना सिद्ध होनेपर ही उपर्युक्त प्रकार उसका शुद्धोपयोग में परिणमन सिद्ध हो सकता है। परिणामीपना न माननेपर जीव बंधा हुआ है वह बंधा ही रहना चाहिये। वहां पर फिर उसका शुद्धोपयोगरूप से परिणमन विशेष होता है वह कभी बन नहीं सकता। अतः ऐसी दशामें मोक्ष का अभाव हो जाता है। इस प्रकार शुद्धोपयोगरूप ज्ञानमय परिणाम गुण के व्याख्यान की मुख्यता से तीन गाथाएं पूर्ण हुईं ॥१३३॥

आगे कहते हैं कि यह जीव ज्ञानमई तथा अज्ञानमई दोनों प्रकार के भावों का कर्त्ता कैसे होता हैः—

जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स।
णाणिस्स दु णाणमओ अण्णाणमओ अणाणिस्स ॥१३४॥

यं करोति भावमात्मा कर्त्ता स भवति तस्य भावस्य।
ज्ञानिनस्तु ज्ञानमयोऽज्ञानमयोऽज्ञानिनः ॥ १३४ ॥

अर्थः—यह आत्मा जिस समय जैसा भाव करता है उस समय उसी भाव का कर्ता वह आत्मा होता है सो ज्ञानी के ज्ञानमय और अज्ञानी (संसारी) के अज्ञानमय भाव होता है ॥ १३४ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—**जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स** यं भावं परिणामं करोत्यात्मा स तस्यैव भावस्यैव कर्ता भवति **णाणिस्स दु णाणमओ** स च भावोऽनंतज्ञानादिचतुष्टयलक्षणकार्यसमयसारस्योत्पादकत्वेन निर्विकल्पसमाधिपरिणामपरिणतकारणसमयसारलक्षणेन भेदज्ञानेन सर्वारंभापरिणतत्वाज्ज्ञानिनोजीवस्य शुद्धात्मख्यातिप्रतीतिसंवित्युपलब्ध्यनुभूतिरूपेन ज्ञानमय एव भवति **अण्णाणमओ अणाणिस्स** अज्ञानिनस्तु पूर्वोक्तभेदज्ञानाभावात् शुद्धात्मानुभूतिस्वरूपाभावे सत्यज्ञानमय एव भवतीत्यर्थः। अथ ज्ञानमयभावात्फलं भवति किमज्ञानमयाद्भवतीति प्रश्ने प्रत्युत्तरमाह।

टीकाः—(जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स) यह आत्मा जैसे अपने भाव करता है उस समय वह अपने भाव रूप कर्म का कर्त्ता होता है। सो (णाणिस्स णाणमओ) अनन्त ज्ञानादि चतुष्टय है लक्षण जिसका ऐसे कार्य समयसार का उत्पादक होने से निर्विकल्प समाधि रूप परिणाम से परिणत रहने वाला जो कारण समयसार है लक्षण जिसका उस भेदज्ञान के द्वारा सब प्रकार के आरंभ से रहित होने के कारण ज्ञानी जीव का वह भाव शुद्धात्मा की ख्याति, प्रतीति, संवित्ति उपलब्धि या अनुभूति रूप से ज्ञानमय ही होता है। (अण्णाणमओ अणाणिस्स) किन्तु अज्ञानी जीव को पूर्वोक्त भेदज्ञान न होने से शुद्धात्मा की अनूभूति स्वरूप का अभाव होने से उसका वह भाव अज्ञानमय ही होता है ॥ १३४ ॥

विशेषार्थः—जो आत्मा अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य रूप चतुष्टय को प्राप्त है वह कार्य समयसार कहलाता है। किन्तु जो अनन्त चतुष्टय को प्राप्त न होकर उसकी प्राप्ति के लिए निर्विल्कप समाधि में लगता है वह उपर्युक्त कार्य समयसार का सम्पादक होने से कारण समयसार कहलाता है। जो सब प्रकार के आरम्भ परिग्रह आदि से रहित होकर अपनी शुद्धात्मा की अनुभूति को

लिये हुए होता है अतः उसके रागद्वेष आदि रहित शुद्ध ज्ञानमय भाव ही होता है किन्तु जो समाधि से च्युत होकर रागद्वेषादि में परिणत रहता है उसके ज्ञान शुद्ध न होकर अशुद्ध होता है अतः उसका भाव उस समय अज्ञानमय होता है ऐसा आचार्य का कहना है।

आगे ज्ञानमय भाव से क्या फल होता है और अज्ञानमय भाव से क्या होता है सो कहते हैं:—

अण्णाणमओ भावो अणाणिणो कुणदि तेण कम्माणि।
णाणमओ णाणिस्स दु ण कुणदि तह्मा दु कम्माणि ॥ १३५ ॥

अज्ञानमयो भावोऽज्ञानिनः करोति तेन कर्माणि।
ज्ञानमयो ज्ञानिनस्तु न करोति तस्मात्तु कर्माणि ॥ १३५ ॥

अर्थः—अज्ञानी रागीद्वेषी जीव के (आर्तरौद्ररूप) अज्ञानमय भाव ही होता है जिससे वह कर्मों को करता रहता है, किन्तु ज्ञानी विरागी या समाधिस्थ जीव के ज्ञानमय भाव ही होते हैं (आर्तरौद्र परिणाम से रहित शुद्ध ज्ञानरूप परिणमन ही होता है) अतः वह ज्ञानी किसी भी प्रकार का कर्म नहीं करता है ॥ १३५ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—**अण्णाणमओ भावो अणाणिणो कुणदि तेण कम्माणि** स्वोपलब्धिभावनाविलक्षणत्वेनाज्ञानमयभावो भण्यते। कस्मात्। यस्मात्तेन भावेन परिणामेन कर्माणि करोत्यज्ञानी जीवः। **णाणमओ णाणिस्स दु ण कुणदि तह्मा दु कम्माणि** ज्ञानिनस्तु निर्विकारचिच्चमत्कारभावनावशेन ज्ञानमयो भवति तस्माद् ज्ञानमयभावात् ज्ञानी जीवः कर्माणि न करोतीति। किं च यथा स्तोकोऽप्यग्निः तृणकाष्ठराशिं महांतमपि क्षणमात्रेण दहति। तथा त्रिगुप्तिसमाधिलक्षणो भेदज्ञानाग्निरंतर्मुहूर्तेनापि बहुभवसंचितं कर्मराशिं दहतीति ज्ञात्वा सर्वतात्पर्येण तत्रैव परमसमाधौ भावना कर्तव्येति भावार्थः।

अथ ज्ञानमय एव भावो भवति ज्ञानिनो जीवस्य न पुनरज्ञानमयस्तथैवाज्ञानमय एव भवत्यज्ञानिजीवस्य न पुनर्ज्ञानमयः किमर्थमिति चेत्।

टीकाः—(अण्णाणमओ भावो अणाणिणो कुणदि तेण कम्माणि) अज्ञानी जीव के आत्मा की उपलब्धिरूप भावना से विलक्षणपना होने के कारण अज्ञानमय भाव ही होता है जिससे कि वह उस अज्ञानभाव से कर्मों को करता है। (णाणमओ णाणिस्स दु ण कुणदि तह्मा दु कम्माणि) किन्तु ज्ञानी जीव तो विकार रहित चेतना के चमत्कार रूप भावनामय होकर रहता है अतः उसके ज्ञानमई भाव होता है। उस ज्ञानमई भाव से ज्ञानी जीव कर्मों को नहीं करता है (अर्थात् स्वस्थ होकर रहता है)। भावार्थ यह है कि जैसे थोड़ी भी अग्नि बड़े भारी तृण काठ के ढेर को क्षणमात्र में भस्म कर देती है उसी प्रकार तीन गुप्तिरूप समाधि के लक्षण को रखने वाली भेदज्ञानरूपी अग्नि एक अंतर्मुहुर्त मात्र में अनेक भवों में संचित किये हुए कर्म समूह को नष्ट कर देती है। यह जानकर होसके जिस प्रकार मुमुक्षु साधु को उस परम समाधि में भावना करनी योग्य है ॥ १३५ ॥

ज्ञानी जीव के ज्ञानमई ही भाव होता है अज्ञानमई भाव नहीं, वैसे ही अज्ञानी जीव के अज्ञानमई ही भाव होता है ज्ञानमई नहीं ऐसा आगे कहते हैं:—

णाणमया भावाओ णाणमओ चेव जायदे भावो।
जम्हा तम्हा णाणिस्स सव्वे भावा दु णाणमया ॥१३६॥

अण्णाणमया भावा अण्णाणो चेव जायदे भावो।
तह्मा सव्वे भावा अण्णाणमया अणाणिस्स ॥१३७॥

ज्ञानमयाद्भावाद्ज्ञानमयश्चैव जायते भावः।
यस्मात्तस्माज्ज्ञानिनः सर्वे भावाः खलु ज्ञानमयाः ॥१३६॥

अज्ञानमयाद्भावादज्ञानमयश्चैव जायते भावः।
तस्मात्सर्वेभावा अज्ञानमया अज्ञानिनः ॥१३७॥

अर्थः—ज्ञानी जीव के सब ही भाव ज्ञानमय ही होते हैं क्योंकि ज्ञानमय भाव से ज्ञानमय भाव ही उत्पन्न होता है। इसी प्रकार अज्ञानमय भाव से अज्ञानमय भाव ही उत्पन्न होता है; अतः अज्ञानी जीव के सभी भाव अज्ञानमय होते हैं ॥ १३६-१३७ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—णाणमयाभावाओ णाणमओ चेव जायदे भावो जह्मा ज्ञानमयात् भावात् निश्चयरत्नत्रयात्मकजीवपदार्थज्ञानमय एव जायते भावः स्वशुद्धात्मावाप्तिलक्षणो मोक्षपर्यायो यस्मात्कारणात् **तह्मा णाणिस्स सव्वे भावा दु णाणमया** तस्मात्कारणात्स्वसंवेदनलक्षणभेदज्ञानिनो जीवस्य सर्वे भावाः परिणाम ज्ञानमया ज्ञानेन निर्वृत्ता भवंति तदपि कस्मात् उपादानकारणसदृशं कार्यं भवतीति वचनात् नहि यवनालबीजे वपिते राजान्नशालिफलं भवतीति तथैव च—**अण्णाणमया भावा अण्णाणो चेव जायए भावो** अज्ञानमयाद्भावाजीवपदार्थात् अज्ञानमय एव जायते भावः पर्यायो यस्मात्कारणात् **तह्मा सव्वे भावा अण्णाणमया अणाणिस्स** यतः एवं तस्मात्कारणात्सर्वे भावा परिणामा अज्ञानमया मिथ्यात्वरागादिरूपा भवंति। कस्य अज्ञानिनः शुद्धात्मोपलब्धिरहितस्य मिथ्यादृष्टेर्जीवस्येति। अथ तदेव व्याख्यानं दृष्टांतदार्ष्टांताभ्यां समर्थयति।

टीका—(णाणमया भावाओ णाणमओ चेव जायदे भावो जम्हा) क्योंकि निश्चय रत्नत्रयात्मक जीव पदार्थ रूप ज्ञानमय भाव से स्वशुद्धात्मा की प्राप्ति है लक्षण जिसका ऐसा मोक्ष पर्यायरूप ज्ञानमय भाव उत्पन्न होता है (तम्हा णाणिस्स सव्वे भावा दु णाणमया) इसलिये स्वसंवेदन रूप भेदज्ञान वाले जीव के सभी भाव उस ज्ञान के द्वारा सम्पन्न हुए ज्ञानमय ही होते हैं। क्योंकि उपादान कारण के सदृश कार्य होता है यह महापुरुषों की मानी हुई बात है। देखो कि यव (जौ) के बोने पर बासमती चावल पैदा नहीं हो सकता (अपितु जौ के बोने से जौ ही पैदा होता है)। इसी प्रकार (अण्णाणमया भावा अण्णाणो चेव जायदे भावो) अज्ञानमय (रागद्वेष विशिष्ट) जीव से अज्ञानमय भाव ही उत्पन्न होता है। इसलिए (तम्हा सव्वे भावा अण्णाणमया अणाणिस्स) शुद्धात्मा की उपलब्धि से रहित ऐसे अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव के सभी भाव मिथ्यात्व या रागादिरूप अज्ञानमय परिणाम ही होते हैं ॥१३६-१३७॥

इस कथन को दृष्टांत दार्ष्टांत द्वारा समझाते हैं:—

कणयमया भावादो जायंते कुंडलादयो भावा।
अयमययाभावादो जह जायंते तु कडयादी ॥१३८॥
अण्णाणमया भावा अण्णाणिणो बहुविहा वि जायंते।
णाणिस्स दु णाणमया सव्वे भावा तहा होंति ॥१३९॥ (युग्मम्)

कनकमयाद्भावाज्जायंते कुंडलादयो भावाः ।
अयोमयकाद्भावाद्यथा जायंते तु कटकादयः ।।१३८।।

अज्ञानमयाद्भावादज्ञानिनो बहुविधा अपि जायंते ।
ज्ञानिनस्तु ज्ञानमयाः सर्वे भावास्तथा भवंति ।।१३९।।

अर्थ:—जैसे सोने की सिल्ली से कुण्डलादिक आभूषण बनते हैं, और लोहे के टुकड़े से कड़ाही आदि बनती हैं। उसी प्रकार अज्ञानी जीवके अज्ञानमय भावसे अनेक प्रकार के अज्ञान भाव होते हैं। किन्तु ज्ञानी जीवके सब ही भाव ज्ञानमय होते हैं ।।१३८-१३९।।

तात्पर्यवृत्तिः—कनकमयाद्भावात्पदार्थात् "उपादानकारणसदृशं कार्यं भवतीति" कृत्वा कुंडलादयो भावाः पर्यायाः कनकमया एव भवंति। अयोमयाल्लोहमयाद्भावात्पदार्थात् अयोमया एव भावा पर्यायाः कटकादयो भवंति यथा येन प्रकारेणेति दृष्टांतगाथा गता। अथ दार्ष्टांतमाह। **अण्णाणेति** तथा पूर्वोक्तलोहदृष्टांतेनाज्ञानमयाद्भावाज्जीवपदार्थादज्ञानिनो भावाः पर्याया बहुविधा मिथ्यात्वरागादिरूपा अज्ञानमया जायंते। तथैव च पूर्वोक्तजांबूनददृष्टांतेन ज्ञानिनो जीवस्य ज्ञानमयाः सर्वे भावाः पर्याया भवंति। किं च विस्तरः वीतरागस्वसंवेदनभेदज्ञानी जीवः यं शुद्धात्मभावनारूपं परिणामं करोति स परिणामः सर्वोपि ज्ञानमयो भवति। ततश्च येन ज्ञानमयपरिणामेन संसारस्थितिं छित्वा देवेंद्रलौकांतिकादिमहर्द्धिकदेवो भूत्वा घटिकाद्वयेन मतिश्रुतावधिरूपं ज्ञानमयभावं पर्यायं लभते। ततश्च विमानपरिवारादिविभूतिं जीर्णतृणमिव गणयन्पंचमहाविदेहे गत्वा पश्यति। किं पश्यतीति चेत्, तदिदं समवसरणं त एते वीतरागसर्वज्ञास्त एते भेदाभेदरत्नत्रयाराधनापरिणता गणधरदेवादयो ये पूर्वं श्रूयते परमागमे ते दृष्टाः प्रत्यक्षेणेति मत्वा, विशेषेण दृढधर्ममतिर्भूत्वा तु चतुर्थगुणस्थानयोग्यशुद्धभावनामपरित्यजन्निरंतरं धर्मध्यानेन देवलोके कालं गमयित्वा, पश्चान्मनुष्यभवे राजाधिराजमहाराजार्द्धमंडलीकमहामंडलीकबलदेवकामदेवचक्रवर्तितीर्थंकरपरमदेवादिपदे लब्धेपि पूर्वभववासनावासितशुद्धात्मरूपं भेदभावनाबलेन मोहं न गच्छति रामपांडवादिवत्। ततश्च जिनदीक्षां गृहीत्वा सर्द्धिचतुर्ज्ञानमयभावं पर्यायं लभते। तदनंतरं समस्तपुण्यपापपरिणामपरिहारपरिणताभेदरत्नत्रयलक्षणेन द्वितीयशुक्लध्यानरूपेण विशिष्टभेदभावनाबलेन स्वात्मभावनोत्थसुखामृतरसेन तृप्तो भूत्वा सर्वातिशयपरिपूर्णलोकत्रयाधिपाराध्यं परमाचिंत्यविभूतिविशेषं केवलज्ञानरूपं भावं पर्यायं लभत इत्यभिप्रायः। अज्ञानिजीवस्तु मिथ्यात्वरागादिमयमज्ञानभावं कृत्वा नरनारकादिरूपं भावं पर्यायं लभत इति भावार्थः। एवं ज्ञानमयाज्ञानमयभावकथनमुख्यत्वेन गाथाष्टकं गतं। इति पूर्वोक्तप्रकारेण पुण्यपापादिसप्तपदार्थानां पीठिकारूपेण महाधिकारे कथंचित्परिणामित्वे सति ज्ञानिजीवो ज्ञानमयभावस्य कर्ता तथैव चाज्ञानिजीवोऽज्ञानमयस्य भावस्य कर्ता भवतीति व्याख्यानमुख्यतया गाथानवकेन षष्ठोंतराधिकारः समाप्तः।

अथ पूर्वोक्त एवाज्ञानमयभावो द्रव्यभावगतपंचप्रत्ययरूपेण पंचविधो भवति सचाज्ञानिजीवस्य शुद्धात्मैवोपादेय इत्यरोचमानस्य तमेव शुद्धात्मानं स्वसंवेदनज्ञानेनाजानतस्तमेव परमसमाधिरूपेणाभावयतश्च बंधकारणं भवतीति सप्तमांतराधिकारे समुदायपातनिका:—

टीका:—उपादान कारण के समान ही कार्य होता है इस सिद्धान्त को लेकर स्वर्णमय पदार्थ से स्वर्णमय ही कुंडलादिक पर्यायें उत्पन्न होती हैं परन्तु लोहे के टुकड़े से लोहमय कड़ाही आदि ही बनते हैं। उसी प्रकार पूर्वोक्त लोहे के दृष्टांत को लेकर अज्ञानमय जीव से अनेक प्रकार की मिथ्यात्व या रागादिक रूप अज्ञानमय अवस्थायें होती हैं, और स्वर्ण के दृष्टांत से विकार रहित ज्ञानीजीव के सभी परिणमन ज्ञानमय होते हैं। इस कथन का विस्तार यह है कि वीतराग स्वसंवेदनरूप भेद ज्ञानी जीव

जिस शुद्धात्मा के भावनारूप परिणाम को करता है वह परिणाम सर्व ही ज्ञानमय होता है, जिससे कि वह संसार की स्थिति को कम करके देवेन्द्र या लौकांतिक आदि सरीखा महर्द्धिक देव उत्पन्न होता है, वहां दो घड़ी में ही सुमति, सुश्रुत और अवधिज्ञान रूप ज्ञानमय अवस्था को प्राप्त होता है। तब वह उस प्राप्त हुई विमान और परिवार आदि की विभूति को जीर्ण तृण के समान मानता हुआ पंच महा विदेह क्षेत्र में जाता है, वहां वह देखता है कि यह समवशरण है, ये वीतराग सर्वज्ञ देव हैं, तथा ये सब भेदाभेद रत्नत्रय की आराधना करने वाले गणधरादिक देव हैं, जिनका वर्णन पहले परमागम में सुना था वे मैं प्रत्यक्ष देख रहा हूं। ऐसा जानकर वह धर्म में धर्ममय दृढ़ विचार वाला हो जाता है। इस प्रकार चौथे गुण-स्थान के योग्य शुद्ध भावना को नहीं छोड़ता हुआ वह उस देवलोक में (यथोचित) धर्मध्यान से समय व्यतीत करता है। उसके बाद मनुष्य होता है तब राजाधिराज, महाराज, अर्द्धमंडलीक, महामंडलीक, बलदेव, कामदेव, चक्रवर्ती, और तीर्थंकर, परमदेव आदि पद के प्राप्त होने पर भी पूर्व भव की वासना को लिये हुये शुद्धात्मस्वरूप भेदभावना के बल से मोह को प्राप्त नहीं होता। जैसे राम और पांडव आदि। फलतः वह अन्ततक जिन दीक्षा को ग्रहण करके सप्तर्द्धि (सात प्रकार की ऋद्धि) सहित चार ज्ञान रूप अवस्था को प्राप्त कर लेता है। फिर समस्त प्रकार के पुण्य और पाप रूप परिणामों के त्याग स्वरूप अभेदरत्न-त्रयात्मक द्वितीय शुल्कध्यानमय विशिष्ट भेदभावना के बल से अपने आत्मा की भावना से उत्पन्न हुये सुखामृत रस से तृप्त होकर सब तरह के अतिशयों से परिपूर्ण तथा तीन लोक के स्वामियों द्वारा भी आराधना करने योग्य एवं परम अचिन्त्य विभूति विशेष से युक्त केवलज्ञानात्मक पर्याय को प्राप्त कर लेता है। किन्तु अज्ञानी जीव मिथ्यात्व और रागादिमय अज्ञान भाव को प्राप्त करके नर नारकादि रूप अवस्था को ही प्राप्त होता रहता हैं ।। १३८-१३९ ।।

विशेषार्थ:—आचार्य देव ने यहां यह बतलाया है कि अप्रमत्त अवस्था को प्राप्त ज्ञानी जीव अपने समीचीन समाधिरूप ज्ञानभाव के द्वारा प्रथम तो उसी क्षण परमात्म दशा को प्राप्त कर लेता है; यदि ऐसा नहीं हुआ तो वह स्वर्ग में जाकर लौकान्तिक देवादि विशेष पदों को प्राप्त करता है। तदनंतर तीर्थं-करादि रूप नरोत्तम पद को प्राप्त होकर उसी भव से परम समाधि द्वारा निर्वाण को प्राप्त कर लेता है किन्तु वह जीव अज्ञानी दुराचारी व्यक्ति के समान नरक निगोदादि दुर्गतियों को कभी प्राप्त नहीं करता। किंच यहां टीका में आये हुये शुद्धात्मा की भावना का अर्थ कुछ महानुभाव शुद्ध उपयोग करते हैं वह ठीक नहीं हैं, क्योंकि शुद्धात्मा की भावना व शुद्धोपयोगी में इतना ही अन्तर है जितना कि विद्यार्थी और अध्यापक में है। शुद्धात्मा की भावना अलब्धोप्लिप्सा (नहीं प्राप्त हुई वस्तु के प्राप्त करने की उत्सुकता) रूप होने से अविरत सम्यग्दृष्टि आदि के भी होती है। किन्तु शुद्धोपयोग तो शुद्धात्मा से तन्मयता रूप होता है अतः वह अप्रमत्त दशा में ही हो सकता है उससे पहले नहीं, जैसा कि प्रवचनसार में कहा है:—

"सुविदिदपयत्थसुत्तो संजमतवसंजुदो विगदरागो।
समणो सम सुहदुःखो भणिदो सुद्धोवओगोत्ति।।

इस प्रकार ज्ञानमय भाव और अज्ञानमय भाव के कथन की मुख्यता से छह गाथा पूर्ण हुईं। इसके साथ ही साथ उक्त प्रकार से पुण्य पापादि सप्त पदार्थों को पीठिका रूप जो महाधिकार शुरू किया गया था उसमें यह बताते हुये कि कथंचित् परिणामित्व होने पर ही ज्ञानी जीव अपने ज्ञानभाव का और अज्ञानी जीव अपने अज्ञान भाव का कर्त्ता हो सकता है। इस प्रकार के व्याख्यान की मुख्यता से नौ गाथाओं के द्वारा छठा अन्तराधिकार भी समाप्त हो गया।

अब आगे यह बताते हैं कि वह पूर्वोक्त अज्ञान भाव ही द्रव्य और भावरूपात्मक मिथ्यात्वादि प्रत्ययों के द्वारा पांच प्रकार का होता है। वह अज्ञानभाव-'शुद्ध आत्मा ही उपादेय है' इस प्रकार की रुचि को नहीं रखने वाले तथा उसी अपनी शुद्धात्मा को स्वसंवेदन ज्ञान के द्वारा नहीं जानने वाले एवम् उसी अपनी शुद्धात्मा को परम समाधि रूप (निर्विकल्प भाव) से नहीं अनुभव करने वाले अज्ञानी जीव के—कर्मबंध का कारण होता है; यह सप्तम महाधिकार में बताया जायगा उसकी यह उत्थानिका है।

मिच्छत्तस्स दु उदओ जं जीवाणं अतच्चसद्दहणं।
असंजमस्स दु उदओ जं जीवाणं अविरदत्तं ॥१४०॥
अण्णाणस्स दु उदओ जं जीवाणं अतच्चउवलद्धो।
जो दु कसाउवओगो सो जीवाणं कसाउदओ ॥१४१॥
तं जाण जोग उदअं जो जीवाणं तु चिट्ठउच्छाओ।
सोहणमसोहणं वा कायव्वो विरदिभावो वा ॥१४२॥
एदेसु हेदुभूदेसु कम्मइयवग्गणागयं जं तु।
परिणमदे अट्ठविहं णाणावरणादिभावेहिं ॥१४३॥
तं खलु जीवणिबद्धं कम्मइयवग्गणागयं जइया।
तइया दु होदि हेदू जीवो परिणामभावाणं ॥१४४॥ (पंचकम्)

मिथ्यात्वस्य तूदयो यज्जीवानामतत्वश्रद्धानम्।
असंयमस्यतूदयो यज्जीवानामविरतत्वम् ॥ १४० ॥
अज्ञानस्यतूदयो या जीवानामतत्वोपलब्धिः।
यस्तु कषायोपयोगः स जीवानां कषायोदयः ॥१४१॥
तं जानीहि योगोदयं यो जीवानां तुचेष्टोत्साहः।
शोभनोऽशोभनो वा कर्त्तव्यो विरतिभावो वा ॥१४२॥
एतेषु हेतुभूतेषु कार्मणवर्गणागतं यत्तु।
परिणमतेऽष्टविधं ज्ञानावरणादिभावैः ॥१४३॥
तत्खलु जीवनिबद्धं कार्मणवर्गणागतं यदा।
तदा तु भवति हेतुर्जीवः परिणामभावानां ॥१४४॥ (कुलकम्)

अर्थ—जीवों के जो अतत्त्वरूप श्रद्धान होता है, वह मिथ्यात्व का उदय है, उनके (जीवों के) जो त्याग भाव का अभाव है वह असंयम का उदय है, इसी प्रकार उनका जो स्वरूप का अन्यथा जानना है वह अज्ञान का उदय है

तथा जो जीवों के उपयोग का मैलापन है वह कषाय का उदय है और जो जीवों के शुभाशुभ रूप मन वचन काय की उत्साहात्मक चेष्टाविशेष होती है वह योग का उदय है। उपर्युक्त पांचों में से किसी के भी होने पर जो कर्मवर्गणाओं का समूह आता है वह ज्ञानावरणादि के रूप में आठ प्रकार का होकर अवश्य ही जीव के साथ सम्बद्ध होता है उस समय उन मिथ्यात्वादि भावों का यह जीव कारण होता है ॥१४०-१४४॥

तात्पर्यवृत्तिः—**मिच्छत्तस्सदु उदयं जं जीवाणं अतच्चसद्दहणं** मिथ्यात्वस्योदयो भवति जीवानामनंतज्ञानादिचतुष्टयरूपं शुद्धात्मतत्त्वमुपादेयं विहायान्यत्र यच्छ्रद्धानं रुचिरुपादेयबुद्धिः **असंजमस्सदुउदओ जं जीवाणं अविरदत्तं** असंयमस्य च स उदयो भवति जीवानामात्मसुखसंवित्त्यभावे सति विषयकषायेभ्यो यदनिवर्त्तनमिति। अथ—**अण्णाणस्स दु उदओ जं जीवाणं अतच्चउवलद्धी** अज्ञानस्योदयो भवति यत्किं भेदज्ञानं विहाय जीवानां विपरीतरूपेण परद्रव्यैकत्वेनोपलब्धिः प्रतीतिः **जो दु कसाउवओगो सो जीवाणं कसाउदओ** स जीवानां कषायोदयो भवति यः शांतात्मोपलब्धिलक्षणं शुद्धोपयोगं विहाय क्रोधादिकषायरूप उपयोगः परिणाम इति। अथ—**तं जाण जोग उदयं जं जीवाणं तु चिट्ठउच्छाहो** तं योगोदयं जानीहि त्वं हे शिष्य जीवानां मनोवचनकायवर्गणाधारेण वीर्यांतरायक्षयोपशमजनितः कर्मादानहेतुरात्मप्रदेशपरिस्पंदलक्षणः प्रयत्नरूपेण यस्तु चेष्टोत्साहो व्यापारोत्साहः **सोहणमसोहणं वा कायव्वो विरदिभावो वा** स च शुभाशुभरूपेण द्विधा भवति तत्र व्रतादिकर्तव्यरूपः शोभनः पश्चादव्रतादिरूपो वर्जनीयः स चाशोभनः इति। अथ—**एदेसु हेदुभूदेसुकम्मइयवग्गणागयं जं तु** एतेषु पूर्वोक्तेषु उदयागतेषु हेतुभूतेषु यत् मिथ्यात्वादिपंचप्रत्ययेषु कार्मणवर्गणागतं परिणतं यदभिमतं नवतरं पुद्गलद्रव्यं **परिणमदे अट्ठविहं णाणावरणादिभावेहिं** जीवस्य सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैकपरिणतिरूपपरमसामयिकाभावे सति ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मरूपेणाष्टविधं परिणमतीति। अथ—**तं खलु जीवणिवद्धं कम्मइयवग्गणागयं जइया** तत्पूर्वोक्तसूत्रोदितं कर्मवर्गणायोग्यमभिनवं पुद्गलद्रव्यं जीवनिवद्धं जीवसंबद्धं योगवशेनागतं यदा भवति खलु स्फुटं **तइया दु होदि हेदु जीवोपरिणामभावाणं** तदा काले पूर्वोक्तेषूदयागतेषु द्रव्यप्रत्ययेषु निमित्तभूतेषु सत्सु स्वकीयगुणस्थानानुसारेण जीवो हेतुः कारणं भवति केषां परिणामरूपाणां भावानां प्रत्ययानामिति। किंच उदयागतद्रव्यप्रत्ययनिमित्तेन मिथ्यात्वरागादि भावप्रत्ययरूपेण परिणम्य जीवो नवतरकर्मबंधस्य कारणं भवतीति तात्पर्यं। अयमत्र भावार्थः-उदयागतेषु द्रव्यप्रत्ययेषु यदि जीवः स्वस्वभावं मुक्त्वा रागादिरूपेण भावप्रत्ययेन परिणमतीति तदा बंधो भवतीति नैवोदयमात्रेण घोरोपसर्गेपि पांडवादिवत्, यदि पुनरुदयमात्रेण बंधो भवति तदा सर्वदैव संसार एव। कस्मादिति चेत् संसारिणां सर्वदैव कर्मोदयस्य विद्यमानत्वात्। इति पुण्यपापादिसप्तपदार्थानां पीठिकारूपे महाधिकारेऽज्ञानिभावः पंचप्रत्ययरूपेण शुद्धात्मस्वरूपच्युतानां जीवानां बंधकारणं भवतीति व्याख्यानमुख्यत्वेन पंचगाथाभिः सप्तमोन्तराधिकारः समाप्तः।

अतः परं जीवपुद्गलयोः परस्परोपादानकारणनिषेधमुख्यत्वेन गाथात्रयमित्यष्टमांतराधिकारे समुदाय पातनिका। अथ निश्चयेन कर्मपुद्गलात्पृथग्भूत एव जीवस्य परिणाम इति प्रतिपादयति।

टीकाः—(मिच्छत्तस्स दु उदयं जं जीवाणं अतच्चसद्दहणं) अनन्तज्ञानादिचतुष्टय रूप शुद्धात्मतत्त्व उपादेय है उसे छोड़कर जीवों की जो और ठौर रुचि हो जाती है (उपादेय बुद्धि बन जाती है) वह मिथ्यात्व का उदय है (असंजमस्स दु उदओ जं जीवाणं अविरदत्तं) आत्मोत्थ सुख के सम्वेदन के अभाव होने पर जो विषय कषायों से दूर नहीं होना है वह संसारी जीवों के असंयम का उदय है। (अण्णाणस्स दु उदओ जं जीवाणं अतच्चउवलद्धी) भेदज्ञान को छोड़कर जीवों के विपरीतरूप से जो परद्रव्यों के साथ एकत्व की उपलब्धि है (प्रतीति हो रही है) वह अज्ञान का उदय है। (जो दु कसाउवओगो सो जीवाणं कसाउदओ) आत्मा की शांत अवस्था रूप शुद्धोपयोग को छोड़कर जो जीवों का क्रोधादि कषायरूप मलिन परिणाम होता है वह कषाय का उदय है। और (तं जाण जोग उदयं जं जीवाणं दु चिट्ठउच्छाहो) जीवों के मन, वचन, कायकी वर्गणा के आधार से वीर्यान्तराय के क्षयोपशम को लिये हुये प्रयत्नरूप (आत्मा

के प्रदेशों का परिस्पंद रूप) जोकि कर्मग्रहण करने का हेतु होता है हे शिष्य ! उस व्यापार रूप उत्साह को तुम योग का उदय समझो। वह (सोहणमसोहणं वा कायव्वो विरदिभावो वा) योग शुभ और अशुभ रूप से दो प्रकार का है। जो व्रतादिक का कर्त्तव्य मानकर उनके करने में उत्साह होता है उसे शुभ योग कहते हैं तथा जो नहीं करने के योग्य अव्रतादि रूप में उत्साह है उसे अशुभ योग कहते हैं। (एदेसु हेदुभूदेसु कम्मइयवग्गणा गयं जं तु) इन निमित्तभूत मिथ्यात्वादि पांच प्रत्ययों के होने पर कर्मवर्गणा रूप नूतन पुद्गलद्रव्य (परिणमदे अट्ठविहं णाणावरणादिभावेहिं) जीव के सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकतारूप परिणति को लिये हुये जो परम सामायिक भाव है उसके न होने पर ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म के रूप में आठ प्रकार का परिणमन करता है। (तं खलु जीवणिबद्धं कम्मइयवग्गणागयं जइया) वह पूर्व सूत्रकथित कर्मवर्गणायोग्य नूतन पुद्गलद्रव्य योग के द्वारा आकर अवश्य ही जीव के साथ में जब सम्बद्ध होता है (तइया दु होदि हेदु जीवो परिणाम भावाणं) उस समय पूर्वकथित उन उदय में आये हुये पांच प्रत्ययों के निमित्त रूप होने पर अपने अपने गुण स्थान के अनुसार होने वाले अपने परिणाम रूप भाव प्रत्ययों का यह जीव कारण बनता है अर्थात् उदय में आये हुये द्रव्यप्रत्ययों के निमित्त से जब यह जीव मिथ्यात्व या रागादिरूप भाव प्रत्ययों के रूप में परिणमन करता है तब नूतन कर्मबंध का कारण होता है। इस कथन का सारांश यह है कि द्रव्यप्रत्ययों के उदय होने पर यदि यह जीव अपने सहज स्वभाव को छोड़कर रागादिरूप भाव प्रत्ययों के रूप में परिणमन करता है, तभी नूतन बंध होता है, केवल द्रव्य प्रत्ययों के उदय मात्र से किसी भी संकट के समय में भी नूतन बंध नहीं होता। जैसे कि पांडवो के नहीं हुआ। यदि उदय मात्र से ही बंध मान लिया जाय तब तो इस जीव के संसार सदा ही बना रहेगा, क्योंकि संसारी जीव के कर्म का उदय तो सदा बना ही रहता है ॥१४०-१४१-१४२-१४३-१४४॥

विशेषार्थः—मूल ग्रंथकार श्री कुन्दकुन्दस्वामी ने सामान्य रूप से अज्ञान भाव को बंध का कारण बताया है, और उसके मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये चार उत्तरभेद किये हैं। जैसा कि आत्मख्यातिकार ने अपनी लेखनी से लिखा है और मूल ग्रन्थकार भी पहले बता आये हैं किंतु तात्पर्यवृतिकार ने अज्ञान भाव सामान्य को भी मिथ्यात्वादि चार विशेषों के साथ मिला कर पांच प्रत्यय बंध के कारण होते हैं ऐसा बताया हैं।

इस प्रकार पुण्यपापादि सप्त पदार्थों की पीठिका रूप इस महाधिकार में पांच प्रत्ययों के रूपों से जो शुद्धात्मा के स्वरूप से च्युत होने वाले जीवों के अज्ञान भाव होता है, वहां बंध का कारण होता है, इस प्रकार के व्याख्यान की मुख्यता से पांच गाथाओं द्वारा सातवां अंतराधिकार समाप्त हुआ।

अब इसके आगे आठवां अधिकार है उसमें जीव और पुद्गल ये दोनों परस्पर में उपादान कारण नहीं होते इस प्रकार के कथन की मुख्यता से तीन गाथायें हैं। उसमें आचार्य देव प्रथम यह बताते हैं कि निश्चयनय से देखा जाय तो जीव का जो परिणाम है वह कर्मपुद्गलों से पृथकभूत ही है।

जीवस्स दु कम्मेण य सह परिणामा दु होंति रागादी।
एवं जीवो कम्मं च दोवि रागादिमावण्णा ॥१४५॥

एकस्स दु परिणामो जायदि जीवस्स रागमादीहिं।
ता कम्मोदय हेदूहिं विणा जीवस्स परिणामो ॥१४६॥

जीवस्य तु कर्मणा च सह परिणामाः खलु भवति रागादयः।
एवं जीवः कर्म च द्वे अपि रागादित्वमापन्ने ॥१४५॥
एकस्य तु परिणामो जायते जीवस्य रागादिभिः।
तत्कर्मोदयहेतुभिर्विना जीवस्य परिणामः॥ १४६ ॥

अर्थ—जीव के जो रागदि विकार भाव होते हैं वे वैसे ही यदि वास्तव में कर्म के भी होते हों तो जीव और कर्म ये दोनों ही रागादिमान् होने चाहिए किन्तु ऐसा होता नहीं। यदि अकेले जीव के ही रागादि परिणाम मान लिये जावें तो कर्मोदय के बिना भी हो जाने चाहिए।

तात्पर्यवृत्तिः-जीवस्स दु कम्मेण य सह परिणामा दु होंति रागादी यदि जीवस्योपादानकरणभूतस्य कर्मोदयेनोपादानभूतेन सह रागादिपरिणामा भवंति। **एवं जीवो कम्मं च दोवि रागादिमावण्णा** एवं द्वयोर्जीवपुद्गलयोः रागादिपरिणामानामुपादानकारणत्वे सति सुधाहरिद्रयोरिव द्वयोरागित्वं प्राप्नोति। तथा सति पुद्गलस्य चेतनत्वं प्राप्नोति स च प्रत्यक्षविरोध इति। अथ—**एकस्स दु परिणामो जायदि जीवस्स रागमादीहिं** अथाभिप्रायो भवतां पूर्वदूषणभयादेकस्य जीवस्यैकांतेनोपादानकारणस्य रागादिपरिणामो जायते **ता कम्मोदयहेदू हि विणा जीवस्स परिणामो** तस्मादिदं दूषणं कर्मोदयहेतुभिर्विनापि शुद्धजीवस्य रागादिपरिणामो जायते स च प्रत्यक्षविरोध आगमविरोधश्च। अथवा द्वितीयव्याख्यानं एकस्य जीवस्योपादानकारणभूतस्य कर्मोदयोपादानहेतुर्भिर्विना रागादिपरिणामो यदि भवति तदा सम्मतमेव। किं च द्रव्यकर्मणामनुपचरितासद्भूतव्यवहारेण कर्त्ता जीवः रागादिभावकर्मणामशुद्ध निश्चयेन सचाशुद्धनिश्चयः यद्यपि द्रव्यकर्मकर्तृत्वविषभूतस्यानुपचरितासद्भूतव्यवहारस्यापेक्षया निश्चयसंज्ञा लभते। तथापि शुद्धात्मद्रव्यविषयभूतस्य शुद्धनिश्चयस्यापेक्षया वस्तुवृत्त्या व्यवहार एवेति भावार्थः। अथ निश्चयेन जीवात्पृथग्भूत एव पुद्गलकर्मणः परिणाम इति निरूपयति।

टीका:—(जीवस्स दु कम्मेण य सह परिणामा दु होंति रागादी) रागादि भाव जो होते हैं उनका उपादान कारण जीव होता है, कर्म उदय नहीं (किन्तु कर्मोदय तो निमित्तरूप से उसके साथ रहता है)। यदि कर्मोदय को भी रागादि का उपादान कारण मान लिया जाय तब तो (एवं जीवो कम्मं च दोवि रागादिमावण्णा) जीव और पुद्गल इन दोनों में ही रागादिक होते हुए प्रतीत होने चाहिये जैसे कि चूना और हल्दी इन दोनों के मेल से पैदा हुई लालिमा दोनों की होती है। वैसे ही कर्म और जीव दोनों ही रागादि के उपादान कारण हों तो दोनों में राग भाव आना चाहिये। ऐसा होने पर फिर पुद्गल को भी चेतनपना प्राप्त हो जाता है, जो कि प्रत्यक्ष में विरुद्ध है। (एकस्स दु परिणामो जायदि जीवस्स रागमादीहिं) और उपर्युक्त दोष से बचने के लिये यदि ऐसा कहा जाय कि रागादिक परिणाम उपादानभूत एक जीव का ही परिणाम है (उसमें कर्मोदय का कुछ भी हाथ नहीं है) (ता कम्मोदय हेदूहिं विणा जीवस्स परिणामो) तब तो फिर कर्मोदय के न होने पर शुद्ध जीव में भी वह रागादि रूप परिणाम पाया जाना चाहिये, जो कि प्रत्यक्ष व आगम इन दोनों से विरुद्ध है। अथवा दूसरी प्रकार से ऐसा भी कहा जा सकता है कि उपादान रूप में तो रागादि भावों का कारण जीव ही होता है, कर्मोदय रागादिक में उपादान कारण नहीं होता, यह ठीक ही है। सांरांश यह है कि द्रव्य कर्मों का कर्ता तो यह जीव अनुपचरितासद्भूत व्यवहार नय से होता है और रागादि भाव कर्मों का कर्त्ता अशुद्ध निश्चयनय से होता है। अशुद्ध निश्चयनय जीव को द्रव्य कर्मों का कर्त्तापना बताने वाले अनुपचरितासद्भूत व्यवहार नय की अपेक्षा से यद्यपि निश्चय नाम को पाता है, फिर भी शुद्धात्म द्रव्य को विषय करने वाले शुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षा से वह वास्तव में व्यवहार नय ही माना गया है॥ १४५, १४६॥

आगे बताते हैं कि पुद्गल कर्म का जो परिणाम है वह वास्तव में जीव से पृथक् ही है।

जइ जीवेण सहच्चिय पुग्गलदव्वस्स कम्मपरिणामो।
एवं पुग्गलजीवा हु दो वि कम्मत्तमावण्णा ॥१४७॥
एकस्स दु परिणामो पुग्गलदव्वस्स कम्मभावेण।
ता जीवभावहेदूहिं विणा कमस्स परिणामो ॥१४८॥ (युग्मम्)

यदि जीवेन सह चैव पुद्गलद्रव्यस्य कर्मपरिणामः।
एवं पुद्गलजीवौ खलु द्वावपि कर्मत्वमापन्नौ ॥ १४७ ॥
एकस्य तु परिणामः पुद्गलद्रव्यस्य कर्मभावेन।
तज्जीवभाव हेतुभिर्विना कर्मणः परिणामः ॥१४८॥

अर्थ:—इसी प्रकार यदि जीव सहित पुद्गल द्रव्य का परिणमन कर्म रूप हो तो पुद्गल और जीव ये दोनों कर्मरूप में एकपने को प्राप्त हो जाना चाहिये, और यदि अकेले पुद्गल द्रव्य का ही परिणाम कर्म रूप में हो तो जीव के रागादि भावों के विना ही हो जाना जाहिये, सो भी नहीं होता है ॥१४७-१४८॥

तात्पर्यवृत्तिः—**एकस्स परिणामो पुग्गलदव्वस्स कम्मभावेण** एकस्योपादानभूतस्य कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्यस्य द्रव्यकर्मरूपेण परिणामः यत एवं **ता जीवभावहेदूहिं विणा कम्मस्स परिणामो** तस्मात्कारणाज्जीवगतमिथ्यात्वरागादिपरिणामोपादानहेतुर्भिर्विनापि द्रव्यकर्मणः परिणामःस्यात्।

इति पुण्यपापादिसप्तपदार्थानां पीठिकारूपे महाधिकारे जीवकर्मपुद्गलपरस्परोपादानकारणनिषेधमुख्यतया गाथात्रयेणाष्टमोंतराधिकारः समाप्तः।

अथानंतरं व्यवहारेण बद्धो निश्चयेनाबद्धो जीव इत्यादिविकल्परूपेण नयपक्षपातेन स्वीकारेण रहितं शुद्धपारिणामिकपरमभावग्राहकेन शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन पुण्यपापादिपदार्थेभ्यो भिन्नं शुद्धसमयसारं गाथाचतुष्टयेन कथयतीति नवमेंतराधिकारे समुदायपातनिका। तद्यथा अथ किमात्मनि बद्धस्पृष्टं किमबद्धस्पृष्टं कर्मेति प्रश्ने सति नयविभागेन परिहारमाह।

टीका:—(एकस्स दु परिणामो पुग्गलदव्वस्स कम्मभावेण) उपादान भूत कर्म वर्गणा योग्य अकेले पुद्गल द्रव्य का ही परिणमन कर्म रूप में होता हो तो (ता जीवभावहेदूहिं विणा कम्मस्स परिणामो) फिर जीव में होने वाली मिथ्यात्व और रागादिरूप परिणामों के उपादान हेतुभूत जीव के विकारी भाव उनके विना भी पुद्गलों का द्रव्यकर्मरूप परिणाम हो जाना चाहिये। किन्तु ऐसा होता नहीं है। (इसलिये वहां पर निमित्त रूप से जीव के विकारी भावों को मानना ही पड़ता है; फिर भी कर्मरूप परिणमन तो कार्माण द्रव्यरूप पुद्गलों का ही होता है। जो कि वास्तव में जीव के रागादि भावों से भिन्न होता है। ॥१४७-१४८॥

विशेषार्थ:—यदि पुद्गल कर्म के उदय के साथ ही जीव का परिणाम माना जाय तो जीव और कर्म इन दोनों के रागादिक की प्राप्ति होनी चाहिये; परन्तु ऐसा है नहीं। अतः पुद्गलद्रव्य का उदय जीव के अज्ञानरूप रागादि भावों का निमित्त कारण होता है उस निमित्त से जुदा ही जीव का रागादिरूप

परिणाम होता है। इसी प्रकार पुद्गल द्रव्य का कर्मरूप परिणाम भी जीव के साथ ही माना जाय तो दोनों के कर्मरूप परिणाम सिद्ध हो जायं। अतः जीव का अज्ञान रूप रागादिमय परिणाम पुद्गल द्रव्य के कर्मरूप बनने में निमित्त कारण होता है। किन्तु पुद्गल द्रव्य का कर्मरूप परिणाम तो उससे वास्तव में पृथक् ही होता है।

इस प्रकार पुण्य पापादि सप्त पदार्थों की पीठिका रूप इस महाधिकार में जीव और पुद्गल को परस्पर में उपादान उपादेय भाव नहीं है, इस प्रकार का कथन करने वाली तीन गाथाओं के द्वारा आठवां अंतराधिकार समाप्त हुआ।

(इति अष्टमोऽधिकारः समाप्त)

अब इसके आगे नवमें अधिकार में आचार्यदेव चार गाथाओं से शुद्ध समयसार का कथन करते हैं कि यह जीव शुद्ध पारिणामिक रूप परमभाव का ग्राहक शुद्धद्रव्यार्थिक नय से पुण्य पापादि पदार्थों से भिन्न ही है जो कि व्यवहार नय से कर्मों से बंधा हुआ है किन्तु निश्चयनय से बंधा हुआ नहीं है; इत्यादि विकल्प रूप नय पक्षपात से भी रहित है। आगे जब शिष्य ने प्रश्न किया कि आत्मा कर्मों से बद्ध है या नहीं है, और बद्ध है तो कौन से नय से है तथा अबद्ध है तो कौन से नय से है उसका उत्तर देते हुये आचार्य कहते हैं:—

जीवे कम्मं बद्धं पुट्ठं चेदि ववहारणयभणिदं ।
सुद्धणयस्स दु जीवे अबद्धपुट्ठं हवइ कम्मं ॥१४६॥

जीवे कर्म बद्धं स्पृष्टं चेति व्यवहारनयभणितं ।
शुद्धनयस्य तु जीवे अबद्धस्पृष्टं भवति कर्म ॥ १४६ ॥

अर्थ:—कर्म जीव से सम्बद्ध हैं, आत्म प्रदेशों में मिले हुये हैं यह व्यवहारनय का पक्ष है और कर्म. जीव में अबद्ध स्पृष्ट हैं अर्थात् बंधे हुये नहीं हैं ऐसा शुद्ध नय का कथन है ॥ १४६ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—जीवे कम्मं बद्धं पुट्ठं चेदि ववहारणयभणिदं जीवेऽधिकरणभूते बद्धं संश्लेषरूपेण क्षीरनीरवत्संबद्धं स्पृष्टं योगमात्रेण लग्नं च कर्मेति व्यवहारनयपक्षो व्यवहारनयाभिप्रायः। **सुद्धणयस्स दु जीवे अबद्धपुट्ठं हवइ कम्मं** शुद्धनयस्याभिप्रायेण पुनर्जीवेधिकरणभूते अबद्धं स्पृष्टं कर्म इति निश्चयव्यवहारनयद्वयविकल्परूपं शुद्धात्म स्वरूपं न भवतीति भावार्थः। अथ यस्माद्बद्धाबद्धादिविकल्परूप नयस्वरूपमुक्तं तस्माच्छुद्धपारिणामिकपरमभावग्राहकेण शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन बद्धाबद्धादिनयविकल्परूपो जीवः न भवतीति प्रतिपादयति ।

टीका:—(जीवे कम्मं बद्धं पुट्ठं चेदि ववहारणयभणिदं) कर्म, अधिकरण भूत जीव में नीर और क्षीर की तरह एकमेक होकर सम्बद्ध है परस्पर मिले हुये हैं तथा योग मात्र के द्वारा आत्मा में लगे हैं। यह व्यवहारनय का अभिप्राय है (सुद्धणयस्स दु जीवे अबद्धपुट्ठं हवइ कम्मं) शुद्धनय के अभिप्राय से अधिकरण रूप जीव में कर्म न तो बद्ध ही हैं और न स्पृष्ट ही हैं। इस प्रकार निश्चयनय और व्यवहारनय इन दोनों नयों से उत्पन्न होने वाला विकल्प वास्तव में शुद्धात्मा का स्वरूप नहीं है।

विशेषार्थ:—जीव और पुद्गल कर्म को एक बंध पर्याय रूप में देखा जाय तब तो भिन्नता का अभाव है वहां जीव में कर्म बंधते भी हैं और उसे छुये हुये भी हैं यह व्यवहारनय का कथन है; किन्तु जीव और पुद्गल कर्म को भिन्न द्रव्यरूप में देखा जाय तो वे दोनों अत्यन्त पृथक् पृथक् ही हैं। इसलिये जीव

में कर्म बद्ध भी नहीं हैं और उसे छुये हुये भो नहीं हैं; यह निश्चयनय का पक्ष है किन्तु आत्मा का वास्तविक स्वरूप तो इन दोनों बद्धाबद्ध से भिन्न प्रकार का केवल चेतनत्व को लिये अमूर्त्त स्वरूप है ।। १४६ ।।

जब कि बद्धादि विकल्प रूप व्यवहार नय का पक्ष है और अबद्धादि विकल्प रूप निश्चयनय का पक्ष हैं; किन्तु पारिणामिक परमभाव का ग्राहक शुद्ध द्रव्यार्थिक नय के द्वारा देखने पर जीव बद्धाबद्धादि रूप विकल्प से सर्वथा दूर है ऐसा कथन करते हैं:—

कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एव तु जाण णयपक्खं ।
पक्खातिक्कंतो पुण भण्णदि जो सो समयसारो ।।१५०।।

कर्म बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जानीहि नयपक्षं ।
पक्षातिक्रांतः पुनर्भण्यते यः स समयसारः ।।१५०।।

अर्थ:—जीव में कर्म बद्ध हैं (लगे हुये हैं) यह भी और जीव में कर्म चिपके हुए नहीं हैं ऐसा भी एक नय का पक्ष है किन्तु समयसार रूप जो आत्मा है वह इन दोनों पक्षों से दूरवर्त्ती है ।।१५०।।

तात्पर्यवृत्तिः— कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जाण णयपक्खं जीवेधिकरणभूते कर्म बद्धमबद्धं चेति योऽसौ विकल्पः स उभयोपि नयपक्षपातः स्वीकार इत्यर्थः **पक्खातिक्कंतो पुण भण्णदि जो सो समयसारो** नयपक्षातिक्रांतो भण्यते यः स समयसारः शुद्धात्मा । तद्यथा—व्यवहारेण बद्धो जीव इति नयविकल्पः शुद्धजीवस्वरूपं न भवति निश्चयेनाबद्धो जीव इति च नयविकल्पः शुद्धजीवस्वरूपं न भवति निश्चयव्यवहाराभ्यां बद्धाबद्धजीव इति वचनविकल्पः शुद्धजीवस्वरूपं न भवति । कस्मादिति चेत् ? श्रुतविकल्पा नया इति वचनात् । श्रुतज्ञानं च क्षायोपशमिकं क्षयोपशमस्तु ज्ञानावरणीयक्षयोपशमजनितत्वात् । यद्यपि व्यवहारनयेन छद्मस्थापेक्षया जीवस्वरूपं भण्यते तथापि केवलज्ञानापेक्षया शुद्धजीवस्वरूपं न भवति । तर्हि कथं भूतं जीवस्वरूपमिति चेत् ? योसौ नयपक्षपातरहितस्वसंवेदनज्ञानी तस्याभिप्रायेण बद्धाबद्धमूढादिनयविकल्परहितं चिदानंदैकस्वभावं जीवस्वरूपं भवतीति । तथा चोक्तं—

य एव मुक्त्वा नयपक्षपातं स्वरूपगुप्ता निवसंति नित्यं ।
विकल्पजालच्युतशांतचित्तास्तएव साक्षादमृतं पिबंति ।। ६८ ।।

एकस्य बद्धो न तथा परस्य चितिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ।। ६९ ।।

समयाख्यानकाले या बुद्धिर्नयद्वयात्मिका । वर्तते बुद्धतत्त्वस्य सा स्वस्थस्य निवर्तते ।।
हेयोपादेयतत्वे तु विनिश्चित्य नयद्वयात् । त्यक्त्वा हेयमुपादेयेवस्थानं साधुसम्मतं ।।

अथ नयपक्षातिक्रांतस्य शुद्धजीवस्य किं स्वरूपमिति पृष्टे सति पुनर्विशेषेण कथयति ।।

टीका:—(कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जाण णयपक्खं) अधिकरण भूत जीव में कर्म सम्बद्ध हैं, और सम्बद्ध नहीं हैं, ऐसा कथन तो एक २ नय का पक्ष है (पक्खातिक्कंतो पुण भण्णदि जो सो समय सारो) किन्तु शुद्धात्मतत्व का वास्तविक स्वरूप जो कि समयसार नाम से कहा जाता है वह तो इन दोनों पक्षों से भिन्न प्रकार का ही है; क्योंकि व्यवहारनय के कहने के अनुसार जीव कर्मों से बंधा हुआ है जो कि शुद्ध जीव का स्वरूप नहीं है और निश्चयनय से जीव कर्मों से अबद्ध है यह भी नय का विकल्प है जो कि शुद्ध जीव का स्वरूप नहीं है इसलिये निश्चय और व्यवहार के द्वारा जीव को बद्ध या अबद्ध

कहना यह जीवमात्र का स्वरूप नहीं है (किन्तु यह नय का विकल्प है)। नय जितने भी होते है वे सब श्रुतज्ञान के विकल्प रूप होते हैं; यह सिद्धांत की बात है, और श्रुतज्ञान है सो क्षायोपशमिक है; क्षयोपशम है वह ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से प्रकट होने के कारण यद्यपि व्यवहारनय के द्वारा छद्मस्थ जीव की अपेक्षा से जीव का स्वरूप होता है तथापि केवलज्ञान की अपेक्षा से वह शुद्ध जीव का स्वरूप नहीं है तब फिर जीव का स्वरूप क्या है इस प्रश्न के होने पर आचार्य उत्तर देते हुये कहते हैं— नय के पक्षपात से रहित जो स्वसंवेदन ज्ञानी जीव है उसके विचारानुसार जीव का स्वरूप बद्धाबद्ध या मूढामूढ आदि नय के विकल्पों से रहित चिदानंद स्वरूप होता है जैसा कि आत्मख्यातिकार ने कहा है:—जो लोग नय के पक्षपात को छोड़कर सदा अपने आपके स्वरूप में तल्लीन रहते हैं एवं सभी प्रकार के विकल्प जाल से रहित शांत चित्त वाले होते हैं, वे लोग ही साक्षात् अमृत का (समयसार का) पान करते हैं ।।६६।। जीव व्यवहार नय की अपेक्षा से बद्ध होता है और निश्चयनय की अपेक्षा से वह बद्ध नहीं होता अतः यह इन दोनों नयों के विचार में अपना २ पक्षपात है। इसलिए पक्षपात रहित तत्ववेदी पुरुष के ज्ञानमें तो चेतन, चेतन ही है। बात यहां ऐसी है कि आगम के व्याख्यान के समय मनुष्य की बुद्धि निश्चय और व्यवहार इन दोनों नय को लेकर चलती है, किन्तु तत्व को जान लेने के बाद स्वस्थ हो जानेपर ऊहापोहात्मक बुद्धि दूर हो जाती है। निश्चय और व्यवहार इन दोनों नयों के द्वारा हेय और उपादेय तत्व का निर्णय कर लेने पर हेय का त्याग करके उपादेय तत्व में लगे रहना साधु संतों को अभीष्ट है ।।१५०।।

विशेषार्थः—जीव को बद्ध बताने पर संसारी मात्र का ग्रहण हो सकता है किन्तु सिद्ध जीव का नहीं और अबद्ध कहने से जो सिद्ध जीव हैं उन्हीं का ग्रहण हो सकता है उसमें संसारी जीव शेष रह जाते हैं जो कि आत्मत्व से रहित नहीं है अतः तत्वज्ञानी जीवों की दृष्टि में नय प्ररूपणा से परे जीव सदा चेतन स्वरूप ही हैं।

अब आचार्य देव नय पक्ष से दूरवर्ती शुद्ध जीव के स्वरूप को कहते हैं:—

दोण्हवि णयाण भणियं जाणइ णवरिं तु समयपडिबद्धो।
ण दु णयपक्खं गिण्हदि किंचिवि णयपक्खपरिहीणो ।।१५१।।

द्वयोरपि नययोर्भणितं जानाति केवलं तु समयप्रतिबद्धः।
न तु नयपक्षं गृह्णाति किंचिदपि नयपक्षपरिहीनः ।।१५१।।

अर्थः—जो पुरुष सहज परमानंद स्वरूप समयसार का अनुभव करने वाला है वह दोनों नयों के कथन को जानता अवश्य है किन्तु वह किसी भी एक नय के पक्ष को स्वीकार नहीं करता, दोनों नयों के पक्षपात से दूर होकर रहता है।

तात्पर्यवृत्तिः—योसौ नयपक्षपातरहितः स्वसंवेदनज्ञानी तस्याभिप्रायेण बद्धाबद्धमूढामूढादिनयविकल्परहितं चिदानंदैकस्वभावं। **दोण्हवि णयाण भणियं जाणइ** यथा भगवान् केवली निश्चयव्यवहाराभ्यां द्वाभ्यां भणितमर्थं द्रव्यपर्यायरूपं जानाति। **णवरिं तु समयपडिबद्धो** तथापि नवरि केवलं सहजपरमानंदैकस्वभावस्य समयस्य प्रतिबद्ध आधीनः सन् **णयपक्खपरिहीणो** सततसमुल्लसन् केवलज्ञानरूपतया श्रुतज्ञानावरणीयक्षयोपशमजनितविकल्पजालरूपा-नयद्वयपक्षपाताद्दूरीभूतत्वात् **ण दु णयपक्खं गिण्हदि किंचिवि** न तु नयपक्षं विकल्पं किमप्यात्मरूपतया गृह्णाति तथायं गणधरदेवादिछद्मस्थजनोपि नयद्वयोक्तं वस्तुस्वरूपं जानाति तथापि नवरि केवलं चिदानंदैकस्वभावस्य समयस्य

प्रतिवद्ध आधीनः सन् श्रुतज्ञानावरणीयक्षयोपशमजनितविकल्पजालरूपान्नयद्वयपक्षपातात् शुद्धनिश्चयेन दूरीभूतत्वान्नय-पक्षपातरूपं स्वीकारं विकल्पं निर्विकल्पसमाधिकाले शुद्धात्मस्वरूपतया न गृह्णाति । अथ शुद्धपारिणामिकपरमभावग्रा-हकेण शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन नयविकल्पस्वरूपसमस्तपक्षपातेनातिक्रांत एव समयसारे इत्येव तिष्ठति ।

टीकाः—(दोण्हवि णयाण भणियं जाणइ) जो कोई नयों के पक्षपात से दूर स्वसंवेदनज्ञानी है वह बद्ध अबद्ध मूढ अमूढ आदि नय के विकल्पों से रहित चिदानंदमयी एक स्वभाव को उसी प्रकार जानता है जैसा भगवान् केवलो, निश्चयनय तथा व्यवहानय के विषय द्रव्य पर्याय रूप अर्थ को जानते हैं (णवरिं तु समयपडिबद्धो) किन्तु सहज परमानंद स्वभाव जो शुद्धात्मा उसके अधीन होते हुए केवली भगवान् (णयपक्खपरिहीणो) निरन्तर केवल ज्ञान के रूप में वर्तमान होने से श्रुतज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाले विकल्प जाल रूप जो निश्चयनय और व्यवहारनय उन दोनों नयों के पक्षपात से रहित होने के कारण (ण दु णयपक्खं गिण्हदि किंचिवि) किसी भी नय के पक्ष रूप विकल्प को कभी स्वीकार नहीं करते अर्थात् उसे छूते भी नहीं हैं । वैसे ही गणधरदेव आदि छद्मस्थ महर्षि लोग भी दोनों नयों के द्वारा बताये हुए वस्तु के स्वरूप को जानते अवश्य हैं फिर भी चिदानन्दैक स्वभावरूप शुद्धात्मा के अधीन होते हुये अर्थात् शुद्धात्मस्वरूप का अनुभव करने में लीन होते हुए श्रुतज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न विकल्पों का जालरूप जो दोनों नयों का पक्षपात उससे शुद्ध निश्चय के द्वारा दूर होकर नय के पक्षपात रूप विकल्प को निर्विकल्प समाधिकाल में अपने आत्मरूप से ग्रहण नहीं करते हैं ।।१५१।।

विशेषार्थः—तात्पर्य यह है कि समाधिस्थ पुरुष किसी भी अन्य पदार्थ के साथ किसी भी प्रकार का कोई भी लगाव न रखकर केवलमात्र सच्चिदानंदात्मक अपने आत्म स्वरूप में लीन रहता है जैसे कि केवलज्ञानी । केवल ज्ञानी में और उसमें उस समय यदि कोई अन्तर रहता है तो वह उतना ही कि केवल ज्ञानी का ज्ञान क्षायिक एवं शास्वत होता है जब कि उस समाधिस्थ पुरुष का ज्ञान तात्कालिक एवं क्षायो पशमिक । जैसे किसी वस्तु को निर्दोष तेज आंख वाला आदमी आंखों से ही दृढता के साथ देखता रहता है; उसे ही दुर्बल आंखोंवाला ऐनक लगाकर कुछ देर तक देख सकता है । उसी प्रकार केवलज्ञानी तो सहज रूप में अपने आपका निरीक्षण करते रहते हैं; परन्तु छद्मस्थ समाधिनिरत जीव वहां पर मन को लगाकर, जब तक मन लगा रहता है तब तक आत्म निरीक्षण करते हैं । हां, केवलज्ञानी का उपयोग क्षायिक होता है, अतः उनके उपयोग में स्वरूप से आत्मा का ज्ञान होता रहता है, उसी समय पर रूप से अन्य समस्त पदार्थों का ज्ञान भी होता है । किन्तु छद्मस्थ का उपयोग तो एकांगी होता है अतः वह जिस समय आत्मोन्मुखी होता है उस समय अन्य पदार्थों के स्मरण से रहित होता है और जिस समय अन्य किसी भी पदार्थ का स्मरण हुआ कि शुद्धात्मानुभव नहीं रह पाता ।

यदि शुद्ध पारिणामिक परमभाव के ग्रहण करने वाले शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से सोचा जाय तो नय के विकल्प स्वरूप जो समस्त प्रकार के पक्षपात उनसे रहित ही समयसार होता है ऐसा नीचे की गाथा में कहते हैं:—

सम्मद्दंसणणाणं एदं लहदित्ति णवरि ववदेसं ।
सव्वणयपक्खरहिदो भणिदो जो सो समयसारो ।।१५२।।

सम्यग्दर्शनज्ञानमेतल्लभत इति केवलं व्यपदेशं ।
सर्वनयपक्षरहितो भणितो यः स समयसारः ।।१५२।।

अर्थ—जो समयसार है वह तो सभी प्रकार के नयों के पक्षपात से रहित होता है, उस समयसार को यदि किसी दूसरे शब्द से कहा जा सकता है तो वास्तव में सम्यग्यदर्शन और सम्यग्ज्ञान शब्द द्वारा कहा जा सकता है ॥१५२॥

तात्पर्यवृत्तिः—सव्वणयपक्खरहिदो भणिदो जो सो समयसारो इंद्रियानिंद्रियजनितबहिर्विषयसमस्तमतिज्ञानविकल्परहितः सन् बद्धाबद्धादिविकल्परूपनयपक्षपातरहितं समयसारमनुभवन्नेव निर्विकल्पसमाधिस्थैः पुरुषैर्दृश्यते ज्ञायते च यत आत्मा ततः कारणात् **सम्मद्दंसणणाणं एदं लहदित्ति णवरि ववदेसं** नवरि केवलं सकलविमलकेवलदर्शनज्ञानरूपव्यपदेशं संज्ञां लभते । न च बद्धाबद्धादिव्यपदेशाविति । एवं निश्चयव्यवहारनयद्वयपक्षपातरहितशुद्धसमयसारव्याख्यानमुख्यतया गाथा चतुष्टयेन नवमोंतराधिकारः समाप्तः ।

इत्यनेन प्रकारेण **जाव ण वेदि विसेसं** इत्यादिगाथामादिं कृत्वा पाठक्रमेणाज्ञानिसज्ञानिजीवयोः संक्षेपसूचनार्थं गाथाषट्कं । तदनंतरमज्ञानिसज्ञानिजीवयोर्विशेषव्याख्यानरूपेणैकादश गाथाः । ततश्चेतनाचेतनकार्ययोरेकोपादानकर्तृत्वलक्षणद्विक्रियावादिनिराकरणमुख्यत्वेन गाथापंचविंशतिः । तदनंतरं प्रत्यया एव कर्म कुर्वंतीति समर्थनद्वारेण सूत्रसप्तकं ततश्च जीवपुद्गलकथंचित्परिणामित्वस्थापनमुख्यत्वेन सूत्राष्टकं । ततः परं ज्ञानमयाज्ञानमयपरिणामकथनमुख्यतया गाथानवकं । तदनंतरमज्ञानमयभावस्य मिथ्यात्वादिपंचप्रत्ययभेदप्रतिपादनरूपेण गाथापंचकं । ततश्च जीवपुद्गलयोः परस्परोपादानकर्तृत्वनिषेधमुख्यत्वेन गाथात्रयं । ततः परं नयपक्षपातरहितशुद्धसमयसारकथनरूपेणा गाथाचतुष्टयं चेति समुदायेनाष्टाधिकसप्ततिगाथाभिर्नवभिरंतराधिकारैः कर्ताकर्म महाधिकारः समाप्तः ।

तत्रैवं सति जीवाजीवाधिकाररंगभूमौ नृत्यानंतरं शृंगारपात्रयोः परस्परपृथग्भाववत् शुद्धनिश्चयेन जीवाजीवौ कर्तृकर्मवेषविमुक्तौ निष्क्रान्ताविति ।

इति श्री **जयसेनाचार्य** कृतायां समयसारव्याख्यायां शुद्धात्मानुभूतिलक्षणायां तात्पर्यवृत्तौ पुण्यपापादिसप्तपदार्थानां संबंधी पीठिकारूपस्तृतीयो महाधिकारः समाप्तः ।

टीका—(सव्वणयपक्खरहिदो भणिदो जो सो समयसारो) जब कि आत्मा, निर्विकल्प समाधिस्थपुरुषों के द्वारा इंद्रियानिंद्रियजनित बाह्य विषयक समस्त मतिज्ञान के विकल्पों से रहित ही देखा और जाना जाता है । तथा वही आत्मा बद्धाबद्धादिक विकल्परूप नय के पक्षपात से रहित ऐसे समयसार का अनुभव करता हुआ देखा और जाना जाता है । इसलिए (सम्मद्दसण णाणं ऐदं लहदित्ति णवरि ववदेसं) केवल मात्र सकल विमल केवलज्ञान और केवल दर्शन रूप व्यपदेश को वह स्वीकार करता है न कि बद्धबद्धादिरूप व्यपदेशों को ।

विशेषार्थ—आत्मा को पहले आगम ज्ञान से ज्ञानस्वरूप निश्चयकर पीछे इन्द्रियरूप मतिज्ञान को भी ज्ञान मात्र में ही मिलाकर श्रुतज्ञान स्वरूप नयों के विकल्पों को दूर कर एवं श्रुतज्ञान को भी निर्विकल्प बनाकर एक ज्ञान मात्र अखंड प्रतिभास का अनुभवन करना ही सययसार है और वही योगियों के द्वारा सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान नाम पाता है । यहा पर समीचो श्रद्धान मात्र को ही सम्यग्दर्शन न बताकर सत्य श्रद्धानी जीव की आत्मानुभवरूप अवस्था विशेष जो परमसमाधिकाल में होती है उसी को सम्यग्दर्शन स्वीकार किया गया है । और उसी को सम्यग्ज्ञान नाम दिया है ।

इस प्रकार निश्चयनय और व्यवहारनय इन दोनों नयों के पक्षपात से रहित शुद्ध समयसार के व्याख्यान की मुख्यता से चार गाथाओं द्वारा यह नवमा अंतराधिकार समाप्त हुआ । इस प्रकरण के

द्वारा (जावरण वेदि विसेसं) इत्यादि गाथा से शुरू करके पाठ के क्रम से अज्ञानी और सम्यग्ज्ञानी जीव की संक्षेप सूचना देते हुए छः गाथा कही हैं और इसके बाद अज्ञानी और सम्यज्ञानी जीव का विशेष व्याख्यान करते हुए ग्यारह गाथा कही हैं फिर चेतन और अचेतन सब कार्यों का एक ही उपादान कर्त्ता होता है ऐसे अभिप्राय वाले द्विक्रियावादी के निराकरण की मुख्यता से २५ गाथायें कही हैं इसके अनंतर मिथ्यात्वादि पांच प्रत्यय ही कर्म करते हैं, आत्मा नहीं, इस प्रकार का समर्थन करते हुए ७ गाथायें कही हैं, इसके आगे जीव और पुद्गल का कथंचिद् परिणामित्त्व स्थापन करने की मुख्यता को लेकर आठ गाथायें कही हैं इसके अनंतर ज्ञानमय और अज्ञानमय परिणाम के कथन की मुख्यता से ६ गाथायें हैं इसके आगे अज्ञानमय भाव को मिथ्यात्वादि पांच प्रत्यय के भेद रूप से प्रतिपादन करने वाली ५ गाथायें हैं। तदनंतर जीव और पुद्गल ये दोनों परस्पर एक दूसरे के उपादान कर्त्ता नहीं हैं इस प्रकार के कथन की मुख्यता से ३ गाथायें कही हैं। इसके पीछे यह बतलाते हुए कि शुद्ध समयसार तो नय के पक्षपात से सर्वथा रहित है, ऐसा कथन करने में ४ गाथायें आई हैं। इस प्रकार समस्त ७८ गाथाओं के द्वारा और ६ अन्तराधिकारों के द्वारा यह कर्त्ता कर्म नाम का महाधिकार समाप्त हुआ।

वहां जीव और अजीव के अधिकार रूप इस ग्रन्थ की रंगभूमि में भेषधारी दो पात्र नृत्य करते हैं; और बाद में वे पृथक् २ हो जाते हैं। वैसे ही यहां शुद्ध निश्चयनय के द्वारा जीव और अजीव ये दोनों अपने अपने कर्त्ता और कर्म भेष को छोड़ कर निकल गये हैं।

इति **श्री जयसेनाचार्यकृत** समयसार की तात्पर्यवृत्ति नाम की व्याख्या के हिन्दी अनुवाद में यह पुण्यपापादि सप्त पदार्थों से सम्बंध रखने वाला यह पीठिका रूप तीसरा महाधिकार समाप्त हुआ।

(इति तृतीयो महाधिकार समाप्तः)

४ पुण्यपापाधिकारः (चतुर्थ महाधिकार)

तात्पर्यवृत्तिः—अथानंतरं निश्चयेनैकमपि पुद्गलकर्म व्यवहारेण द्विपदीभूतपुण्यपापरूपेण प्रविशति **कम्ममसुहं कुसीलं** इत्यादि गाथामादिं कृत्वा क्रमेणैकोनविंशतिसूत्रपर्यंतं पुण्यपापव्याख्यानं करोति। तत्र यद्यपि पुण्यपापयोर्व्यवहारेण भेदोऽस्ति तथापि निश्चियेन नास्ति इति व्याख्यानमुख्यत्वेन सूत्रषट्कं तदनंतरमध्यात्मभाषया: शुद्धात्मभावनां विना आगमभाषया तु वीतरागसम्यक्त्वं बिना व्रतदानादिकं पुण्यबंधकारणमेव न च मुक्तिकारणं सम्यक्त्वसहितं पुनः परंपरया मुक्तिकारणं च भवति इति मुख्यतया **परमट्ठो खलु**, इत्यादिसूत्रचतुष्टयं। तत परं निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गमुख्यत्वेन **जीवादीसद्दहणं** इत्यादिगाथानवकं कथयतीति पुण्यपापदार्थाधिकारसमुदायपातनिका। तद्यथा—ब्राह्मण्याः पुत्रद्वयं जातं तत्रैक उपनयनवशाद्ब्राह्मणो जातः द्वितीयः पुनरुपनयनाभावाच्छूद्र इति। तथैकमपि निश्चयनयेन पुद्गलकर्म शुभाशुभजीवपरिणामनिमित्तेन व्यवहारेण द्विधा भवतीति कथयति।

तदनंतर निश्चयनय से जो पुद्गल कर्म एक रूप है वही व्यवहार नय के द्वारा पुण्य और पाप के भेद से दो रूप होकर इस रंगभूमि में प्रवेश करता है।

"कम्ममसुहं कुसीलं" इत्यादि गाथा से शुरू करके क्रम से १६ गाथा तक पुण्य पाप का व्याख्यान करते हैं; वहां यद्यपि व्यवहार नय से पुण्य और पाप में भेद है; तथापि निश्चय से इनमें भेद नहीं है। इस प्रकार के व्याख्यान की ६ गाथायें आई हैं। उसके बाद यह बतलाते हुये कि अध्यात्म भाषा में जिसको शुद्धात्म भावना कहते हैं और आगम भाषा में जिसे वीतराग सम्यक्त्व कहते हैं, उसके बिना जो व्रत दानादिक किये जाते है वे सब मुक्ति के कारण नहीं होकर केवल मात्र पुण्यबंध के कारण होते हैं; किन्तु वे ही व्रत, दानादिक यदि सम्यक्त्व सहित हों तो परम्परा से मुक्ति के कारण भी होते है। इस प्रकार का कथन करते हुए (परमट्ठो खलु) इत्यादि ४ गाथायें आती हैं उसके आगे निश्चय और व्यवहार रूप मोक्ष मार्ग का कथन करने की मुख्यता से (जीवादी सद्दहणं) इत्यादि ६ गाथा कही गई हैं। यह पुण्य पाप रूप पदार्थ के अधिकार की समुदाय पातनिका हुई।

यहां अब आचार्यदेव बतलाते हैं कि किसी एक ब्राह्मणी के दो पुत्र हुए, उसमें से एक का उपनयन संस्कार हो जाने से वह ब्राह्मण हो गया किन्तु दूसरे का उपनयन संस्कार नहीं हुआ, अतः वह शूद्र हो गया। इसी प्रकार जो पुद्गल कर्म निश्चय से एकरूप है वही जीव के शुभाशुभ परिणामों के निमित्त से व्यवहार में दो प्रकार का हो जाता है।

कम्ममसुहं कुसीलं सुहकम्मं चावि जाणह सुसीलं।
किह तं होदि सुसीलं जं संसारं पवेसेदि ॥१५३॥

कर्माशुभं कुशीलं शुभकर्म चापि जानीत सुशीलं।
कथं तद्भवति सुशीलं यत्संसारं प्रवेशयति ॥१५३॥

अर्थ—अशुभ कर्म तो पाप रूप है, बुरा है और शुभ कर्म पुण्य रूप है, अच्छा है। ऐसा सर्वसाधारण कहते हैं परन्तु परमार्थ दृष्टि से देखें तो जो कर्म इस जीव को कारागारात्मक शरीर रूप संसार में ही बनाये रखता है वह कर्म अच्छा कैसे हो सकता है ? अर्थात् कभी नहीं हो सकता है।

तात्पर्यवृत्तिः—कम्ममसुहं कुसीलं सुहकम्मं चावि जाणह सुसीलं कर्माशुभं कुत्सितं कुशीलं हेयमिति। शुभकर्म सुशीलं शोभनमुपादेयमिति केषांचिद्व्यवहारिणां पक्षः सन् निश्चयरूपेण पक्षांतरेण बाध्यते। **किह तं होदि सुसीलं जं संसारं पवेसेदि** निश्चयवादी ब्रूते कथं तत्पुण्यकर्म सुशीलं शोभनं भवति ? यज्जीवं संसारे प्रवेशयति। हेतुस्वभावानुभवबंधरूपाश्रयाणां निश्चयेनाभेदात् कर्मभेदो नास्तीति। तथाहि हेतुस्तावत्कथ्यते शुभाशुभपरिणामो हेतुः। स च शुद्धनिश्चयेनाशुभत्वं प्रति, एक एव द्रव्यं पुण्यपापरूपं पुद्गलद्रव्यस्वभावः। सोऽपि निश्चयेन पुद्गलद्रव्यं प्रति, एक एव तत्फलं सुखदुःखरूपं स च फलरूपानुभवः। सोप्यात्मोत्थनिर्विकारसुखानंदापेक्षया दुःखरूपेणैक एव आश्रयस्तु शुभाशुभबंधरूपः। सोऽपि बंधं प्रत्येक एव इति हेतुस्वभावानुभवाश्रयाणां सदाप्यभेदात्। यद्यपि व्यवहारेण भेदोऽस्ति तथापि निश्चयेन शुभाशुभकर्मभेदो नास्ति इति व्यवहारवादिनां पक्षो बाध्यत एव।

टीका:—(कम्ममसुहं कुसीलं सुहकम्मं चावि जाणह सुसीलं) जो अशुभकर्म है वह तो निन्दनीय है, बुरा है अतः नहीं करने योग्य हैं किन्तु शुभकर्म सुहावना है, सुखदायक है, इसलिये उपादेय है (करने

योग्य है) ऐसा कुछ व्यवहारीं लोगों का कहना है; जो कि निश्चयरूप दूसरे पक्ष के द्वारा निषेध किया जाता है। (किह तं होदि सुसीलं जं संसारं पवेसेदि) निश्चयवादी बोलता है कि जीव को संसार में ही बनाये रखता है वह पुण्यकर्म सुहावना और सुख देने वाला कैसे हो सकता है, (क्योंकि संसार तो सारा ही दुखरूप है)। कर्म के हेतु, स्वभाव अनुभव और बंध रूप आश्रय का जब विचार किया जाय तो उसमें कोई भेद प्रतीत नहीं होता इसलिए वास्तव में कर्म में कोई पुण्य पाप रूप भेद नहीं है वही स्पष्ट कर बताते हैं–कर्म का हेतु जीव का शुभाशुभरूप परिणाम है जो कि शुद्ध निश्चय से देखने पर एक अशुभ रूप ही प्रतीत होता है। द्रव्य भी पुण्य पाप रूप पुद्गल द्रव्य है जो कि निश्चयनय के द्वारा देखने पर जड़-स्वभाव रूप एक ही है और उसका फल जो सुख दुखरूप अनुभव में आता है वह भी आत्मा से उत्पन्न हुये निर्विकार सुख की अपेक्षा से दुख रूप ही प्रतीत होता है और शुभाशुभ बंध रूप जो आश्रय है वह भी बंध-पने की अपेक्षा से एक रूप ही है। इस प्रकार पुण्यकर्म और पाप कर्म के हेतु, स्वभाव, अनुभव और आश्रय में कहीं कोई भेद नहीं है, किन्तु सदा अभेद ही है। यद्यपि व्यवहार से देखें तों उसमें भेद होता है फिर भी निश्चयनय से वहां शुभ और अशुभ कर्म रूप कोई भेद नहीं है। इसलिऐ व्यवहारी लोगों का जो पक्ष है वह बाधित हो जाता है ॥१५३॥

शुभ और अशुभ रूप दोनों ही कर्म सामान्यतया बंधरूप हैं ऐसा बताते हैं:–

सौवण्णियं पि णियलं बंधदि कालायसं पि जह पुरिसं।
बंधदि एवं जीवं सुहमसुहं वा कदं कम्मं ॥१५४॥

सौवर्णिकमपि निगलं बध्नाति कालायसमपि च यथा पुरुषं।
बध्नात्येवं जीवं शुभमशुभं वा कृतं कर्म ॥१५४॥

तात्पर्यवृत्ति—यथा सवर्णनिगलं लोहनिगलं च अविशेषेण पुरुषं बध्नाति तथा शुभमशुभं वा कृतं कर्म अविशेषेण जीवं बध्नातीति। किंच। भोगाकांक्षानिदानरूपेण रूपलावण्यसौभाग्यकामदेवेन्द्राहमिंद्रख्यातिपूजालाभादि-निमित्तं यो व्रततपश्चरणदानपूजादिकं करोति, स पुरुषः तक्रनिमित्तं रत्नविक्रयवत्, भस्मनिमित्तं रत्नराशिदहनवत्, सूत्रनिमित्तं हारचूर्णवत्, कोद्रवक्षेत्रवृत्तिनिमित्तमगुरुवनच्छेदनवत्। वृथैव व्रतादिकं नाशयति। यस्तु शुद्धात्मभावना-साधनार्थं बहिरंगव्रततपश्चरणदानपूजादिकं करोति स परंपरया मोक्षं लभते इति भावार्थः।

अथोभयकर्मा निशेषण मोक्षमार्गविषये निषेधयति–

टीका व अर्थ—जैसे सोने की बनी बेड़ी हो चाहे लोहे की बनी हुई हो दोनों ही तरह की बेड़िया पुरुष को साधारण रूप में जकड़ कर रखती हैं। इसी प्रकार चाहे शुभ या अशुभ कर्म हो वह साधारण रूप से जीव को संसार में रखता है। भावार्थ—शुभ और अशुभ इन दोनों कर्मों में बंध या संसार भाव की अपेक्षा कोई भीं अंतर नहीं है। दोनों कर्म संसार रूप ही हैं। अतः जो कोई पुरुष भागों की अकांक्षा रूप निदान करते हुए सौन्दर्य, सौभाग्य, कामदेव पद, देवेन्द्र पद, अहमिंद्र पद, ख्याति, पूजा, लाभ आदि मुझे प्राप्त हों, इस निमित्त से व्रत, तपश्चरण या दान पूजादि करता है वह पुरुष अपने उस व्रत, तपश्चरण आदि रूप आचरण को व्यर्थ ही खोता है। जैसे कि कोई सूत के धागे के लिए मोतियों के हार को तोड़ता है अथवा कोदो धान्य को बोने के लिए चन्दन के वन को काटता है। छाछ के लिए रत्न बेचता है या

भस्म के लिये रत्न राशि जलाता है। यह ठीक है कि जो शुद्धात्मा की भावना को बनाये रखने के लिए बहिरंगव्रत तत्पश्चात् या दानपूजादि करता है, वह परम्परा से मोक्ष को प्राप्त होता है ।। १५४ ।।

शुभ और अशुभ दोनों ही प्रकार के कर्म मोक्षमार्ग में रोड़ा अटकाने वाले हैं, अतः दोनों ही निषिद्ध हैं, ऐसा कहते हैं।

तह्मा दु कुसीलेहिय रायं मा कुणह मा व संसग्गं ।
साधीणो हि विणासो कुसीलसंसग्गरायेण ।।१५५।।

तस्मात्तु कुशीलाभ्यां रागं मा कुरुत मा वा संसर्गं ।
स्वाधीनो हि विनाशः कुशीलसंसर्गरागेण ।। १५५ ।।

अर्थ:—शुभ और अशुभ दोनों ही प्रकार के कर्म कुशील हैं, हीन स्वभाव वाले हैं, इसलिए इन दोनों के साथ ही तुम लोग प्रीति मत करो, और इनके साथ किसी भी तरह का सम्बन्ध भी मत रक्खो। क्योंकि कुशीलों के संसर्ग से और उनके साथ प्रेम करने से अपनी स्वाधीनता का विनाश होता है।

तात्पर्यवृत्तिः—तम्हादु कुसीलेहिय रायं मा काहि मा व संसग्गं तस्मात् कारणात् कुशीलैः कुत्सितैः शुभाशुभकर्मभिः सह चित्तगतराग मा कुरु। बहिरंगवचनकायगतसंसर्गं च मा कुरु कस्मात्? इति चेत्। **साधीणो हि विणासो कुसीलसंसग्गरायेण** कुशीलसंसर्गरागाभ्यां स्वाधीनो नियमेन विनाशः निर्विकल्पसमाधिविघातरूपः स्वार्थभ्रंशो हि स्फूटं भवति अथवा स्वाधीनस्यात्मसुखस्य विनाश इति।

अथोभयकर्म प्रति निषेधं स्वयमेव श्रीकुन्दाचार्यदेवा दृष्टांतदार्ष्टांताभ्यां समर्थयंति।

टीका:—(तम्हा दु कुसीलेहिय रायं मा काहि मा व संसग्गं) इसलिए खोटे स्वभाव वाले शुभ या अशुभ किसी भी प्रकार के कर्मों के साथ मानसिक प्रेम मत करो और बाह्य वचन एवं काय गत संसर्ग भी मत करो। क्योंकि (साधीणो हि विणासो कुसीलसंसग्गरायेण) कुशीलों के साथ प्रेम करने से स्वाधीनता का अवश्य ही नाश होता है। निर्विकल्द समाधि का विघात होता है अतः अपना अहित होता है अर्थात् स्वाधीन जो आत्मसुख है उसका नाश होता है ।। १५५ ।।

अब आचार्यदेव दृष्टांत देकर इसी बात को और स्पष्ट करते हैं कि दोनों ही कर्म निषिद्ध हैं।

जह णाम कोवि पुरिसो, कुच्छियसीलं जणं वियाणित्ता ।
वज्जेदि तेण समयं संसग्गं रायकरणं च ।। १५६ ।।
एमेव कम्मपयडी सीलसहावं हि कुच्छिदं णादुं ।
वज्जंति परिहरंति य तस्संसग्गं सहावरदा ।।१५७।।

यथा नाम कश्चित्पुरुषः कुत्सितशीलं जनं विज्ञाय ।
वर्जयति तेन समकं संसर्गं रागकरणं च ।।१५६।।

एवमेव कर्मप्रकृतिशीलस्वभावं हि कुत्सितं ज्ञात्वा।
वर्जयन्ति परिहरंति च तत्संसर्गं स्वभावरताः ॥१५७॥

अर्थ—जैसे कोई पुरुष किसी को खराब स्वभाव वाला जान लेता है तो फिर उसके साथ न तो प्रेम करता है और न किसी प्रकार का सम्बन्ध ही रखता है। वैसे ही सहज स्वभाव का धारक ज्ञानी जीव भी सभी कर्म प्रकृतियों के शील स्वभाव को बुरा जानकर उनके साथ राग करना और सम्बन्ध रखना छोड़ देते हैं एवं निज स्वभाव में लीन रहते हैं।

तात्पर्यवृत्तिः—जहणाम कोवि पुरिसो कुच्छिय सीलं जणं वियाणित्ता यथा नाम स्फुटमहो वा कश्चित्पुरुषः कुत्सितशीलं जनं ज्ञात्वा **वज्जेदि तेण समयं संसग्गं रायकरणं च** तेन समकं सह बहिरंगवचनं कायगतं संसर्गं मनोगतं रागं च वर्जयतीति दृष्टांतः **एमेव कम्मपयडी सीलसहावं हि कुच्छिदं णादु** ऐवमेव पूर्वोक्तदृष्टान्तन्यायेन कर्मणः प्रकृतिशीलं स्वभावं कुत्सितं हेयं ज्ञात्वा **वज्जंति परिहरंति य तं संसग्गं सहावरदा** इह जगति वर्जयन्ति तत्संसर्गं वचनकायाभ्यां परिहरन्ति मनसा रागं च तस्य कर्मणः के ते ? समस्तद्रव्यभावगतपुण्यपापपरिणामपरिहारपरिणताभेदरत्नत्रयलक्षणनिर्विकल्पसमाधिस्वभावरताः साधव इति दार्ष्टांतः।

अथोभयंकर्म शुद्धनिश्चयेन केवलं बंधहेतुं न केवलं बंधहेतुं प्रतिषेध्यं चागमेन साधयति—

टीका—(जह णाम कोवि पुरुसो कुच्छिय सीलं जणं वियाणित्ता) जबकि कोई पुरुष किसी को बुरे स्वभाव वाला अच्छी तरह समझ लेता है तो (वज्जेदि तेण समयं संसग्गं रायकरणं च) उसके साथ शरीर से संसर्ग छोड़ देता है साथ ही बोलना भी छोड़ देता है तथा उसके साथ किसी भी प्रकार का मानसिक प्रेम भी नहीं रखता। (एवमेव कम्मपयडी सील सहावं हि कुच्छिदं णादुं) उसी प्रकार कर्मप्रकृतियों के शील स्वभाव को निन्दनीय जानकर (वज्जंति परिहरंति य तं ससग्गं सहावरदा) उनके साथ वचन और काय से भी संसर्ग छोड़ देते हैं और मन से भी राग करना छोड़ देते हैं। कौन छोड़ देते हैं ? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि समस्त प्रकार के द्रव्य और भावगत पुण्य पाप के परिणाम का परिहार करने में परिणत ऐसे अभेद रत्नत्रय लक्षण वाले निर्विकल्प समाधि में जो लोग तत्पर रहते हैं वे साधु छोड़ देते हैं।

विशेषार्थ—आचार्यदेव ने यह ग्रन्थ ऋषि, मुनि, योगी लोग जो कि एकान्त से निराकुलता के ग्राहक होते हैं उन्हीं को लक्ष्य में लेकर लिखा है। इसलिए लिखते हैं कि हे साधो ! तुम लोगों के लिए जिस प्रकार चोरी करना और झूंठ बोलना आदि कर्म हेय हैं; उसी प्रकार दान पूजा आदि कर्म भी तुम्हारे लिए कर्त्तव्य नहीं हैं। क्योंकि उनको करते रहने पर भी निराकुलता प्राप्त नहीं हो सकती है। निराकुलता के लिए तो केवल आत्मनिर्भर होना पड़ेगा। इससे यदि कोई गृहस्थ भी अपने लिये ऐसा ही समझले तो, या तो उसे गृहस्थाश्रम को छोड़ देना होगा नहीं तो वह मनमानी करके कुगति का पात्र बनेगा, अतः उसे तो चोरी जारी आदि कुकर्म से दूर रहकर परिश्रमशीलता, परोपकार, दान पूजा आदि सत्कर्म करते हुए अपने गृहस्थ जीवन को निभाना चाहिए।

अब दोनों ही कर्म शुद्ध निश्चय नय से न केवल बंध के ही कारण हैं अपितु निषेध करने योग्य भी हैं ऐसा आगम से सिद्ध करते हैं:—

रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विरागसंपण्णो ।
एसो जिणोवदेसो तह्मा कम्मेसु मारज्ज ॥१५८॥

रक्तो बध्नाति कर्म मुच्यते जीवो विरागसम्पन्नः ।
एष जिनोपदेशः तस्मात् कर्मसु मारज्यस्व ॥१५८॥

अर्थ—रागी जीव तो कर्मों का बंध करता है और वैराग्य को प्राप्त हुआ जीव कर्मों से मुक्त होता है । ऐसा जिनेन्द्र भगवान का उपदेश है इसलिये शुभाशुभ कर्मों में रंजायमान मत होओ ।

तात्पर्यवृत्ति—(रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विरागसंपण्णो यस्मात् कारणात् रक्तः स कर्माणि बध्नाति । मुच्यते जीवः कर्मजनितभावेषु विरागसंपन्नः **एसो जिणोवदेसो तह्मा कम्मेसु मारज्ज** एष प्रत्यक्षीभूतो जिनोपदेशः कर्त्ता किं करोति ? उभयं कर्म बंधहेतुं न केवलं बंधहेतुं प्रतिषेध्यं हेयं च कथयति तस्मात्कारणात् शुभाशुभ संकल्परहितत्वेन स्वकीयशुद्धात्मभावनोत्पन्ननिर्विकारसुखामृतरसस्वादेन तृप्तोभूत्वा शुभाशुभ कर्मणि मा रज्यस्व रागं मा कुर्विति । एवं यद्यप्यनुपचरितासद्भूतव्यवहारेण द्रव्यपुण्यपापयोर्भेदोऽस्ति अशुद्ध निश्चयेन पुनस्तद्द्वयजनितेंद्रिय-सुखदुःखयोर्भेदोऽस्ति तथापि शुद्धनिश्चयनयेन नास्ति इति व्याख्यानमुख्यत्वेन गाथाषट्कं गतं ।

अथ विशुद्धज्ञानशब्दवाच्यं परमात्मानं मोक्षकारणं कथयति ।

टीका:—(रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विराग संपत्तो) क्योंकि जो रागी जीव होता है वह निरंतर कर्मबंध करता रहता है और कर्मजनित भावों में जो विराग सम्पन्न होता है वह मुक्त हो जाता है (एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज) यह स्पष्ट रूप से जिन भगवान् का उपदेश है कि शुभ और अशुभ दोनों ही प्रकार का कर्म, बंध का हेतु है । और इसलिए वह हेय भी है, फलतः शुभ और अशुभ दोनों ही तरह के संकल्प विकल्प से रहित होते हुये अपनी शुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न जो निर्विकार सुखामृत रूप रस उसका स्वाद लेने से तृप्त होकर तुम शुभ और अशुभ दोनों ही तरह के कर्म में रुचि मत करो अर्थात् राग करना छोड़ दो । इस प्रकार यद्यपि अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय के द्वारा द्रव्य रूप पुण्य और पाप में भेद है तथा अशुद्ध निश्चयनय से उन दोनों के द्वारा उत्पन्न हुए इन्द्रिय जन्य सुख और दुख में भी भेद है, फिर भी शुद्ध निश्चनय से देखा जाय तो कोई भेद नहीं है । इस प्रकार के व्याख्यान की मुख्यता से छः गाथायें हुईं ॥ १५८ ॥

विशेषार्थः—यहां टीकाकार स्पष्ट कर बता रहे हैं कि जो त्यागी होकर परम समाधि में लगा रहना चाहता है, उसके लिए क्या शुभ और क्या अशुभ सभी कर्म उपेक्षणीय होते हैं, किन्तु जहां समाधि से हटकर कर्तव्य शीलता पर मन आया कि वहां पापाचार से बचे रहने के लिए परिश्रमशीलता और विश्वासपात्रता जैसे सत्कर्मों में प्रयत्नपूर्वक लग जाना आवश्यक है ।

अब आगे विशुद्ध ज्ञाननाम वाला परमात्मतत्व ही मोक्ष का कारण है, ऐसा बताते हैं:—

परमट्ठो खलु समओ, सुद्धो जो केवली मुणी णाणी ।
तह्मि ट्ठिदा सहावे, मुणिणो पावंति णिव्वाणं ॥१५९॥

परमार्थः खलु समयः शुद्धो यः केवली मुनिर्ज्ञानी ।
तस्मिन् स्थिताः स्वभावे मुनयः प्राप्नुवंति निर्वाणम् ।।१५९।।

अर्थ:—निश्चय कर परमार्थ रूप जीवात्मा का स्वरूप ऐसा है कि जो शुद्ध है, केवली है, मुनि है अर्थात् संसार की बातों से मौन रखने वाला है और ज्ञानी है । इस प्रकार ये जिसके नाम हैं उस स्वभाव में स्थित होकर, तन्मय होकर ही मुनिलोग निर्वाण को प्राप्त होते हैं ।

तात्पर्यवृत्तिः—परमट्ठो खलु समग्रो उत्कृष्टार्थः परमार्थः स कः ? परमात्मा अथवा धर्मार्थकाममोक्षलक्षणेषु परमार्थेषु परम उत्कृष्टो मोक्षलक्षणार्थः परमार्थः सोऽपि स एव । अथवा मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलज्ञानभेदरहितत्वेन निश्चयेनैकः परमार्थः सोऽपि परमात्मैव खलु स्फुटं **समग्रो** सम्यगयति गच्छति शुद्धगुणपर्यायान् परिणमतीति समयः । अथवा सम्यगयः संशयादिरहितो बोधो ज्ञानं यस्य भवति स समयः । अथवा समित्येकत्वेन परमसमरसीभावेन स्वकीयशुद्धस्वरूपे अयनं गमनं परिणमनं समयः सोऽपि स एव शुद्धो रागादिभाव कर्मरहितो यः । सोऽपि स एव **केवली** परद्रव्यरहितत्वेनासहायः केवली सोऽपि स एव **मुणी** मुनिः । स एव **णाणी** विशुद्धज्ञानमस्यास्तीतिज्ञानी सोऽपि प्रत्यक्षज्ञानी । सोऽपि परिमात्मैव । **तह्मि ट्ठिवा सहावे मुणिणो पावंति णिव्वाणं** । तस्मिन् परमात्मस्वभावे स्थिता वीतरागस्वसंवेदनज्ञानरता मुनयस्तपोधना निर्वाणं प्राप्नुवंति लभंत इत्यर्थः ।

अथ तस्मिन्नेव परमात्मनि स्वसंवेदनज्ञानरहितानां व्रततपश्चरणादिकं पुण्यबंधकारणमेवेति प्रतिपादयति—

टीका:—(परमट्ठो खलु समग्रो) वास्तव में शुद्धात्मा ही परमार्थ है, सर्वोत्कृष्ट अर्थ है, क्योंकि धर्म अर्थ काम और मोक्ष स्वरूप है वह परमात्मरूप ही है अथवा मति, श्रुत अवधि, मनः पर्यय और केवल ज्ञान इन भेदों से रहित होते हुये ज्ञान स्वरूप है, वही निश्चय से परमार्थ है । वह भी परमात्मस्वरूप ही है । (समग्रो) क्योंकि समय शब्द की व्युत्पत्ति ही ऐसी है कि 'सम्यक् अयति शुद्ध गुण पर्यायान् परिणमति स समयः' अर्थात् जो भले प्रकार से अपने गुण और पर्यायों में रहता है वह समय कहलाता है अथवा 'सम्यक् अयः' संशयादि से रहित ज्ञान जिसको होता है वह समय है अथवा 'सम्' यह एकता का नाम है अतः एक रूप से परम समरसीभाव से जो अपने शुद्ध स्वरूप में 'अयन' अर्थात् गमन—परिणमन करना वह समय कहलाता है, अथवा जो शुद्ध रागादि भाव कर्म से रहित है वह समय कहलाता है, (इस प्रकार समय नाम परमात्मा का ठहरता है) (केवली) शब्द का अर्थ होता है सहाय रहित अतः पर द्रव्य की सहायता से रहित होने के कारण वही केवली भी है । (मुणी) (लौकिक बातों से दूर होने के कारण) वह परमात्मा ही मुनि भी है । (णाणी) विशुद्ध ज्ञान जिसको हो वह ज्ञानी होता है अतः वह भी प्रत्यक्षज्ञानी परमात्मा ही है । (तम्हि ट्ठिदा सहावे मुणिणो पावंति णिव्वाणं) उसी परमात्म स्वभाव में स्थित रहने वाले (तन्मयता रखने वाले) वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान में लीन मुनि एवं तपस्वी जन ही निर्वाण को प्राप्त करते हैं ।।१५९।।

परमट्ठम्मि य अठिदो जो कुणदि तवं वदं च धारयदि ।
तं सव्वं बालतवं बालवदं विंति सव्वण्हू ।।१६०।।

परमार्थे चास्थितः यः करोति तपो व्रतं च धारयति ।
तत्सर्वं बालतपो बालव्रतं विदंति सर्वज्ञाः ।।१६०।।

अर्थ—जो कोई ज्ञानस्वरूप आत्मा में स्थित नहीं हो रहा है और तप करता है तथा व्रतों को धारण करता है तो उसके व्रत और तप को सर्वज्ञदेव 'अज्ञानतप' और 'अज्ञानव्रत' कहते हैं ।।१६०।।

तात्पर्यवृत्तिः—परमट्ठम्मिय अठिदो जो कुणदि तवं वदं च धारयदि तस्मिन्नेव पूर्वसूत्रोक्तपरमार्थलक्षणे परमात्मस्वरूपे अस्थितो रहितो यस्तपश्चरणं करोति व्रतादिकं च धारयति **तं सव्वं बालतवं बालवदं विंति सव्वण्हू**—तत्सर्वं बालतपश्चरणं बालव्रतं ब्रुवंति कथयति के ते ? सर्वज्ञाः । कस्मात् ? इति चेत् पुण्यपापोदयजनितसमस्तेंद्रियसुखदुःखाधिकारपरिहारपरिणताभेदरत्नत्रयलक्षणेन विशिष्टभेदज्ञानेन रहितत्वाद् इति ।

अथ स्वसंवेदनज्ञानं तथैवाज्ञानं चेति यथाक्रमेण मोक्षबंधहेतू दर्शयति—

टीका—(परमट्ठम्मिय अठिदो जो कुणदि तवं वदं च धारयदि) उपर्युक्त परमार्थ लक्षणवाले परमात्म स्वरूप में जो स्थित नहीं हैं, अर्थात् उससे दूर हो रहा है फिर भी जो तपश्चरण करता है और व्रतादि को धारण करता है। (तं सव्वं बालतवं बालवदं विंति सव्वण्हू) उस तप को बालतप (अज्ञानतप) और उसके व्रत को बालव्रत (अज्ञानव्रत) नाम से सर्वज्ञ भगवान् कहते है। क्योंकि उसका वह तप और व्रत, पुण्यपाप के उदय से होने वाले, समस्त इंद्रिय जनित सुख दुख के अधिकार से रहित जो अभेद रत्नत्रय सो ही है लक्षण जिसका एसे विशिष्ट ज्ञान के आनंद से रहित है।

विशेषार्थ—यहां पर 'ज्ञान' शब्द से सामान्य ज्ञान न लेकर शुद्धआत्मज्ञान, वीतराग निर्विकल्प ज्ञान को ही ज्ञान शब्द से लिया गया है। अतः उससे रहित जो कोई भी आचरण या अनुष्ठान है वह ज्ञान रहित कहा गया है।

आगे स्वसंवेदन ज्ञान को मोक्ष का कारण और अज्ञान को बंध का कारण क्रमशः बतलाते हैं:—

वदणियमाणि धरंता सीलाणि तहा तवं च कुव्वंता ।
परमट्ठबाहिरा जेण तेण ते होंति अण्णाणी ।।१६१।।
व्रतनियमान् धारयंतः शीलानि तथा तपश्च कुर्वाणाः ।
परमार्थबाह्या येन तेन ते भवन्त्यज्ञानिनः ।। १६१ ।।

अर्थः—यद्यपि जो व्रत और नियमों को धारण करते हैं, शील पालते हैं, तथा तप भी करते हैं परन्तु परमात्म स्वरूप के ज्ञान से रहित हैं इसलिये वे सब अज्ञानी हैं।

तात्पर्यवृत्तिः—वदणियमाणि धरंता सीलाणि तहा तवं च कुव्वंता त्रिगुप्तसमाधिलक्षणाभेदज्ञानाद् बाह्या ये ते व्रतनियमान् धारयंतः, शीलानि तपश्चरणं च कुर्वाणा अपि मोक्षं न लभंते कस्मादितिचेत् **परमट्ठबाहिरा जेण तेण ते होंति अण्णाणी** येन कारणेन पूर्वोक्तभेदज्ञानाभावात् परमार्थबाह्यास्तेन कारणेन ते भवंत्यज्ञानिनः। अज्ञानिनां तु कथं मोक्षः ? ये तु परमसमाधिलक्षणभेदज्ञानसहितास्ते तु व्रतनियमानधारयन्तोऽपि शीलानि तपश्चरणं बाह्यद्रव्यरूपमकुर्वाणा अपि मोक्षं लभंते। तदपि कस्मात् ? येन कारणेन पूर्वोक्तभेदज्ञानसद्भावात् परमार्थादबाह्यास्तेन कारणेन ते च ज्ञानिनो भवंति। ज्ञानिनां तु मोक्षो भवेत्येवेति ।

किंच विस्तरः—व्रतनियमशीलबहिरंगतपश्चरणादिकं विनापि यदि मोक्षो भवति इति तर्हि संकल्पविकल्परहितानां विषयव्यापारेऽपि पापं नास्ति तपश्चरणाभावेऽपि मोक्षो भवति इति सांख्यशैवमतानुसारिणो वदन्तीति तेषामेव मतं

सिद्धिमिति । नैवं, निर्विकल्पत्रिगुप्तिसमाधिलक्षणभेदज्ञानसहितानां मोक्षो भवतीति विशेषेण बहुधा भणितं तिष्ठति । एवंभूतभेदज्ञानकाले शुभरूपा ये मनोवचनकायव्यापाराः परंपरया मुक्ति कारणभूतास्तेऽपि न संति । ये पुनरशुभविषय कषायव्यापाररूपास्ते विशेषेण न संति । न हि चित्तस्थे रागभावे विनष्टे सति बहिरंगविषयव्यापारो दृश्यते । तंदुलस्याभ्यंतरे तुषे गते सति बहिरंगतुष इव । तदपि कस्मात् ? इति चेत् निर्विकल्पसमाधिलक्षणभेदज्ञानविषयकषाययोर्द्वयोः परस्परं विरुद्धत्वात् शीतोष्णवदिति ।।

अथ वीतरागसम्यक्त्वरूपां शुद्धात्मभावनां विहाय तेन पुण्यमेवैकांतेन मुक्तिकारणं ये वदंति तेषां प्रतिबोधनार्थं पुनरपि दूषणं ददाति

टीका:—(वदणियमाणि धरंता सीलाणि तहा तवं च कुव्वंता) जिसमें तीन गुप्तियों का पालन हुआ करता है ऐसा परम समाधि ही है लक्षण जिसका उस भेद ज्ञान से जो दूरवर्त्ती हैं, वे व्रत और नियमों को धारण करते हुये और तपश्चरण करते हुये भी मुक्ति को प्राप्त नहीं होते हैं। क्योंकि (परमट्ठ बाहिरा जेण, तेण ये होंति अण्णाणी) पूर्वोक्त भेद ज्ञान के न होने से वे परमार्थ से दूर रहने वाले होते हैं, इसलिये अज्ञानी होते हैं, फलतः अज्ञानियों को मोक्ष कैसे हो सकता है ? हां, जो परमसमाधि स्वरूप भेदज्ञान से युक्त हैं; वे व्रत, नियम और शीलों को बिना धारण किये भी और बाह्य द्रव्य रूप तपश्चरण को न करते हुये भी मोक्ष को प्राप्त हो जाते हैं; क्योंकि वे पूर्वोक्त भेद ज्ञान रूप परमार्थ से युक्त होते हैं; इसलिये वे ही ज्ञानी भी होते हैं। और जब ज्ञानी होते हैं तो ज्ञानियों को मोक्ष होना ही चाहिये। यहां पर कोई शंका कर सकता है कि व्रत, नियम, शील और बहिरंग तपश्चरण न करते हुये भी मोक्ष होती है तो संकल्प विकल्प रहित जीवों के विषयों के व्यापार होते हुये भी पाप नहीं है तथा तपश्चरण के बिना ही मोक्ष हो जाता है। तब तो फिर सांख्य और शैव मतानुसार लोगों का कहना ही ठीक हो गया। परन्तु ऐसी बात नहीं है, क्योंकि अनेक बार ऐसा बताया जा चुका है कि निर्विकल्प रूप तीन गुप्तियों से युक्त ऐसी जो परम समाधि वही है लक्षण जिसका इस प्रकार के भेद ज्ञान से जो युक्त हैं उनको मोक्ष होता है। और इस प्रकार के भेद ज्ञान के काल में जो शुभ रूप मन, वचन, काय के व्यापार हैं जो कि परम्परा से मुक्ति के कारण होते हैं, वे भी नहीं रहते तो फिर अशुभ विषय कषाय के व्यापार रूप जो मन, वचन, काय की चेष्टा है वह तो वहां रहेगी ही कैसे ? क्योंकि चित्त में होने वाले रागभाव के नष्ट हो जाने पर वहां बहिरंग विषयों में होने वाला व्यापार नहीं देखा जाता जैसे कि तुष के भीतर और तंदुल के ऊपर की ललाई जहां दूर हो गई वहां फिर तुष का सद्भाव कैसा ? इसी प्रकार निर्विकल्प समाधि के समय बाह्य विषय सम्बन्धी व्यापार कभी नहीं रह सकता। क्योंकि जैसे शीत और उष्ण के परस्पर विरोध है वैसे ही निर्विकल्प समाधि लक्षण भेदज्ञान और विषय कषाय रूप व्यापार इन दोनों के परस्पर विरोध है; दोनों एक जगह एक काल में नहीं रह सकते ।। १६१ ।।

अब जो वीतराग सम्यक्त्व स्वरूप शुद्धात्मभावना को छोड़कर एकांत रूप से पुण्यरूप शुभ चेष्टा को ही मुक्ति का कारण बताते हैं, उनके निराकरण करने के लिये आगे स्पष्ट करते हैं:—

परमट्ठबाहिरा जे ते अण्णाणेण पुण्णमिच्छंति ।
संसारगमणहेदुं वि मोक्खहेउं अजाणंता ।।१६२।।

परमार्थबाह्या ये ते अज्ञानेन पुण्यमिच्छंति ।
संसारगमनहेतुं अपि मोक्षहेतुमजानन्तः ।। १६२ ।।

अर्थः—जो लोग उपर्युक्त परमार्थ से बाह्य हैं; परमार्थभूत आत्मा का जो अनुभव नहीं करते हैं वे लोग अपने अज्ञान भाव के द्वारा पुण्य को ही अच्छा मान कर करते रहते हैं जो कि संसार को बनाये रखने का हेतु है क्योंकि वे लोग मोक्ष का कारण ज्ञान स्वरूप जो आत्मा उसका अनुभव नहीं कर पाते हैं।

तात्पर्यवृत्तिः—इह हि केचन सकलकर्मक्षयमोक्षमिच्छंतोऽपि निजपरमात्मभावनापरिणताभेदरत्नत्रयलक्षणं परमसामायिकं पूर्वं दीक्षाकाले प्रतिज्ञायापि चिदानंदैकस्वभावशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानपरिज्ञानानुष्ठानसामर्थ्याभावात्पूर्वोक्त-परमसामायिकमलभमानाः परमार्थबाह्याः संतः संसारगमनहेतुत्वेन बंधकारणमप्यज्ञानभावेन कृत्वा पुण्यमिच्छंति। किं कुर्वन्तः? अभेदरत्नत्रयात्मकं मोक्षकारणमजानंतः। अथवा द्वितीयव्याख्यानं बंधहेतुमपि पुण्यं मोक्षहेतुमिच्छंति। किं कुर्वन्तः? पूर्वोक्तमभेदरत्नत्रयात्मकपरमसामायिकं मोक्षकारणमजानंतः संतः इति। किं च निर्विकल्पसमाधिकाले व्रताव्रतस्य स्वयमेव प्रस्तावो नास्ति। अथवा निश्चयव्रतं तदेवेत्यभिप्रायः।

इति वीतरागसम्यक्त्वरूपां शुद्धात्मोपादेयभावनां बिना व्रततपश्चरणादिकं पुण्यकारणमेव भवति तद्भावना-सहितं पुनर्बहिरंगसाधकत्वेन परंपरया मुक्तिकारणं चेति व्याख्यानमुख्यत्वेन गाथाचतुष्टयं गतं।

एवं गाथादशकेन पुण्याधिकारः समाप्तः॥

अथ सविकल्पत्वात्पराश्रितत्वाच्च निश्चयेन पापव्याख्यानमुख्यत्वेन, अथवा निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गमुख्यत्वेन **जीवादीसद्दहरणं**मित्यादिसूत्रद्वयं। तदनंतरं मोक्षहेतुभूतो योऽसौ सम्यक्त्वादिजीवगुणस्तत्प्रच्छादनमुख्यत्वेन। **वत्थस्स-सेदभावो** इत्यादि गाथात्रयं। ततः परं पापं पुण्यं च बंधकारणमेवेतिमुख्यतया **सोसव्वणाण** इत्यादि सूत्रमेकं। ततश्च मोक्षहेतुभूतो योसौ जीवो गुणी तत्प्रच्छादनमुख्यतया **सम्मत्त** इत्यादि गाथात्रयमिति समुदायेन सूत्रनवकपर्यंतं तृतीयस्थले व्याख्यानं करोति। तद्यथा।

अथ तेषामज्ञानिनां निश्चयमोक्षहेतुं दर्शयतिः—

टीका—यहां कितने ही ऐसे जीव हैं जो सकल कर्म के क्षय रूप मोक्ष को चाहते हुये भी और आरंभ में दीक्षा के समय निज परमात्म भावना में परिणत ऐसा जो अभेद रत्नत्रय वही है लक्षण जिसका उस परम सामायिक को प्राप्त करने की प्रतिज्ञा करके भी चिदानन्दैक स्वभाव वाले शुद्धात्मा के सही श्रद्धान को और उसकी ठीक जानकारी को तथा तदनुरूप अनुष्ठान की सामर्थ्य को नहीं प्राप्त होने से उस पूर्वोक्त परम सामायिक को प्राप्त नहीं हो सकते हैं। अतः परमार्थ से वंचित रहते हुये संसार को ही बनाये रखने का हेतु ऐसे पुण्य को ही अपने अज्ञान भाव के द्वारा करते रहते है; क्योंकि वे लोग अभेद रत्नत्रयात्मक जो मोक्ष का कारण है उसे प्राप्त नहीं कर पाते हैं। अथवा दूसरी तरह से यों कहो कि जो पुण्य, कर्मबंध का हेतु है उसको मोक्ष का हेतु मानते हैं; क्योंकि वे पूर्वोक्त अभेद रत्नत्रयात्मक परम सामायिक रूप जो मोक्ष का कारण है उसे नहीं प्राप्त कर पाते हैं। दूसरी बात यह है कि निर्विकल्प समाधि के काल में व्रत या अव्रत का कोई भी प्रकार के संकल्प विकल्प का अवसर ही नहीं रहता; इसी का नाम वास्तविक व्रत या निश्चयव्रत है। इसका अभिप्राय यह है कि वीतराग सम्यक्त्व रूप जो शुद्धात्मा की उपादेय भावना है उसके बिना किया हुआ व्रत, तपश्चरणादिक रूप अनुष्ठान केवल पुण्य का कारण होता है किंतु उस शुद्धात्मा की भावना सहित जो अनुष्ठान है वह मुक्ति का बाहरी साधन है इसलिये वह भी परम्परा से मुक्ति का कारण कहा जाता है। इस प्रकार के व्याख्यान की मुख्यता से चार गाथायें समाप्त हुई॥ १६२॥

इस प्रकार दश गाथाओं द्वारा पुण्याधिकार समाप्त हो गया। अब इसके आगे विकल्प सहित-पना होने के कारण से तथा पर का आश्रय रखने के हेतु से, निश्चय से पाप अधिकार के कहने की मुख्यता

से अथवा निश्चय व्यवहार मोक्ष मार्ग की मुख्यता से 'जीवादी सद्दहणं' इत्यादि दो सूत्र कहेंगे। इसके बाद (वत्थस्स सेद भावो) इत्यादि तीन गाथायें हैं जो कि सम्यक्त्वादि जीव के गुण हैं उनके आवरण के कहने की मुख्यता से हैं। इसके बाद (सो सव्वणाण) इत्यादि एक गाथा ऐसी आती है जिसमें पाप और पुण्य दोनों ही बंध के कारण हैं ऐसा कथन है। उसके बाद मोक्ष का कारणभूत जो जीव द्रव्य उसका आवरण का कथन करने वाली अर्थात् उसकी पराधीनता का वर्णन करने वाली (सम्मत्त) इत्यादि तीन गाथायें हैं। इस तरह से इस आगे आने वाले तीसरे स्थल के गाथाओं की यह समुदाय पातनिका है।

अब पूर्वोक्त अज्ञानी जीवों के लिए जो वास्तव में मोक्ष का हेतु है उसे स्पष्ट कर बताते हैं।

जीवादी सद्दहणं सम्मत्तं तेसिमधिगमो णाणं।
रागादी परिहरणं चरणं एसो दु मोक्खपहो ॥१६३॥

जीवादिश्रद्धानं सम्यक्त्वं तेषामधिगमो ज्ञानम्।
रागादी परिहरणं चरणं एष तु मोक्षपथः ॥१६३॥

अर्थ—जीवादिक पदार्थों का यथार्थ श्रद्धान होना सो तो सम्यक्त्व (सम्यग्दर्शन) है, और उन्हीं जीवादि पदार्थों की यथार्थ जानकारी का नाम सम्यक् ज्ञान है तथा रागादि विभाव भावों को दूर कर देना हीं सम्यक् चारित्र हैं। इस प्रकार ये तीनों का एक साथ सम्मिलन मोक्ष का मार्ग है ॥१६३॥

तात्पर्यवृत्तिः—जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं जीवादिनवपदार्थानां विपरीताभिनिवेशरहितत्वेन श्रद्धानं सम्यग्दर्शनं **तेसिमधिगमो णाणं** तेषामेव संशयविमोहविभ्रमरहितत्वेनाधिगमो निश्चयः परिज्ञानं सम्यग्ज्ञानं **रागादी परिहरणं चरणं** तेषामेव संबंधित्वेन रागादिपरिहारश्चारित्रं **एसोदु मोक्खपहो** इत्येव व्यवहारमोक्षमार्गः। अथवा तेषामेव भूतार्थेनाधिगतानां पदार्थानां शुद्धात्मनः सकाशात् भिन्नत्वेन सम्यगवलोकनं निश्चयसम्यक्त्वं। तेषामेव सम्यक्परिच्छित्तिरूपेण शुद्धात्मनो भिन्नत्वेन निश्चयः सम्यग्ज्ञानं। तेषामेव शुद्धात्मनो भिन्नत्वेन निश्चयं कृत्वा रागादिविकल्परहितत्वेन स्वशुद्धात्मन्यवस्थानं निश्चयचारित्रमिति निश्चयमोक्षमार्गः। अथ निश्चयमोक्षमार्गहेतोः शुद्धात्मस्वरूपात् यदन्यच्छुभाशुभमनोवचनकायव्यापाररूपं कर्म तन्मोक्षमार्गो न भवति इति प्रतिपादयति—

टीका—(जीवादिसद्दहणं सम्मत्तं) जीवादि नव पदार्थों का विपरीत अभिप्राय से रहित जो सही श्रद्धान है वही सम्यक् दर्शन है। (तेसिमधिगमो णाणं) उन्हीं जीव आदि पदार्थों का संशय (उभय कोटि ज्ञान) विमोह (विपरीत एक कोटि ज्ञान) विभ्रम (अनिश्चित ज्ञान) इन तीनों से रहित जो यथार्थ अधिगम होता है, निर्णय कर लिया जाता है, जान लिया जाता है वह सम्यग्यज्ञान कहलाता है। (रागादि परिहरणं चरणं) और उन्हीं के सम्बंध से होने वाले जो रागादिक विभाव होते हैं उनको दूर हटा देना सो सम्यक् चारित्र कहलाता है। (एसो दु मोक्खपहो) यह व्यवहार मोक्ष मार्ग है। हां, भूतार्थ नय के द्वारा जाने हुए उन्हीं जीवादि पदार्थों को अपनी शुद्धात्मा से पृथक् रूप में ठीक २ अवलोकन करना, निश्चयसम्यग्दर्शन कहलाता है। और उन्हीं जीवादि पदार्थों को अपनी शुद्धात्मा से पृथक् रूप में जानना सो निश्चय सम्यज्ञान है। और उनको शुद्धात्मा से भिन्न जानकर रागादिरूप विकल्प से रहित होते हुए अपनी शुद्धात्मा में अवस्थित होकर रहना, निश्चय सम्यक् चारित्र है। इस प्रकार यह निश्चय मोक्ष मार्ग हुआ ॥१६३॥

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों का नाम रत्नत्रय है जो कि मोक्ष का मार्ग है, आत्मा के लिये निराकुलता का उपाय है। यह व्यवहार और निश्चय के भेद से दो भागों में विभक्त है। अनादिकाल का भूला यह भव्यात्मा जिन भगवान से जीवादि सप्त तत्वों का या नव पदार्थों का स्वरूप सुनता है और उनके बतलाने के अनुसार उनके स्वरूप को स्वीकार करता है। इसी प्रकार उन्हें अपनी प्रतीति में लाता है, और उनके आश्रय से अपने मन में उपजने वाले रागद्वेष को दूर करने का प्रक्रम रचता है। यह व्यवहार रत्नत्रय हुआ। और निर्विकल्प अपने आत्मा के शुद्ध स्वरूप में उन सप्त तत्वों या नव पदार्थों के स्वरूप को भिन्न प्रकार का अर्थात् निर्विकल्पात्मक जानते हुए उससे ऊपर उठकर केवल अपनी शुद्धात्मा के स्वरूप में ही रुचि, प्रतीति तथा तल्लीनता प्राप्त करता है। इसको निश्चय रत्नत्रय कहते हैं। व्यवहार रत्नत्रय कारणरूप होता है और निश्चय रत्नत्रय उसका कार्य है। अथवा यों कहो कि प्रमादात्मक गृहस्थपन से निकलकर जब यह जीव अप्रमत्तरूप संयम को स्वीकार करता है उस समय उसकी दो धारायें होती हैं। प्रथम तो यह कि आत्मा के अतिरिक्त समस्त बाह्य पदार्थों का परित्याग कर देना और दूसरी यह कि आत्मतल्लीन हो रहना। वहां समस्त बाह्य पदार्थों का त्याग करने रूप अवस्था विकल्पात्मक होती है, अतः वह व्यवहार मोक्ष मार्ग है जो कि प्रथम होती है। उसके अनन्तर यह भव्य जीव आत्मा में निर्विकल्प रूप से तल्लीन हो जाता है यह निश्चय मोक्ष मार्ग है जो कि दूसरी अवस्था है। इस प्रकार इन दोनों अवस्थाओं को सम्पन्न कर लेने पर आत्मा पूर्ण निराकुल होता है।

अब निश्चय मोक्षमार्ग का कारण ऐसा जो शुद्धात्मा का स्वरूप उससे भिन्न जो शुभाशुभ मन वचन, काय के व्यापार रूप कर्म है वह वास्तव में मोक्ष मार्ग नहीं हो सकता है ऐसा आगे बतलाते हैं:—

मोत्तूण णिच्छयट्ठ ववहारे ण विदुसा पवट्ठंति।
परमट्ठमस्सिदाणं दु जदीण कम्मक्खओ होदि ॥१६४॥

मुक्त्वा निश्चयार्थं व्यवहारे, न विद्वांसः प्रवर्तंते।
परमार्थमाश्रितानां तु यतीनां कर्मक्षयो भवति ॥१६४॥

अर्थः—निश्चयनय के विषय को छोड़कर व्यवहार में वे ही लोग प्रवृत्ति करते है जो आत्मस्वरूप के यथार्थ वेत्ता नहीं हैं—प्रमादी हैं। क्योंकि कर्म का क्षय तो इन्हीं यतीश्वरों के होता है जो परमार्थभूत आत्मस्वरूप में तल्लीन होते हैं॥ १६४॥

तात्पर्यवृत्तिः—मोत्तूण णिच्छयट्ठं ववहारे निश्चयार्थं मुक्त्वा व्यवहारविषये **ण विदुसा पवट्टंति** विद्वांसो ज्ञानिनो न प्रवर्तंते। कस्मात्? । **परमट्ठमासिदाण दु जदीण कम्मक्खओ होदि** सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैकाग्रपरिणतिलक्षणं निजशुद्धात्मभावनारूपं परमार्थमाश्रितानां तु यतीनां कर्मक्षयो भवतीति यतः कारणादिति। एवं मोक्षमार्गकथनरूपेण गाथाद्वयं गतं।

अथ मोक्षहेतुभूतानां सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणां जीवगुणानां वस्त्रस्य मलेनेव मिथ्यात्वादिकर्मणा प्रतिपक्षभूतेन प्रच्छादनं दर्शयति—

टीकाः—(मोत्तूण णिच्छयट्ठं ववहारे ण विदुसा पवट्टंति) निश्चय के विषय को छोड़कर व्यवहार के विषय में विद्वान, ज्ञानी जीव प्रवृत्त नहीं होते हैं, क्योंकि (परमट्ठमस्सिदाणं दु जदीण कम्मक्खओ

होदि) सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र की एकाग्रतारूप परिणति है लक्षण जिसका ऐसा अपने शुद्धात्मा की भावनारूप परमार्थ को आश्रय करने वाले यतियों के ही कर्मों का क्षय होता है ।। १६४ ।।

विशेषार्थ:—"मुक्त्वा निश्चयार्थं व्यवहारे न विद्वांस: प्रवर्तन्ते"–निश्चय को छोड़कर बुद्धिमान लोग व्यवहार में प्रवर्तन नहीं करते अपितु अपनी आत्मा में ही रमण करते रहते हैं क्योंकि कर्मों का क्षय इसी से होता है, यह अध्यात्म शैली का कथन है। किंतु आगम शैली कहती है कि व्यवहार में प्रवृत किए बिना निश्चय को प्राप्त नहीं किया जा सकता अत: "विद्वांस: व्यवहारेण प्रवर्तन्ते"–विद्वान लोग व्यवहार मोक्षमार्ग को (त्याग भाव को) स्वीकार करके उससे निश्चय मोक्षमार्ग (परम समाधि) को प्राप्त कर लेते हैं, किन्तु मन की चंचलता से यदि वह प्राप्त की हुई समाधि छूट भी जाय तो भी व्यवहार मोक्षमार्ग जो त्याग भाव है उसे नहीं छोड़ते, उसमें लगे रहते हैं ताकि उस त्याग भाव के बल से पुन: समाधि प्राप्त करके मुक्ति प्राप्त कर सकें। हां, "निश्चयार्थं मुक्त्वा व्यवहारे प्रवर्तन्ते ते न विद्वांस: जो लोग निश्चय मोक्षमार्ग को न प्राप्त करके केवल व्यवहार मोक्षमार्ग में ही मगन रहते हैं वे विद्वान कहलाने के योग्य नहीं हैं।

इस प्रकार मोक्षमार्ग का वर्णन करनेवाली दो गाथायें हुईं।

अब मोक्ष के कारणभूत सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र जो जीव के गुण हैं उनका मिथ्यात्व आदि विपरीत कर्मों द्वारा वस्त्र के मैल के समान आच्छादन होता है इसे बतलाते हैं:—

वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मलविमेलणाच्छण्णो।
मिच्छत्तमलोच्छण्णं तह सम्मत्तं खु णादव्वं ।।१६५।।
वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मलविमेलणाच्छण्णो।
अण्णाणमलोच्छण्णं तह णाणं होदि णादव्वं ।।१६६।।
वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मलविमेलणाच्छण्णो।
तह दु कसायाच्छण्णं चारित्तं होदि णादव्वं ।।१६७।। (त्रिकलम्)

वस्त्रस्य श्वेतभावो यथा नश्यति मलविमेलनाच्छन्न:।
मिथ्यात्वमलावच्छन्नं तथा च सम्यक्त्वं खलु ज्ञातव्यं ।।१६५।।
वस्त्रस्य श्वेतभावो यथा नश्यति मलविमेलनाच्छन्न:।
अज्ञानमलावच्छन्नं तथा ज्ञानं भवति ज्ञातव्यं ।। १६६ ।।
वस्त्रस्य श्वेतभावो यथा नश्यति मलविमेलनाच्छन्न:।
तथा तु कषायोच्छन्नं चारित्रं भवति ज्ञातव्यं ।। १६७ ।।

अर्थ:—जैसे वस्त्र का श्वेतपना मैल के संबंध से मिट जाता है वैसे ही संसारी आत्मा का सम्यक्त्व गुण मिथ्यात्वरूपी मल से, तथा ज्ञान गुण अज्ञानरूप मल से और चारित्र गुण कषायरूपी मल से अवश्य ही नष्ट हो जाता है।

तात्पर्यवृत्ति:—वस्त्रस्य श्वेतभावो यथा नश्यति मलविमेलना, मलस्य विशेषेण मेलना संबंधस्तेनाच्छन्न:। तथव मिथ्यात्वमलेनावच्छन्नो मोक्षहेतुभूतो जीवस्य सम्यक्त्वगुणो नश्यतीति ज्ञातव्यं। वस्त्रस्य श्वेतभावो यथा नश्यति मल:

विमेलना, मलस्य विशेषेण मेलना संबंधस्तेनच्छन्नः। तथैवाज्ञानमलेनावच्छन्नो मोक्षहेतुभूतो जीवस्य ज्ञानगुणो नश्यतीति ज्ञातव्यं। वस्त्रस्य श्वेतभावो यथा नश्यति मलविमेलना, मलस्य विशेषेण मेलना संबंधस्तेनच्छन्नः। तथा कषायकर्म-मलेनावच्छन्नो मोक्षहेतुभूतो जीवस्य चारित्रगुणो नश्यतीति ज्ञातव्यं। इति मोक्षहेतुभूतानां सम्यक्त्वादिगुणानां मिथ्यात्वाज्ञानकषायप्रतिपक्षैः प्रच्छादनकथनरूपेण गाथात्रयं गतं।

अथ कर्म स्वयमेव बंधहेतुं कथं मोक्षकारणं भवतीति कथयति—

टीका:—जैसे मैल के विशेष संबंध से उच्छिन्न होकर अर्थात् दब कर वस्त्र का श्वेतपना नष्ट हो जाता है उसी प्रकार मिथ्यात्व मल के विशेष संबंध से दब कर जीव के मोक्ष का हेतुभूत सम्यक्त्व गुण नष्ट हो जाता है। जैसे मैल के विशेष सम्बन्ध से दबकर वस्त्र का श्वेतपना नष्ट हो जाता है वैसे ही जीव का मोक्ष का हेतुभूत ज्ञान गुण भी अज्ञान रूपी मल से दबकर नष्ट हो जाता है। तथा जैसे मैल के विशेष संबंध से वस्तु का श्वेतपना नष्ट हो जाता है वैसे ही कषायरूप मल से दब कर मोक्ष का हेतुभूत जीव का चारित्रगुण भी नष्ट हो जाता है।

विशेषार्थ:—जो लोग निमित्त कुछ भी नहीं करता ऐसा एकान्त हठ करते हैं उनको लक्ष्य में लेकर आचार्य महाराज कह रहे हैं कि सम्यक्त्व, ज्ञान और चारित्र ये तीनों आत्मा के सहज भाव मिथ्यात्व, अज्ञान और कषाय रूप कर्म मलों से क्रम से दबे हुए हैं। दबे हुए का अर्थ जैसा हम लोग कपड़े आदि को पत्थर आदि के नीचे दबा देते हैं वैसा नहीं है, किन्तु वर्तमान में संसारी आत्मा में सम्यक्त्वादि गुण हैं ही नहीं अपितु मिथ्यात्वादिक ही हैं। हां, उन मिथ्यात्वादिकों को आत्मा से दूर कर देने पर सम्यक्त्वादि गुण प्रगट हो जाते हैं जिस प्रकार कपड़े की स्वच्छता कपड़े में आये हुए मैल से नष्ट हो जाती है किन्तु उस मैल के हटा देने पर स्वच्छता आ जाती है। (सारांश यह है कि निमित्त जन्य विशेषता को लक्ष्य में रखना ही चाहिए किन्तु उसी के भरोसे रहकर हतोत्साह नहीं होना चाहिए।

इस प्रकार मोक्ष के हेतुभूत आत्मा के सम्यक्त्वादि गुण हैं उनके प्रतिविरोधी मिथ्यात्व, अज्ञान और कषायभाव हैं जो कि आत्मा के सम्यक्त्वादि गुणों को रोके हुए हैं, होने नहीं देते। इस प्रकार का कथन करने वाली तीन गाथायें हुई ॥१६५-१६६-१६७॥

जबकि कर्म स्वयं बंध का हेतु है तो फिर वह मोक्ष का कारण कैसे हो सकता है ऐसा आगे बताते हैं:—

सो सव्वणाणदरसी कम्मरयेण णियेणवच्छण्णो।
संसारसमावण्णो णवि जाणदि सव्वदो सव्वं ॥१६८॥

स सर्वज्ञानदर्शी कर्मरजसा निजेनावच्छन्नः।
संसारसमापन्नो नापि जानाति सर्वतः सर्वं ॥१६८॥

अर्थ—आत्मा स्वभाव से ही वस्तु मात्र का जानने वाला देखने वाला है, फिर भी वह अपने कर्म रूपी रज से आच्छादित है। अतः संसार को प्राप्त होता हुआ सर्व प्रकार से सम्पूर्ण वस्तुओं को जान नहीं रहा है।

तात्पर्यवृत्तिः—**सो सव्वणाणदरसी कम्मरयेण णियेणवच्छण्णो**—स शुद्धात्मा निश्चयेन समस्तपरिपूर्ण-ज्ञानदर्शनस्वभावोऽपि निजकर्मरजसावच्छन्नो झंपितः सन्। **संसारसमावण्णो णवि जाणदि सव्वदो सव्वं।** संसारसमापन्नः संसारे पतितः सन् नैव जानाति सर्वं वस्तु, सर्वतः सर्वप्रकारेण। ततो ज्ञायते कर्म कर्तृ जीवस्य स्वयमेव बंधरूपं कथं मोक्षकारणंभवतीति। एवं पापवत्पुण्यं बंधकारणमेवेति कथनरूपेण गाथा गता।

अथ पूर्वं मोक्षहेतुभूतानां सम्यक्त्वादिजीवगुणानां मिथ्यात्वादिकर्मणा प्रच्छादनं भवतीति कथितं इदानीं तद्गुणाधारभूतो गुणी जीवो मिथ्यात्वादिकर्मणा प्रच्छाद्यते-इति प्रकटीकरोति—

टीका—(सो सव्वणाणदरिसी कम्मरयेण णियेणवच्छण्णो) वह आत्मा शुद्ध निश्चयनय से समस्त पदार्थोंके देखने जानने रूप दर्शन और ज्ञान स्वभाव वाला है फिर भी अपने किये हुए कर्म रूपी मैल से ढका हुआ है। (संसार समावण्णो णवि जाणदि सव्वदो सव्वं) संसार समापन्न है (रागद्वेषी हो रहा है) अत एव संसार में उलझा हुआ है इसलिए सर्व वस्तुओं को सब प्रकार से नहीं जान रहा है। इसलिए यह मानना पड़ता है कि कर्म स्वयं ही जीव के लिए बंध स्वरूप है इससे यह कर्म मोक्ष का कारण कैसे हो सकता है। और जब मोक्ष का कारण नहीं हो सकता तो फिर वह कर्म चाहे पाप रूप हो या पुण्यरूप सारा का सारा बंध का ही कारण समझना चाहिए। इस प्रकार जैसे पाप बंध का कारण है वैसे पुण्य भी बंध का कारण है इस प्रकार का कथन इस गाथा में हुआ ॥१६८॥

अभी तक यह बतलाया गया है कि मोक्ष हेतुभूत जो जीव के सम्यक्त्वादि गुण हैं, वे मिथ्यात्वादि कर्म के द्वारा ढके हुए हैं, किन्तु अब आगे यह बतलाते हैं कि उन सम्यक्त्वादि गुणों का आधार भूत जो गुणी जीव है, वह भी मिथ्यात्वादि कर्मों से अच्छादित हो रहा हैः—

सम्मत्त पडिणिबद्धं मिच्छत्तं जिणवरेहिं परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो मिच्छादिट्ठीत्ति णायव्वो ॥ १६९ ॥
णाणस्स पडिणिबद्धं अण्णाणं जिणवरेहिं परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो अण्णाणी होदि णायव्वो ॥ १७० ॥
चारित्त पडिणिबद्धं कसायं जिणवरेहिं परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो अचरित्तो होदि णायव्वो ॥ १७१ ॥

सम्यक्त्व प्रतिनिबद्धं मिथ्यात्वं जिनवरैः परिकथितं।
तस्योदयेन जीवो मिथ्यादृष्टिरिति ज्ञातव्यः ॥ १६९ ॥
ज्ञानस्य प्रतिनिबद्धं अज्ञानं जिनवरैः परिकथितं।
तस्योदयेन जीवोऽज्ञानी भवति ज्ञातव्यः ॥ १७० ॥
चारित्र प्रतिनिबद्धं कषायो जिनवरैः परिकथितः।
तस्योदयेन जीवोऽचारित्रो भवति ज्ञातव्यः ॥ १७१ ॥

अर्थ:—आत्मा के सम्यक्त्व गुण का रोकनेवाला मिथ्यात्व कर्म है जिसके उदय से यह जीव मिथ्यादृष्टि हो रहा है। आत्मा के ज्ञान गुण का प्रतिबन्धक अज्ञान है जिसके उदय से यह जीव अज्ञानी हो रहा है। तथा चारित्र गुण को रोकने वाला कषायभाव है जिसके उदय से यह जीव चारित्र रहित अर्थात् अचारित्री हो रहा है ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने बतलाया है ॥ १६९-१७०-१७१ ॥

तात्पर्यवृत्ति:—सम्यक्त्वप्रतिनिबद्धं प्रतिकूलं मिथ्यात्वं भवतीति जिनवरैः परिकथितं तस्योदयेन जीवो मिथ्यादृष्टिर्भवतीति ज्ञातव्यः। ज्ञानस्य प्रतिनिबद्धः प्रतिकूलमज्ञानं भवतीति जिनवरैः परिकथितं तस्योदयेन जीवश्चाज्ञानी

भवतीति ज्ञातव्य: । चारित्रस्य प्रतिनिबद्ध: प्रतिकूल: क्रोधादिकषायो भवतीति जिनवरै: परिकथित: तस्योदयेन जीवोऽचरित्रो भवतीति ज्ञातव्य: । एवं मोक्षहेतुभूतो योऽसौ जीवो गुणी तत्प्रच्छादनकथनमुख्यत्वेन गाथात्रयं गतं । इति सम्यक्त्वादिजीवगुणा मुक्तिकारणं तद्गुणपरिणतो वा जीवो मुक्तिकारणं भवति तस्माच्छुद्धजीवाद्भिन्नं शुभाशुभमनोवचनकायव्यापाररूपं, तद्व्यापारेणोपार्जितं वा शुभाशुभकर्म मोक्षकारणं न भवतीति मत्वा हेयं त्याज्यमिति व्याख्यानमुख्यत्वेन गाथानवकं गतं । द्वितीयपातनिकाभिप्रायेण पापाधिकारव्याख्यानमुख्यत्वेन गतं । अत्राह शिष्य: । **जीवादी सद्दहण**मित्यादि व्यवहाररत्नत्रयव्याख्यानं कृतं तिष्ठति कथं पापाधिकार इति । तत्र परिहार:—यद्यपि व्यवहारमोक्षमार्गो निश्चयरत्नत्रयस्योपादेयभूतस्य कारणभूतत्वादुपादेय: परम्परया जीवस्य पवित्रताकरणात् पवित्रस्तथापि बहिर्द्रव्यालंबनत्वेन पराधीनत्वात्पतति नश्यतीत्येकं कारणं निर्विकल्पसमाधिरतानां व्यवहारविकल्पालंबनेन स्वरूपात्पतितं भवतीति द्वितीयं कारणं । इति निश्चयनयापेक्षया पापं । अथवा सम्यक्त्वादिविपक्षभूतानां मिथ्यात्वादीनां व्याख्यानं कृतमिति वा पापाधिकार: ।

तत्रैवं सति व्यवहारनयेन पुण्यपापरूपेण द्विभेदमपि कर्म निश्चयेन शृंगाररहितपात्रवत्पुद्गलरूपेणैकीभूय निष्क्रांतं ।।

इति **श्री जयसेनाचार्य कृतायां** समयसारव्याख्यायां शुद्धात्मानुभूतिलक्षणायां तात्पर्यवृत्तौ स्थलत्रयसमुदायेनैकोनविंशतिगाथाभिश्चतुर्थ: पुण्यपापाधिकार: समाप्त: ।

टीका:—जिन भगवान ने बतलाया है कि सम्यक्त्व को रोकने वाला उसका प्रतिपक्षभूत मिथ्यात्व नाम का कर्म है जिसके उदय से यह जीव मिथ्यादृष्टि बन रहा है ऐसा जानना चाहिये । ज्ञान को रोकने वाला उसका प्रतिपक्षभूत अज्ञान है ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है । उसके उदय से जीव अज्ञानी है ऐसा जानना चाहिये । इसी प्रकार जिनेन्द्र भगवान ने बतलाया है कि चारित्र को रोकनेवाला उसका प्रतिपक्ष भूत क्रोधादि कषाय है जिसके उदय से यह जीव चारित्र से रहित अचारित्री हो रहा है ऐसा जानना चाहिये इस प्रकार मोक्ष का कारणभूत जो यह जीव गुणी है उसके आवरण के कथन की मुख्यता से तीन गाथायें पूर्ण हुईं ।।१६९-१७०-१७१ ।।

सारांश यह है कि सम्यक्त्वादि जीव के गुण हैं सो ह मुक्ति के कारण हैं अथवा उन गुणों में परिणमन करनेवाला जीव स्वयं मोक्ष का कारण है । किन्तु उस शुद्ध जीव से पृथग्भूत शुभ व अशुभ मन वचन काय के व्यापार रूप कर्म हैं अथवा उस व्यापार से उपार्जित किये हुए अदृष्ट रूप शुभाशुभ कर्म हैं वे मोक्ष के कारण नहीं हैं । अत: वे हेय हैं त्याज्य हैं (यतियों के लिये समादरणीय नहीं हैं) । इस प्रकार के व्याख्यान से नव गाथायें पूर्ण हुईं । दूसरो पातनिका के अभिप्राय से पापाधिकार के व्याख्यान की मुख्यता से कथन पूर्ण हुआ ।

यहां शिष्य प्रश्न करता है कि इस अधिकार में आचार्य ने "जीवादी सद्दहणं" इत्यादि रूप से व्यवहार रत्नत्रय का कथन किया है फिर यह पापाधिकार कैसे हो सकता है । इस शंका का उत्तर यह है कि यद्यपि व्यवहार मोक्ष मार्ग, निश्चय रत्नत्रय जो उपादेय भूत है, उसका कारण होने से उपादेय है (ग्रहण करने योग्य है) तथा परम्परा से जीव की पवित्रता का कारण है, इससे पवित्र भी है तथापि बाह्य द्रव्यों के आलम्बन को लिए हुए होता है इसलिए पराधीन होने से वह (मोक्ष होने से पहले ही) नाश को प्राप्त होता है यह एक कारण है । दूसरा कारण यह है कि निर्विकल्प समाधि में तत्पर होने वाले योगियों का अपने शुद्धात्मस्वरूप से पतन व्यवहार विकल्पों के आलंबन से हो जाता है । इसलिए व्यवहार मोक्ष मार्ग पाप रूप है अथवा इस अधिकार से सम्यक्त्व आदि जीव के गुणों से प्रतिपक्षी मिथ्यात्व आदि भावों का व्याख्यान किया गया है इससे भी यह पापाधिकार है ।

इस प्रकार व्यवहारनय से कर्म यद्यपि पुण्य पापरूप दो प्रकार का है तथापि निश्चयनय की अपेक्षा तो शृंगार रहित पात्र के समान पुद्गलरूप से एक रूप होकर रंग भूमि से निकल गया।

इस प्रकार श्री **जयसेनाचार्य कृत** शुद्धात्मा की अनुभूति लक्षण को रखने वाली तात्पर्यवृत्ति नाम की समयसार के व्याख्यान में तीन स्थल के समुदाय रूप से १६ गाथाओं से यह पुण्यपापाधिकार नाम का चौथा प्रकरण समाप्त हुआ।

इति चतुर्थ महाधिकार समाप्तः।

पांचवा महाधिकार (आस्रव तत्व)

तात्पर्यवृत्तिः—अथ प्रविशत्यास्रवः । यत्र सम्यग्भेदभावना परिणतः कारणसमयसाररूपः संवरो नास्ति तत्रास्रवो भवतीति संवरो विपक्षद्वारेण, सप्तदशगाथापर्यंतं आस्रवव्याख्यानं करोति। तत्र प्रथमतस्तावत्, वीतराग-सम्यग्दृष्टेर्जीवस्य रागद्वेषमोहरूपा आस्रवा न संतीति संक्षेपेण संवरव्याख्यानरूपेण **'मिच्छत्तं अविरमणं'** इत्यादि गाथात्रयं। तदनंतरं रागद्वेषमोहास्रवाणां पुनरपि विशेषविवरणमुख्यत्वेन **'भावो रागादिजुदो'** इत्यादि स्वतंत्रगाथा त्रयं। ततः परं केवलज्ञानादिव्यक्तिरूपकार्यसमयसारकारणभूतनिश्चयरत्नत्रयपरिणतस्य ज्ञानिजीवस्य रागादिभाव प्रत्ययनिषेधमुख्यत्वेन **चउविह** इत्यादि गाथात्रयं। अतः परं तस्यैव ज्ञानिनो जीवस्य मिथ्यात्वादिद्रव्यप्रत्ययास्तित्वेऽपि वीतरागचारित्रभावनाबलेन रागादिभावप्रत्यय निषेध मुख्यता **सव्वे पुव्वणिबद्धा** इत्यादि सूत्र चतुष्टयं। तदनंतरं नवतरद्रव्यकर्मास्रवस्योदयागतद्रव्यप्रत्यया कारणं भवति तेषां च द्रव्यप्रत्ययानां जीवगतरागादि-भावप्रत्ययाः कारणमिति कारण व्याख्यान मुख्यत्वेन **रागो दोसो** इत्यादिसूत्रचतुष्टयं कथयति, इति समुदायेन सप्त-दशगाथाभिः पंचस्थलैः आस्रवाधिकारसमुदायपातनिका।

अथ द्रव्यभावास्रवस्वरूपं कथयति।

जहां पर सम्यक्रूप से भेदभावना में परिणत जो कारण समयसार रूप संवर नहीं होता, वहां आस्रव होता है जो कि संवर का प्रतिपक्षी है उसी आस्रव का व्याख्यान आचार्य देव १७ गाथाओं में करते हैं। उसमें पहले 'मिच्छत्तं अविरमणं आदि तीन गाथाएं हैं उसमें संक्षेप से यह बतलाया है कि वीतराग सम्य-ग्दृष्टि जीव के रागद्वेष और मोहरूप आस्रव भाव नहीं होते उसके बाद 'भावो रागादीजुदो' इत्यादि तीन गाथायें स्वतन्त्र रूप से कही गई हैं जिनमें राग द्वेष और मोहरूप आस्रवों का विशेष स्पष्टीकरण किया गया है। उसके बाद 'चहु विह' इत्यादि तीन गाथायें हैं जिसमें बताया है कि केवलज्ञानादि की अभिव्यक्ति रूप जो कार्य समयसार है उसका कारणभूत जो निश्चय रत्नत्रय उसमें परिणत होने वाला जो ज्ञानी जीव है उसके रागादिरूप भाव प्रत्यय नहीं होते। इसके पश्चात 'सव्वे पुव्वणिबद्धा' इत्यादि चार गाथायें हैं जिनमें मुख्यता से यह बतलाया है कि उस ज्ञानी जीव के यद्यपि मिथ्यात्व आदि द्रव्य प्रत्ययों का अस्तित्व पाया जाता है फिर भी वीतराग चारित्र की भावना के बल से उसके रागादिरूप भाव प्रत्यय नहीं होते। उसके बाद 'रागो दोसो' इत्यादि चार गाथायें हैं जिनमें मुख्यता से यह बतलाया है कि नवीन द्रव्य कर्म के आने में (आस्रव) कारण भूत जो द्रव्य प्रत्यय हैं उनके भी कारण जीवगत

---

*यह प्रकरण आत्मख्याति टीकाकार की अपेक्षा से लिया गया है। इस आस्रव तत्व की १७ गाथायें श्री जय-सेनाचार्य कृत तात्पर्यवृत्ति के संवर प्रकरण में मुद्रित हैं और संवर प्रकरण की १४ गाथायें आस्रव तत्व में मुद्रित हैं।

रागादि भाव प्रत्यय हैं। इस प्रकार सब मिल कर पांच स्थलों की १७ गाथाओं से आनेवाला आस्रव अधिकार की समुदाय पातनिका हुई।

आगे द्रव्य और भाव आस्रव का स्वरूप कहते हैं:—

मिच्छत्तं अविरमणं कषाय जोगा य सण्णसण्णादु।
बहुविहभेदा जीवे तस्सेव अणण्णपरिणामा ॥१७२॥
णाणावरणादीयस्स ते दु कम्मस्स कारणं होंति।
तेंसिपि होदि जीवो य रागदोसादिभावकरो ॥१७३॥

मिथ्यात्वमविरमणं कषाययोगौ च संज्ञासंज्ञास्तु।
बहुविधभेदा जीवे तस्यैवानन्यपरिणामाः ॥ १७२ ॥

ज्ञानावरणाद्यस्य ते तु कर्मणः कारणं भवंति।
तेषामपि भवति जीवः च रागद्वेषादिभावकरः ॥ १७३ ॥

अर्थ—मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये चार बंध के कारणरूप आस्रव हैं। जो कि चेतना के और जड़ पुद्गल के विकार रूप से दो दो प्रकार के हैं। उनमें से चेतन के विकार हैं वे जीव में बहुत भेद लिए हुए हैं। वे उस जीव के ही अभेद रूप परिणाम हैं। और जो मिथ्यात्व आदि पुद्गल के विकार हैं वे ज्ञानावरणादि रूप कर्मों के बंध के कारण हैं। और उन मिथ्यात्व आदि भावों को भी रागद्वेष आदि भावों का करने वाला जीव कारण होता है।

तात्पर्यवृत्तिः—मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य सण्णसण्णा दु सण्णसण्णा इत्यत्र प्राकृतलक्षणबलात् अकारलोपो द्रष्टव्यः। मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगाः, कथंभूताः, भावप्रत्ययद्रव्यप्रत्ययरूपेण संज्ञाऽसंज्ञाश्चेतनाचेतनाः अथवा संज्ञाः, आहारभयमैथुनपरिग्रहरूपाः। असंज्ञाः, ईषत्संज्ञाः, इहलोकाकांक्षापरलोकाकांक्षाकुधर्माकांक्षारूपास्तित्रः कथंभूताः, एते **बहुविह भेदा जीवे**। उत्तरप्रत्ययभेदेन बहुधा विविधाः, क्व ? जीवे अधिकरणभूते। पुनरपि कथंभूताः **तस्सेव अणण्णपरिणामा** अनन्यपरिणामाः, अभिन्नपरिणामाः, तस्यैव जीवस्याशुद्धनिश्चयनयेनेति।

णाणावरणादीयस्स ते दु कमस्स कारणं होंति ते च पूर्वोक्तद्रव्यप्रत्ययाः, उदयागताः संतः, निश्चयचारित्राविनाभूतवीतरागसम्यक्त्वाभावे सति शुद्धात्मस्वरूपच्युतानां जीवानां ज्ञानावरणाद्यष्टविधस्य द्रव्यकर्मास्रवस्य कारणभूता भवंति। **तेंसिपि होदि जीवो रागदोसादिभावकरो** तेषां च द्रव्यप्रत्ययानां जीवः कारणं भवति। कथंभूतः ? रागद्वेषादिभावकर रागद्वेषादिभावपरिणतः। अयमत्रभावार्थः—द्रव्यप्रत्ययोदये सति शुद्धात्मस्वरूपभावनां त्यक्त्वा यदा रागादिभावेन परिणमति तदा बंधो भवति नैवोदयमात्रेण, यदि उदयमात्रेण बंधोभवति ? तदा सर्वदा संसार एव। कस्मात् ? इति चेत् संसारिणां सर्वदैव कर्मोदयस्य विद्यमानत्वात्। तर्हि कर्मोदय बंधकारणं न भवति ? इति चेत् तन्न निर्विकल्पसमाधिभ्रष्टानां मोहसहितकर्मोदयो व्यवहारेण निमित्तं भवति। निश्चयेन पुनः अशुद्धोपादानकारणं स्वकीयरागाद्यज्ञानभाव एव भवति।

अथ वीतरागस्वसंवेदनज्ञानिनो जीवस्य रागद्वेषमोहरूपभावास्रवाणामभावं दर्शयति —

टीका:—(मिच्छत्तं अविरमंण कसाय जोगा य सण्णसण्णादु (यहां 'सण्णसण्णा' इसमें प्राकृत व्याकरण के अनुसार अकार का लोप हो गया है। मिथ्यात्व अविरति कषाय और योगरूप बंध के कारण वे भाव और द्रव्य के भेद से दो प्रकार के होते हैं। उनमें से भाव प्रत्यय चेतन स्वरूप व द्रव्य प्रत्यय जड़ स्वरूप हैं। अथवा आहार, भय, मैथुन और परिग्रह ये चार संज्ञायें हैं और इस लोक की आकांक्षा, पर लोक की आकांक्षा तथा कुधर्म की आकांक्षा रूप तीन असंज्ञायें हैं अर्थात् ईषत संज्ञायें हैं। ये कैसी हैं कि (बहुविह भेदा जीवे) आधारभूत जीवमें वे संज्ञायें उत्तर भेद से अनेक प्रकार की होती हैं। (तस्सेव अणण्णपरिणामो) जो कि अशुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से उस जीव के परिणाम स्वरूप उससे अभिन्न होते हैं। (णाणावरणादीयस्स ते दु कम्मस्स कारणं होंति) उदय में आए हुए जो पूर्वोक्त मिथ्यात्वादि द्रव्य प्रत्यय हैं वे निश्चय चारित्र के साथ में अविनाभाव रखने वाले अर्थात् उसके बिना नहीं होने वाले वीतराग सम्यग्दर्शन के अभाव में शुद्धात्मीक स्वरूप से च्युत होने वाले जीवों के ज्ञानावरण आदि आठ प्रकार द्रव्य कर्मास्रव के कारण होते हैं। (तेसिंपि होदि जीवो रागदोसादिभावकरो) और इन द्रव्य प्रत्ययों का भी कारण राग द्वेषादि भावों का करने वाला (तद्रूप परिणत रहने वाला) संसारी जीव होता है। भावार्थ यह है कि (पूर्व में बांधे हुए) द्रव्य कर्मों का उदय होने पर जब यह जीव अपने शुद्ध आत्मस्वरूप की भावना को छोड़कर रागादिरूप में परिणमन करता है तब इसके नवीन द्रव्य कर्मों का बंध होता है। किन्तु केवल द्रव्य प्रत्ययों के उदयमात्र से बंध नहीं होता। क्योंकि यदि उदयमात्र से ही बंध होने लगे तो संसार बना ही रहेगा—कभी उसका अन्त नहीं हो सकता क्योंकि संसारी जीवों के कर्मों का उदय सदा ही बना रहता है। इस पर शिष्य शंका करता है कि कर्मोदय तो बंध का कारण नहीं ठहरा ? आचार्य समाधान करते हैं कि यह बात नहीं है क्योंकि निर्विकल्प समाधि से भ्रष्ट होने वाले जीवों के कर्म का उदय मोह सहित ही होता है जो कि व्यवहार से कर्म बंध का निमित्त होता है, किन्तु निश्चयनय से तो अशुद्ध उपादान है कारण जिसका ऐसा जीव का अपना रागादि अज्ञान भाव ही कर्म बंध का कारण है ॥ १७२-१७३ ॥

विशेषार्थ:—सारांश यह है कि कर्मोदय के बिना नवीन बंध नहीं होता किन्तु कर्मोदय के साथ साथ जो जीव के रागादि रूप विकार भाव होते हैं तब ही नवीन बंध होता है। बंध के कारण मूल में जीव के रागद्वेषादि विकार भाव ही हैं। जहां वे रागद्वेषादि विकार भाव नष्ट हुए वहां वीतरागी सम्यग्दृष्टि जीव के बंध नहीं होता केवल योगजन्य आस्रवभाव होता है।

अब आगे बतलाते हैं कि वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान के धारक जीव के रागद्वेष मोहरूप भावास्रवों का अभाव है:—

णत्थि दु आसवबंधो सम्मादिट्ठिस्स आसवणिरोहो।
संते पुव्वणिबद्धे जाणदि सो ते अबंधंतो ॥१७४॥

नास्ति त्वास्रवबंधः सम्यग्दृष्टेरास्रवनिरोधः।
संति पूर्वनिबद्धानि जानाति स तान्यबध्नन् ॥१७४॥

अर्थ:—सम्यग्दृष्टि जीव के आस्रव मूलक नवीन कर्मोका बंध नहीं होता किन्तु उसके आस्रवका निरोध ही होता है और पूर्वमें बांधे हुये सत्ता में विद्यमान कर्मों को जानता ही है परन्तु नवीन कर्म बंध नहीं करता है ॥१७४॥

तात्पर्यवृत्तिः—णत्थि इत्यादि पदखंडनारूपेण व्याख्यानं क्रियते **णत्थि दु आसवबंधो सम्मादिट्ठिस्स आसवणिरोहो** न भवतः, न विद्येते । कौ ? तौ आस्रवबंधौ । गाथायां पुनः समाहारद्वन्द्वसमासापेक्षया द्विवचनमप्येकवचनं कृतं । कस्यास्रवबंधौ न स्तः ? सम्यग्दृष्टेर्जीवस्य । तर्हि किमस्ति ? आस्रवनिरोधलक्षणसंवरोऽस्ति **सो** स सम्यग्दृष्टिः **संते** संति विद्यमानानि **ते** तानि **पुव्वणिबद्धे** पूर्वनिबद्धानि ज्ञानावरणादि कर्माणि । अथवा प्रत्ययापेक्षया पूर्वनिबद्धान् मिथ्यात्वादिप्रत्ययान् **जाणदि** जानाति वस्तुस्वरूपेण जानाति किं कुर्वन् सन् ? **अबंधंतो** विशिष्टभेदज्ञानबलान्नवतराण्यभिनवान्यबध्नन्—अनुपार्जयन्, इति । अयमत्र भावार्थः । सरागवीतरागभेदेन द्विधा सम्यग्दृष्टिर्भवति तत्र योऽसौ सरागसम्यग्दृष्टिः ।

सोलसपणवीसणमं दसचउछक्केक्कं बंधवो छिण्णा
दुगतीसचदुरपुव्वे पणसोलसजोगिणो इक्को

इत्यादि बंधत्रिभंगकथितबंधविच्छेदक्रमेण मिथ्यादृष्टयपेक्षया त्रिचत्वारिंशत्प्रकृतीनामबंधकः । सप्ताधिकसप्तति-प्रकृतीनामल्पस्थित्यनुभागरूपाणां बंधकोऽपि सन् संसारस्थितिच्छेदको भवति । तेन कारणेनाबंधक इति तथैवाविरति-सम्यग्दृष्टेर्गुणस्थानादुपरि यथासंभवं सरागसम्यक्त्वपर्यंतं, अधस्तनगुणस्थानापेक्षया तारतम्येनाबंधकः । उपरिमगुणस्थानापेक्षया पुनर्बंधकः । ततश्च वीतरागसम्यक्त्वे जाते साक्षादबंधको भवति, इति मत्वा वयं सम्यग्दृष्टयः सर्वथा बंधो नास्तीति न वक्तव्यं । इति आस्रवविपक्षद्वारेण संवरस्य संक्षेपसूचनव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथात्रयं गतं ।

अथ रागद्वेषमोहरूपभावानामास्रवत्वं निश्चिनोति—

टीका—णत्थि आदि पदोंका पृथक् पृथक् अर्थ बतलाते हैं कि (णत्थि दु आसव बंधो सम्मादिट्ठिस्स आसव णिरोहो) यहां गाथा में आस्रव और बंध इन दोनों को समाहार द्वन्द्व समास रूप से लिया है, अतः द्विवचन के स्थान पर एक वचन है । कर्मों का आस्रव और बंध सम्यग्यदृष्टि जीव के नहीं होता उसके तो आस्रव का निरोध ही है लक्षण जिसका ऐसा संवर ही होता है । (सो) वह सम्यग्दृष्टि जीव (संते ते पुव्वणिबद्धे) सत्ता में विद्यमान पूर्व निबद्ध ज्ञानावरणादि कर्म उनको अथवा प्रत्ययों की अपेक्षा से कहें तो पूर्व निबद्ध मिथ्यात्वादि प्रत्ययों को (जाणदि) जैसा उनका स्वरूप है वैसा ही जानता रहता है । क्या करता हुआ जानता है कि ? (अबंधंतो) विशिष्ट (समाधि स्वरूप) भेदज्ञान के बल से वह नवीन कर्मों को नहीं बांधता हुआ जानता है । भावार्थ यह है कि सम्यग्दृष्टि जीव सराग और वीतराग के भेद से दो प्रकार का है । उसमें से वीतराग सम्यग्दृष्टि जीव तो नवीन कर्म बंध को सर्वथा नहीं करता जिसको कि लक्ष्य में लेकर यहां कथन किया गया है किन्तु सराग सम्यग्दृष्टि जीव अपने अपने गुणस्थान के क्रम से बंध व्युच्छित्ती करने वाला होता है जैसा कि "सोलसपणवीसणभं दसचउछक्केक बंधवोछिन्ना । दुगतीसचदुरपुव्वेपणसोलसजोगिणो इक्को ।" इत्यादि बंध त्रिभंगीमें बताये हुये बंध विच्छेद के क्रम से विचार कर देखें तो चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अव्रत सम्यग्दृष्टि जीव मिथ्यात्व आदि गुणस्थानों में विछिन्न हुई ४३ प्रकृतियों का बंध करने वाला नहीं होता किन्तु ७७ प्रकृतियों का अल्प स्थिती अनुभाग के रूपमें बंधक भी होता है किन्तु वह संसार की स्थिती का छेदक होता है (परीत संसारी बन कर रहता है) इस कारण से वह अबंधक (ईषत् बंधकार) होता है । इस प्रकार अविरत चतुर्थगुणस्थान के ऊपर के गुणस्थानों में भी जहां तक सराग सम्यग्दर्शन रहता है वहां तक जहां जैसा संभव है वहां तारतम्यरूप से नीचले गुणस्थानों की अपेक्षा से अबंधक होता जाता है । किन्तु उपरिम गुणस्थानों की अपेक्षा में देखने पर वह बंधक भी है । हां, जहां सराग सम्यक्त्व के आगे वीतराग सम्यक्त्व होता है वह साक्षात् स्पष्ट रूप से अबंधक होता है । इससे यह निष्कर्ष निकला कि हम भी सम्यग्दृष्टि हैं और

सम्यग्दृष्टि के बंध नहीं होता इसलिये हमें भी बंध नहीं होता ऐसा नहीं समझना चाहिये। (क्योंकि यहां पर जितना भी कथन है वह वीतराग सम्यग्दृष्टि को लक्ष्य में लेकर किया गया है जैसा कि आचार्य ने स्थान स्थान पर वर्णन किया है) ।।१७४।।

इस प्रकार आस्रव का विपक्षी जो संवर उसकी संक्षेप से सूचना के व्याख्यान की मुख्यता से तीन गाथायें पूर्ण हुईं।

इससे आगे यह निर्णय करते हैं कि रागद्वेष और मोह ये ही आस्रव हैं।

भावो रागादिजुदो जीवेण कदो दु बंधगो होदि।
रागादिविप्पमुक्को अबंधगो जाणगो णवरि ।।१७५।।

भावो रागादियुतः जीवेन कृतस्तु बंधको भवति।
रागादिविप्रमुक्तोऽबंधको ज्ञायको नवरि ।।१७५।।

अर्थः—जीव से किया हुआ रागादियुक्त अज्ञानभाव ही नवीन कर्म के बन्ध होने में कारण होता है। किन्तु रागादि से रहित आत्मा का भाव नूतन बन्ध का कारण नहीं होता। वह तो केवल मात्र जानने वाला ही होता है ।। १७५ ।।

तात्पर्यवृत्तिः—भावो रागादिजुदो जीवेण कदो दु बंधगो होदि यथा अयस्कांतोपल संपर्कजो भावः परिणतिविशेषः, कालायससूचिं प्रेरयति। तथा जीवेन कृतो रागाद्यज्ञानजो भावः परिणतिविशेषः कर्ता, शुद्धस्वभावेन सानंदमव्ययमनादिमनंतशक्तिमुद्योतिनं निरुपलेपगुणमपि जीवं शुद्धस्वभावात्प्रच्युतं कृत्वा कर्मबंधं कर्तुं प्रेरयति **रागादिविप्पमुक्को अबंधगो जाणगो णवरि** यथा चायस्कातोपल संपर्करहितो भावः परिणतिविशेषः कालायस सूचिं न प्रेरयति तथा रागादिज्ञानविप्रमुक्तो भावस्त्वबंधकः सन् नवरि किंतु जीवं कर्मबंधं कर्तुं न प्रेरयति। तर्हि किं करोति ? पूर्वोक्तशुद्धस्वभावेनैव स्थापयति। ततो ज्ञायते निरूपरागचैतन्यचिच्चमत्कारमात्रपरमात्मपदार्थाद्भिन्ना रागद्वेषमोहा एव बंधकारणमिति।

अथ रागादिरहितशुद्धभावस्य संभवं दर्शयति—

टीकाः—(भावो रागादिजुदो जीवेण कदो दु बन्धगो होदि) जैसे कि चुम्बक पाषाण के संसर्ग से उत्पन्न हुआ परिणाम विशेष वह लोहे की सूची को हिलाने डुलाने वाला होता है, वैसे ही जीव के द्वारा किया हुआ रागादिरूप अज्ञान भाव ही—जीव का वह परिणाम विशेष ही—जो यह जीव अपने सहज शुद्ध भाव के द्वारा सदानन्दमय, कभी भी नष्ट नहीं होने वाला, सदा से बना रहने वाला, अनन्त शक्ति का धारक एवं किसी भी प्रकार के दुःसंसर्ग से रहित स्वयं उद्योतमान होने वाला है उस जीव को उसके उस शुद्ध रूप से चिगाकर कर्मबन्ध करने के लिए प्रेरित करता है। (रागादि विप्पमुक्को अबंधगो जाणगो णवरि) किन्तु जिस प्रकार चुम्बक पत्थर के संसर्ग से रहित भाव लोहे की सुई को नहीं हिलाता है उसी प्रकार रागादि से रहित जो भाव है वह अबन्ध होता है वह इस जीव को कर्मबन्ध करने के लिए प्रेरित नहीं करता, वह तो इसे पूर्वोक्त शुद्ध स्वभाव में ही स्थित कर रखता है (अर्थात् ज्ञाता दृष्टा रखता है)। इस कथन से यह जाना जाता है कि किसी भी प्रकार के संसर्ग से रहित चिच्चमत्कार मात्र जो परमात्म पदार्थ है उससे भिन्न स्वरूप जो रागद्वेष मोह रूप भाव वे बन्ध के कारण हैं ।।१७५।।

विशेषार्थः—रागद्वेष मोह इन तीनों में से किसी से भी युक्त जीव का भाव बन्ध का कारण होता है। किन्तु उपर्युक्त तीनों विभावों से रहित आत्मा का शुद्ध ज्ञानमय भाव कभी बन्ध करने वाला नहीं

होता। हां, राग भाव से जो बन्ध होता है वह मन्द होता है, द्वेषभाव (अदेखसकापन) से तीव्र बन्ध होता है किन्तु मोह भाव (मिथ्यात्व) से अत्यन्त तीव्र बन्ध होता है। किन्तु निर्बन्ध दशा तो इन तीनों से रहित शुद्ध भाव होने पर ही होती है।

यह रागादि से रहित शुद्ध भाव कैसे होता है यह आगे बतलाते हैं:—

पक्के फलम्मि पडिदे जह ण फलं बज्झदे पुणो विंटे।
जीवस्स कम्मभावे पड़िदे ण पुणोदयमुवेहि ॥१७६॥

पक्वे फले पतिते यथा न फलं बध्यते पुनर्वृन्ते।
जीवस्य कर्म भावे पतिते न पुनरुदयमुपैति ॥१७६॥

अर्थ:—जैसे वृक्ष या बेल का फल पककर गिर जाने पर वह फिर गुच्छ या बेल से संबंध को प्राप्त नहीं होता, उसी प्रकार ज्ञानी जीव में होने वाला कर्म भाव पककर झड़ जाने पर फिर उदय को प्राप्त नहीं होता है ॥१७६॥

तात्पर्यवृत्तिः—**पक्के फलम्मि पडिदे जह ण फलं बज्झदे पुणो विंटे** यथा पक्वे फले पतिते सति पुनरपि तदेव फलं वृंते न बध्यते। **जीवस्स कम्मभावे पडिदे ण पुणोदयमुवेहि** तथा तत्त्वज्ञानिनो जीवस्य सातासातोदयजनितसुखदुःखरूपकर्मभावे, कर्मपर्याये पतिते गलिते निर्जीर्णे सति रागद्वेषमोहाभावात् पुनरपि तत्कर्म बंधं नायाति। नैवोदयं च। ततो रागाद्यभावात्, शुद्धभावः संभवति। तत एव च सम्यग्दृष्टेर्जीवस्य निर्विकारस्वसंवित्तिबलेन संवरपूर्विका निर्जरा भवतीत्यर्थः।

अथ ज्ञानिनो नवतरद्रव्यास्रवाभावं दर्शयति—

टीका:-(पक्के फलम्मि पड़िदे जह ण फलं वज्झदे पुणो विंटे) जैसे पक्के फल के गिर जाने पर फिर वह टहनी में वापिस नहीं लगता। (जीवस्स कम्मभावे पडिदे ण पुणोदयमुवेहि) उसी प्रकार तत्वज्ञानी जीव के साता वेदनीय व असाता वेदनीय के उदय जनित सुख दुख रूप कर्मो की अवस्था फल देकर झड़जाने पर फिर वह कर्म बंध को प्राप्त नहीं होता और न फिर उदय में ही आता है। क्योंकि ज्ञानी जीव के रागद्वेष और मोहभाव नहीं होता है इसलिए रागादि भावों के नहीं होने से उसके शुद्धभाव हो जाता है अत: उस सम्यग्दृष्टि जीव के विकार रहित स्वसंवेदन ज्ञान के बल से संवर पूर्वक निर्जरा ही होती है ऐसा समझना चाहिए।

विशेषार्थ:—रागी जीव के जो कर्म उदय होता है वह भोगभूमिया के समान आप जाते समय वह अपनी सन्तान को उत्पन्न कर जाता है, किन्तु राग रहित विरागी जीव का कर्म नपुंसक के समान अपना खेल दिखाकर निः सन्तान नष्ट हो जाता है।

आगे ज्ञानी (विरागी जीव के नवीन द्रव्यास्रव भी नहीं होता है ऐसा दिखलाते हैं—

पुढवीपिंडसमाणा पुव्वणिबद्धा दु पच्चया तस्स।
कम्मसरीरेण दु ते बद्धा सव्वेवि णाणिस्स ॥१७७॥

पृथ्वीपिंडसमानाः पूर्वनिबद्धास्तु प्रत्ययास्तस्य।
कर्मशरीरेण तु ते बद्धाः सर्वेऽपि ज्ञानिनः ॥१७७॥

अर्थ:—उस पूर्वोक्त विरागी जीव के पहले अज्ञान अवस्थामें बंधे हुए सबही कर्म पृथ्वी पिंड के समान होते हैं जो कि उसके कार्माणशरीर के साथ बंधे हुए होते हैं ।। १७७ ।।

तात्पर्यवृत्ति:—**पुढवीपिंडसमाणा पुव्वणिबद्धा दु पच्चया तस्स** पृथ्वीपिंडसमानाः, अकिंचित्करा भवंति के ते? पूर्वनिबद्धाः मिथ्यात्वादिद्रव्यप्रत्ययाः कस्य? तस्य वीतरागसम्यग्दृष्टेर्जीवस्य । यतो रागाद्यजनकत्वादकिंचित्करास्ततः कारणात्, नवतरद्रव्यकर्मबंधो न भवति । तर्हि पृथ्वीपिंडसमानाः संतः केन रूपेण तिष्ठंति ? **कम्मसरीरेण दु ते बद्धा सव्वेपि णाणिस्स** कार्मणशरीररूपेणैव ते सर्वे बद्धास्तिष्ठंति, न च रागादिभावपरिणतजीवरूपेण । कस्य ? निर्मलात्मानुभूतिलक्षणभेदविज्ञानिनो जीवस्येति । किंच यद्यपि द्रव्यप्रत्ययाः कार्माणशरीररूपेण मुष्टिबद्धविषवत्तिष्ठंति तथापि उदयाभावे सुखदुःख विकृतिरूपां बाधां न कुर्वंति । तेन कारणेन ज्ञानिनो जीवस्य, नवतरकर्मास्रवाभाव इति भावार्थः । एवं रागद्वेषमोहरूपास्रवाणां विशेषविवरणरूपेण स्वतंत्रगाथात्रयं गतं ।

अथ कथं ज्ञानी निरास्रवः ? इति पृच्छति ।

टीका:—(पुढवीपिंडसमाणा पुव्वणिबद्धा दु पच्चया तस्स) उस वीतराग सम्यग्दृष्टि जीव के पूर्वकालमें निबद्ध मिथ्यात्वादि द्रव्य प्रत्यय रागादिभावों के जनक न होने से पृथ्वी पिंड के समान अकार्यकारी होते हैं क्योंकि वे उसके नवीन द्रव्य कर्म का बंध नहीं करते। अब जबकि वे नवीन द्रव्य कर्म का बंध नहीं करते तो पृथ्वीपिंड के समान कैसे रहते हैं ? (कम्मसरीरेण दु ते बद्धा सव्वेवि णाणिस्स) निर्मल आत्मानुभूति (शुद्धात्मा के साथ तन्मयता) ही है लक्षण जिसका ऐसा भेदज्ञान जिसके है उस ज्ञानीके सब ही कर्म कार्माण शरीर रूप से ही रहते हैं। रागद्वेषादि भावों में जीव को परिणमन नहीं कराते हैं। यद्यपि उस ज्ञानी जोव के द्रव्य प्रत्यय मुट्ठी में रखे हुए विष समान कार्माण शरीर से सम्बद्ध रहते हैं तो भी उदय का अभाव होने से फलदान शक्ति के नहीं होने पर वे सब उसको सुख या दुखरूपी विकारमई बाधा को नहीं कर पाते हैं। इसी कारण से ज्ञानी जीव के नवीन कर्मों का आस्रव नहीं होता ।।१७७।।

आगे कहते हैं कि ज्ञानी जीव आस्रव रहित किस प्रकार होता है:—

चहुविह अणेयभेयं बंधंते णाणदंसणगुणेहिं ।
समये समये जह्मा तेण अबंधुत्ति णाणी दु ।।१७८।।

चतुर्विधा अनेकभेदं बध्नंति ज्ञानदर्शनगुणाभ्यां ।
समये समये यस्मात् तेनाबंध इति ज्ञानी तु ।।१७८।।

अर्थ:—मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग रूप चार कर्म बंध के कारण हैं वे आत्मा के ज्ञान और दर्शन गुण के द्वारा समय समय पर अनेक प्रकार के नवीन कर्मों को बांधते रहते हैं इसलिए ज्ञानी तो स्वयं अबंधक ही हैं ।। १७८ ।।

तात्पर्यवृत्ति:—**चहुविह अणेयभेयं बंधंते णाणदंसणगुणेहिं** चहुविह इति बहुवचने प्राकृतलक्षणबलेन ह्रस्वत्वं। चतुर्विधा मूलप्रत्ययाः कर्तारः । ज्ञानावरणादिभेदभिन्नमनेकविधं कर्म कुर्वंति । काभ्यां कृत्वा ? ज्ञानदर्शनगुणाभ्यां । दर्शनज्ञानगुणौ कथं बंधकारणभूतौ भवतः, इति चेत्—अयमत्र भावः, द्रव्यप्रत्यया उदयमागता संत जीवस्य ज्ञानदर्शनगुणद्वयं रागाद्यज्ञानभावेन परिणमयंति, तदा रागाद्यज्ञानभावपरिणतं ज्ञानदर्शनगुणद्वयं बंधकारणं भवति । वस्तुतस्तु रागाद्यज्ञानभावपरिणतं ज्ञानदर्शनगुणद्वयं, अज्ञानमेव मण्यते तत् । **'अणाणदंसणगुणेहिं'** इति

पाठांतर केचन पठंति । **समए समए जह्मा तेण अबंधुत्ति णाणी दु** समये समये यस्मात् प्रत्ययाः कर्तारः । ज्ञान-दर्शनगुणं रागाद्यज्ञानपरिणतं कृत्वा नवतरं कर्म कुर्वंति । तेन कारणेन भेदज्ञानी बंधको न भवति । किं तु ज्ञानदर्शन-रंजकत्वेन प्रत्यया एव बंधकाः, इति ज्ञानिनो निरास्रवत्वं सिद्धं ।

अथ कथं ज्ञानगुणपरिणामो बंधहेतुरिति पुनरपि पृच्छति—

टीका—(चहुविह अरोयभेयं बंधंते णाणदंसणगुणेहिं) यहां पर 'चहुविह' यह शब्द बहुवचन है फिर ह्रस्वान्त पाठ है क्योंकि प्राकृत के व्याकरण के अनुसार ऐसा होता है । मिथ्यात्वादिरूप चार प्रकार के मूल प्रत्यय हैं, वे ज्ञानावरणादि के भेद से अनेक प्रकार के ज्ञान और दर्शन गुण के द्वारा बंध को करने वाले हैं । यहां यदि कोई शंका करे कि ज्ञान गुण और दर्शन गुण तो आत्मा के गुण हैं अत: वे बन्ध के कारण कैसे हो सकते हैं ? उसका समाधान करते हैं कि उदय में आये हुए मिथ्यात्वदि द्रव्य प्रत्यय आत्मा के ज्ञान और दर्शन गुण को रागादिमय अज्ञानभाव के रूप में परिणमा देते हैं । उस समय वह अज्ञानभाव में परिणत हुआ ज्ञान और दर्शन बंध का कारण होता है । वास्तव में वह रागादिरूप अज्ञानभाव में परिणत हुआ ज्ञान और दर्शन अज्ञान ही कहलाता है । इसलिए कुछ लोग 'अण्णाणदंसण गुणेहिं' ऐसा पाठान्तर करके पढ़ते हैं । (समये समये जम्हा तेण अबंधुत्ति णाणी दु) जबकि ज्ञान और दर्शन गुण को रागादिमय अज्ञान में परिणत करके मिथ्यात्वादि प्रत्यय ही नूतन कर्म बन्ध करते हैं । इसलिए भेद ज्ञानी जीव बन्धक नहीं होता किन्तु ज्ञान और दर्शन को रंजक (रागरूपकारक) होने से उपर्युक्त प्रत्यय ही बंधक होते हैं । इस प्रकार से ज्ञानी जीव का निरास्रवत्व सिद्ध हो जाता है ।।१७८।।

अब ज्ञानगुण का परिणमन भी बन्धका कारण कैसे होता है सो बताते हैं—

जह्मा दु जहण्णादो णाणगुणादो पुणोवि परिणमदि ।
अण्णत्तं णाणगुणो तेण दु सो बंधगो भणिदो ।।१७९।।

यस्मात्तु जघन्यात् ज्ञानगुणात्, पुनरपि परिणमते ।
अन्यत्वं ज्ञानगुणः तेन तु स बंधको भणितः ।।१७९।।

अर्थ—आत्मा का ज्ञान गुण जब तक जघन्य अवस्था में रहता है अर्थात् स्पष्टतया यथाख्यात दशा को प्राप्त नहीं होता तब तक अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् अन्यपने को (निर्विकल्पता से सविकल्पता को) प्राप्त होता रहता है, इसलिए उस समय में वह नवीन बन्ध करने वाला भी होता है ।।१७९।।

तात्पर्यवृत्ति—जह्मा दु जहण्णादो णाणगुणादो पुणोवि परिणमदि अण्णत्तं णाणगुणो- यस्मात् यथाख्यातचारित्रात्पूर्वं जघन्यो हीनः सकषायो ज्ञानगुणो भवति । तस्मात्–जघन्यत्वादे ज्ञानगुणात् सकाशात्, अंत-र्मुहूर्तानंतरं निर्विकल्पसमाधौ स्थातुं न शक्नोति जीवः । ततः कारणात्, अन्यत्वं सविकल्पकपर्यायांतरं परिणमति स कः? कर्ता ज्ञानगुणः । **तेण दु सो बंधगो भणिदो** तेन सविकल्पेन कषायभावेन स ज्ञानगुणो बंधको भणितः । अथवा द्वितीय व्याख्यानं । जघन्यात् कोऽर्थः जघन्यात्, मिथ्यादृष्टिज्ञानगुणात् काललब्धिवशेन सम्यक्त्वे प्राप्ते सति ज्ञानगुणः कर्त्ता मिथ्यापर्यायं त्यक्त्वा अन्यत्वं सम्यग्ज्ञानित्वं परिणमति । **तेण दु सो बंधगो भणिदो** तेन कारणेन स ज्ञानगुणो ज्ञानगुणपरिणतजीवो वा अबंधको भणित इत्यभिप्रायः ।

अथ यथाख्यातचारित्राधस्तादंतर्मुहूर्तानंतरं निर्विकल्पसमाधौ स्थातुं न शक्यत इति भणितं पूर्वं। एवं सति कथं ज्ञान निरास्रव इति चेत्:—

टीका:-(जह्मा दु जहण्णादो णाणगुणादो पुणोवि परिणमदि अण्णत्तं णाणगुणो) क्योंकि स्पष्टतया यथाख्यात चारित्र से पूर्व अवस्था का ज्ञान जघन्य अर्थात् हीन दशावाला कषाय सहित वृत्तिवाला होता है इसलिए ज्ञानगुण की जघन्यता के कारण से यह जीव अन्तर्मुहुर्त के पीछे निर्विकल्प समाधि में ठहर नहीं सकता है, इसलिए वह इस जीवका ज्ञानगुण अन्यरूपता को सविकल्प रूप पर्यायान्तर को स्वीकार करता है (तेण दु सो बंधगो भणिदो) उस विकल्प सहित कषाय भाव के कारण वह गुण नूतन बन्ध करने वाला होता है। अथवा इस गाथा का इस प्रकार भी अर्थ लिया जा सकता है कि जघन्य से अर्थात् मिथ्यादृष्टि के ज्ञान गुण से काललब्धि के द्वारा सम्यक्त्व प्राप्त होने पर वह ज्ञान मिथ्यापने को त्यागकर अन्यपने को अर्थात् सम्यग्ज्ञानपने को प्राप्त कर लेता है (तेण दु सोऽबंधगो भणिदो) इसलिए वह ज्ञान गुण अथवा ज्ञानगुण के स्वरूप में परिणत जीव अबन्धक कहा जाता है ।।१७९।।

विशेषार्थ:—ज्ञान शब्द का अर्थ दो प्रकार से किया जा सकता है । एक तो यथावस्थितं अर्थं जानातीति ज्ञानं, दूसरा आत्मानं जानाति अनुभवतीति ज्ञानं। दूसरे अर्थ के अनुसार तो समाधिकाल में ज्ञान जब तक अनुभव करता रहता है तब तक वह ज्ञान कहा जा सकता है। ध्यान समाधि से जहां च्युत हुआ कि वह अज्ञान कोटि में आ जाता है और बंध भी करने लग जाता है जैसा कि पहले वाले तात्पर्यवृत्ति के व्याख्यान से स्पष्ट होता है और जिसका समर्थन अमृतचन्द्राचार्य की आत्मख्याति टीका मे होता है । किन्तु पहले वाले अर्थ के अनुसार चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव का ज्ञान भी इस ज्ञान शब्द से लिया जा सकता है क्योंकि वह भी जीवादि नव पदार्थों का यथार्थ ज्ञान रखता है। किन्तु इस अर्थ के अनुसार गाथा का जो अर्थ यहाँ लिया गया है वह कुछ थोड़ा खेंच कर लिया हुआ सा प्रतीत होता है जिसका समर्थन अमृतचन्द्र स्वामी की आत्मख्याति टीका से भी नहीं होता है। तथा स्वयं श्री जयसेनाचार्य ने भी स्थान स्थान पर यही लिख बताया है कि इस ग्रन्थ में जो वर्णन है वह गृहस्थ सम्यग्दृष्टि को लेकर नहीं किन्तु वीतराग (त्यागी) सम्यग्दृष्टि को लेकर किया है।

जब कि यथाख्यात चारित्र होने से पहले यदि ज्ञानी के बन्ध होता ही रहता है ऐसी दशा में ज्ञानी आस्रव रहित कैसे होता है, सो बताते हैं:—

दंसणणाणचरित्तं, जं परिणमदे जहण्णभावेण।
णाणी तेण दु बज्झदि पुग्गलकम्मेण विविहेण ।।१८०।।

दर्शनज्ञानचारित्रं यत्परिणमते जघन्यभावेन।
ज्ञानी तेन तु बध्यते पुद्गलकर्मणा विविधेन ।।१८०।।

अर्थ:—दर्शन, ज्ञान, और चारित्र ये तीनों जब तक जघन्य अवस्था में रहते हैं (यथाख्यात अवस्था को नहीं प्राप्त होते) तब तक ज्ञानी जीव भी नाना प्रकार के पौद्गलिक कर्मों से बन्धता ही रहता है ।।१८०।।

तात्पर्यवृत्ति:—दंसणणाणचरित्तं जं परिणमदे जहण्णभावेण ज्ञानी तावदीहापूर्वरागादिविकल्पकारणाभावान्निरास्रव एव। किंतु सोऽपि यावत्कालं परमसमाधेरनुष्ठानाभावे सति शुद्धात्मस्वरूपं द्रष्टुं ज्ञातुमनुचरितुं वा समर्थ तावत्कालं तस्यापि संबंधि यद्दर्शनं ज्ञानं चारित्रं तज्जघन्यभावेन सकषायभावेन, अनीहितवृत्त्या परिणमति।

णाणी तेण दु बज्झदि पुग्गलकम्मेण विविहेण तेन कारणेन सन् भेद ज्ञानी स्वकीयगुणस्थानानुसारेण परंपरया मुक्तिकारणभूतेन तीर्थंकरनामकर्मप्रकृत्यादिपुद्गलरूपेण विविधपुण्यकर्मणा बध्यते । इति ज्ञात्वा ख्यातिपूजालाभभोगाकांक्षारूपनिदानबंधादिभावपरिणामपरिहारेण निर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा तावत्पर्यंतं शुद्धात्मरूपं द्रष्टव्यं ज्ञातव्यमनुचरितव्यं च यावत्तस्य शुद्धात्मस्वरूपस्य परिपूर्णः केवलज्ञानरूपो भावो दृष्टो ज्ञातोऽनुचरितश्च भवतीति भावार्थः। एवं ज्ञानिनो भावास्रवस्वरूपनिषेधमुख्यत्वेन गाथात्रयं गतं ।

अथ द्रव्यप्रत्ययेषु विद्यमानेषु कथं ज्ञानी निरास्रवः ? इति चेत्—

टीका:—(दसंणणाणचरित्तं जं परिणमदे जहण्णभावेण) ज्ञानी (विरागी) जीव इच्छापूर्वक—चलाकर किसी भी वस्तु के प्रति रागादिरूप विकल्प को (अमुक वस्तु मेरी है इत्यादि रूप विचार को) कभी नहीं करता, इसलिए बुद्धिपूर्वक रागादि नहीं होने से वह निरास्रव ही होता है, किन्तु जब तक उस ज्ञानी जीव को भी परम समाधि का अनुष्ठान नहीं हो पाता तब तक वह भी शुद्धात्मा के स्वरूप को देखने में, जानने में और वहां स्थिर रहने में असमर्थ होता है, अतः तब तक उसका दर्शन, ज्ञान और चारित्र भी जघन्य भाव को—अबुद्धि पूर्वक कषायभाव को (अव्यक्त राग भाव को) लिए हुए होता है—परिणमन करता हुआ रहता है, (णाणी तेण दु बज्झदि पुग्गलकम्मेण विविहेण) इस कारण से वह भेद ज्ञानी जीव भी परम्परा से मुक्ति में कारण रूप होने वाले ऐसे तीर्थंकर नाम कर्मादिरूप पुद्गल प्रकृतिमय नाना प्रकार के पुण्यकर्म से अपने २ गुणस्थान के अनुसार बन्धता ही रहता है । ऐसा समझकर प्रत्येक मुमुक्ष को चाहिए कि वह किसी भी प्रकार की बड़ाई, पूजा, प्रतिष्ठा का लाभ तथा भोगों की आकांक्षारूप निदान बंध आदि विभाव परिणामों को त्याग कर साथ २ निर्विकल्प समाधि में स्थित होकर तब तक शुद्धात्मा के स्वरूप को देखता, मानता रहे, जानता रहे एवं उसमें लगा रहे जहां तक शुद्धात्मा के परिपूर्ण केवलज्ञानरूप भाव का दर्शन ज्ञान और आचरण प्राप्त न करले अर्थात् स्वयं केवलज्ञान रूप अवस्था को न पा लेवे । बस यही इस कथन का तात्पर्य है ।।१८०।।

विशेषार्थ:—इसका स्पष्ट सारांश यह है कि ज्ञानी विरागी जीव तो यथाशक्य आत्म समाधि में तल्लीन रहता है, अतः चलाकर तो किसी भी वस्तु से राग द्वेष और मोह भाव नहीं करता है, अतः बुद्धिपूर्वक की अपेक्षा तो वह निरास्रव होता ही है । रही बात अबुद्धिपूर्वक होने वाले अव्यक्त रागादि भाव रूप आस्रव की सो उसे मिटा डालने के लिए ही वह बार २ दृढ़ता के साथ आत्मतल्लीनतारूप समाधि को प्राप्त करता है जिससे कि वह अन्त में केवलज्ञान को प्राप्त होकर पूर्ण निरास्रव हो जाता है । बस इसीलिए वह निरास्रव कहा जाता है ।

इस प्रकार ज्ञानी जीव के भावास्रव के निषेध की मुख्यता से तीन गाथायें हुईं ।

अब प्रश्न होता है कि ज्ञानी जीव द्रव्य प्रत्यय रूप बन्ध के कारण विद्यमान रहने पर भी वह निरास्रव कैसे होता है सो बताते हैं:—

सव्वे पुव्वणिबद्धा दु पच्चया संति सम्मदिट्ठिस्स ।
उवओगप्पाओगं बंधंते कम्मभावेण ।। १८१ ।।
संती दु णिरुवभोज्जा बाला इत्थी जहेव पुरिसस्स ।
बांधदि ते उवभोज्जे तरुणी इत्थी जह णरस्स ।।१८२।।

होदूण णिरुवभोज्जा तह बंधदि जह हवंति उवभोज्जा ।
सत्तट्ठविहा भूदा णाणावरणादिभावेहिं ।। १८३ ।।
एदेण कारणेण दु सम्मादिट्ठी अबंधगो होदि ।
आसवभावाभावे ण पच्चया बंधगा भणिदा ।।१८४।। (चतुष्कं)

सर्वे पूर्वनिबद्धास्तु प्रत्ययाः संति सम्यग्दृष्टेः ।
उपयोगप्रायोग्यं बध्नंति कर्मभावेन ।। १८१।।
संति तु निरुपभोग्यानि बाला स्त्री यथेह पुरुषस्य ।
बध्नाति तानि उपभोग्यानि तरुणी स्त्री यथा नरस्य ।।१८२।।
भूत्वा निरुपभोग्यानि तथा बध्नाति यथा भवन्त्युपभोग्यानि ।
सप्ताष्टविधानि भूतानि ज्ञानावरणादिभावैः ।।१८३।।
एतेन कारणेन तु सम्यग्दृष्टिरबंधको भवति ।
आस्रवभावाभावे न प्रत्यया बंधका भणिताः ।।१८४।। (चतुष्कं)

अर्थः—वीतराग सम्यग्दृष्टि जीव के भी पूर्व की सराग दशा में बांधे हुए मिथ्यात्वादि द्रव्यकर्म सत्ता में विद्यमान रहते हैं जो कि उपयोग में लाने पर नवीन कर्म बंध करने वाले होते हैं, जो कि आयु के बिना ज्ञानावरणादि सात कर्मों का तथा आयु सहित आठ प्रकार के कर्मों का बंध करने वाले होते हैं। किन्तु वीतराग सम्यग्दृष्टि के तो वे सब प्रत्यय निरूपभोग्य रूप से सत्ता में होते हैं (उपयोग में आकर रागकारक नहीं होते) अतः नवीन बंध कारक भी नहीं होते। जैसे कि किसी के स्त्री बालक अवस्था में है तो वह राग पैदा करके उसको विवश करने वाले नहीं होती, अपितु वही स्त्री युवावस्था को प्राप्त होने पर रागोत्पादक होकर विवश करने वाली होती है। इसी प्रकार वीतराग सम्यग्दृष्टि के सत्ता में प्रत्यय विद्यमान होने पर भी बाल स्त्री के समान होने से रागकारक नहीं होते अतः नवीन कर्म बंध करने वाले भी नहीं होते ।।१८१-१८२-१८३-?८४।।

तात्पर्यवृत्तिः—सव्वे पुव्वणिबद्धा दु पच्चया संति सम्मदिट्ठिस्स सर्वे पूर्वनिबद्धा द्रव्यप्रत्ययाः संति तावत्सम्यग्दृष्टेः। **उवओगप्पाओगं बंधंते कम्मभावेण** यद्यपि विद्यंते तथाप्युपयोगेन प्रायोग्यं तत्कालोदयप्रायोग्य-कर्मतापन्नं कर्म बध्नंति। केन कृत्वा? भावेन रागादिपरिणामेन नचास्तित्वमात्रेण बंधकारणं भवंतीति। **संतावि णिरुवभोज्जा बाला इच्छी जहेव पुरुसस्ससंत्यपि** विद्यमानान्यपि कर्माणि क्वचित्प्राकृते लिंगव्यभिचारोऽपि, इति वचनान्नपुंसकलिंगे पुल्लिगनिर्देशः। पुल्लिंगेऽपि नंपुसक लिंग निर्देशः। कारके कारकांतर निर्देशो भवति, इति। तानि कर्माणि उदयात्पूर्वं निरुपभोग्यानि भवंति। केन दृष्टांतेन? बाला स्त्री यथा पुरुषस्य। **बंधदि ते उवभोज्जे तरुणी इच्छी जह णरस्स** तानि कर्माणि उदयकाले उपभोग्यानि भवंति। रागादिभावेन नवतराणि च बध्नंति। कथं? यथा तरुणी स्त्री वरस्येति। अथ तमेवार्थं दृढयति। उदयात्पूर्वं निरुपभोग्यानि भूत्वा कर्माणि स्वकीयस्वकीयगुणस्थानानुसारेण, उदयकाल प्राप्य यथायथाभोग्यानि भवंति, तथातथारागादिभावेन परिणामेन आयुष्कबंधकाले अष्टविधभूतानि शेषकाले सप्तविधानि ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मभावेन पर्यायेण नवतराणि बध्नंति नचास्तित्वमात्रेणेति। रागादिभावास्रवस्याभावे द्रव्यप्रत्यया अस्तित्वमात्रेण बंधकारणं न भवंति। एतेन कारणेन सम्यग्दृष्टिरबंधको भणित इति। किं च विस्तारः

मिथ्यादृष्टयपेक्षया चतुर्थगुणस्थाने सरागसम्यग्दृष्टिः, त्रिचत्वारिंशत्प्रकृतीनामबंधक। सप्ताधिकसप्ततिप्रकृतीनामल्पस्थित्यनुभागरूपानां बंधकोऽपि संसारस्थितिच्छेदं करोति। तथा चोक्तं "सिद्धांते द्वादशांगवमस्तत्तीव्रभक्तिरनिवृत्तिपरिणाम केवलीसमुद्घातश्चेति संसारस्थितिघातकारणानि भवंति" तद्यथा तत्र द्वादशांगश्रुतविषये, अवगमो ज्ञानं व्यवहारेण बहिर्विषयः। निश्चयेन तु वीतरागस्वसंवेदनलक्षणं चेति। भक्तिः पुनः सम्यक्त्वं भण्यते व्यवहारेण सरागसम्यग्दृष्टीनां पंचपरमेष्ठ्याराधानारूपा। निश्चयेन वीतराग सम्यग्दृष्टीनां शुद्धात्मतत्वभावनारूपा चेति। न निवृत्तिरनिवृत्तिः शुद्धात्मस्वरूपादचलनं, एकाग्रपरिणतिरिति। तत्रैवं सति द्वादशांगावगमो निश्चयव्यवहारज्ञानं जातं। भक्तिस्तु निश्चयव्यवहारसम्यक्त्वं जातं। अनिवृत्तिपरिणामस्तु सरागचारित्रानंतरं वीतरागचारित्रं जातमिति सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि भेदाभेदरत्नत्रयरूपेण संसारविच्छित्तिकारणानि भवंति। केषां ? छद्मस्थानामिति। केवलिनां तु भगवतां दंडकपटप्रतरलोकपूर्णरूपकेवलिसमुद्घातः संसारविच्छित्तिकारणमिति भावार्थः। एवं द्रव्यप्रत्यया विद्यमाना अपि रागादिभावास्रवाभावे सति बंधकारणं न भवंतीति व्याख्यानमुख्यत्वेन गाथा चतुष्टयं गतं।

अथ यत एव कर्मबंधहेतुभूतारागद्वेषमोहाः, ज्ञानिनो न संति। तत एव तस्य कर्म बंधो नास्तिति कथयति--

टीका--(सव्वे पुव्वणिबद्धा दु पच्चया संति सम्मदिट्ठिस्स) (उपशम श्रेणी में प्राप्त हुए वीतराग) सम्यग्दृष्टि जीव के पूर्व में बंधे हुए सब ही मिथ्यात्वादि कर्म सत्ता में विद्यमान होते हैं (उवओगप्पाओगं बंधंते कम्मभावेण) वे सब उपयोग में आने पर तत्काल उदय को प्राप्त होने पर आत्मा में रागद्वेषादि पैदा करने से नूतन कर्म बन्ध के करने वाले होते हैं। किन्तु पूर्व द्रव्य कर्मों की सत्ता मात्र से बंध करने वाले नहीं होते। (सन्ता वि णिरुवभोज्जा बाला इच्छी जहेव पुरिसस्स) (कहीं प्राकृत में लिग व्यभिचार भी होता है नपुंसक लिंग के स्थान में पुल्लिग का और पुल्लिग के स्थान में नपुंसक लिंग का और कारक में कारकान्तर का निर्देश भी हो जाया करता है) जैसे मनुष्य के लिए बाल स्त्री उपभोग योग्य नहीं होती वैसे ही उदय से पहले अनुदय दशा में रहनेवाले पूर्व बद्ध कर्म फलकारक नहीं होते (बंधदि तेउ वभोज्जे तरुणी इच्छी जह णरस्स) किन्तु उदय काल में ही वे सब कर्म उपभोग के योग्य होते हैं-फलकारक होते हैं, रागादिरूप विकार भाव पैदा करने से नूतन कर्म का बंध करने वाले होते हैं, जैसे स्त्री तरुण होने पर मनुष्य को रागी बनाकर विवश करने वाली होती है। (होदूण णिरुवभोज्जा तह बंधदि जह हवंति उवभोज्जा) उदय होने से पूर्व काल में अपने अपने गुणस्थान के अनुसार निरूपभोग्य होकर अर्थात फलकारक न होकर जब उदय काल को प्राप्त होते हैं तब उपभोग्य होते हुए फलदायक हुआ करते हैं तब (सत्तट्ठविहा भूदा णाणावरणादि भावेहिं) यह जीव अपने रागादि भावों के अनुसार आयु बन्ध के काल में तो ज्ञानावरणादि आठ प्रकार के कर्मों को और शेष काल में आयुष्य के बिना सात प्रकार के कर्मों को नूतन कर्म के रूप में बांधता रहता है। किन्तु अस्तित्व मात्र से ही पुरातन कर्म नूतन कर्म बन्ध करने में कारण नहीं हुआ करते अर्थात् बिना रागादिक भाव के द्रव्य कर्म (प्रत्यय) विद्यमान होते हुए भी कर्म बन्ध के कारण नहीं होते इसलिए सम्यग्दृष्टि जीव अबन्धक होता है ऐसा कहा है। खुलासा इसका यह है कि यह संसारी जीव जब अनन्त संसारात्मक मिथ्यादृष्टिपन को पारकर चतुर्थ गुणस्थान में पहुँचता है अव्रत (सराग) सम्यग्दृष्टि बनता है तब इसके मिथ्यात्वादि ४३ प्रकृतियों का नूतन बन्ध होने से रह जाता है शेष ७७ प्रकृतियों का बन्ध भी करता रहता है किन्तु पूर्व की अपेक्षा स्वल्प स्थिति और अनुभाग को लिए हुए बांधता है, एवं संसार की स्थिति को छेदकर उसे परीत संसार बना लेता है। जैसा कि सिद्धान्त में कहा है 'द्वादशागावगमस्त तीव्र भक्तिरनिवृत्ति परिणामः केवलिसमुद्घातश्चेति संसार स्थिती घातकारणानि भवंति" (१) परिपूर्ण द्वादशांग का ज्ञान प्राप्त होना (२) अरहन्त

भगवान के प्रति भक्ति अर्थात् सम्यग्दर्शन का लाभ होना (३) शुद्धात्म स्वरूप से एकाग्रतारूप अविचलित परिणाम होना (४) और केवली समुद्धात का होना ये चार कारण संसार की स्थिति को छेदने के लिए होते हैं। वहां द्वादशांग के विषय जो ज्ञान है वह व्यवहार नय से इतर जीवादि बाह्य समस्त पदार्थों का श्रुत के द्वारा ज्ञान हो जाना है और निश्चयनय से वीतराग रूप स्वसंवेदनात्मक ज्ञान का हो जाना सो द्वादशांगावगम कहलाता है। भक्ति नाम सम्यक्त्व का है जो कि व्यवहार से तो पंचपरमेष्ठी की समाराधना रूप होती है जो कि सराग सम्यग्दृष्टि जीवों के हुआ करती है, किन्तु निश्चय से तो वह भक्ति वीतराग सम्यग्दृष्टि जीवों के शुद्धात्म तत्व की भावना के रूप में हुआ करती है। निवृत्ति-वापिस लौटना - न होना सो अनिवृत्ति कहलाता है अर्थात् शुद्धात्म के स्वरूप से च्युत न होना, एकाग्रता रूप परिणमन हो सो अनिवृत्ति है। इस प्रकार द्वादशांग का निश्चय और व्यवहार रूप दोनों प्रकार का ज्ञान हो जाना सो द्वादशांगावगम कहलाता है। निश्चय और व्यवहार दोनों प्रकार के सम्यक्त्व का होना सो भक्ति कहलाती है। सराग चारित्र हो जाने पर वीतराग चारित्र का भी होना सो अनिवृत्ति परिणाम है। इस प्रकार भेद रत्नत्रय और अभेद रत्नत्रय के रूप में जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र होते हैं वह संसार की स्थिती के छेदने के कारण होते हैं जो कि छद्मस्थ जीवों के हुआ करते हैं किन्तु केवली भगवान के दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण रूप जो केवली समुद्धात होता है वह संसार की स्थिती छेदने में में कारण होता है यह तात्पर्य है।

इस प्रकार द्रव्य प्रत्यय होकर भी रागादिरूप भाव आस्रव के न होने पर नूतन बन्ध करनेवाले नहीं होते इस प्रकार के कथन की मुख्यता से चार गाथायें पूर्ण हुईं ॥१८१-१८२-१८३-१८४॥

आगे कहते हैं कि ज्ञानी आत्मा के कर्म बंध के कारण राग द्वेष, मोह, नहीं होते इसीसे उसके नवीन कर्मों का बंध नहीं होता :—

रागो दोसो मोहो य आसवा णत्थि सम्मदिट्ठिस्स।
तह्मा आसवाभावेण विणा हेदू ण पच्चया होंति ॥१८५॥
हेदू चदुंवियप्पो अट्ठवियप्पस्स कारणं होदि।
तेसिं पिय रागादी तेसिमभावेण वज्झंति ॥१८६॥

रागो द्वेषो मोहश्च आस्रवा न संति सम्यग्दृष्टेः।
तस्मादास्रवभावेन विना हेतवो न प्रत्यया भवंति ॥१८५॥
हेतुश्चतुर्विकल्पः अष्टविकल्पस्य कारणं भवति।
तेषामपि च रागादयस्तेषामभावे न बध्यंते ॥१८६॥

अर्थः—मिथ्यात्व, अविरत, कषाय और योग ये चार कारण ज्ञानावरणादि आठ प्रकार कर्म बंध के कारण होते हैं। उनकी कारणता को प्रस्फुट कर बताने वाले जीव के राग, द्वेष और मोह भाव हैं जिनके न होने पर मिथ्यात्वादि द्रव्य प्रत्यय होकर भी अपना कार्य नहीं कर पाते। एवं रागद्वेष और मोहरूप आस्रव भाव सम्यग्यदृष्टि जीव के नहीं होते हैं, अतः आस्रव भाव के न होने से (सम्यग्यदृष्टि जीवके) नूतन कर्मबंध नहीं होता है ॥१८५-१८६॥

तात्पर्यवृत्तिः—रागो दोसो मोहो य आसवा णत्थि सम्मदिट्ठिस्स रागद्वेषमोहाः सम्यग्दृष्टेर्न भवंति, सम्यग्यदृष्टित्वान्यथानुपपत्तेरिति हेतुः। तथा हि, अनंतानुबंधिक्रोधमानमायालोभमिथ्यात्वोदय जनिता रागद्वेषमोहाः सम्यग्यदृष्टेर्न संतीति पक्षः। कस्मात ? इतिचेत् केवलज्ञानाद्यनंतगुणसहितपरमात्मो उपादेयत्वे सति वीतरागसर्वज्ञप्रणीतषट्द्रव्यपंचास्तिकायसप्ततत्त्वनवपदार्थरुचिरूपस्य मूढत्रयादिपंचविंशतिदोषरहितस्य—

संवेग्रो णिव्वेग्रो णिंदा गरुह य उवसमों भत्ती।
वच्छल्लं अणुकंपा गुणट्ठसम्मत्तजुत्तस्म ॥

इति गाथाकथितक्षणस्य चतुर्थगुणस्थानवर्तिसरागसम्यक्त्वान्यथानुपपत्तेरिति हेतुः। अथवा, अनंतानुबंध्यप्रत्याख्यानावरणसंज्ञाः क्रोधमानमायालोभोदयजनिता रागद्वेषमोहाः सम्यग्दृष्टेर्न संतीति पक्षः। कस्मात्! इति चेत् निर्विकारपरमानंदैकसुखलक्षणपरमात्मोपादेयत्वे सति षट्द्रव्यपंचास्तिकायसप्ततत्त्वनवपदार्थरुचिरूपस्य मूढत्रयादिपंचविंशतिदोषरहितस्य तदनुसारि प्रशमसंवेगानुकम्पादेवधर्मादिविषयास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणस्य पंचमगुणस्थानयोग्यदेशचारित्राविनभाविसरागसम्यक्त्वस्यान्यथानुपपत्तेरिति हेतुः। अथवा अनंतानुबंध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणक्रोधमानमायालोभोदयजनितरागद्वेषमोहाः सम्यग्दृष्ठेर्नसंतीति पक्षः। कस्मादिति चेत चिदानंदैकस्वभावशुद्धात्मोपादेयत्वे सति षट्द्रव्यपंचास्तिकायसप्ततत्त्वनवपदार्थचिरुपस्य मूढत्रयादिपंचविंशतिदोषरहितस्य तदनुसारिप्रशमसंवेगानुकंपादेवधर्मादिविषयास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणस्य षष्ठगुणस्थांनरूपसरागचारित्राविनाभाविसरागसम्यक्त्वस्यान्यथानुपपत्तेरिति हेतुः। अथवा अनंतानुबंध्याप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणसंज्वलनक्रोधमानमायालोभतीव्रोदयजनिताः प्रमादोत्पादकाः, रागद्वेषमोहाः सम्यग्दृष्टेर्न संतीति पक्षः। कस्मात् ? इति चेत् शुद्धबुद्धैकस्वभावपरमात्मोपादेयत्वेसति तद्योग्यस्वकीयशुद्धात्मसमाधिसंज्ञातसहजानंदेकस्वलक्षणसुखानुदभूतिमात्रस्वरूपाऽप्रमत्तादिगुणस्थानवर्तिवीतरागचारित्राविनाभूनवीतरागसम्यक्त्वस्यान्यथानुपपत्तेरिति।

तथाचोक्तं—

आद्या सम्यक्त्वचारित्रे द्वितीया घ्नन्त्यणुव्रतं तृतीया संयमं तुर्य्या यथाख्यातं क्रुधादयः

इति गाथापूर्वार्द्धे व्याख्यानं गतं। **तह्मा आसवभावेण विणा हेदू ण पच्चया होंति**—यस्मात् गाथायाः पूर्वार्धकथितक्रमेण रागद्वेषमोहा न संति तस्मात्कारणात् रागादिरूपभावास्रवेण विना अस्तित्वद्रव्यमात्रेण, उदयमात्रेण वा, भावप्रत्ययाः सम्यग्दृष्टर्न भवंतीति।

हेदू चदुवियप्पो अट्ठवियप्पस्स कारणं होदि मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगरूपचतुर्विधो हेतुः, ज्ञानावरणादिरूपस्याष्टविधस्य नवतरद्रव्यकर्मणः कारणं भवति। **तेसिंपिय रागादी** तेषामपि मिथ्यात्वादिद्रव्यप्रत्ययानां उदयागतानां जीवगतरागादि भावप्रत्ययाः कारणं भवंति। कस्मात् ? इतिचेत् **तेसिमभावे ण बज्झंति** तेषां जीवगतरागादिभावप्रत्ययानामभावे सति द्रव्यप्रत्ययेष्वुदयागतेष्वपि वीतरागपरमसामायिकभावनापरिणताभेदरत्नत्रय—लक्षणभेदज्ञानस्य सद्भावे सति कर्मणा जीवा न बध्यंते यतः कारणादिति। ततः स्थितं नवतरद्रव्यकर्मास्रवस्योदयागत द्रव्यप्रत्ययाः कारणं, तेषां च जीवगता रागादिभावप्रत्ययाः कारणमिति कारणकारणव्याख्यानं ज्ञातव्यं।

अथ यदुक्तं पूर्वं रागादिविकल्पोपाधिरहितपरमचैतन्यचमत्कारलक्षणनिजपरमात्मपदार्थभावनारहितानां बहिर्मुखजीवानां पूर्वबद्धप्रत्ययाः नवतरकर्म बध्नंति तमेवार्थं दृष्टांतभ्यां दृढ़यति—

टीका:—(रागो दोसो मोहो य आसवा णत्थि सम्मदिट्ठिस्स) सम्यगदृष्टि जीव के राग, द्वेष और मोहभाव नहीं होते हैं क्योंकि इन भावों के होने पर सम्यग्दृष्टिपन बन ही नहीं सकता। इसे स्पष्ट कर बतला रहे हैं। सम्यग्दृष्टि जींव के अनतानुबंधी क्रोध मान माया और लोभ और मिथ्यात्व के उदय से होने वाले रागद्वेष और मोह भाव नहीं होते (यह पक्ष है) क्योंकि नहीं तो केवलज्ञानादि अनंत गुणों

वाले परमात्मामें उपादेयता स्वीकार होकर वीतराग और सर्वज्ञके द्वारा कहे हुए छः द्रव्य, पंचास्तिकाय, सप्त तत्व और नव पदार्थों में रुचि होने रूप तीन मूढ़ता, आदि पच्चीस दोष रहित तथा "संवेओ णिव्वेओ णिंदा गरुहा य उवसमो भत्ती, वच्छल्लं अणुकम्पा गुणट्ठ सम्मत्त जुत्तस्स" इस गाथा में बताये हुए (१) संवेग (धर्म के प्रति अनुराग) (२) निर्वेद (भोगों में अनासक्ति), (३) निंदा (अपने आप को भूल करने वाला मानना), (४) गर्हा (गुरुओं के आगे अपनी भूल स्वीकार करना), (५) उपशम (हर्ष और विषाद में उद्विग्न न होना) (६) भक्ति (पंच परमेष्ठियों में अनुराग), (७) वात्सल्य (साधर्मियों के प्रति प्रीति भाव) और (८) अनुकम्पा (किसी को भी दुखी देखकर द्रवित हो जाना) इन आठ गुणोंवाला चतुर्थ गुणस्थान सम्बन्धी सम्यक्त्व नहीं हो सकता (यह हेतु हुआ)। अथवा अनंततानुबंधी और अप्रत्याख्यानावरण नामवाले क्रोध, मान, माया और लोभ के उदय से होने वाले राग, द्वेष और मोह भाव सम्यग्दृष्टि जीव के नहीं होते (यह पक्ष हुआ) क्योंकि नहीं तो निर्विकार परमानंदरूप सुख ही है लक्षण जिसका ऐसे परमात्मा में उपादेयपना होकर षट द्रव्य, पंचास्तिकाय, सप्त तत्व, नव पदार्थों में रुचि रूप तथा तीन मूढ़तादि पच्चीस दोष रहित भाव तथा उसीके साथ होने वाले प्रशम संवेग, अनुकम्पा तथा देव धर्मादिक के विषय में आस्तिक्य भाव की अभिव्यक्ति है लक्षण जिसका ऐसे पंचम गुणस्थान के योग्य देश चारित्र के साथ में होने वाला सराग सम्यक्त्व नहीं हो सकता (यह हेतु हुआ)। अथवा अनंतानुबंधी अप्रत्याख्यानावरण, और प्रत्याख्यानावरण रूप क्रोध, मान, माया और लोभ के उदयसे होनेवाले राग, द्वेष, और मोह भाव सम्यग्दृष्टि जीव के नहीं होते (यह पक्ष हुआ) क्योंकि नहीं तो फिर चिदानंद ही है एक स्वभाव जिसका ऐसे शुद्धात्मा में उपादेय बुद्धि होकर षट द्रव्य, पंचास्तिकाय, सप्त तत्व, नवपदार्थों में रुचि रूप तथा तीन मूढ़तादि पच्चीस दोष रहित रूप एवं उसीके साथ होने वाले प्रशम, संवेग, अनुकम्पा तथा देव धर्मादि के विषय में आस्तिक्य भाव का होना रूप लक्षणवाले छठ्ठे गुणस्थान के योग्य सराग चारित्र के साथ में होने वाला सराग सम्यक्त्व नहीं हो सकता (यह हेतु हुआ)। अथवा अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और तीव्र संज्वलन रूप क्रोध, मान, माया और लोभके उदय से होने वाले प्रमाद कारक राग, द्वेष और मोह भाव सम्यग्दृष्टि जीव के नहीं होते (यह पक्ष हुआ) क्योंकि फिर तो शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव वाले परमात्मा में उपादेय बुद्धि होकर उसके ही योग्य शुद्धात्मा की समाधि से संज्ञात (अनुभूत) जो सहजानन्द स्वलक्षण वाले सुख की अनुभूति होना ही है स्वरूप जिसका ऐसे अप्रमत्तादि गुणस्थानवर्ती वीतराग चारित्र के साथ अविनाभाव रखने वाले अर्थात् वीतराग चारित्र के बिना न होने वाले वीतराग सम्यक्त्व की उत्पत्ति नहीं हो सकती है जैसा कि "आद्याः सम्यक्त्व चारित्र, द्वितीयाध्नंत्यणुव्रतं तृतीया संयमं तुर्या यथाख्यातं क्रुधादयः" इसमें बताया है कि अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया और लोभ तो सम्यक्त्व और चारित्र इन दोनों को ही नहीं होने देते। दूसरे अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान माया और लोभ सम्यक्त्व को नहीं रोकते पर चारित्र के एक देश (अंशरूप) अणुव्रतात्मक चारित्र को भी नहीं होने देते। तीसरे प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ सकल संयम (महाव्रतरूप चारित्र) को नहीं होने देते एवं चौथे संज्वलनात्मक क्रोध, मान, माया और लोभ कषाय यथाख्यात चारित्र को नहीं होने देते इस प्रकार यह मूलग्रन्थ की पूर्वार्द्ध गाथा का व्याख्यान हुआ। (तम्हा आसव भावेण विणा हेदू ण पच्चया होंति) जैसा की पूर्वार्द्ध गाथा में वताया है उसी क्रम से सम्यग्दृष्टि जीवके राग द्वेष मोह रूप भाव नहीं होते। एवं उनके न होने से सत्ता में होने वाले या उदय में होने वाले मिथ्यात्वादि द्रव्य प्रत्यय कर्म बंध के कारण नहीं होते हैं। (हेदू चदुवियप्पो अट्ठ वियप्पस्स कारणं होदि) क्यों कि मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये चार कारण ज्ञानावरणादि आठ प्रकार के नवीन कर्म

बंध के कारण हैं। (तेसिंपिय रागादी) उन उदय में आए हुए मिथ्यात्वादि द्रव्य प्रत्ययों के भी कारण जीवगत रागादिभावरूप प्रत्यय होते हैं। (तेसिमभावेण बज्झंति) उन जीवगत रागादि भाव प्रत्ययों के न होने पर पूर्वोक्त द्रव्य प्रत्यय भले ही उदय में आये हुए क्यों न हो तो भी वीतराग रूप परम सामायिक भावना में परिणत रहने वाले अभेद रत्नत्रय हैं लक्षण जिसका ऐसे भेदज्ञान के होने पर यह जीव नवीन कर्मों से नहीं बंधता है । इसलिए यह बात माननी पड़ती है कि यद्यपि उदय में आए हुए मिथ्यात्वादि द्रव्य प्रत्यय नवीन कर्मों के आस्रव के कारण होते हैं, किन्तु उनके भी कारण जीवगत रागादिभाव प्रत्यय होते हैं। इस प्रकार कारण के कारण का व्याख्यान जानना योग्य है ॥१८५-१८६॥

विशेषार्थ:—आत्मा से अतिरिक्त किसी भी पर पदार्थ में यह अच्छी है इस प्रकार का विचार रागभाव है और यह बुरी है यह द्वेषभाव है और इस प्रकार की उलझन में अपने आपको अटकाये रखना यह मोह भाव है एवं यह राग द्वेष और मोह भाव जहां पर सर्वथा नहीं है उसी जीव को यहां इस अध्यात्मशास्त्र में सम्यग्दृष्टि माना है। यह सम्यग्दृष्टि अप्रमत्त दशा में समीचीन ध्यान की एकता होने पर सप्तमादि गुणस्थान अवस्थामें हुआ करता है। उससे नीचे तो कुछ न कुछ हीनाधिक रूप में मोह बना ही रहता है उस समय वह कर्म के कर्तृत्वपने से दूर नहीं रह सकता । छद्मस्थ के अप्रमत्तपन तो अधिक से अधिक एक साथ अन्तर्मुहूर्त काल तक ही रह सकता है। यदि इस समय में इसने अपने मोह-नीय कर्म को सत्ता में से उखाड़ फैंका तब तो सदा के लिए सच्चिदानन्द बन जाता है, नहीं तो फिर इसका उपयोग आत्मा से हटकर इतर वस्तुओं पर चला जाया करता है ताकि रागभाव करके यह फिरसे पूर्व की भांति नूतन कर्म बांधने लग जाता है जैसा कि श्री अमृतचन्द्राचार्य ने लिखा है:—

> अध्यास्य शुद्धनयमुद्धतबोधचिह्नमैकाग्रयमेव कलयंति सदैव ये ते ।
> रागादिमुक्तमनसः सततं भवंतः, पश्यंति बंधविधुरं समयस्य सारं ॥१२०॥
>
> प्रच्युत्य शुद्धनयतः पुनरेव ये तु, रागादियोगमुपयांति विमुक्तबोधाः ।
> ते कर्मबंधमिह बिभ्रति पूर्वबद्ध, द्रव्यास्रवैः कृतविचित्रविकल्पजालं ॥१२१॥

अर्थात् जो लोग निर्विकार ज्ञान ही है लक्षण जिसका ऐसे शुद्धनय को अर्थात् शुद्धात्मा की भावना को प्राप्त होकर वहीं निरन्तर रूप से एकाग्र रहते हैं वे सदा के लिए रागादि विकार भावों से रहित होकर समय के साररूप अपनी आत्मा को बन्ध से रहित अवलोकन करते हैं। किन्तु शुद्धात्मा की भावना रूप उस शुद्धनय को प्राप्त होकर भी उससे चिगकर अज्ञानी बनते हुए जो लोग फिर से रागादि विकार भाव को प्राप्त हो जाते हैं तब वे लोग उदीयमान पूर्व बद्ध अपने मिथ्यात्वादि द्रव्य प्रत्ययों से नाना प्रकार के विकल्प जाल को उत्पन्न करने वाले नूतन कर्म बन्ध को फिर से करने लग जाते हैं।

अब आचार्य देव ऊपर जो यह कह आये हैं कि रागादि विकल्परूप उपाधि से रहित परम चैतन्य चमत्कार ही है लक्षण जिसका ऐसा जो निज परमात्म तत्व उसकी भावना से रहित ऐसे बहिर्मुख वाले संसारी जीवों के पूर्व बद्ध द्रव्य प्रत्यय होते हैं वे सब नवीन कर्म बन्ध किया करते हैं उसीका समर्थन दो दृष्टांत के द्वारा कर रहे हैं:—

जह पुरिसेणाहारो गहिदो परिणमदि सो अणेयविहं ।
मंसवसारुहिरादी भावे उदरग्गिसंजुत्तो ॥ १८७ ॥

तह णाणिस्स दु पुव्वं जे बद्धा पच्चया बहुवियप्पं ।
बज्झंते कम्मं ते णयपरिहीणा दु ते जीवा ।। १८८ ।।

यथा पुरुषेणाहारो गृहीतः परिणमति सोऽनेकविधं ।
मांसवसारुधिरादीन् भावान् उदराग्निसंयुक्त ।।१८७।।
तथा ज्ञानिनस्तु पूर्वं बद्धा ये प्रत्यया बहुविकल्पं ।
बध्नंति कर्म ते नयपरिहीनास्तु ते जीवाः ।। १८८ ।।

अर्थः—जैसे पुरुष के द्वारा ग्रहण किया हुआ आहार उसकी जठराग्नि का संयोग पाकर उसके बलाबल के अनुसार मांस, चरबी, रुधिर आदि के रूप में अनेक रूप परिणमन करता है वैसे ही संसारी जीव के पूर्व बद्ध मिथ्यात्वादि द्रव्य प्रत्यय भी जो कि इस जीव के साथ एक क्षेत्र अवगाह रूप हो रहे हैं वे सब इस जीव के रागादिभाव का निमित्त पाकर नाना प्रकार के नूतन कर्म का बन्ध करते हैं ।।१८७-१८८।।

तात्पर्यवृत्तिः—जह पुरिसेणाहारो गहिदो परिणमदि सो अणेयविहं यथा पुरुषेण गृहीताहारः स परिणमति, अनेकविधं बहुप्रकारं किं ? **मंसवसारुहिरादी भावे उदरग्गिसंजुत्तो** मांसवसारुधिरादीन् पर्यायान् कर्मतापन्नान् परिणमति । कथंभूतः सन् ? उदराग्निसंयुक्तः इति दृष्टांतो गतः ।

तह णाणिस्स दु पुव्वं जे बद्धा पच्चया बहुवियप्पं बज्झंते कम्मं ते—तथैव च पूर्वोक्तोदराग्निसंयुक्ताहारदृष्टांतेन अज्ञानिनश्चैतन्यलक्षणजीवस्य, न च विवेकिनः । पूर्वे ये बद्धाः, मिथ्यात्वादि द्रव्यप्रत्ययः, जीवगतरागादिपरिणाममुदराग्निस्थानीयं लब्ध्वा ते बहुविकल्पं कर्म बध्नंति । **णयपरिहीणा दु ते जीवा** येषां जीवानां संबंधिनः प्रत्ययाः कर्म बध्नंति ते जीवाः । कथं भूताः ? परमसमाधिलक्षणभेदज्ञानरूपात् शुद्धनयाद्भ्रष्टाः, च्युताः । अथवा द्वितीयव्याख्यानं । ते प्रत्यया अशुद्धनयेन जीवात् सकाशात् परिहीणा भिन्ना न च भवंति । इदमत्र तात्पर्यं, निजशुद्धात्मध्येयरूपसर्वकर्मनिर्मूलनसमर्थशुद्धनयो विवेकिभिर्न त्याज्य इति । एवं कारणव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथाचतुष्टयं गतं ।

इति **श्री जयसेनाचार्य कृतायां** समयसार व्याख्यायां शुद्धात्मानुभूतिलक्षणायां तात्पर्यवृत्तौ सप्तदशगाथाभिः पंचस्थलैः संवरविपक्षद्वारेण पंचमः आस्रवाधिकारः समाप्तः ।

टीकाः—(जह पुरिसेणाहारो गहिदो परिणमइ सो अणेयविहं) जैसे पुरुष के द्वारा ग्रहण किया हुआ भोजन अनेक प्रकार की अवस्थाओंमें परिणमन करता है जो कि (मंसवसारुहिरादी भावे उदरग्गिसंजुत्तो) उदर की अग्नि का संयोग पाकर मांस, चरबी, लोही आदि के रूप में परिणमन करता है यह दृष्टांत हुआ । (तह णाणिस्स दु पुव्वं जे बद्धा पच्चया बहुवियप्पं) उसी प्रकार इस चेतना लक्षण वाले संसारी अविवेकी जीव के पूर्व बद्ध मिथ्यात्वादि द्रव्य प्रत्यय (न कि विवेकी वैरागी के) उदराग्नि स्थानीय रागादि परिणाम को पाकर बहुत भेदवाले कर्म का बन्ध किया करते हैं । (णयपरिहीणा दु ते जीवा) जिन जीवों के द्रव्य प्रत्यय नवीन बन्ध करनेवाले होते हैं वे जीव कैसे होते हैं ? इस का आचार्य समाधान करते हैं कि वे लोग परमसमाधि ही हैं लक्षण जिसका ऐसे भेदज्ञान स्वरूप शुद्ध नय से दूर रहने वाले हैं । अथवा इस वाक्य का दूसरा व्याख्यान इस प्रकार भी होता है कि "न च परिहीणास्तु ते (प्रत्ययाः) जीवात्" अर्थात् वे द्रव्य प्रत्यय अशुद्ध नय की अपेक्षा से उस जीव से परिहीन नहीं हैं, भिन्न

नहीं हैं किन्तु उस जीवके साथ एक क्षेत्रावगाह होकर रहनेवाले हैं। तात्पर्य यह है कि जिसमें अपना शुद्धात्मा ही ध्यान करने योग्य ध्येय होता है तथा जो सम्पूर्ण कर्मों को नष्ट कर डालने में समर्थ होता है ऐसा शुद्धनय विवेकियों द्वारा त्यागने योग्य नहीं है ॥१८७-१८८॥

इस प्रकार कारण के व्याख्यान की मुख्यता से चार गाथायें पूर्ण हुईं

विशेषार्थ:--जहां पर सब पर पदार्थों को स्मरण में न लाकर केवल मात्र अपनी शुद्धात्मा का ही ध्यान किया जाता है उस परम समाधि अवस्था का नाम ही शुद्ध नय है; जिसके द्वारा चिरसंचित दुष्कर्मों का भी क्षणमात्र में नाश किया जा सकता है, अतः विवेकी मुमुक्षु महर्षियों को उसे प्राप्त करनेका प्रयास करना चाहिए और प्राप्त हो जाने पर फिर वह छूटने न पावे ऐसा प्रयास बनाये रखना चाहिये। क्योंकि उसके छूटने पर ही नवीन कर्म बन्ध होता है परन्तु रहने पर बन्ध नहीं होता जैसा कि श्री अमृतचन्द्राचार्य लिख गये हैं कि:—

इदमेवात्र तात्पर्यं हेयः शुद्धनयो नहि।
नास्ति बंधस्तदत्यागात् तत्यागाद् बंध एव हि ॥ १२२ ॥

इस प्रकार श्री **जयसेनाचार्य** की समयसार की व्याख्या जिसमें शुद्धात्मा की अनूभूति का लक्षण बतलाया गया है जिसका नाम तात्पर्यवृत्ति है उसकी हिन्दी टीका में १७ गाथाओं द्वारा संवर के विरोध में यह पांचवा आसूव अधिकार पांच स्थलों से पूर्ण हुआ।

छठा महाधिकार (संवर तत्व)*

तात्पर्यवृत्तिः—अथ प्रविशति संवरः। संवराधिकारेऽपि यत्र मिथ्यात्वरागादिपरिणतबहिरात्मभावनारूप आसूवो नास्ति तत्र संवरो भवतीति आसूवविपक्षद्वारेण चतुर्दशगाथापर्यंतंवीतरागसम्यक्त्वरूपसंवर व्याख्यानं करोति। तत्रादौ भेदज्ञानात्-शुद्धात्मोपलाभो भवति इति संक्षेपव्याख्यानमुख्यत्वेन **उवओगे**–इत्यादि गाथात्रयं। तदनंतरं भेदज्ञानात्कथं शुद्धोत्मोपलाभो भवतीति प्रश्ने परिहाररूपेण **जहकणयमग्गि** इत्यादि गाथाद्वयं। ततः परं शुद्धभावनया पुनः शुद्धो भवतीति मुख्यत्वेन **सुद्धं तु वियाणंतो** इत्यादि गाथैकं। ततः परं केन प्रकारेण संवरो भवतीति पूर्वपक्षे कृते सति परिहारमुख्यतया **अप्पाणमप्पणा** इत्यादि गाथात्रयं। अथात्मा परोक्षस्तस्य ध्यानं कथं क्रियेतेति पृष्टे सति देवतारूपदृष्टांतेन परोक्षेऽपि ज्ञायत इति परिहाररूपेण **उवदेसेण** इत्यादि गाथाद्वयं। तदनंतरं, अथोदयप्राप्तप्रत्यागतानां रागाद्यध्यवसानानामभावे सति जीवगतानां रागादिभावास्रवाणामभावो भवतीत्यादि संवरक्रमाख्यानमुख्यत्वेन **तेसिं हेउ** इत्यादि गाथात्रयं। एवं आसूवविपक्षद्वारेणसंवरव्याख्याने समुदायपातनिका। तद्यथा प्रथमतस्तावच्छुभाशुभकर्मसंवरस्य परमोपायभूतं निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानलक्षणं भेदज्ञानं निरूपयति।

---

*श्री जयसेनाचार्य कृत तात्पर्यवृत्ति के अनुसार यह प्रकरण आसूव तत्व में लिया गया है। आत्मख्याति टीका के अनुसार यह संवर तत्व है उसी क्रम को यहां रखा है।

टीका:—अब संवर प्रवेश करता है। इस संवर के अधिकारमें जहां पर मिथ्यादर्शन और रागादि में परिणमन होता हुआ बहिरात्मा की भावना रूप जो आस्रव भाव नहीं है वहां संवर होता है। इस प्रकार आसृव के विक्षेप रूप वीतराग सम्यक्त्व रूप संवर का व्याख्यान चौदह (१४) गाथाओं में करते हैं। वहां सबसे पहले संक्षेप में मुख्य रूप से यह व्याख्यान करते हुए कि भेद विज्ञान से ही शुद्धात्मा की प्राप्ति होती है 'उवओग' इत्यादि तीन गाथायें हैं। इसके पश्चात् भेदज्ञानसे शुद्धात्मा की प्राप्ति कैसे होती है ऐसा प्रश्न होने पर उसका परिहार करते हुए "जहकणयमग्गि" इत्यादि दो गाथायें हैं। उसके आगे यह आत्मा शुद्ध भावना से ही शुद्ध होता है इस कथन की मुख्यता से "सुद्धं तु वियाणंतो" इत्यादि एक गाथा है। उसके आगे-संवर किस प्रकार होता है ऐसा प्रश्न होने पर उसका उत्तर देते हुए "अप्पाणमप्पणो" इत्यादि तीन गाथायें हैं। उसके आगे आत्मा तो छद्मस्थ के परोक्ष है उसके ज्ञान गम्य नहीं है फिर उसका ध्यान कैसे किया जा सकता है ऐसा पूछने पर देवता रूप दृष्टान्त के द्वारा परोक्ष आत्मा भी जाना जा सकता है ऐसा बताते हुए "उवदेसेण" इत्यादि दो गाथायें हैं। उसके आगे उदय को प्राप्त हुए रागादि विकार भावों का अभाव हो जाने पर जीव के रागादि भावों का भी अभासृव हो जाता है इस प्रकार संवर के क्रम की मुख्यता से "तेसिं हेदु" इत्यादि तीन गाथायें हैं। इस प्रकार आसृव के प्रतिपक्ष रूप में संवर का व्याख्यान हुआ है उसकी यह समुदाय पातनिका है।

अब यहां पर सबसे पहले निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञान है लक्षण जिसका ऐसे भेदविज्ञान का निरूपण करते हैं। वह भेदज्ञान शुभ और अशुभ दोनों ही प्रकार के कर्मों के संवर का परमोत्तम कारण है:—

उवओगे उवओगो कोहादिसु णत्थि कोवि उवओगो।
कोहे कोहो चेवहि उवओगे णत्थि खलु कोहो ॥१८९॥

अट्ठवियप्पे कम्मे णोकम्मे चावि णत्थि उवओगो।
उवओगह्मिय कम्मे णोकम्मे चावि णो अत्थि ॥१९०॥

एवं तु अविवरीदं णाणं जइया दु होदि जीवस्स।
तइया ण किंचि कुव्वदि भावं उवओगसुद्धप्पा ॥१९१॥ (त्रिकलम्)

उपयोगे उपयोगः क्रोधादिषु नास्ति कोप्युपयोगः।
क्रोधे क्रोधश्चैव हि उपयोगे नास्ति खलु क्रोधः ॥ १८९ ॥

अष्टविकल्पे कर्मणि नोकर्मणि चापि नास्त्युपयोगः।
उपयोगेऽपि च कर्म नोकर्म चापि नो अस्ति ॥१९०॥

एतत्त्वविपरीतं ज्ञानं यदा तु भवति जीवस्य।
तदा न किंचित्करोति भावमुपयोगशुद्धात्मा ॥१९१॥

अर्थ—ज्ञान और दर्शन रूप चेतना के परिणमन का नाम उपयोग है जिसका आत्मा के साथ तादात्म्य संबंध है। अतः एक उपयोग शब्द से अभेद विवक्षा करके आत्मा का ग्रहण करना और दूसरे से चैतन्य परिणाम रूप ज्ञान दर्शनमय उपयोग लेना। उपयोग में क्रोधादि कषाय भाव नहीं होता और क्रोधादि कषाय भाव हो जाने पर कोई भी शुद्धात्मा नहीं रहता, किन्तु क्रोध के समय में आत्मा स्वयं क्रोध रूप होता है किन्तु जो आत्मा शुद्ध है उसमें क्रोध का कोई लेन देन नहीं है यह निश्चित बात है। इसी प्रकार आठ प्रकार के कर्म और औदारिकादि शरीर रहने पर भी आत्मा शुद्ध नहीं रहता है क्योंकि शुद्ध आत्मा के ज्ञानावरणादि कोई भी कर्म और औदारिकादि कोई भी शरीर नहीं है इस प्रकार का अविपरीत अव्याहत ज्ञान जब इस जीव को हो जाता है उस समय अपने उपयोग में शुद्ध होता हुआ यह छद्मस्थ आत्मा भी कुछ विकार भाव नहीं करके अपने स्वभाव में स्थित हो रहता है॥ १८९-१९०-१९१॥

तात्पर्यवृत्ति—उवओगे उवओगो ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणत्वादभेदनयेनात्मैवोपयोगस्तस्मिन्नुपयोगाभिधाने शुद्धात्मन्युपयोग आत्मा तिष्ठति **कोहादिसु णत्थि कोवि उवओगो** शुद्धनिश्चयेन क्रोधादिपरिणामेषु नास्ति कोप्युपयोग आत्मा **कोहो कोहो चेव हि** क्रोधे क्रोधश्चैव हि स्फुटं तिष्ठति **उवओगे णत्थि खलु कोहो** उपयोगे शुद्धात्मनि नास्ति खलु स्फुटं क्रोधः।

अट्ठवियप्पे कम्मे णोकम्मे चावि णत्थि उवओगो तथैव चाष्टविधज्ञानावरणादिद्रव्यकर्माणि औदारिक शरीरादिनोकर्मणि चैव नास्त्युपयोगः—उपयोगशब्दवाच्यः शुद्धबुद्धैकस्वभावः परमात्मा **उवओगह्मिय कम्मे णोकम्मे चावि णो अत्थि** उपयोगे शुद्धात्मनि शुद्धनिश्चयेन कर्म नोकर्म चैव नास्ति इति।

एदं तु अविवरीदं णाणं जइया दु होदि जीवस्स इदं तु चिदानंदैकस्वभावशुद्धात्मसंवित्तिरूपं विपरीताभिनिवेशरहितं भेदज्ञानं यदा भवति जीवस्य **तइया ण किंचि कुव्वदि भावं उवओग सुद्धप्पा** तस्माद्भेदविज्ञानात्स्वात्मोपलंभो भवति शुद्धात्मोपलंभे जाते सति किमपि मिथ्यात्वरागादिभावान्न करोति न परिणमति। कथंभूतः सन्? निर्विकारचिदानंदैकलक्षणशुद्धोपयोगेन शुद्धात्मा शुद्धभावः सन्निति। यत्रैवंभूतो संवरो नास्ति तत्रास्रवो भवत्यस्मिन्नधिकारे सर्वत्र ज्ञातव्यमिति तात्पर्यं। एवं पूर्वप्रकारेण भेदविज्ञानात् शुद्धात्मोपलंभो भवति। शुद्धात्मोपलंभे सति मिथ्यात्वरागादिभावं न करोति ततो नवतरकर्मसंवरो भवतीति संक्षेपव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथात्रयं गतं।

अथ कथं भेदज्ञानादेव शुद्धात्मोपलंभो भवतीति पृच्छति—

टीका:—(उवओगे उवओगो) क्योंकि ज्ञान और दर्शन रूप उपयोग ही आत्मा का स्वरूप है अतः अभेद विवक्षा से यहां पर उपयोग शब्द से आत्मा को लिया गया है, उस उपयोग स्वरूप शुद्धात्मा में ज्ञान दर्शन स्वरूप उपयोग मात्र ही होता है अर्थात् उसमें क्रोधादिक विकार भाव नहीं होते हैं। (कोहादिसु णत्थि कोवि उवयोगो) शुद्ध निश्चयनय से क्रोधादिक परिणामों के होने पर कोई भी उपयोग अर्थात् आत्मा नहीं रहता (वह अनात्मा भ्रष्टात्मा बन जाता है)। (कोहे कोहो चेव हि) क्योंकि क्रोध होने पर आत्मा स्वयं ही क्रोधरूप होता है (उवओगो णत्थि खलु कोहो) परन्तु उपयोग अर्थात् शुद्धात्मा में निश्चय से जरासा भी क्रोधभाव नहीं होता है। (अट्ठवियप्पे कम्मे णोकम्मे चावि णत्थि उवओगे) वैसे ही ज्ञानावरणादि रूप आठ प्रकार के द्रव्य कर्म तथा औदारिकादि शरीररूप नो कर्म के रहने पर भी शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव रूप परमात्मा नहीं रह पाता है। (एदं तु अविवरीदं णाणं जइया दु होदि जीवस्स) इस प्रकार का चिदानंद मई एक शुद्धात्मा का विपरीत अभिप्राय से रहित संवेदन रूप भेदज्ञान

जब इस जीव को हो जाता है, (तइया ण किंचि कुव्वदि भावं उवप्रोग सुद्धप्पा) तब इस प्रकार के भेद ज्ञान के होने से इसे स्वात्मा की उपलब्धि हो जाने पर फिर वह मिथ्यात्व और रागादिरूप विकार भावों में से किसी भी प्रकार के भाव को नहीं करता है, नहीं परिणमता है। क्योंकि फिर तो वह निर्विकार चिदानंद रूप जो एक शुद्ध उपयोग उससे शुद्ध आत्मा होता हुआ शुद्ध स्वभाव का धारक बना रहता है। जहां पर इस प्रकार का संवर नहीं होता वहां पर आस्रव होता है इस प्रकार इस अधिकारमें सब स्थान पर जानना ।। १८९-१९०-१९१ ।।

इस प्रकार पूर्व में कहे अनुसार भेदज्ञान से शुद्धात्मा की उपलब्धि होती है। जिसके होने पर यह जीव मिथ्यात्व और रागादिरूप विकार भाव नहीं करता है तब इसके नूतन कर्मों का संवर हो जाता है इस प्रकार संक्षेप से व्याख्यान की मुख्यता से तीन गाथायें पूर्ण हुईं ।। १८९-१९०-१९१ ।।

आगे भेद विज्ञान से ही शुद्धात्मा की समुपलब्धि कैसे होती है सो बताते हैं:—

जह कणयमग्गितवियं पि कणयसभावं ण तं परिच्चयदि ।
तह कम्मोदयतविदो ण जहदि णाणी दु णाणित्तं ।।१९२।।
एवं जाणदि णाणी अण्णाणी मुणदि रायमेवादं ।
अण्णाणतमोच्छण्णो आदसहावं अयाणंतो ।।१९३।।

यथा कनकमग्नितप्तमपि कनकभावं न तं परित्यजति ।
तथा कर्मोदयतप्तो न जहाति ज्ञानी तु ज्ञानित्वं ।।१९२।।
एवं जानाति ज्ञानी अज्ञानी जानाति रागमेवात्मानं ।
अज्ञानतमोऽवच्छन्नः आत्मस्वभावमजानन् ।।१९३।। (युग्मं)

अर्थः—जैसे अग्नि से तपाया हुआ सोना भी अपने स्वर्णपने को नहीं छोड़ता है वैसे ही कर्मोदय के द्वारा सताया हुआ ज्ञानी जीव भी अपने ज्ञानीपन का त्याग नहीं करता है। इस प्रकार ज्ञानी तो अपने आप को जानता ही रहता है किन्तु अज्ञानी तो अज्ञान अन्धकार से ढका हुआ होने के कारण अपने आप को नहीं जानता हुआ राग को ही अपना स्वरूप समझता है ।।१९२-१९३।।

तात्पर्यवृत्तिः—जह कणयमग्गितवियं कणयसहावं ण तं परिच्चयदि—यथा कनकं सुवर्णमग्नितप्तमपि तं कनकस्वभावं न परित्यजति। **तह कम्मोदय तविदो ण चयदि णाणी दु णाणित्तं** तेन प्रकारेण तीव्रपरीषहोपसर्गेण कर्मोदयेन संतप्तोऽपि रागद्वेषमोहपरिणामपरिहारपरिणतोऽभेदरत्नत्रयलक्षणभेदज्ञानी न त्यजति। किं तत्? शुद्धात्मसंवित्तिलक्षणं ज्ञानित्वं पांडवादिवदिति। **एवं जाणदि णाणी** एवमुक्तप्रकारेण शुद्धात्मानं जानाति कोऽसौ वीतरागस्वसंवेदनलक्षणभेदज्ञानी **अण्णाणी मुणदि रागमेवादं** अज्ञानी पुनः पूर्वोक्तभेदज्ञानाभावात् मिथ्यात्वरागादिरूपमेवात्मानं मनुते जानाति। कथंभूतः सन्? **अण्णाणतमोच्छण्णो** अज्ञानतमसोवच्छन्नः प्रच्छादितो झंपितः। कथंभूत सन्। **आदसहावं अयाणंतो** निर्विकारपरमचैतन्यचमत्कारस्वभावं शुद्धात्मानं निर्विकल्पसमाधेरभावादजानन् अननुभवन् इति। एवं भेदज्ञानात्कथं शुद्धात्मोपलंभो भवतीति पृष्टे प्रत्युत्तरकथनरूपेण गाथाद्वयं गतं।

अथ कथं शुद्धात्मोपलंभात्संवर इति पुनरपि पृच्छति–

टीका:—(जह कणयमग्गितवियं पि कणयसहावं ण तं परिच्चयदि) जिस प्रकार अग्नि से तपाया हुआ भी स्वर्ण अपने स्वर्णपने को नहीं छोड़ता हैं, (तह कम्मोदयतविदो ण चयदि णाणी दु णाणित्तं) वैसे ही तीव्र परीषह या उपसर्गरूप घोर कर्म के उदयसे सताया हुआ भी अभेद रत्नत्रय ही है लक्षण जिसका ऐसे (समाधि स्वरूप) भेद ज्ञान का धारी जीव रागद्वेष, और मोह रूप परिणामों को न होने देने में तत्पर होता हुआ पाण्डव और गजकुमार के समान अपने शुद्धात्मा के संवेदन रूप ज्ञानीपने को नहीं त्यागता है। (एवं जाणदि णाणी) अपितु वह वीतराग स्वसंवेदन स्वरूप भेदज्ञान वाला जीव तो पूर्व प्रकार से (समाधिस्थ हुआ) अपने शुद्धात्मा के स्वरूप को जानता ही रहता है। उसी पर जमा रहता है। (अण्णाणी मुणदि रागमेवादं) किन्तु अज्ञानी जीव को पूर्वोक्त भेदज्ञान नहीं होता इसलिये वह अपने आपको मिथ्यात्व और रागादिरूप ही मानता और जानता रहता है (अण्णाणतमोच्छण्णो) क्योंकि वह अज्ञानरूप अन्धकार से ढ़का हुआ है (आदसहावं अयाणंतो) और विकल्द रहित समाधि के न होने से विकारों से वर्जित परम चैतन्य चमत्कार ही है लक्षण जिसका ऐसे शुद्ध आत्मा को नहीं जानपाता है, उसका अनुभवन नहीं कर पाता है ।। १६२-१६३ ।।

विशेषार्थ:—आचार्य देव ने इन दो गाथाओं में ज्ञानी को अपने आत्मा में सुदृढ़ होकर लगे रहने की प्रेरणा दी है। जो प्रयत्न करके भी शुद्धात्मा के ध्यान को प्राप्त नहीं करते हैं वे तो अज्ञानी हैं ही किन्तु जो आत्मध्यान को प्राप्त करके भी घोर परीषह आदि के हेतुतासे उस आत्मध्यान रूप समाधिसे चिग जाते हैं वे भी एक प्रकार के अज्ञानी ही हैं। वास्तविक ज्ञानी तो वही है जो किसी भी प्रकार का बाधक कारण आने पर भी समाधि से च्युत नहीं होकर अपने ध्येय की प्राप्ति के लिये वही दृढ़ बना रहता है। जिस प्रकार अग्नि से तपाया जाकर भी स्वर्ण अपने स्वर्णपने को नहीं छोड़ता है। इसके उदाहरण पाण्डवादिक अनेक महा पुरुष हैं जो आगम में बताये गये हैं।

इस प्रकार भेदज्ञान से ही शुद्धात्मा की समुपलब्धि कैसे हो जाती है इस प्रश्न के उत्तर में ये दो गाथायें कही गई हैं।

आगे यह बताते हैं कि शुद्धात्मा की समुपलब्धि हो जाने से ही संवर कैसे हो जाता हैः—

सुद्धं तु वियाणन्तो सुद्धचेवप्पयं लहदि जीवो।
जाणंतो दु असुद्धं असुद्धमेवप्पयं लहदि ।।१६४।।

शुद्धं तु विजानन् शुद्धमेवात्मानं लभते जीवः।
जानंस्त्वशुद्धमशुद्धमेवात्मानं लभते ।।१६४।।

अर्थ—(जैसे कि संगति करता है वह स्वयं भी वैसा ही बना रहता है इस कहावत के अनुसार) जो शुद्धात्मा के अनुभव में लग रहता है वह अपने आपको भी शुद्ध बना लेता है किन्तु जो अपने को अशुद्ध समझे हुए रहता है वह कभी शुद्ध नहीं हो सकता—सदा अशुद्ध ही रहेगा ।।१६४।।

तात्पर्यवृत्तिः—सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धमेवप्पयं लहदि जीवो भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मरहितमनंतज्ञानादिगुण-स्वरूपं शुद्धात्मानं निर्विकारसुखानुभूतिलक्षणेन भेदज्ञानेन विजानन्ननुभवन् ज्ञानी जीवः। एवं गुणविशिष्टं यादृशं शुद्धात्मानं ध्यायति भावयति तादृशमेव लभते। कस्मात् ? इति चेत् उपादानसदृशं कार्यमितिहेतोः **जाणंतो दु असुद्धं असुद्धमेवप्पयं लहदि** अशुद्धंमिथ्यात्वादिपरिणतमात्मानंजानन्ननुभवन् सन् अशुद्धं, नरनाकादिरूपमेवात्मानं लभते। स कः ? । अज्ञानी जीव इति। एवं शुद्धात्मोपलंभादेव कथं संवरो भवतीति पृष्टे प्रत्युत्तरकथनरूपेण गाथा गाता।

अथ केन प्रकारेण संवरो भवतीति पृष्टे पुनरपि विशेषेणोत्तरं ददाति—

टीकाः—(सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धं मेवप्पयंलहदि जीवो) क्रोधादि भावकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, और औदारिक शरीरादि नोकर्म इस प्रकार तीनों प्रकार के कर्मों से रहित तथा अनन्त ज्ञानादि गुण स्वरूप शुद्धात्मा को, निर्विकार सुख की अनुभूति ही है लक्षण जिसका ऐसे भेदज्ञान के द्वारा अर्थात् ध्यान के द्वारा जो जानता है अनुभव करता है वह ज्ञानी जीव कहलाता है। क्योंकि जैसे गुणों से विशिष्ट जैसी आत्मा का अर्थात् शुद्धात्मा का ध्यान करता है, अपने उपयोग में दृढ़ता से उतारता है, वह आपने आपको भी वैसा ही बना लेता है क्यों कि उपादान के समान ही कार्य होता है यह नियम बना हुआ है (जाणंतो दु असुद्धं असुद्धमेवप्पयं लहदि) परन्तु जो अपने आपको मिथ्यात्वादि विकार भावों में परिणत हुआ अशुद्ध जानता है, अनुभव करता है वह अज्ञानी जीव अपने आपको नरनारकादि पर्याय रूप में अशुद्ध किये हुए है ।।१९४।।

अब संवर होने का प्रकार कौनसा है इसीका विशेष स्पष्टीकरण करते हैं:—

अप्पाणमप्पणांरुंधिऊण दो पुण्णपाव जोएसु।
दंसणणाणह्मिठिदो इच्छाविरओ य अण्णह्मि ।।१९५।।
जो सव्वसंगमुक्को झायदि अप्पाणमप्पणो अप्पा।
णवि कम्मं णोकम्मं चेदा चिंतेदि एयत्तं ।।१९६।।
अप्पाणं झायंतो दंसणणमाओ अणण्णमणो।
लहइ अचिरेण अप्पाणमेव सो कम्मपविमुक्कं ।।१९७।।

आत्मानमात्मना रुन्ध्वा द्वि पुण्यपापयोगयोः।
दर्शनज्ञाने स्थितः इच्छाविरतश्चान्यस्मिन् ।।१९५।।
यः सर्वसंगमुक्तो ध्यायत्यात्मानमात्मनात्मा।
नापि कर्म नोकर्म चेतयिता चिंतयत्येकत्वं ।।१९६।।
आत्मानं ध्यायन् दर्शनज्ञान मयोऽनन्यमनाः।
लभतेऽचिरेणात्मानमेव स कर्मनिर्मुक्तं ।।१९७।।

अर्थः—जो पुरुष पुण्य और पापरूप दोनों प्रकार की क्रियाओं में भटकनेवाले अपने मन को अपने आपमें रोककर अपने से अन्य देहादि वस्तुओं में होने वाली इच्छा रहित होता हुआ केवलमात्र दर्शन ज्ञानमय स्वभाव में स्थित होता है तथा जो सम्पूर्ण प्रकार के परिग्रह से रहित होता हुआ अपने द्वारा अपने आपका ध्यान करता है, कर्म व नोकर्म किसी का भी चिंतवन नहीं करता है वही एक अपने शुद्ध आत्मा का ध्यान कर पाता है हां, जो इस प्रकार सब ओर से अपने मनको हटाकर केवलमात्र अपने दर्शन ज्ञानमय स्वभाव में रहता है वह जीव शीघ्र ही अपने आपको सम्पूर्ण कर्मों से रहित कर लेता है ।। १६५-१६६-१६७ ।।

तात्पर्यवृत्तिः—अप्पाणमप्पणातरु ंभिदूणदो (सु) पुण्णपावजोगेसु आत्मानं कर्मत्वापन्नं । आत्मना करणभूतेन द्वयोः पुण्यपापयोगयोरधिकारभूतयोर्वर्तमानं स्वसंवेदनज्ञानबलेन शुभाशुभयोगाभ्यां सकाशाद्रुन्ध्वा व्यावर्त्य । **दंसणणाणह्मि ठिदो** दर्शनज्ञाने स्थितः सन् । **इच्छाविरदोय अण्णह्मि** अन्यस्मिन् देहरागादिपरद्रव्ये, सर्वत्रेच्छारहितश्चेति प्रथमगाथा गता । **जो यःकर्त्ता सव्वसंगमुक्को झायदि अप्पाणमप्पणो अप्पा** आत्मा, पुनरपि कथंभूतः **सव्वसंगमुक्को** निस्संगात्मतत्त्वविलक्षणबाह्याभ्यन्तरसर्वसंगमुक्तः सन् । **झायदि** ध्यायति कं, **अप्पाणं** निजशुद्धात्मानं केन, करणभूतेन, **अप्पणो** स्वशुद्धात्मना । **णवि कम्मं णोकम्मं** नैव कर्म्म नोकर्म ध्यायति, आत्मानं ध्यायन् । किं करोति **चेदा चिंतेदि** एवं गुणविशिष्टश्चेतयितात्मा चिंतयति । किं?, **एयत्तं** "एकोहं निर्ममः शुद्धो ज्ञानी योगीन्द्रगोचरः । बाह्या संयोगजा भावा मत्तः सर्वेऽपि सर्वथा" इत्याद्येकत्वं, इति द्वितीयगाथा गता ।

सो इत्यादि **सो** स पूर्वसूत्रद्वयोक्तः पुरुषः **अप्पाणं झायंतो** एवं पूर्वोक्तप्रकारेणात्मानं कर्मतापन्नं चिंतयन्, निर्विकल्परूपेण ध्यायन् सन् । **दंसणणाणमइओ** दर्शनज्ञानमयो भूत्वा । **अणण्णमणो** अनन्यमनाश्च **लहदि** लभते । कमेव, **अप्पाणमेव** आत्मानमेव कथंभूतं, **कम्मणिम्मुक्कं** भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मविमुक्तं । केन, **अचिरेण** स्तोककालेन । एवं केन प्रकारेण संवरो भवति. इति प्रश्ने सति विशेषपरिहारव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथात्रयं गतं ।

अथ परोक्षस्यात्मनः कथं ध्यानं भवतीनि प्रश्ने प्रत्युत्तरं ददाति ।

टीकाः—(अप्पाणमप्पणारु ंभिदूण दो पुण्णपाव जोएसु) पुण्य और पाप के आधार भूत दोनों प्रकार की शुभाशुभ क्रियाओं में प्रवर्तमान होने वाले अपने करण (साधन) भूत स्वसंवेदन ज्ञान के बलसे दूर हटा कर (दंसणणाणह्मिठिदो) दर्शन और ज्ञान में स्थित होता हुआ (इच्छाविरदो य अण्णह्मि) इन देहादिक और रागादिक सभी प्रकार के अन्य द्रव्यों में इच्छा रहित होता है । यह पहली गाथा हुई । (जो सव्वसंगमुक्को झायदि अप्पाणमप्पणोअप्पा) इस प्रकार जो आत्मा सर्व प्रकार के परिग्रह से रहित जो आत्मा तत्व है उससे विलक्षण जो बाह्य और अभ्यन्तर रूप सर्व प्रकार के परिग्रह से रहित होता हुआ करणभूत अपनी शुद्ध आत्मा से अपने शुद्ध स्वरूप का ध्यान करता है (णवि कम्मं णोकम्मं) किन्तु कर्म और नोकर्म का चिंतवन नहीं करता है । तो फिर वह आत्मा का ध्यान करने वाला क्या करता है ? कि (चेदा चिंतेदि एयंत्त) उपर्युक्त गुणों से विशिष्ट वह चेतना गुणधारी आत्मा केवल एकत्व का चितवन करता है जैसाकिः—एकोऽहं निर्म्ममः शुद्धो, ज्ञानी योगीन्द्रगोचरः । बाह्या संयोगजा भावाः मत्तः सर्वेपि सर्वथा । इस श्लोक में बताया है कि मैं तो एक हूं, मेरा यहां कोई भी नहीं है, किसी भी प्रकार के सम्पर्क से दूर रहने वाला हूं, केवल मात्र ज्ञान गुण का धारक हूं मुझे योगी लोग ही ध्यान के बल से जान पहचान सकते हैं और कोई नहीं, इसके सिवाय जितने भी संयोगज भाव हैं अर्थात् शरीरादिक हैं वे मेरे से सर्वथा भिन्न हैं इस प्रकार चिंतवन करता रहता है । यह दूसरी गाथा का अर्थ हुआ । (सो अप्पाणं झायंतो) पूर्व सूत्रोक्त पुरुष उपर्युक्त प्रकार से

आत्मा को चिन्तवन करता हुआ—निर्विकल्प रूप से आत्मा का ध्यान करता हुआ (दंसणणाणमइओ) दर्शन और ज्ञानमयी होकर (अणण्णमणो) तथा अपने आत्मा में एक चित्त होकर (लहदि अप्पाणमेव) अपने आप को ही प्राप्त कर पाता है। किस प्रकार कर पाता है ? कि (अचिरेण कम्मपविमुक्कं) बहुत ही शीघ्र भावकर्म, द्रव्यकर्म और नोकर्म के भेद से जो तीन प्रकार के हैं उनसे रहित कर पाता है ॥१९५-१९६-१९७॥

विशेषार्थः—आचार्य देव इन तीन गाथाओं में संवर का पात्र कौन है ? कौन कर सकता है ? और उसका स्पष्ट फल क्या है ? यह बताते हुए बताया है कि जो व्यक्ति भलाई और बुराई से दूर हट कर एकाग्रचित्त होता हुआ राजस और तामस वृत्ति इन दोनों का त्याग करके सात्विकता को प्राप्त हो जाता है और संसार की दृश्यमान वस्तुओं में अब जिसकी कोई भी इच्छा न रहने से जिसने सब प्रकार के परिग्रह का त्याग कर दिया है वही जीव शान्त चित्त से शुद्धात्मा का ध्यान कर सकता है जो कि संवर होने का अद्वितीय साधन है। उस शुद्धात्मा के ध्यानरूप संवरतत्व को भली प्रकार प्राप्त कर लेने पर फिर अपुनर्भवता प्राप्त करने में देरी नहीं लगती उसके द्वारा वह शीघ्र प्राप्त करली जाती है। हां, उपर्युक्त प्रकार के वास्तविक त्याग के बिना ही शुद्धात्मा के ध्यानरूप संवर तत्व के हो जाने की बात जो कही जाती है वह बिना मुंह के भोजन कर लेने जैसी है उसमें कोई सार नहीं है।

संवर किस प्रकार होता है इस प्रश्न का विशेष स्पष्टीकरण करने रूप ये तीन गाथायें पूर्ण हुईं ॥१९५-१९६-१९७॥

आगे जो आत्मा परोक्ष है छद्मस्थ के देखने में नहीं आती है उसका ध्यान कैसे किया जा सकता है—

***उवदेसेण परोक्खं रूवं जह पस्सिदूण णादेदि।**
मण्णदि तहेव धिप्पदि जीवो दिट्ठोय णादोय ॥१९८॥

उपदेशेन परोक्षरूपं यथा दृष्ट्वा जानाति।
भण्यते तथैव ध्रियते जीवो दृष्टश्च ज्ञातश्च ॥१९८॥

अर्थः– जैसे किसी का परोक्षरूप उपदेश द्वारा तथा लिखा देखकर वह जाना जाता है। वैसे ही यह जीव वचनो के द्वारा कहा जाता है तथा मनके द्वारा ग्रहण किया जाता है मानों प्रत्यक्ष देखा गया व जाना गया है ॥१९८॥

तात्पर्यवृत्तिः— उवदेसेण परोक्खं रूवं जह पस्सिदूण णादेदि यथालोके परोक्षमपि देवतारूपं परोपदेशाल्लिखितं दृष्ट्वा कश्चिद्देवदत्तो जानाति। **भण्णदि तहेव धिप्पदि जीवो दिट्ठो य णादो य।** तथैव वचनेन भण्यते तथैव मनसि गृह्यते। कोसौ ?, जीवः, केन रूपेण ?, मया दृष्टो ज्ञातश्चेति मनसा संप्रधारयति तथा चोक्तं।

गुरूपदेशादभ्यासात्संवित्तेः स्वपरांतरं। जानाति यः स जानाति मोक्षसौख्यं निरंतर। अथ–

टीका—(उवदेसेण परोक्खं रूवं जह पस्सिदूण णादेदि) जैसे लोक व्यवहार में किसी परोक्ष देव के रूप को भी किसी दूसरे के कहने से या कहीं लिखा हुआ देखकर कि यह अमुक देवता का रूप है देवदत्त

* यह गाथा आत्मख्याति में नहीं हैं।

आदिक जाना जाता है। (भण्णदि तहेव धिप्पदि जीवो दिट्ठो य णादोय) उसी प्रकार यह जीव वचनों के द्वारा कहा जाता है तथा यह जीव मेरे द्वारा देखा गया और जाना गया ऐसा मन के द्वारा ग्रहण किया जाता है इस प्रकार विश्वास किया जा सकता है समझा जा सकता है। ऐसा ही अन्य ग्रन्थ में कहा गया है कि "गुरूपदेशाभ्यासात् संविते स्वपरांतरं, जानाति यः स जानाति मोक्षसौख्यं निरन्तरं॥" "अर्थात् गुरू महाराज के उपदेश से, उनके बताये हुए मार्ग के द्वारा अभ्यास करने से, अपनी बुद्धि के विवेक द्वारा अपने आपके तथा औरों के अंतरंग तत्व को जानता है वह निरन्तर होने वाले मोक्ष सुख को जानता है ॥१९८॥

कोविदिदच्छो साहू संपडिकाले भणिज्ज रूवमिणं।
पच्चक्खमेव दिट्ठं परोक्खणाणे पवट्ठतं॥१९९॥

कोविदितार्थः साधुः संप्रतिकाले भणेत् रूपमिदं॥
प्रत्यक्षमेव दृष्टं परोक्षज्ञाने प्रवर्तमानं॥ १९९॥

अर्थ—कौन समझदार साधु यह कह सकता है कि आत्म तत्व वर्तमान काल में इस छद्मस्थ के प्रत्यक्ष हो जाता है क्योंकि इसका साक्षात्कार तो केवलज्ञान में ही होता है। परन्तु परोक्ष मानसिक ज्ञान के द्वारा वह छद्मस्थ से भी जान लिया जाता है ॥१९९॥

तात्पर्यवृत्तिः—अथ मंत **भणिज्ज रूवमिणं पच्चक्खमेव दिट्ठं परोक्खणाणे पवट्ठंतं।** योसौ प्रत्यक्षेणात्मानं दर्शयति तस्य पार्श्वे पृच्छामो वयं। नैवं (?)। **कोविदिदिच्छो साहू संपडिकाले भणिज्ज** कोविदितार्थं साधुः, संप्रतिकाले ब्रूयात् ? न कोपि। किं ब्रूयात, न कोऽपि। किंतु **रूवमिणं पच्चक्खमेवदिट्ठं** इदमात्मस्वरूपं प्रत्यक्षमेव मया दृष्टं। चतुर्थकाले केवलज्ञानिवत्। अपि तु नैवं कथंभूतमिदमात्मस्वरूपं। **परोक्खणाणे पवट्ठंतं** केवलज्ञानापेक्षया परोक्षे श्रुतज्ञाने प्रवर्तमानं, इति।

किंच विस्तरः यद्यपि केवलज्ञानापेक्षया रागादिविकल्परहितं स्वसंवेदनरूप भावश्रुतज्ञानं शुद्धनिश्चयनयेन परोक्षं भण्यते। तथापि इंद्रियमनोजनितमविकल्पज्ञानापेक्षया प्रत्यक्षं। तेन कारणेन, आत्मा स्वसंवेदनज्ञानापेक्षया प्रत्यक्षो भवति। केवलज्ञानापेक्षया पुनः परोक्षोऽपि भवति। सर्वथा परोक्ष एवेति वक्तुं नायाति। किंतु चतुर्थकालेऽपि केवलिनः, किमात्मानं हस्ते गृहीत्वा दर्शयंति ? तेपि दिव्यध्वनिना भणित्वा गच्छंति। तथापि श्रवणकाले श्रोतृणां परोक्ष एव पश्चात्परमसमाधिकाले प्रत्यक्षो भवति। तथा, इदानीं कालेऽपीति भावार्थः। एवं परोक्षस्यात्मनः कथं ध्यानं क्रियते, इति प्रश्ने परिहाररूपेण गाथाद्वयं गतं॥

अथ, उदयप्राप्तद्रव्यप्रत्ययस्वरूपाणां रागाद्यध्यवसानानामभावे सति जीवगतरागादिभावकर्मरूपाणां, मध्यवसानानां, अभावो भवतीत्यादिरूपेण संवरस्य क्रमाख्यानं कथयति—

टीकाः—(कोविदिदच्छो साहू सम्पडिकाले भणिज्ज) कौन समझदार साधु इस समय ऐसा कह सकता है कि (रूवमिणं पच्चक्खमेव दिट्ठं) आत्मा के स्वरूप को मैंने प्रत्यक्ष ही देख लिया है जैसा कि चतुर्थकाल में केवलज्ञानी देख लिया करते थे परन्तु ऐसा तो कोई भी नहीं कहता। कहना तो यह है कि वह आत्म स्वरूप (परोक्खणाणे पवट्ठंतं) केवल ज्ञान की अपेक्षा से जो परोक्ष है ऐसे श्रुतज्ञान में अर्थात्

मानसिक ज्ञान में प्रगट हो जाता है। भावार्थ यह है कि यद्यपि शुद्ध निश्चयनय से रागादि विकल्प रहित स्वसंवदेन रूप भाव श्रुत ज्ञान केवलज्ञान की अपेक्षा से परोक्ष ही है तथापि सर्व साधारण को होने वाला इन्द्रिय मनोजनित सविकल्प ज्ञान होता है उसकी अपेक्षा से वह प्रत्यक्ष है। अतः स्वसंवेदन ज्ञान के द्वारा जाना जाता है इसलिये प्रत्यक्ष होता है पर केवलज्ञान की दृष्टि में तो वह परोक्ष ही होता है। किन्तु सर्वथा परोक्ष ही है ऐसा नहीं कहा जा सकता अपितु सोचो कि चतुर्थकाल में भी केवली भगवान क्या आत्मा को हाथ में लेकर दिखलाते हैं? अर्थात् नहीं, वे भी अपनी दिव्य ध्वनि के द्वारा कहकर चले जाते हैं। तो भी दिव्य ध्वनि सुनने के काल में सुननेवालों के लिए आत्मा का स्वरूप परोक्ष ही होता है। तत्पश्चात् श्रोता लोग परम समाधि स्वीकार करते हैं उस ध्यानस्थ अवस्था में ही वह उनके प्रत्यक्ष होता है-अनुभव गोचर होता है वैसा ही आज भी हो सकता है। इस प्रकार परोक्ष आत्म का किस प्रकार ध्यान किया जाता है इसका समाधान करते हुए दो गाथाएं समाप्त हुई ॥१९९॥

अब उदयमें प्राप्त हुए द्रव्य प्रत्यय ही है स्वरूप जिनका ऐसे रागादि अध्यवसात भाव उनका अभाव हो जाने पर जीवगत रागादि भावकर्मरूप अध्यवसानों का भी अभाव हो जाता है इत्यादि रूप से संवर के क्रम का व्याख्यान करते हैं:—

तेसिं हेदू भणिदा अज्झवसाणाणि सव्वदरसीहिं।
मिच्छत्तं अण्णाणं अविरदभावो य जोगोय ॥२००॥
हेउ अभावे णियमा जायदि णाणिस्स आसवणिरोहो।
आसवभावेण विणा जायदि कम्मस्स विणिरोहो ॥२०१॥
कम्मस्साभावेण य णोकम्माणं च जायदि णिरोहो।
णो कम्मणिरोहेण य संसारणिरोहणं होदि ॥२०२॥

तेषां हेतवः भणिताः अध्यवसानानि सर्वदर्शिभिः।
मिथ्यात्वमज्ञानमविरति भावश्च योगश्च ॥२००॥
हेत्वभावे नियमाज्जायते ज्ञानिनः आस्रवनिरोधः।
आस्रवभावेन विना जायते कर्मणोऽपि निरोधः ॥२०१॥
कर्मणोऽभावेन च नोकर्मणामपि जायते निरोधः।
नोकर्मनिरोधेन च संसारनिरोधनं भवति ॥२०२॥

अर्थः—पूर्वोक्त रागद्वेष और मोहरूप आस्रवों के हेतु सर्वज्ञदेव ने मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति और योग ये चार अध्यवसान कहे हैं। ज्ञानी जीव के इन हेतुओं का अभाव होने से नियम से आस्रव का निरोध हो जाता है और आस्रव भाव के न होने से कर्मों का भी निरोध हो जाता है, कर्म के अभाव से नोकर्म का निरोध हो जाता है और नोकर्म के रुक जाने से संसार का भी निरोध हो जाता है ॥ २००-२०१-२०२ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—तेसिं हेदू भरिणदा अज्झवसाणाणि सव्वदरसीहिं । तेषां प्रसिद्धानां जीवगतरागादिविभावकर्मरूपाणां भावासूवाणां हेतवः कारणानि भणितानि । कानि?, उदयप्राप्तद्रव्यप्रत्ययागतानि रागाद्यध्यवसानानि । कैः ?, सर्वदर्शिभिः । ननु अध्यवसानानि भावकर्मरूपाणि तानि जीवगतान्येव भवंति उदयप्राप्तद्रव्यप्रत्ययागतानि भावप्रत्ययानि कथं भवंतीति ? । नैवं, यतः कारणात्, भावकर्म द्विधा भवति । जीवगतं पुद्गलकर्मगतं च । तथाहि भावक्रोधादिव्यक्तिरूपं जीवभावगतं भण्यते । पुद्गलपिंडशक्तिरूपं पुद्गलद्रव्यगतं । तथा चोक्तं—

पुग्गलपिंडो दव्वं कोहादी भावदव्वं तु–

इति जीवभावगतं भण्यते—

पुग्गलपिंडो दव्वं तस्सत्ती भावकम्मं तु–

इति पुद्गलद्रव्यगतं ।।

अत्र दृष्टांतो यथा—मधुरकटुकादिद्रव्यस्य भक्षणकाले जीवस्स मधुरकटुकस्वादव्यक्तिविकल्परूपं जीवभावगतं । तद्व्यक्तिकारणभूतं मधुरकटुक द्रव्यगतं शक्तिरूपं पुद्गलद्रव्यगतं । एवं भावकर्मस्वरूपं जीवगतं पुद्गलगतं च द्विधेति भावकर्मव्याख्यानकाले सर्वत्र ज्ञातव्यं । कानि तानि, अध्यवसानानि ? । **मिच्छत्तं अण्णाणं अविरदिभावो य जोगो य** मिथ्यात्वमज्ञानमविरतिर्योगश्चेति प्रथमगाथा गता ? । **हेतु अभावे णियमा जायदि णाणिस्स आसवणिरोहो** पूर्वोक्तानामुदयागतद्रव्यप्रत्ययानां जीवगतभावासूवहेतुभूतानां वीतरागस्वसंवेदनज्ञानिनो जीवस्य, उदयागतद्रव्यकर्मरूपाणां, अभावे सति नियमान्निश्चयात् रागादिभावासूवनिरोधलक्षणः संवरो जायते । **आसवभावेण विणा जायदि कम्मस्स दु णिरोहो** निरासूवपरमात्मतत्वविलक्षणस्य जीवगतभावाश्रवस्य भावेण स्वरूपेण विना जायते कर्मणो निरोधरूपःसंवरः । कस्य ? परमात्मतत्वप्रच्छादकनवतरद्रव्यकर्मण इति द्वितीयगाथा गता । **कम्मस्साभावेण य णोकम्माणं च जायदि णिरोहो** । ततश्च नवतरकर्माभावेन संवरेण शरीरादिनोकर्मणां च जायते, निरोधः संवरः । **णोकम्मणिरोहेण य संसारणिरोहणं होदि** । नोकर्मनिरोधनेन संवरेण संसारातीतशुद्धात्मतत्व प्रतिपक्षभूतद्रव्यक्षेत्रादिपंचप्रकारसंसारनिरोधनं भवतीति तृतीयगाथा गता, । एवं संवरक्रमाख्यानेन गाथात्रयं गतं । एवं पात्रवदासूवविपक्षभूतः संवरो निष्क्रांतः ।

इति श्री जयसेनाचार्य कृतायां समयसारव्याख्यायां शुद्धात्मनुभूतिलक्षणायां तात्पर्यवृत्तौ
चतुर्दशगाथाभिः षट्स्थलैः आसूवविपक्षद्वारेण संवर
नामा षष्ठाऽधिकारः समाप्तः ।

टीका:—(तेसिं हेदू भरिणदा अज्झवसाणाणि सव्वदरसीहिं) प्रसिद्धि को प्राप्त हुए जीवगत रागादि विभाव रूप भावासूवों के भी हेतु उदय को प्राप्त हुए द्रव्य प्रत्यायों में होनेवाले रागादि अध्यवसान सर्वज्ञ देव ने बतलाये हैं । यहां शंका हो सकती है कि अध्यवसान तो भावकर्म रूप होते हैं जो कि जीवगत ही हो सकती है । उदय को प्राप्त द्रव्य प्रत्ययगत भाव प्रत्यय कैसे हो सकते हैं ? इसका समाधान करते हैं कि यह शंका ठीक नहीं है क्योंकि भावकर्म जीवगत और पुद्गल कर्मगत दो प्रकार का होता है । जैसा कि कहा है :— "पुग्गल पिंडो दव्वं कोहादी भावकम्मंतु". यह जीवगत भावकर्म की बात हुई और "पुग्लपिंडोदव्वं तस्सत्ती भावकम्मंतु" यह पुद्गल द्रव्यगत भावकर्म की बात हुई ।। उसी को दृष्टाँत द्वारा समझाते हैं कि किसी मीठे या कड़वे पदार्थ को खाने के समय में उसके मधुर या कटुक स्वाद को चखनेरूप जो जीव का

विकल्प होता है वह जीवगत भाव कहलाता है किन्तु उसकी अभिव्यक्ति में कारणभूत ऐसा उस मधुर या कटुक द्रव्य में रहने वाला शक्ति का अंश-विशेष होता है वह पुद्गल द्रव्यगत भाव कहा जाता है। इस प्रकार भावकर्म का स्वरूप जीवगत और पुद्गलगत के भेद से दो प्रकार का होता है। ऐसा भावकर्म के व्याख्यान में सर्व ही ठौर जानना चाहिये। वे अध्यवसान कौनसे हैं। कि (मिच्छत्तं अण्णाणं अविरदिभावोय जोगोय) मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति और योग के भेद से चार प्रकार के हैं। यह पहली गाथा का अर्थ हुआ। (हेदु अभावे णियमा जायदि णाणिस्स आसवणिरोहो) ऊपर जिनका वर्णन कर चुके हैं ऐसे जीवगत भावास्रवों के जो हेतु कहे गये हैं उन द्रव्य कर्म स्वरूप उदय में आये हुए द्रव्य प्रत्ययों का वीतराग स्वसंवेदन ज्ञानी जीव के अभाव हो जाता है एवं उनके न होने पर नियम से उसके अवश्य ही रागादि भावास्रवों के निरोध स्वरूप संवर हो जाता है। (आसव भावेण विणा जायदि कम्मस्स दु णिरोहो) और इस प्रकार आस्रव से रहित जो परमात्म तत्व उससे विलक्षण रूप जीवगत भाव आस्रव के न होने से परमात्म तत्व को आच्छादन करने वाले नवीन द्रव्य कर्मों का भी निरोध अर्थात् संवर हो जाता है यह दूसरी गाथा का अर्थ हुआ। (कम्मस्साभावेण य णोकम्माणं च जायदि णिरोहो) इस प्रकार नवीन कर्म के अभाव रूप संवर के हो जाने पर शरीरादिरूप नोकर्म का भी निरोधात्मक संवर हो जाता है। (णो कम्मणिरोहेण य संसार णिरोहणं होदि) इस प्रकार नोकर्म का अभाव हो जाने पर संसार से दूरवर्ती ऐसा जो शुद्ध आत्मतत्व उसका प्रतिपक्ष भूत द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावरूप पंच प्रकार के संसार का भी अभाव हो जाता है ॥ २००-२०१-२०२ ॥

विशेषार्थः--जब तक यह संसारी जीव अपने आप को और शरीर को एक मानता रहता है तब तक स्वयं (शरीर) को बिगड़ता हुआ देखकर उसे बनाये रखने के लिए मिथ्यात्व अज्ञान और अविरति प्रयोगात्मक नाना प्रकार के दुष्प्रयास निरन्तर करता रहता है। अतः मोह राग, द्वेष के चक्कर में फंस कर नूतन कर्म बंध करने के कारण जन्म मरण के झंझट से उऋण नहीं हो पाता किन्तु शरीर और आत्मा में जो भेद है उसे यदि वास्तविक रूप से जान लेता है तो फिर आपको अविनश्वर व चेतन स्वरूप और इस शरीर को जड़ एवं विनाशीक जानकर शरीर के साथ संबंध रखनेवाली इन दृश्यमान इतर वस्तुओं का परित्याग कर देता है। रहा यह शरीर सो इसे भी निस्सार व बेकार समझकर इससे भी उपेक्षा कर आत्म तल्लीन हो जाता है ऐसी दशामें फिर मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरतात्मक प्रयोग का ठिकाना ही कैसा, और जब नहीं तो रागद्वेष और मोह भाव भी कहां ? अतः फिर नूतन कर्म और नोकर्म तो होने से रह जाते हैं। सम्बद्ध कर्म और नोकर्म रूप भी निःसन्तान रूप से नष्ट हो जाते हैं, इस प्रकार शुद्धात्म ध्यान रूप भेद विज्ञान से संवर होकर आत्मा सदा के लिए सच्चिदानन्द बन रहता है।

इस प्रकार संवर के क्रमका व्याख्यान करने वाली तीन गाथायें पूर्ण हुईं। इसके साथ साथ यह संवर का प्रकरण भी समाप्त हुआ जो कि छः स्थलों में आई हुईं चौदह गाथाओं द्वारा वर्णित है।

इस प्रकार श्री जयसेनाचार्य को समयसार की टीका जिसमें कि शुद्धात्मा की अनुभूति का लक्षण बतलाया गया है जिसका कि नाम तात्पर्यवृत्ति है उसकी हिन्दी टीका में १४ चौदह गाथाओं द्वारा आस्रव के विरोध रूपमें वह छः स्थलों में संवर नामा छट्ठा अधिकार पूर्ण हुआ।

सातवां महा अधिकार (निर्जरा तत्व)

तात्पर्यवृत्ति—तत्रैवं सति रंगभूमेः सकाशात्, शृंगाररहितपात्रवत्—शुद्धजीवस्वरूपेण संवरो निष्क्रांतः। अथ वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरूपा शुद्धोपयोगलक्षणा संवरपूर्विका निर्जरा प्रविशति **उवभोगमिं दयेहिं** इत्यादिगाथामादि कृत्वा दंडकान् विहाय पाठक्रमेण पंचाशग्दाथापर्यंतं षट्स्थलैर्निर्जराव्याख्यानं करोति। तत्र द्रव्यनिर्जराभावनिर्जराज्ञान-शक्तिवैराग्यशक्तीनां क्रमेण व्याख्यानं करोति, इति पीठिकारूपेण प्रथमस्थले गाथाचतुष्टयं। तदनंतरं ज्ञानवैराग्यशक्तेः सामान्यव्याख्यानार्थं **सेवंतोवि ण सेवदि** इत्यादि द्वितीयस्थले गाथापंचकं। ततः परं तयोरेव ज्ञानवैराग्यक्योर्विशेष-विवरणार्थं **परमाणुमित्तियंपि** इत्यादि तृतीयस्तंले सूत्रदशकं। ततश्च मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलज्ञानानामभेदरूपं परमार्थसंज्ञं मुक्तिकारणभूतं यत्परमात्मपदं, तत्पदं येन स्वसंवेदनज्ञानगुणेन लभ्यते तस्य सामान्यव्याख्यानार्थं **णाणगुणेहिं विहीणा** इत्यादि चतुर्थस्थले सूत्राष्टकं। ततः परं तस्यैव ज्ञानगुणस्य विशेषविवरणार्थं **णाणी रागप्पजहो** इत्यादि पंचमस्थले गाथाः चतुर्दश। तदनंतरं शुद्धनयमाश्रित्य चिदानंदैकस्वभावशुद्धात्मभावनाश्रितानां निश्चयनिश्शंकाद्यष्ट-गुणानां व्याख्यानार्थं **सम्मादिट्ठीजीवो** इत्यादि षष्ठस्थले सूत्रनवकं कथयति, इति षड्कमिरंतराधिकारैः, निर्जराधिकारे समुदायपातनिका। तद्यथा,

अथ द्रव्यनिर्जरां कथयति।

अब यहां शृंगार रहित पात्र के समान शुद्ध जीव स्वरूप जो संवर है वह तो इस रंगभूमि में से चला गया और वीतराग निर्विकल्प समाधि स्वरूप शुद्धोपयोग लक्षण को रखने वाली ऐसी संवर पूर्वक निर्जरा प्रवेश करती है।

वहां 'उपभोगमिं दिएहिं' इत्यादि गाथा को आदि लेकर दंडकों को छोड़ पाठक्रम से पचास गाथा पर्यन्त छः स्थलों से निर्जरा का व्याख्यान करते हैं। उनमें से प्रथम द्रव्य निर्जरा, भाव निर्जरा, ज्ञान शक्ति, वैराग्यशक्तियों का क्रम से वर्णन है। इस प्रकार प्रथम स्थल में पीठिका रूप से चार गाथायें हैं। उसके बाद ज्ञान शक्ति और वैराग्य शक्ति का सामान्य व्याख्यान करने के लिए सेवंतो विण सेवदि' इत्यादि रूप से दूसरे स्थल में पांच गाथायें हैं। उसके आगे उन्हीं ज्ञान और वैराग्य शक्तियों का विशेष वर्णन करने के लिए "परमाणु मितियंपि" इत्यादि १० सूत्र तीसरे स्थल में हैं। उसके आगे मति, श्रुत, अवधि मनः पयर्य और केवल ज्ञान के भेद से पांच प्रकार है फिर भी परमार्थ से जो एक रूप ही है और मुक्ति का कारण एवं परमात्म पद का मूल है वह पद जिस स्वसंवेदन ज्ञान से प्राप्त होता है उसके सामान्य व्याख्यान के लिए "णाण गुणेहिं विहीणा" इत्यादि आठ सूत्र चौथे स्थल में हैं। फिर उसही ज्ञान गुण का विशेष वर्णन करने के लिए "णाणी रागप्पजहो" इत्यादि १४ गाथायें पांचवे स्थल में हैं। उसके आगे छठे स्थल में शुद्ध नय का आश्रय लेकर चिदानंद रूप एक स्वभाव वाले शुद्धात्मा की भावना के आश्रयभूत निश्चयात्मक निःशंकातीदि आठ गुणों के व्याख्यान के लिए "सम्मादिठ्ठी जीवो" इत्यादि ९ सूत्र कहे गये हैं इस प्रकार छः अंतर अधिकार से इस निर्जरा अधिकार में समुदाय पातनिका पूर्ण हुई।

आगे सबसे प्रथम निर्जरा का स्वरूप कहते हैं–

उवभोग मिंदियेहिं दव्वाण मचदेणाण मिदराणं।
जं कुणदि सम्मदिट्ठी तं सव्वं णिज्जरणिमित्तिं ॥२०३॥

उपभोगमिंद्रियैः द्रव्याणाम चेतना मितरेषां।
यत्करोति सम्यग्दृष्टिः तत्सर्वं निर्जर निमित्तं ॥२०३॥

अर्थ:–सम्यग्दृष्टि (वीतरागी) जीव अपनी इन्द्रियों द्वारा चेतन तथा उनसे भिन्न अचेतन द्रव्यों का उपभोग करता है वह सब उसके लिए कर्मों की निर्जरा के निमित्त होता है ॥२०३॥

तात्पर्यवृत्तिः—उवभोगमिंदियेहिं दव्वाणमचेदणाणमिदराणं जं कुणदि सम्मदिट्ठी सम्यग्दृष्टिः कर्ता चेतनाचेतनद्रव्याणां संबंधि यद्वस्तूपभोग्यं करोति। कैः कृत्वा? पचेन्द्रियविषयैः **तंसव्वंणिज्ज रणिमित्तं** तद्वस्तु मिथ्यादृष्टेर्जीवस्य रागद्वेषमोहानां सद्भावेन बंधकारणमपि सम्यग्दृष्टेर्जीवस्य रागद्वेषमोहानामभावेन समस्तमपि निर्जरानिमित्तं भवतीति। अत्राह शिष्यः- रागद्वेषमोहाभावे सति निर्जराकारणं भणितं सम्यग्दृष्टेस्तु रागादय. संति, ततः कथं निर्जराकारणं भवतिती? अस्मिन्पूर्वपक्षे परिहारः। अत्र ग्रंथे वस्तुवृत्त्या वीतरागसम्यग्दृष्टेर्ग्रहणं, यस्तु चतुर्थगुणस्थान वर्ती सम्यग्दृष्टिस्तस्य गौणवृत्या ग्रहणं तत्र तु परिहारः पूर्वमेव भणितः। कथमिति चेत्? मिथ्यादृष्टे सकाशादसंयतसम्यग्दृष्टेः, अनंतानुबंधिक्रोधमानमायालोभमिथ्यात्वोदयजनिताः, श्रावकस्य चाऽप्रत्याख्यानक्रोधमानमाया-लोभोदयजनिता रागादयो न संतीत्यादि। किं च सम्यग्दृष्टेः संवरपूर्विका निर्जरा भवति मिथ्यादृष्टेस्तु गजस्नानवत्, बंधपूर्विका भवति तेन कारणेन मिथ्यादृष्टयपेक्षया सम्यग्दृष्टिरबंधकः। एवं द्रव्यनिर्जराव्याख्यानरूपेण गाथा गता।

अथ भावनिर्जरास्वरूपमाख्याति–

टीका:—(उवभोगमिंदि योहिं दव्वाण मचेदणाण मिदराणं जं कुणदि सम्मदिट्ठी) सम्यग्दृष्टि जीव अपनी पांचों इन्द्रियों के द्वारा चेतन और अचेतन द्रव्यों में भोग्य और उपभोग्य वस्तु का जो उपभोग करता है, (तं सव्वं णिज्जर- णिमित्तं) वह सब उसके लिए निर्जराका ही निमित्त होता है। जो वस्तु मिथ्या दृष्टि जीव के लिए राग द्वेष और मोह भाव होने के कारण बंध का निमित्त कारण होती है वही वस्तु सम्यग्दृष्टि जीव के लिए राग द्वेष और मोह भाव के न होने के कारण वे सब निर्जरा के निमित्त होती है यहां शिष्य प्रश्न करता है कि राग द्वेष, और मोहभाव होने पर सब ही निर्जरा का कारण बताया गया है सो ठीक परन्तु गुरूमहाराज! सम्यग्दृष्टि के तो रागादिक भाव होते है (सब ही सम्यग्दृष्टि जीव वीतरागी नहीं होते हैं) इससे उसके कर्म की निर्जरा कैसे हो सकती हैं? इसका समाधान आचार्य करते हैं कि इस ग्रंथ में वास्तविक में वीतराग सम्यग्दृष्टि का ही ग्रहण किया गया है परन्तु चतुर्थ गुण स्थान वर्ती अव्रतसम्यग्दृष्टि का कथन यहां गौण है यदि इसे भी यहां लिया जाय तो इस प्रश्न का समाधान पहिले किया जा चुका है कि मिथ्या दृष्टि प्रथम गुण स्थानवर्ती जीव की अपेक्षा से चतुर्थ गुणस्थानी अवृत सम्यग्दृष्टि जीव कम रागवाला होता है क्योंकि उसके मिथ्यात्व तथा अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, और लोभ जनित रागादिक नहीं होते है तथा श्रावक के अप्रत्याख्यानावरणी क्रोध, मान, माया और लोभ जनित रागादिक नहीं होते हैं इत्यादि। तथा सम्यग्दृष्टि के जो भी निर्जरा होती है वह संवर पूर्वक होती है

किंतु मिथ्यादृष्टि को वह हाथी स्नान के समान बन्ध भाव पूर्वक हुआ करती है इसलिये भी मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा से सम्यग्दृष्टि अबन्धक होता है ॥२०३॥

विशेषार्थः—इन्द्रियों के द्वारा वस्तु का ग्रहण दो प्रकार से होता है। एक तो वैषयिक दृष्टि से और दूसरा विवेक बुद्धि से। वैषयिक दृष्टि से जो पदार्थ बन्ध का कारण होता है वही विवेक बुद्धि के द्वारा निर्जरा के लिए होता है। जैसे एक नवयुवती वेश्या एकाएक हृदय की गति रूक जाने से मरण को प्राप्त हो गई जिसके शव को श्मशान में ले जाकर चिता पर रखा गया। उसे किसी कामी पुरूष ने देखा तो सोचने लगा कि यह कितना सुन्दर रूप है, यदि जीवित अवस्था में मुझे मिल जाती तो मैं इसे अवश्य आलिंगन करता। किन्तु वहीं पर एक मुनि महाराज बिराज रहे थे, उनकी दृष्टि जब उस पर पड़ी तो वह सोचने लगे कि देखो ! इसने दुर्लभ प्राप्त अपने मनुष्य जन्म को व्यर्थ ही भोग विलास में गमा दिया इत्यादि। कामी के लिए जो बन्ध का कारण हुई वही श्री मुनि के लिए निर्जरा का कारण बनी। आचार्य देव ने यही बात कही हैं कि विरागी जीव को जो भी बाह्य पदार्थ का समागम होता है वह उसके लिए निर्जरा का ही कारण हुआ करता है। हां इसी पर से यदि कोई यह मान कर कि सम्यग्दृष्टि के भोग भी निर्जराके हेतु होते हैं और इसी प्रकार हम भी भगवान की बात को ही मानने वाले हैं-सम्यग्दृष्टि हैं फिर बन्ध कैसा ? इस प्रकार स्वच्छन्द होकर भोग भोगने में लग रहे तो वह तो अपने आपका बिगाड़ करने वाला ही होगा उसके तो बन्ध ही नहीं प्रत्युत घोर बन्ध होगा। कहा भी है कि-"दो मुख पन्थी चले न पन्था, दो मुख सूई सिये न कन्था। दोय बात नहिं होय सयाने, विषय भोग अरू मुक्ति हु पाने।"

इस प्रकार द्रव्य निर्जराका व्याख्यान एक गाथा के द्वारा करके अब भाव निर्जरा का भी स्वरूप निम्न गाथा में स्पष्ट करते हैं:—

दव्वे उवभुज्जंते णियमा जायदि सुहं च दुक्खं च।
तं सुहदुःखमुदिण्णं वेददि अह णिज्जरं जादि ॥२०४॥

द्रव्ये, उपभुज्यमाने नियमाज्जायते सुखं च दुःखं च।
तत्सुखदुःखमुदीर्णं वेदयते अथ निर्जरां याति ॥२०४॥

अर्थ—बाह्य शुभ और अशुभरूप पदार्थका समागम होने पर सुख और दुःखरूप जो साता असाता नामक वेदनीय कर्म है उसकी उदीरणा होती है ऐसा नियम है और उस उदीरित हुए सुख तथा दुःख को सम्यग्दृष्टि जीव भी भोगता है किन्तु वह भुक्त होकर निर्जीण हो जाता है अपितु उसके राग नहीं होने के कारण बन्ध का कारण नहीं बनता ॥२०४॥

तात्पर्यवृत्तिः—दव्वे उवभुज्जंते णियमा जायदि सुहं च दुक्खं च उदयागतेद्रव्यकर्मणि जीवेनोपभुज्यमाने सति नियमात् निश्चयात् सातासातोदयवशेन सुखंदुःखं वा वस्तु स्वभावत एव जायते तावत्। **तं सुहदुक्खमुदिण्णं वेददि** निरुपरागस्वसंवित्तिभावेनोत्पन्नपारमार्थिकसुखाद्भिन्नं तत्सुखं वा दुःखं वा समुदीर्णं सत् सम्यग्दृष्टिर्जीवो रागद्वेषौ न कुर्वन् हेयबुद्धया वेदयति। न च तन्मयोभूत्वा, अहं सुखी, दुःखीत्याद्यहमिति प्रत्ययेनानुभवति। **अथ णिज्जरं जादि** अथ अहो ततः कारणान्निर्जरां याति स्वस्थभावेन निर्जराया निमित्तं भवति। मिथ्यादृष्टेःपुनः, उपादेयबुद्धया सुखमहं

दुःख्यहमिति प्रत्ययेन बंधकारणं भवति । किं च यथा कोऽपि तस्करो यद्यपि मरणं नेच्छति । तथापि तलवरेण गृहीतः सन् मरणमनुभवति । तथा सम्यग्दृष्टिः, यद्यप्यात्मोत्थसुखमुपादेयं च जानाति । विषयसुखं च हेयं जानाति तथापि चारित्रमोहोदयतलवरेण गृहीतः सन् तदनुभवति, तेन कारणेन निर्जरानिमित्तं स्यात्, इति भावनिर्जराव्याख्यानं गतं ।

अथ वीतरागस्वसंवेदनज्ञानसामर्थ्यं दर्शयति—

टीका:—(दव्वे उवभुज्जन्ते णियमा जायदि सुहं च दुक्खं च) उदय में आये हुए द्रव्य कर्म को यह जीव जब भोगता है तब नियम से साता और असाता वेदनीय कर्म के उदय के वश से सुख और दुःख अपने वस्तु के स्वभाव से ही उत्पन्न होते हैं। (तं सुह दुखमुदिण्णं वेददि) जो कि रागरहित स्वसंवेदन भाव से उत्पन्न होने वाले पारमार्थिक सुख से भिन्न प्रकार का होता है। उस उदय में आये हुए सुख या दुःख को सम्यग्दृष्टि जीव भी भोगता है, किन्तु वहाँ कुछ भी भला बुरापन न मानकर रागद्वेष किए बिना उपेक्षा बुद्धि से उसे भोग लेता है-उसको पार कर जाता है-उसके साथ तन्मय होकर मैं सुखी हूँ या दुखी हूँ इत्यादि रूप से अनुभव नहीं करता। (अथ णिज्जरं जादि) इसलिए वह उसके स्वस्थ भाव से निर्जरा को प्राप्त हो जाता है। झड़ ही जाता है (प्रत्युत बन्ध नहीं कर पाता) किन्तु मिथ्यादृष्टि जीव तो मैं सुखी हूँ या दुखी हूँ इत्यादि रूप से उपादेय बुद्धि से उसे भोगता है इसलिये उसके वह बन्ध का कारण होता है। जैसे कोई भी चोर स्वयं कभी मरना नहीं चाहता किन्तु कोतवाल से जब पकड़ लिया जाता है और मारा जाता है तो मरण का अनुभव करता है। वैसे ही सम्यग्दृष्टि जीव भी यद्यपि आत्मोत्थ सहज सुख को उपादेय मानता है और विषय सुख को हेय, फिर भी चारित्र मोह कर्म के उदयरूप कोतवाल से पकड़ा हुआ वह उस विषय सुख का अनुभव भी करता है इसलिए वह कर्म उसके लिए निर्जरा का निमित्त होता है। इस प्रकार यह भाव निर्जरा का व्याख्यान हुआ ॥२०४॥

विशेषार्थ:—स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि सयोग केवली अर्हन्त भगवान के प्रशस्त साता वेदनीय कर्म का उदय होता है जिससे वे बाह्य विभूति चौसठ चमर, सिंहासन, समवशरणादि विभूति से विशिष्ट होते हैं किन्तु वहां पर उनके नाम मात्र की भी ममता न होने से बन्ध नहीं होता है। उसी प्रकार छद्मस्थ वीतरागी जीव भी कर्म के उदय से आये हुए उपसर्गादि के समय उसे निर्मम भाव से भोग लेता है, सहन कर जाता है अतः उसके भी तज्जन्य बन्ध नहीं होता किन्तु वह निर्जीर्ण हो जाता है। जैसे कि सुदर्शन मुनिराज को दबाकर वेश्या ने काम भोग संबंधी अनेक कुचेष्टायें कीं पर वे मुनिराज उन सबको समभाव से भोगते रहे, सहते रहे किसी भी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं हुआ अतः उस वेश्या के तो घोर कर्म का बन्ध हुआ किन्तु सुदर्शन मुनिराज के तो कर्म की निर्जरा ही हुई। हाँ, भरत चक्रवर्ती सरीखे गृहस्थ क्षायक सम्यग्दृष्टि सरीखों ने सुभद्रादि रानियों के साथ चलाकर प्रसंग किया वहाँ पर भी उनके सम्यग्दृष्टि होने मात्र से बन्ध नहीं हुआ हो केवल मात्र निर्जरा ही हुई हो ऐसा नहीं समझना चाहिए। यह बात अवश्य है कि अतत्व श्रद्धानी मिथ्यादृष्टि जैसा बंध नहीं होता था किन्तु परीत संसारात्मक बन्ध होकर चतुर्थ पंचम गुणस्थान योग्य निर्जरा होती थी। किन्तु सर्वथा बंध न होकर निर्जरा ही होना जैसा कि इस गाथा में बताया है वह तो वीतराग रूप निश्चय सम्यग्दृष्टि के ही होती है क्योंकि उसकी ज्ञान शक्ति व वैराग्य-शक्ति दोनों अपना बराबर काम करती रहती हैं।

अब यहाँ पर उसमें से पहले ज्ञान शक्ति का वर्णन करते हैं:—

जह विसमुवभुज्जन्तो वेज्जो पुरिसो ण मरणमुवयादि ।
पुग्गलकम्मस्सुदयं तह भुंजदि णेव बज्झए णाणी ।।२०५।।

यथा विषमुपभुंजानो वैद्यः पुरुषो न मरणमुपयाति ।
पुद्गलकर्मण उदयं तथा भुंक्ते नैव बध्यते ज्ञानी ।।२०५।।

अर्थ—जैसे वैद्य विष खाकर भी मरण को प्राप्त नहीं होता वैसे ही ज्ञानी जीव कर्म फल को भोगता हुआ भी बन्ध को प्राप्त नहीं होता ।

तात्पर्यवृत्तिः—जह विसमुवभुज्जंता विज्जापुरिसा ण मरणमुवयंति यथा विषमुपभुंजानाः संतो गारुडविद्यापुरुषाः, अमोघमंत्रसामर्थ्यात्, नैव मरणमुपयांति । **पुग्गलकम्मस्सुदयं तह भुंजदि णेव बज्झदे णाणी** तथा परमतत्वज्ञानी शुभाशुभकर्मफलं भुंक्ते तथापि निर्विकल्पसमाधि लक्षणभेदज्ञानामोघमंत्रबलान्नैव बध्यते कर्मणेति ज्ञानशक्तिव्याख्यानं गतं । अथ संसारशरीरभोगविषये वैराग्यं दर्शयति—

टीका:—(जह विसमुवभुज्जन्तो वेज्जो पुरिसो ण मरणमुवयादि) जैसे मंत्र विद्या का जानकार पुरुष विष को खाकर निर्दोष मंत्र की सामर्थ्य से मरण को प्राप्त नहीं होता है, (पुग्गलकम्मस्सुदयं तह भुंजदि णेव बज्झए णाणी) वैसे ही परम तत्व ज्ञानी जीव शुभ व अशुभ रूप कर्म के फल को भोगता हुआ भी वह निर्विकल्प समाधि है लक्षण जिसका ऐसे भेदज्ञानरूप अमोघ (कभी भी निष्फल नहीं होने वाला) मंत्र के बल से कर्म बंध को प्राप्त नहीं होता । इस प्रकार ज्ञान शक्ति का व्याख्यान पूर्ण हुआ ।।२०५।।

आगे संसार, शरीर व भोगों के विषय में जो वैराग्य की सामर्थ्य है उसे दिखलाते हैं:—

जह मज्जं पिवमाणो अरदिभावेण मज्जदि ण पुरिसो ।
दव्वुवभोगे अरदो णाणीवि ण बज्झदि तहेव ।।२०६।।

यथा मद्यं पिवन् अरतिभावेन माद्यति न पुरुषः ।
द्रव्योपभोगे अरतो ज्ञान्यपि न बध्यते तथैव ।।२०६।।

अर्थः—जैसे कोई पुरुष अरतिभाव से (अप्रीतिपूर्वक) किसी भी मादक पदार्थ को पीता हुआ भी मतवाला नहीं होता, वैसे ही किसी भी पदार्थ के उपभोग में रागादि रहित हुआ ज्ञानी जीव भी कर्म बंध को प्राप्त नहीं होता है ।। २०६ ।।

तात्पर्यवृत्तिः— जह मज्जं पिवमाणो अरदिभावेण मज्जदि ण पुरिसो यथा कश्चित् पुरुषो व्याधिप्रतीकारनिमित्तं मद्यमध्ये मद्यप्रतिपक्षभूतमौषधं निक्षिप्य मद्यं पिवन्नपि रतेरभावान्न माद्यति । **दव्वुवभोगे अरदो णाणीवि ण बज्झदि तहेव** तथा परमात्मतत्त्वज्ञानी पंचेंद्रियविषयभूताशनपानादिद्रव्योपभोगे सत्यपि यावता यावतांशेन निर्विकार

स्वसंवित्तिशून्य बहिरात्म जीवापेक्षया रागभावं न करोति, तावता तावतांशेन कर्मणा न बध्यते । यदा तु हर्षविषादादि-रूपसमस्तविकल्पजालरहितपरमयोगलक्षणभेदज्ञानबलेन सर्वथा वीतरागो भवति । तदा सर्वथा न बध्यते इति वैराग्य-शक्तिव्याख्यानं गतं । एवं यथा क्रमेण द्रव्यनिर्जराभावनिर्जराज्ञानशक्तिवैराग्यशक्तिप्रतिपादनरूपेण निर्जराधिकारे तात्पर्यव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथाचतुष्टयं गतं ।

अथैतदेव वैराग्यस्वरूपं विवृणोति—

टीका:—(जह मज्जं पिवमाणो अरदिभावेण मज्जदि ण पुरिसो) जैसे कोई पुरुष अपने बवासीर आदि रोग को मिटाने के लिये भांग आदि मादक पदार्थ पीता है उसमें उसकी मादकता को दबानेवाली औषधि डालकर अरुचि भाव से पीता है अतः वह उन्मत्त नहीं बनता है, (दव्वुवभोगे अरदो णाणीवि ण बज्झदि तहेव) वैसे ही परमार्थ तत्वका जानकार पुरुष पंचेन्द्रियों के विषयभूत खान पान आदि द्रव्य को उपभोग करने के समय में भी निर्विकार स्वसंवेदन से रहित होने वाले बहिरात्म जीव की अपेक्षा से जिस जिस प्रकार के रागभाव को नहीं करता है उस उस प्रकार का कर्म बंध उसके नहीं होता। जब हर्ष विषाद आदि रूप समस्त विकल्प जालों से रहित परम (आत्म) ध्यान वही है लक्षण जिसका ऐसे भेद ज्ञान के बल से सर्वथा वीतराग हो जाता है उस समय नूतन कर्म बंध नहीं करता है यह उसकी वैराग्य शक्ति की विशेषता ॥२०६॥

विशेषार्थ:—आत्म ध्यान करने वाली योगी पुरुष की मूलमें दो प्रकार की चेष्टायें होती है। (१) पहली तो एकाग्रता के साथ आत्म ध्यान में तल्लीन हो रहने रूप (२) दूसरी उसी आत्म ध्यान को सुसम्पन्न करने में सहायरूप बनाने के लिये शरीर को आगमोक्त विधि से आहारादि देने में प्रवृत्त होने रूप। जब वह आत्म ध्यान में तल्लीन होता है तब उसके नूतन कर्म बंध ही नहीं होता किन्तु समीचीन आहार ग्रहण आदि क्रियाओं में प्रवृत्त होता है उस समय भी उसके किञ्चित प्रवृत्यात्मक रागांश होता है उससे जो नूतन कर्म बन्ध होता है वह भी अव्रतसम्यग्दृष्टि और देश विरत की अपेक्षा से भी अत्यल्प रूप होता है ऐसा समझना चाहिए क्योंकि उसके बाह्य वस्तुओं से वैराग्य होता है।

इस प्रकार यथा क्रम से द्रव्य निर्जरा, भाव निर्जरा, ज्ञानशक्ति और वैराग्य शक्ति का वर्णन करते हुए इस निर्जरा अधिकार में तात्पर्य व्याख्यान की मुख्यता से ४ गाथायें पूर्ण हुईं।

आगे उस ही वैराग्य के स्वरूप बताते हैं:-

सेवंतोवि ण सेवदि असेवमाणोवि सेवगो कोवि।
पगरणचेट्ठा कस्सवि णयपायरणोत्ति सो होई ॥२०७॥

सेवमानोऽपि न सेवते, असेवमानोऽपि सेवकः कश्चित्।
प्रकरण चेष्टा कस्यापि, न च प्राकरणिक इति स भवति ॥२०७॥

अर्थः—कोई भोगों को सेवता हुआ भी नहीं सेवन करता है। (जैसे अभया रानी के चंगुलमें फंसा हुआ सेठ सुदर्शन के समान विवशता वश किसी विषय को भोगता हुआ सा होकर भी वह उसका भोगनेवाला नहीं होता) दूसरा

कोई नहीं सेवन करता हुआ भी उसका सेवन करने वाला होता है जैसे कि किसी विवाह में जिसका विवाह होता है वह उस विवाह का कुछ भी काम नहीं करता किन्तु उस विवाह में आये हुए पाहुने आदिक-जिनका विवाह नही होना है- उस विवाह का सब काम करते है ।।२०७।।

तात्पर्यवृत्तिः-सेवंतोवि ण सेवदि असेवमाणोवि सेवगो कोवि निर्विकारस्वसंवेदन ज्ञानी जीवः स्वकीय-गुणस्थानयोग्याशनपानादिपंचेंद्रियभोगं सेवन्नपि सेवको न भवति । अन्यः पुनः, अज्ञानी कश्चित् रागादिसद्भावादसेवन्नपि सेवको भवति । अमुमेवार्थं दृष्टांतेन दृढयति । **पगरणचेट्ठा कस्सवि णय पायरणोत्ति सो होदि** यथा कस्यापि परगृहादागतस्य विवाहादिप्रकरणचेष्टा तावदस्ति तथापि विवाहादिप्रकरणस्वामित्वाभावात् प्राकरणिको न भवति । अन्यः पुनः प्रकरणस्वामी नृत्यगीतादिप्रकरणव्यापारमकुर्वाणोऽपि प्रकरणरागसद्भावात् प्राकरणिको भवति । तथा परमतत्त्वज्ञानी सेवमानोप्यसेवको भवति । अज्ञानी जीवो रागादिसद्भावादसेवकोऽपि सेवक इति ।

अथ सम्यग्दृष्टिः स्वपरस्वरूपमेव विशेषेण जानाति—

टीका:—(सेवंतोवि ण सेवदि असेवमाणोवि सेवगो कोवि) निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञान का धारक जीव अपने२ गुण स्थान के योग्य खानपानादि रूप पंचोन्द्रियों के भोगों को भोगने वाला होकर भी उसका भोक्ता नहीं होता किन्तु अज्ञानी जीव उसे न सेवन करता हुआ भी उसके प्रति रागभाव होने से उसका सेवनेवाला बना रहता है । इसी बात को दृष्टांत देकर अच्छी प्रकार समझाते हैं-(पगरण चेट्ठा कस्सवि ण य पायरणोत्ति सो होदि) जैसे कि जिसका विवाहादि नहीं होना है अतः वह विवाहादि प्रकरण का प्राकरणिक तो नहीं है जो कि दूसरे घर से आया हुआ पाहुना आदि है फिर भी वह उस विवाहादि का काम करता है किन्तु जो प्राकरणिक है-जिसका विवाहादि होना है-वह गीत नृत्य आदि कोई भी प्रकार का काम नहीं करता है फिर भी उन (वैवाहिक) कामों के प्रति उसका राग होने से वही प्राकरणिक कहलाता है । उसी प्रकार तत्वज्ञानी जीव किसी विषय का सेवन करनेवाला होकर भी वह उसका भोक्ता नहीं होता, किन्तु अज्ञानी जीव किसी वस्तु का न सेवन करने वाला होकर भी अपने रागभाव के कारण वह उसका भोक्ता बना रहता है ।।२०७।।

विशेषार्थ:—आत्मा के साथ इन बाह्य वस्तुओं को चिपकाये रखने वाला आत्मा का राग भाव है । जिसके प्रति राग भाव होता है वह वस्तु दूर होकर भी आत्मा के पास में होती है और जिससे उमका राग नहीं होता वह समीप में होकर भी उसके लिए नहीं होती । अब ज्ञानी अर्थात् त्यागी का किसी भी वस्तु से राग नहीं होता किन्तु किसी भी प्रकार के पर प्रयोगवश यदि उसके पास में कोई वस्तु होती है तो वह उसका स्वीकार करता हुआ सा प्रतीत होता है फिर भी उसका कोई अपनेपन का संबंध नहीं होता । जैसे मुनि के पास में पिच्छी होती है, लोगों की दृष्टि में वह पिच्छी वाले कहलाते हैं तो भी उससे उनका कोई जातीय संबंध नहीं होता । उन्हें आगम की आज्ञा है जब भी कहीं पर बेठे तो वहां की भूमि एवं अपने शरीर को भी भली प्रकार झाड़ पौंछ कर बैठे इत्यादि । इसीलिये उसे वह रखते हैं अतः वह उनका परिग्रह नहीं होता । किन्तु गृहस्थ के पास में भले ही कुछ भी नहीं हो फिर भी संसार भर को अपने पीछे लगाये हुए रहता है । यह सब वैराग्य की महीमा है ।

आगे सम्यग्दृष्टि जीव अपने आपके और पर के स्वरूप को विशेषतया किस प्रकार जानता हैं:—

पुग्गलकम्मं कोहो तस्स विवागोदयो हवदि एसो ।
ण दु एस मज्झ भावो जाणगभावो दु अहमिक्को ।।२०८।।

पुद्गल कर्म क्रोधस्तस्य विपाकोदयो भवति एषः।
नत्वेष मम भावः ज्ञायकभावः खल्वहमेकः ॥२०८॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टि (विरागी) जीव ऐसा जानता है कि राग नामका पौद्गलिक कर्म है उसके विपाक का उदय ही मेरे अनुभव में प्रतीति रूप से आया करता है सो यह मेरा स्वभाव नहीं है। मै तो निश्चय से एक ज्ञायक स्वभाव हूँ इसमें सन्देह नहीं ॥२०८॥

तात्पर्यवृत्तिः—**पुग्गलकम्मं कोहो तस्स विवागोदयो हवदि एसो** पुद्गलकर्मरूपो योऽसौ द्रव्यक्रोधो जीवे पूर्वबद्धस्तिष्ठति तस्य विशिष्टपाको विपाकः फलरूप उदयो भवति। स कः? शांतात्मतत्त्वात्पृथग्भूत एषः, अक्षमारूपो भावः क्रोधः **णदु एस मज्झभावो जाणगभावो हु अहमिक्को** न वैष मम भावः, कस्मात्? इति चेत् टंकोत्कीर्ण-परमानंदज्ञायकैकभावोऽहं यतः। किं च पुद्गल कर्मरूपः क्रोधःक्वास्ते? भावरूप एव दृश्यते इति? नैवं। पुद्गल-पिण्डरूपो द्रव्यक्रोधस्तदुदयजनितो यश्चाक्षमारूपः स भावक्रोधः। इति व्याख्यानं पूर्वमेव कृतं तिष्ठति कथं? इति चेत् **पुग्गलपिंडो दव्वं तस्सत्ती भावकम्मं तु** इत्यादि। एवमेव च क्रोधपदपरिवर्तनेन मानमायालोभरागद्वेषमोहकर्मनोकर्म मनोवचनकायश्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसंज्ञाषोडशसूत्राणि व्याख्येयानि। तेनैव प्रकारेणान्यान्यपि, असंख्येयलोकमात्र-प्रमितानि विभावपरिणामस्थानानि वर्जनीयानीति।

अथ कथं तव स्वरूपं न भवतीति पृष्टे सति भेदभावनारूपेणोत्तरं ददाति-

टीका:—(पुग्गल कम्मं कोहो तस्स विवागोदयो हवदि एसो) पुद्गल कर्मरूप द्रव्य क्रोध जो इस जीव में पहले से ही बद्ध हो रहा है उसका विशेष विपाक अर्थात् फलरूप उदय होता है जो कि शान्तरूप आत्म तत्व उससे पृथग्भूत भिन्न अक्षमा रूप भाव है वह भाव क्रोध (ण दु एस मज्झ भावो जाणगभावो हु अहमिक्को) मेरा भाव नहीं है क्योंकि मैं तो एक टांकी से उकीरे हुए के समान एक परमानन्द रूप ज्ञायक स्वभाव वाला हूँ और इस प्रकार पुद्गल द्रव्यकर्म रूपी क्रोध है और उसके उदय से उपजा हुआ जो अक्षमा रूप भाव है वह भाव क्रोध है यह व्याख्यान पहले भी किया जा चुका है। वह कहाँ पर है? कि "पुग्गल पिण्डो दव्वं तस्सत्ती भाव कम्मं तु" इसमें बताया है। इसी प्रकार क्रोध के स्थान पर मान माया, लोभ, रागद्वेष, मोह, कर्म, नोकर्म, मन वचन, काय,श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन, स्पर्शन नाम बदल कर सोलह सूत्र भिन्न २ रूप से व्याख्यान करने योग्य हैं और इस प्रकार असंख्यात लोक परिमाण और भी जो जीव के परिणाम हैं वे सभी दूर करने योग्य हैं। सम्यग्दृष्टि जीव के लिए मिटा देने योग्य है ॥२०८॥

यदि कोई सम्यग्दृष्टि से पूछता है कि यह सब तेरा स्वभाव क्यों नहीं है तो वह इसका उत्तर भेदज्ञान भावना के द्वारा इस प्रकार देता है:—

कह एस तुज्झ ण हवदि विविहो कम्मोदय फल विवागो।
परदव्वाणुव ओगो ण दु दे हो हवदि अण्णाणी ॥२०९॥

कथमेष तव न भवति विविधः कर्मोदयफलविपाकः।
परद्रव्याणामुपयोगो न तु देहो भवति अज्ञानी ॥२०९॥

अर्थ:—यदि सम्यग्दृष्टि से कोई यह पूछता है कि नाना प्रकार के कर्मोदय के फल का विपाक रूप विभाव परिणाम वह तेरा स्वभाव क्यों नहीं है तो वह कहता है कि कर्म स्वयं परद्रव्य हैं जिनके द्वारा उत्पन्न हुए क्रोधादिक भाव औपाधिक हैं, मेरा स्वभाव कैसे हो सकता है। देह तो स्पष्ट ही जड़स्वरूप है मुझसे भिन्न है ।।२०६।।

तात्पर्यवृत्तिः—**कह एस तुज्झ ण हवदि विविहो कम्मोदयफलविवागो** कथमेष विविधकर्मोदयफल-विपाकस्तवरूपं न भवतीति केनापि पृष्टः तत्रोत्तरं ददाति **परदव्वाणुवओगो** निर्विकारपरमाह्लादैकलक्षणस्वशुद्धात्म-द्रव्यात्पृथग्भूतानि परद्रव्याणि यानि कर्माणि जीवे लग्नानि तिष्ठंति तेषामुपयोग उदयोयं, औपाधिकस्फटिकस्य परोपा-धिवत् । न केवलं भावक्रोधादि ममस्वरूपं न भवति, इति **णदु देहो हवदि अण्णाणी** देहोऽपि मम स्वरूपं न भवति हु स्फुटं कस्मादिति चेत्, अज्ञानी जडस्वरूपो यतः कारणात्, अहं पुनः, अनंतज्ञानादिगुणस्वरूप इति ।

अथ सम्यग्दृष्टिः स्वस्वभावं जानन् रागादींश्च मुंचन् नियमाज्ज्ञानवैराग्यसंपन्नो भवति इति कथयति--

टीका:—(कह एस तुज्झ ण हवदि विविहो कम्मोदय फल विवागो) नाना प्रकार के कर्मोदय के फल का विपाक वह तेरा स्वरूप क्यों नहीं है ऐसा यदि कोई पूछता है तो सम्यग्दृष्टि उत्तर देता है कि (परदव्वाणुवओगो) विकार रहित परम प्रसन्न भाव ही है लक्षण जिसका ऐसे शुद्धात्म द्रव्य से भिन्न द्रव्य रूप पौद्गलिक कर्म जो मेरी आत्मा में लगे हुए हैं उनके उदय से होने वाला यह क्रोधादिक तो औपाधिक भाव है जैसे कि डांक के कारण से होने वाला स्फटिक का काला पीलापन है। अतः क्रोधादिक रूप भाव मेरा स्वभाव नहीं है। इतना ही नहीं किन्तु (णदु देहो हवदि अण्णाणी) यह शरीर भी मेरे शुद्धात्मा का स्वरूप नहीं है क्योंकि यह अज्ञानी है जड़ स्वरूप है और मैं अनन्त ज्ञानादि गुण स्वरूप हूँ ।।२०६।।

आगे कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि जीव अपने स्वभाव को जानता हुआ और रागद्वेषादि भावों को छोड़ता हुआ ज्ञान और वैराग्य से सम्पन्न होता है:—

एवं सम्मादिट्ठी अप्पाणं मुणदि जाणय सहावं ।
उदयं कम्मविवागं य मुवदि तच्चं वियाणंतो ।।२१०।।

एवं सम्यग्दृष्टिः आत्मानं जानाति ज्ञायक स्वभावं ।
उदयं कर्म विपाकं च मुंचति तत्वं विजानन् ।।२१०।।

अर्थ:—इस प्रकार वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानता हुआ जो जीव अपने आपको ज्ञायक स्वभाव मानता है और कर्म के उदय को कर्म का विपाक जानकर उसे छोड़ता है वही सम्यग्दृष्टि होता है ।।२१०।।

तात्पर्यवृत्तिः—**एवं सम्माइट्ठी अप्पाणं मुणदि जाणयसहावं** एवं—पूर्वोक्तप्रकारेण सम्यग्दृष्टिर्जीवः आत्मानं जानाति, कथंभूतं ? टंकोत्कीर्णपरमानंदज्ञायकैकस्वभावं । **उदयं कम्मविवागं मुवदि तच्चं वियाणंतो** उदयं पुनर्ममस्वरूपं न भवति कर्मविपाकोयमिति मत्वा मुंचति । किं कुर्वन् सन् ? नित्यानंदैकस्वभावं परमात्मतत्वं त्रिगुप्तिसमाधौ स्थित्वा जानन्निति ।

अथ सम्यग्दृष्टिः सामान्येन स्वपरस्वभावमनेकप्रकारेण जानाति—

टीका:—(एवं सम्मादिट्ठी अप्पाणं मुणदि जाणय सहावं) इस उपर्युक्त प्रकार से सम्यग्दृष्टि जीव अपने आप को टांकी से उकीरे हुए के समान सदा एकसा रहने वाला ऐसा परमानन्द स्वभाव रूप जानता है। (उदयं कम्म विवागं य मुवदि तच्चं वियाणंतो) और यह उदय है वह मेरा स्वरूप नहीं है किन्तु यह तो कर्म का विपाक है ऐसा मानकर उसे छोड़ देता है क्योंकि वह त्रिगुप्ति समाधि में स्थित होकर नित्यानंद एक स्वभाव वाले परमात्म तत्व को जानता रहता है ।।२१०।।

विशेषार्थ:—यहाँ पर सम्यग्दृष्टि का स्वरूप बतलाते हुए लिखा है कि जो सभी प्रकार के विभाव भावों से रहित हो वही सम्यग्दृष्टि होता है। यह दशा कहाँ और किस समय होती है इसका स्पष्टी-

करण करते हुए लिखा है कि यह अवस्था त्रिगुप्ति रूप परम समाधि काल में होती है, छद्मस्थ अवस्थाओं में नहीं, अतः वहीं पर सम्यग्दृष्टि होता है। इसी बात का समर्थन श्री अमृतचन्द्राचार्य के भी 'स्वस्य वस्तुत्वं प्रथयन् कर्मोदय विपाक प्रभवान भावान् सर्वानपि मुञ्चति। ततोऽयं नियमात् ज्ञान वैराग्याभ्यां संपन्नो भवति' अर्थात् अपने आपके वस्तुत्व को वास्तविक स्वरूप को अनुभव करता हुआ यह जीव कर्मोदय से उत्पन्न होनेवाले सभी प्रकार के विकारी भावों को छोड़कर उनसे रहित होता है। इसलिए यह सम्यग्दृष्टि नियम से ज्ञान और वैराग्य से सम्पन्न होता है। इसलिए निःसंकोच रूप से यह मान लेना चाहिए कि यहां पर वीतराग सम्यग्दृष्टि ही का वर्णन है किन्तु चतुर्थ गुणस्थान वर्ती सराग सम्यग्दृष्टि का नहीं है क्योंकि वह तो हर समय अविरत ही होता है, वैराग्य युक्त नहीं होता और न वास्तविक आत्मानुभव रूप ज्ञान युक्त होता है क्योंकि वह तो कभी सामायिकादि के समय शुद्धात्मा का चिंतवन मात्र कर पाता है।

आगे कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि सामान्यपने अपने और परके स्वभाव को कैसे जानता है:—

उदय विवागो विविहो कम्माणं वण्णिओ जिणवरेहिं।
ण दु ते मज्झ सहावा जाणगभावो दु अहमिक्को ॥२११॥

उदयविपाको विविधः कर्मणां वर्णितो जिनवरैः।
न तु ते मम स्वभावाः ज्ञायकभावस्त्वहमेकः ॥२११॥

अर्थ:—योगी जानते हैं कि श्री जिन भगवान ने कर्मों के रस का उदय अनेक प्रकार का बतलाया है वह सब मेरा स्वभाव नहीं है। मैं तो एक ज्ञायक स्वभाव वाला हूँ ॥२११॥

तात्पर्यवृत्तिः—**उदयविवागो विविहो कम्माणं वण्णिओ जिणवरेहिं** उदयविपाको विविधो नानाप्रकारः कर्मणां संबंधी वर्णितः कथितः, जिनवरैः **ण दु ते मज्झसहावा जाणगभावो दु अहमिक्को** ते कर्मोदयप्रकारा कर्मभेदा मम स्वभावा न भवंति, इति कस्मात्? इति चेत् टंकोत्कीर्णपरमानंद ज्ञायकैकस्वभावोऽहं यतः कारणात्। सम्यग्दृष्टिः सामान्येन स्वपरस्वरूपावेवं जानाति इति भणितं। कथं सामान्यं? इति चेत् क्रोधोहं मानोहमित्यादि विवक्षा नास्तीति। तदपि कथमिति चेत् "विवक्षाया अभावः सामान्यमिति वचनात्"। एवं भेदभावनारूपेण ज्ञान-वैराग्ययोः सामान्यव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथापंचकं गतं। इत ऊर्ध्वं गाथादशपर्यंतं पुनरपि ज्ञानवैराग्यशक्त्यर्विशेषविवरणं करोति। तद्यथा।

रागी सम्यग्दृष्टिर्न भवतीति कथयति—

टीका:—(उदय विवागो विविहो कम्माणं वण्णिदो जिणवरेहिं) ज्ञानावरणादि कर्मों के उदय का फल ज्ञान को ढकने आदि के भेद से अनेक प्रकार का श्री जिनेन्द्र भगवान ने बतलाया है। (ण दु ते मज्झ सहावा जाणगभावो दु अह मिक्को) वह कर्मोदय का प्रकार ज्ञानावरणादि रूपसे भेद वह मेरा स्वभाव नहीं है, क्योंकि मैं तो टांकी से उकेरी हुई वस्तु जैसे सदा एकसी रहती है वैसे ही सदा बने रहने वाले परमानंदमय और ज्ञायक एक स्वभाव का धारक हूँ। इस प्रकार से सम्यग्दृष्टि विरागी जीव सामान्य रूपसे अपने और परके स्वभाव को जानता है। सामान्य रूपसे क्यों कहा? उत्तर-मैं क्रोध रूप हूँ या मान रूप

है इस प्रकार की विवक्षा का अभाव है। जिसमें विवक्षा का अभाव हो उसे सामान्य कहते हैं ऐसा नियम है ।।२११।।

इस प्रकार भेदभावना रूपसे ज्ञान और वैराग्य दोनों का सामान्य व्याख्यान की मुख्यता से पांच गाथायें पूर्ण हुईं। इसके आगे १० गाथाओं तक फिर भी ज्ञान और वैराग्य शक्ति का विशेष वर्णन करते हैं।

आगे कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि जीव रागी नहीं होता है:—

परमाणुमित्तयं पि हु रागादीणं तु विज्जदे जस्स ।
णवि सो जाणदि अप्पाणयं तु सव्वागमधरोवि ।।२१२।।
अप्पाणमयाणंतो अणप्पयं चावि सो अयाणंतो ।
कह होदि सम्मदिट्ठी जीवाजीवे अयाणंतो ।।२१३।। (युग्मं)

परमाणुमात्रमपि खलु रागादीनां तु विद्यते यस्य ।
नापि स जानात्यात्मानं तु सर्वागमधरोऽपि ।।२१२।।
आत्मानमजानन् अनात्मानं चापि सोऽजानन् ।
कथं भवति सम्यग्दृष्टिर्जीवाजीवावजानन् ।।२१३।। (युग्मं)

अर्थः—जिसके रागादिकों का लेशमात्र भी विद्यमान है तो वह जीव सम्पूर्ण द्वादशांग शास्त्र का पारंगत होकर भी आत्मा को नहीं जान सकता। और जब आत्मा को नहीं जान सकता तो वह अन्य को भी नहीं जान सकता। एवं जो आत्मा और पर को नहीं जान सकता वह जीव और अजीव दोनों को भी नहीं जानने वाला सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है ? कभी नहीं हो सकता।

तात्पर्यवृत्तिः—परमाणुमित्तयंपि य रागादीणं तु विज्जदे जस्स परमाणुमात्रमपि रागादीनां तु विद्यते यस्य हृदये हु स्फुटं **णवि सो जाणदि अप्पाणयं तु सव्वागमधरोवि** सतु परमात्मतत्वज्ञानाभावात्, शुद्धबुद्धैकस्वभावं परमात्मानं न जानाति, नानुभवति। कथंभूतोऽपि सर्वागमधरोऽपि सिद्धांत सिंधुपारगोऽपि। **अप्पाणमयाणंतो अणप्पयं चेव सो अयाणंतो** स्वसंवेदनज्ञानवलेन सहजानंदैकस्वभावं शुद्धात्मानमजानन्, तथैवाभावयंश्च शुद्धात्मनो भिन्नरागादिरूपमनात्मानं चाजानन् **कह होदि सम्मदिट्ठी जीवाजीवो अयाणंतो** स पुरुषो जीवाजीवस्वरूपमजानन् सन् कथं भवति सम्यग्दृष्टिः ? न कथमपीति।

रागी सम्यग्दृष्टिर्न भवतीति भणितं भवद्भिः। तर्हि चतुर्थपंचमगुणस्थानवर्तिनः, तीर्थंकर कुमारभरत-सगर-राम-पांडवादयः सम्यग्दृष्टयो न भवंति ?, इति। तन्न मिथ्यादृष्टयपेक्षया त्रिचत्वारिंशत्प्रकृतीनां बंधाभावात् सरागसम्यग्दृष्टयो भवंति। कथ ? इति चेत् चतुर्थगुणस्थानवर्तिनां जीवानां अनंतानुबंधि क्रोधमानमायालोभमिथ्यात्वोदयजनितानां पाषाणरेखादिसमानानां रागादीनामभावात्। पंचमगुणस्थानवर्तिनां पुनर्जीवानां, अप्रत्याख्यानक्रोधमानमायालोभोदयजनितानां भूमिरेखादिसमानानां रागादीनामभावात्, इति पूर्वमेव भणितमास्ते। अत्र तु ग्रन्थे पंचमगुणस्थानादुपरितनगुणस्थानवर्तिनां वीतरागसम्यग्दृष्टीनां मुख्यवृत्त्या ग्रहणं सरागसम्यग्दृष्टिनां गौणवृत्त्येति व्याख्यानं सम्यग्दृष्टिव्याख्यानकाले सर्वत्र तात्पर्येण ज्ञातव्यं अथ भाविनं भोगं ज्ञानी न कांक्षतीति कथयति—

टीका:—(परमाणुमित्तयं पि हु रागादीणं तु विज्जदे जस्स) जिसके हृदयमें रागादि विकार भावों का स्पष्टरूप से जरासा लेश भी यदि विद्यमान है (ण वि सो जाणदि अप्पाणयं तु सव्वागमधरोवि) तो वह परमात्म तत्व का नहीं जानने वाला होने से द्वादशांगमय सम्पूर्णशास्त्रों का पारगामी होकर भी शुद्ध बुद्धरूप एक स्वभाववाले आत्मा को नहीं जानता-अनुभव नहीं करता है अतः (अप्पाणमयाणंतो अणप्पयं चावि सो अयाणंतो) स्वसंवेदन ज्ञानके बल से सहजानन्द रूप एक स्वभाववाले शुद्धात्मा को नहीं जानता हुआ तथा भावना नहीं करता हुआ वह शुद्धात्मा से भिन्न जो रागादिरूप अनात्मा को भी नहीं जानता हुआ (कह होदि सम्मदिट्ठी जीवाजीवे अयाणंतो) वह जीव जब जीव और अजीव के स्वरूप को नहीं जानता है तो वह सम्यग्दृष्टि किस प्रकार हो सकता है ? इस पर यह शंका हो सकती है कि जब रागी सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता है तब क्या चतुर्थ व पंचमगुणस्थानवर्ती कुमार अवस्था के तीर्थंकर, भरत, सगर चक्री, रामचन्द्र व पाण्डवादि सम्यग्दृष्टि नहीं होने चाहिये ? क्योंकि उनके राग तो स्पष्ट ही होता है । इसका उत्तर आचार्य देते हैं कि यह बात नहीं है । मिथ्यादृष्टि की अपेक्षासे अल्प बन्ध होता है क्योंकि मिथ्यात्वादि ४३ प्रकृतियों का उनके बन्ध नहीं होता । इसलिए सराग सम्यग्दृष्टि होते हैं क्योंकि चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीवों के अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ और मिथ्यात्वके उदय से होनेवाले पाषाण रेखा के समान रागादि भावों का अभाव होता है तथा पंचम गुणस्थानवर्ती जीवों के अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ के उदय से होने वाले भूमि रेखा के समान रागादिकों का अभाव होता है यह बात पहले भी समझा चुके हैं । किन्तु इस ग्रंथमें तो पंचम गुणस्थानवर्ती जीवों से ऊपर के गुणस्थानवर्ती वीतराग सम्यग्दृष्टि जीवों को ही मुख्यता से ग्रहण किया है । सराग सम्यग्दृष्टियों को यहाँ पर गौण रक्खा गया है । ऐसा जहाँ भी इस ग्रन्थमें सम्यग्दृष्टि का प्रसंग आवे वहां सर्व ठिकाने ऐसा समझना चाहिए ।।२१२-२१३।।

विशेषार्थ:—आचार्य कहते हैं कि जिसके हृदय में कुछ भी राग का अंश है तो उसका मन उस राग से अनुलिप्त है । अतएव वह अपने आप का शुद्ध अनुभव नहीं कर सकता है । जो अपने आप का शुद्ध अनुभव नहीं कर सकता वह आत्मा से भिन्न रहने वाले अकेले राग का भी अनुभव नहीं कर सकता वह तो दोनों का मिश्रित अनुभव ही करता रहेगा । तब फिर सही सही अनुभव करनेवाला सम्यग्दृष्टि कैसे कहा जा सकता है । तात्पर्य यह है कि यहाँ पर दृष्टि शब्द का अर्थ श्रद्धारूप न लेकर अनुभूतिरूप लिया है । अनुभव तो प्राणी स्वयं जिस अवस्था में होता है उसी अवस्था का किया करता है । जैसे जो दुःखी होता है वह अपने आप को दुःखी और जो सुखी होता है वह अपने आपको सुखी अनुभव करता है । इसी प्रकार रागसहित अशुद्ध अवस्थामें अपने आप का अशुद्ध ही अनुभव होगा । ऐसी दशामें वह सम्यग्दृष्टि सही अनुभव कर्त्ता कैसे हुआ ? हाँ जहाँ दृष्टि शब्द का अर्थ श्रद्धा लिया जाता है वहाँ सराग दशा में अपने आपको रागादि सहित अनुभव करते समय भी शुद्ध हो सकने का श्रद्धान होने से कि मै हूँ तो वर्तमान में रागादि भावों से लिप्त होने के कारण से अशुद्ध किन्तु ये तो सब संयोगी भाव हैं अतः इन्हें दूर हटाकर शुद्ध हो सकता हूँ इत्यादि सम्यग्दृष्टिपन बन सकता है किन्तु वह अर्थ यहाँ पर अभीष्ट नहीं है ।

आगे कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि भोगों की वांछा नहीं करता है:—

जो वेददि वेदिज्जदि समये समये विणस्सदे उहयं ।
तं जाणगो दु णाणी उभयमवि ण कंखदि कयावि ।।२१४।।

यो वेदयते वेद्यते समये समये विनश्यतुभयं ।
तद् ज्ञायकस्तु ज्ञानी उभयमपि न कांक्षति कदाचित् ।।२१४।।

अर्थः— जो राग पूर्वक जानने वाला भाव है और जो उसके द्वारा जाना जाता है ये दोनों ही समय २ पर विनाश हो जाते हैं । इन दोनों में से जो किसी को भी अंगीकार नहीं करता है किन्तु केवल ज्ञायक मात्र होकर रहता है वह ज्ञानी होता है ।।२१४।।

तात्पर्यवृत्तिः—जो वेददि वेदिज्जदि समये समये विणस्सदे उहयं योसौ रागादिविकल्पः कर्ता वेदयत्यनुभवति यस्तु सातोदयः कर्मतापन्नं वेद्यते तेन रागादिविकल्पेन अनुभूयते । तदुभयमपि अर्थपर्यायापेक्षया समयं समयं प्रति विनश्वरं **तं जाणगो दु णाणी उभयमवि ण कंखदि कयावि** तदुभयमपि वेद्यवेदकरूपं वर्तमानं भाविनं च विनश्वरं जानन् सन् तत्त्वज्ञानी नाकांक्षति न वांछति कदाचिदपि । अथ तथैवापध्यानरूपाणि निष्प्रयोजनबंधनिमित्तानि शरीरविषये भोगनिमित्तानि च रागाद्यध्यवसानानि परमात्मतत्त्ववेदी न वांछति, इति प्रतिपादयति—

टीकाः—(जो वेददि वेदिज्जदि समये समये विणस्सदे उहयं) जो कोई रागादि रूप विकल्प हैं वह तो वेदन करने वाला, अर्थात् अनुभव करने वाला है अतः कर्त्ता है, और जो साता के उदय से होने वाला कर्म रूप भाव रागादि विकल्प से अनुभव किया जाता है । वे दोनों ही भाव अर्थ पर्याय की अपेक्षा से अपने अपने समय में होकर नष्ट हो जाते हैं । क्षणिक (तं जाणगो दु णाणी उभय मवि ण कंखदि कयावि) अतएव वर्तमान में व आगामी काल में भी होने वाले वेद्य वेदक रूप दोनों भावों को विनश्वर जानता हुआ तत्वज्ञानी जीव उन दोनों में से किसी को भी कभी भी नहीं चाहता है ।।२१४।।

विशेषार्थ—वेद्य वेदक भाव आत्मा का स्वभाव न होकर विभाव भाव है जो कि क्रम से होने वाला होकर क्षण नश्वर है । जिसकी वांछा है ऐसा वेद्यभाव हुआ तो वेदक भाव नहीं है और जब वेदक भाव हुआ तब वेद्य भाव नहीं रहा वह नष्ट हो गया । ऐसे सहान वस्थान होने से वांछित सिद्धि तो होती नहीं तब ज्ञानी जीव निष्फल वांछा कैसे करे ? नहीं करे जैसा कि अमृतचन्द्राचार्य ने कलश में भी कहा है-

वेद्य वेदक विभाव चलत्वाद्वेद्यते न खलु कांक्षित मेव
तेन कांक्षति न किंचन विद्वान् सर्वतोप्यति विरक्ति मुपैति ।।१४७।।

अर्थात् संसार की इन दृश्यमान क्षणिक वस्तुओं को वेद्य अर्थात् अनुभव करने योग्य-भोगने योग्य समझकर अपने आपको वेदक अर्थात् अनुभव न करने वाला भोगने वाला स्थापन करना सो असम्बद्ध है किसी भी प्रकार घटित नहीं होता । अतः उस वेद्य वेदक भाव को जो कभी नहीं चाहता-स्मरण भी नहीं करता है किन्तु इन सांसारिक वस्तुओं से अत्यन्त विरक्त हो रहता है--दूर हो रहता है वही विद्वान अर्थात् ज्ञानी है ।

आगे कहते हैं कि जो रागादिरूप अध्यवसान भाव हैं वे सभी दुर्ध्यानात्मक हैं अतः संसार में निष्प्रयोजन बंध के कारण बनते हैं उनमें से जो शरीर के संबंध को लेकर भोग के निमित्त बनते हैं उन सभी भावों को परमात्म तत्व वेदी जीव कभी नहीं चाहता है:--

बंधुवभोगणिमित्तं अज्झवसाणोदएसु णाणिस्स ।
संसारदेहविसएसु णेव उपज्जदे रागो ।।२१५।।

बंधोपभोग निमित्तेषु, अध्यावसानोदयेषु ज्ञानिनः ।
संसार देह विषयेषु नैवोत्पद्यते रागः ।।२१५।।

अर्थ:---बंधके व उपभोग के निमित्त भूत ऐसे दो प्रकार के अध्यवसान के उदय होते हैं जो कि संसार और देह विषयक होते हैं उनमें ज्ञानी जीव के कभी राग पैदा नहीं होता ।।२१५।।

तात्पर्यवृत्तिः--बंधुवभोगणिमित्तं अज्झवसाणोदयेसु णाणिस्सणेव उप्पज्जदे रागो स्वसंवेदनज्ञानिनो जीवस्य रागाद्युदयरूपेषु, अध्यवसानेषु बंधनिमित्तं भोगनिमित्तं वा नैवोत्पद्यते रागः । कथंभूतेष्वध्यवसानेषु ? **संसार देहविसएसु** निष्प्रयोजनबंधनिमितेषु संसारविषयेषु, भोगनिमित्तेषु देहविषयेषु वा । इहमत्र तात्पर्यं भोगनिमित्तं स्तोकमेव पापं करोत्ययं जीवः । निष्प्रयोजनापध्यानेन बहुतरं करोति शालिमत्स्यवत् । तथा चोक्तमध्यानलक्षणं---

बंधवधच्छेदादेर्द्वेषाद्रागाच्च परकलत्रादेः आध्यानमपध्यानं शासति जिनशासने विशदाः । ।।६।। इति अपध्याने कर्म बध्नाति तदप्युक्तमास्ते--

संकल्पकल्पतरुसंश्रयणात्वदीयं चेतो निमज्जति मनोरथसागरेऽस्मिन् ।
तत्रार्थतस्तव चकास्ति न किंचनापि पक्षः परं भवसि कल्मषसंश्रयस्य ।।१।।
दौर्विध्यदग्धमनसोऽन्तरुपात्तभुक्तेश्चित्तं यथोल्लसति ते स्फुरितान्तरंगं ।
धाम्नि स्फुरेद्यदि तथा परमात्मसंज्ञे कौतुस्कुती तव भवेद्विफला प्रसूतिः ।।२।।

आचारशास्त्रे भणितं--

कंखदि कलुसिदभूदो दुकामभोगेहिं मुच्छिदो संतो ।
जय भुंजंतो भोगे बंधदि भावेण कम्माणि ।। १ ।।

इति ज्ञात्वा, अपध्यानं त्यक्त्वा ज शुद्धात्मस्वरूपे स्यातव्यमिति भावार्थः ।

अथ मिथ्यात्वरागादिरूपमपध्यानं मम परिग्रहो न भवति, इति पुनरपि भेदज्ञानशक्ति वैराग्य शक्ति च प्रकटयति---

टीका:—(बंधुवभोगणिमित्तं अज्झवसाणो दएसु णाणिस्स णेव उपज्जदे रागो) स्वसंवेदन ज्ञानी जीव के रागादि भावों के उदय रूप अध्यवसान बन्ध के निमित्त और भोग के निमित्त रागपैदा नहीं करता वे अध्यवसान कैसे होते हैं कि ? (संसार देह विसयेसु) कुछ तो संसार को लक्ष्य में लेकर बिना प्रयोजन ही बंध के करने वाले रहते हैं और कुछ वर्तमान शरीर को लक्ष्य में लेकर भोगों के निमित्त

बनते हैं। यहां यह तात्पर्य है कि यह जीव भोगों के निमित्त तो बहुत कम पाप करता है किन्तु शालि मत्स्य के समान बिना ही प्रयोजन अपने दुर्विचार से घोर पार करता है जैनागम में अपध्यान का लक्षण ऐसा कहा गया है—

"बधबन्धच्छेदादेर्द्वेषाद्रागाच्चपर कलत्रादे: आध्यानमपध्यानं शासति जिनशासने विशदा: ।

अर्थ—किसी भी प्रकार के बैर के कारण या अपने विषय साधने के राग के वश हो कर दूसरों के स्त्री पुत्रादिक का बांधना, मारडालना या नाक आदि छेद डालना आदि का चिन्तन करना उसको जिन शासन में प्रवीण लोगों ने अपध्यान कहा है। इससे यह जीव घोर कर्म बन्ध करता है जैसा कि लिखा है--

संकल्प कल्पतरु संश्रयणात् त्वदीयं, चेतो निमज्जति मनोरथ सागरेऽस्मिन् ।
तत्रार्थं तस्तव चकास्ति न किंचनापि, पक्ष: परं भवसि कष्मल संश्रयस्य ।।

अर्थ:—संसार की मोहमाया में फंसे हुए प्राणी को लक्ष्य में लेकर आचार्य महाराज कहते है कि हे भाई! अनेक प्रकार के संकल्प विकल्पों में फंसकर जो तेरा मन नाना प्रकार की इच्छायें करता रहता है, उससे तेरा प्रयोजन तो कोई सिद्ध होता नहीं, केवल मात्र पाप का संचय होता रहता है।

दौर्विध्यदग्ध मनसोऽन्तरूपात्तभुक्ते, श्चित्तंयथोल्लसतिते स्फुरित्तोत्तरंगं ।
धाम्नि स्फुरेद्यपि तथा परमात्म संज्ञे, कौतुस्कुती तव भावेद्विफला प्रसूतिः ।।

हे भाई ! दुर्भाग्य से खाने पीने आदि के विषय में लालायित होकर तेरा मन दौड़ धूप मचाता फिरता है, वैसा ही यदि परमात्म स्मरण में लग जाय तो फिर सारे झंझट दूर हो जावे। इसी प्रकार आचार शास्त्र में भी लिखा है—

कंखिद कलुसिद भूदो, दु काम भोगेहिं मुच्छिदो संतो ।
णय भूंजंतो भोगे बंधदि भावेण कम्माणि ।।

अर्थ:—इन दुष्ट काम भोगों की वासनाओं में फंसा हुआ मनुष्य का मलीन मन नाना प्रकार की इच्छायें करता है उससे भोगों को न भोगता हुआ भी अपने उस दुर्भाव के द्वारा कर्म बंध करता ही रहता है, ऐसा जानकर अपध्यान का त्यागकर शुद्धात्मा के स्वरूप में लगा रहना चाहिये।

विशेषार्थ:—यहां पर आचार्य देव ने यह स्पष्ट कर दिखाया है कि जो संसार और देह भोगों से सर्वथा विरक्त होता है और जिसके किसी भी प्रकार का आर्त्तभाव व रौद्रभाव नहीं होता है वही ज्ञानी होता है। ऐसा अप्रमत्त दशा में ही होता है उसके पहले नहीं। यहां शंका हो सकती है कि दर्शन प्रतिमाधारी श्रावक भी तो संसार देह और भोगों से विरक्त होता है जैसा कि रत्नकरंड श्रावकाचार में लिखा है—"सम्यग्दर्शन शुद्धः, संसार शरीर भोग निर्विण्णः। पंच गुरू चरण शरणो, दार्शनिकस्तत्व पथ गृह्यः ।। इसका उत्तर यह है कि यहां पर "निर्विण्ण" शब्द है उसका अर्थ विरक्त नहीं है किन्तु उद्विग्न अर्थात् अनासक्त ऐसा अर्थ है जो कि ठीक है। क्योंकि अव्रत सम्यग्दृष्टि जीव भी घोर मिथ्यादृष्टि के समान संसार शरीर और भोगों में आसक्त नहीं होता किन्तु उन्हें स्वीकार किये हुए होकर भी उनसे भयभीत सा रहता है। अपितु विरक्त का अर्थ तो छोड़े हुए--उनसे दूर रहने वाला अर्थात् त्यागी ऐसा होता है जो कि अव्रत या देश विरत के

साथ में ठीक नहीं बैठता प्रत्युत यहां पर तो ज्ञानी को सब प्रकार के परिग्रह से रहित होकर आत्म तल्लीन रहने वाला बतला आये हैं।

फिर भी दिखलाते हैं कि भेदज्ञान शक्ति व वैराग्य शक्ति की ऐसी महिमा है:—

मज्झं परिग्गहो जदि तदो अहमजीवदं तु गच्छेज्ज।
णादेव अहं जह्मा तह्मा ण परिग्गहो मज्झ ।।२१६।।

मम परिग्रहो यदि ततोऽहमजीवतां तु गच्छेयं।
ज्ञातैवाहं यस्मात्तस्मान्न परिग्रहो मम ।।२१६।।

अर्थ—यदि यह शरीरादिक परद्रव्य भी मेरा परिग्रह हो जाय तो फिर मैं भी अजीव पने को प्राप्त हो जाऊं। किन्तु मैं तो ज्ञाता ही हूँ इसलिये यह सब कुछ मेरा परिग्रह नहीं है ।।२१६।।

तात्पर्यवृत्तिः—मज्झं परिग्गहो जदि तदो अहमजीविदं तु गच्छेज्ज सहजशुद्धकेवलज्ञानदर्शनस्वभावस्य मम यदि मिथ्यात्वरागादिकं परद्रव्यं परिग्रहो भवति ततोऽहं, अजीवत्वं जडत्वं गच्छामि। न चाहं अजीवो भवामि। **णादेव अहं जह्मा तह्मा ण परिग्गहो मज्झ** परमात्मज्ञानपदमेवाहं यस्मात्ततः परद्रव्यं मम परिग्रहो न भवतीत्यर्थः।

अथ किं तत्परमात्मपदमिति पृच्छति—

टीकाः—(मज्झं परिग्गहो जदि तदो अहमजीविदं तु गच्छेज्ज) मैं तो सहज शुद्ध केवल मात्र ज्ञान और दर्शन स्वभाव वाला हूँ। अतः मिथ्यात्व व रागादिकरूप पर द्रव्य मेरा परिग्रह हो जाय तो मैं अजीव पने को अर्थात् जड़ पने को प्राप्त हो जाऊं परन्तु मै अजीव नहीं हूँ।(णादेव अहं जह्मा तह्मा ण परिग्गहो मज्झ) मैं तो परमात्मस्वरूप शुद्ध ज्ञानमई हूँ इसलिये यह शरीरादिक पर द्रव्य मेरा परिग्रह नहीं है ।।२१६।।

वह परमात्मपद क्या है ? इसका समाधान आचार्य करते हैं।

आदह्मि दव्वभावे अथिरे मोत्तूण गिण्ह तव णियदं।
थिरमेगमिमं भावं उवलब्भंतं सहावेण ।।२१७।।

आत्मनि द्रव्यभावान्य स्थिराणि मुक्त्वा गृहाण तव नियतं।
स्थिरमेकमिमं भावं उपलभ्यमानं स्वभावेन ।।२१७।।

अर्थ—आत्मा में जो द्रव्य और भाव कर्म हैं उनको अथिर जान करके छोड़ दे और अपने ही निश्चित, स्थिर, एक, स्वभाव से अनुभवने योग्य इस प्रत्यक्षीभूत आत्म पदार्थ को ग्रहण कर ।।२१७।।

तात्पर्यवृत्तिः—आदह्मि दव्वभावे अथिरे मोत्तूण आत्मद्रव्येऽधिकरणभूते, द्रव्यकर्माणि भावकर्माणि च यानि तिष्टंति तानि विनश्वराणि, इति विज्ञाय मुक्त्वा **गिण्ह** हे भव्य गृहाण स्वीकुरु क ? कर्मता पन्नं तव **णियदं थिरमेगमिमं भावं उपलब्भंतं सहावेण** भावं, आत्मपदार्थं कथंभूतं ? तव, संबंधिस्वरूपं । नियतं, निश्चतं । पुनरपि कथंभूतं ? स्थिरं, अविनश्वरं । एकं, असहायं । इदं प्रत्यक्षीभूतं । पुनरपि किं विशिष्टं ? उपलभ्यमानं, । केन कृत्वा ? परमात्मसुखसंवित्तिरूपस्वसंवेदनज्ञानस्वभावेनेति ।

अथ ज्ञानी परद्रव्यं जानातीति भेदभावनां प्रतिपादयति–

टीका:—(आदह्मि दव्वभावे अथिरे मोत्तूण) अधिकरणभूत आत्मद्रव्य में द्रव्य कर्म और भावकर्म हैं उनको विनाश होनेवाले अथिर जानकर छोड़दे (गिण्ह तव णियदं थिरमेकमिदं भावं उवलंभंतं सहावेण) और हे भव्य: तू तेरे स्वभाव को ग्रहण कर जोकि तेरा स्वभाव निश्चित है, सदा एकसा रहनेवाला है, पर की सहायता से रहित है और स्पष्ट रूप से तेरे अनुभव में आने वाला है । अर्थात् परमोत्कृष्ट आत्म सम्बन्धी सुख का संवेदन ही है स्वरूप जिसका ऐसे स्वसंवेदन ज्ञान स्वभाव के द्वारा जाना जाता है ।।२१७।।

विशेषार्थ:—जिनका पहले वर्णन किया जा चुका है वे वर्ण को आदि लेकर गुणस्थान तक सभी भाव आत्मा में होकर भी अनियत अनेक रूप, क्षणिक स्थिति वाले तथा व्यभिचार स्वरूप है अतः आत्मा के पद नहीं है । किन्तु जो स्वसंवेदन स्वरूप ज्ञान है वह नियत है, एक है, नित्य है, अव्यभिचारी है, सदा बना रहने वाला है वही आत्मा का पद है । वही ज्ञानी के द्वारा अनुभव करने योग्य है ।

आगे ज्ञानी परद्रव्य को जानता है (ग्रहण नहीं करता) इस भेदभावना को बतलाते हैं:—

को णाम भणिज्ज बुहो परदव्वं ममभिदं हवदि दव्वं ।
अप्पाणमप्पणो परिग्गहं तु णियदं वियाणंतो ।। २१८ ।।

को नाम भणेद्‌बुधः परद्रव्यं ममेदं भवति द्रव्यं ।
आत्मानमात्मनः परिग्रहं तु नियतं विजानन् ।। २१८ ।।

अर्थ—कौन ज्ञानी है जो परद्रव्य को भी यह मेरा द्रव्य है इस प्रकार कहता रहे । क्योंकि वह तो नियम से अपने आपको ही अपना परिग्रह जानता हुआ ही रहता है ।। २१८ ।।

तात्पर्यवृत्तिः—को णाम भणिज्ज बुहो परदव्वं ममभिदं हवदि दव्वं परद्रव्यं मम भवतीति नाम स्फुटमहो वा को ब्रूयात्? बुधो ज्ञानी न कोपि । किं कुर्वन् ? **अप्पाणमप्पणो परिग्गहं तु णियदं वियाणंतो** चिदानंदैकस्वभावशुद्धात्मानमेव, आत्मनः परिग्रहं विजानन् नियतं निश्चितमिति ।

अथायं च मे निश्चयः, देहरागादि मम परिग्रहो न भवतीति भेदज्ञानं निरूपयति—

टीका:—(को णाम भणिज्ज बुहो परदव्वं ममभिदं हवदि दव्वं) वह कौनसा ज्ञानी है जो पर द्रव्य को भी कि यह मेरा द्रव्य है ऐसा स्पष्ट रूप से कहता रहे किन्तु कोई ज्ञानी भी ऐसा नहीं करे । (अप्पाण

अप्पणो परिग्गहं तु णियदं वियाणंतो) क्योंकि वह तो निश्चित रूप से चिदानंद ही है एक स्वभाव जिसका ऐसे शुद्धात्मा को ही अपना परिग्रह जानता रहता है।

आगे कहते हैं कि ये शरीरादि पर द्रव्य मेरा परिग्रह नहीं है। इसी बात को और भी दृढ़ता से कहते हैं—

छिज्जदु वा भिज्जदु वा णिज्जदु वा अहव जादु विप्पलयं।
जह्मा तह्मा गच्छदु तहावि ण परिग्गहो मज्झ ।।२१९।।

छिद्यतां वा भिद्यतां वा नीयतां अथवा यातु विप्रलयं।
यस्मात्तस्माद् गच्छतु तथापि परिग्रहो मम ।। २१९ ।।

अर्थ—यह शरीरादिक पर द्रव्य भले ही छिद जावो, भिदजावो, अथवा कोई इसे ले जावो, अथवा नष्ट हो जावो, जिस किसी दशा को भी प्राप्त हो जावो तो भी यह तो मेरा परिग्रह नहीं है यह निश्चित है। इस प्रकार विचार कर ज्ञानी तो अपने स्वस्थ (अपने स्वभाव में) रहता है।। २१९ ।।

तात्पर्यवृत्तिः—**छिज्जदु वा भिज्जदु वा णिज्जदु वा अहव जादु विप्पलयं** छिद्यतां वा द्विधा भवतु, भिद्यतां वा छिद्री भवतु, नीयतां वा केन चित्। अथवा विप्रलयं विनाशं गच्छतु, एवमेव **जह्मा तह्मा गच्छदु तहावि ण परिग्गहो मज्झ** अन्यस्मात् यस्मात् तस्मात् कारणाद्वा गच्छतु तथापि शरीरं मम परिग्रहो न भवति। कस्मात्? इति चेत् टंकोत्कीर्णपरमानंदज्ञायकैकस्वभावोहं, यतः कारणात्। अयं च मे निश्चयः।

अथात्मसुखे संतोषं दर्शयति—

टीका:—(छिज्जदु वा भिज्जदु वा णिज्जदु वा अहव जादु विप्पलयं) भले ही यह शरीर छिद जावे, दो टुकड़े हो जावें, चाहे यह भिद जावे अर्थात् नाना छेद वाला बन जावे, इसे कोई कहीं ले जावे, अथवा नष्ट हो जावे। (जम्हा तम्हा गच्छदु तहावि ण परिग्गहो मज्झ) भले ही इसकी ऐसी वैसी दशा क्यों न हो जावे, इसका मुझे कोई भी विचार नहीं क्योंकि यह शरीर मेरा परिग्रह नहीं हैं। मै तो टांकी से उकीरे हुए के समान सदा एकसा रहने वाला एवं परमानन्द ज्ञायक एक स्वभाव का धारक हूं अर्थात् में तो इससे सर्वथा भिन्न स्वभाव वाला हूँ यह मेरा दृढ़ निश्चय है।। २१९।।

आत्म सुख में ही संतोष है ऐसा बतलाते हैं।

एदह्मि रदो णिच्चं संतुट्ठो होहि णिच्चमेदह्मि।
एदेण होहि तित्तो तो होहदि उत्तमं सोक्खं।। २२० ।।

एतस्मिन् रतो नित्यं संतुष्टो भव नित्यमेतस्मिन्।
एतेन भव तृप्तो तर्हि भविष्यति तवोत्तमं सौख्यं।। २२० ।।

अर्थ—हे आत्मन्! यदि तू सुख चाहता है तो उसी आत्मानुभव रूप ज्ञान में तल्लीन होकर रह। उसी में

सदा के लिए संतोष धारण कर और उसी के द्वारा तृप्त हो और सब इच्छाओं को छोड़ तभी तुझे सदा बना रहने वाला उत्तम सुख प्राप्त होगा ।। २२० ।।

तात्पर्यवृत्तिः—एदह्मि रदो णिच्चं संतुट्ठो होहि णिच्चमेदह्मि एदेण होहि तित्तो हे भव्य पंचेंद्रियसुखनिवृत्तिं कृत्वा निर्विकल्पयोगबलेन स्वाभाविकपरमात्मसुखे रतो भव संतुष्टो भव, तृप्तो भव, नित्यं सर्वकालं **तो होहदि उत्तमं सुक्खं** ततस्तस्मादात्मसुखानुभवनात् तवोत्तममक्षयं मोक्षसुखं भविष्यति ।

अथ मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलज्ञानाभेदरूपं परमार्थसंज्ञं मोक्षकारणभूतं यत्परमात्मपदं तत्समस्तहर्षविषादादिविकल्पजालरहितं परमयोगाभ्यासादेवात्मानुभवति, इति प्रतिपादयतिः—

टीका—(एदह्मि रदो किच्चं संतुट्ठो होहि णिच्चमेदह्मि एदेण होहि तित्तो) हे भव्य । तू पंचेन्द्रिय जन्य सुखको छोड़कर निर्विकल्प स्वरूप आत्मध्यान के बल से सहज स्वाभाविक और सर्वोत्कृष्ट आत्म सुख में लीन हो, संतुष्ट बन एवं सदा के लिए तृप्त हो रह। (तो होहदि उत्तमं सोक्खं) उस आत्म सुख के अनुभव करने से तुझे सदा बना रहने वाला मोक्ष सुख प्राप्त होगा ।। २२० ।।

विशेषार्थ—ज्ञानी को संबोधन करके आचार्य देव कहते हैं कि हे भाई ! यदि तू ज्ञानी बना रहना चाहता है तो आत्मा के सिवाय इतर सभी वस्तुओं को भूलकर केवलमात्र आत्मध्यान में तल्लीन हो रहना चाहिये तभी तू ज्ञानी कहलाने का अधिकारी बन सकता है ।

आगे कहते हैं कि जिस परमार्थरूप मोक्ष के कारण भूत पदमें मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, और केवलज्ञान भेद नहीं हैं वह परमात्म पद हर्ष विषाद आदि सभी प्रकार के विकल्प जाल से रहित है। उस परम पद को यह आत्मा परम योगाभ्यास से ही अनुभव करता है—

आभिणिसुदोहिमणकेवलं च तं होदि एक्कमेव पदं ।
सो एसो परमट्ठो जं लहिदुं णिव्वुदिं जादि ।।२२१।।
आभिनिबोधिक श्रुतावधिमनःपर्ययकेवलं च तद्भवत्येकमेव पदं ।
स एष परमार्थो यं लब्ध्वा निर्वृत्तिं याति ।।२२१।।

अर्थ—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान इस प्रकार जिसके भेद किये जा सकते हैं वह ज्ञान सामान्यतया एक है जो कि परमार्थ रूप है उसे प्राप्त करके ही आत्मा मुक्ति प्राप्त करता है ।।२२१।।

तात्पर्यवृत्तिः—आभिणिसुदोहिमणकेवलं च तं होदि एक्कमेव पदं मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलज्ञानभेदरूपं यत्तन्निश्चयेन, एकमेव पदं । परं किं तु यथादित्यस्य मेघावरणतारतम्यवशेन प्रकाशभेदा भवंति । तथा मतिज्ञानावरणादिभेदकर्मवशेन मतिश्रुतज्ञानादि भेदभिन्नं जातं **सो ऐसो परमट्ठो जं लहिदुं णिव्वुदिं जादि** स एष लोकप्रसिद्धः पंचज्ञानाभेदरूपः परमार्थः यं परमार्थं लब्ध्वा जीवो निर्वृतिं याति लभत इत्यर्थः । एवं ज्ञानशक्तिवैराग्यशक्तिविशेषविवरणरूपेण सूत्रदशकं गतं । अत ऊर्ध्वं गाथाष्टकपर्यंतं तस्यैव परमात्मपदस्य प्रकाशको योसौ ज्ञानगुणः, तस्य सामान्यविवरणं करोति । तद्यथा

अथ मत्यादिपंचज्ञानाभेदरूपं साक्षान्मोक्षकारणभूतं यत्परमात्मपदं, तत्पदं शुद्धात्मानुभूतिशून्यं व्रततपश्चरणादिकायक्लेशं कुर्वाणा अपि स्वसंवेदनज्ञानगुणेन विना न लभंते इति कथयति—

टीका—(आभिणि सुदोहि मरण केवलं च तं होदि एक्कमेव पदं) मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान के नाम से भेद होकर भी वास्तव में एक रूप ही रहता है। जैसे मेघों के द्वारा आच्छादन होने के तारतम्य के भेद से सूर्य प्रकाश में भेद हो जाते हैं वैसे ही मतिज्ञानावरणादि भेदवाले कर्म के वश से जिसमें मतिश्रुतादि भेद हो जाते हैं। (सो एसो परमट्ठो जं लहिदुं णिव्वुदिं जादि) इन लोक प्रसिद्ध पांच भेदों के द्वारा भी जो भेद को प्राप्त नहीं होता वह परमार्थरूप ज्ञान सामान्य है जिसको प्राप्त करके यह जीव निर्वाण को प्राप्त होता है ॥२२१॥

इस प्रकार ज्ञानशक्ति और वैराग्य शक्ति का विशेष वर्णन करने में दश गाथायें पूर्ण हुईं। आगे आठ गाथाओं में उसही परमात्मपद का प्रकाश करने वाला जो ज्ञान गुण है उसका सामान्य वर्णन करते है।

अब सबसे प्रथम यह बताते हैं कि मत्यादि पांच ज्ञानों के द्वारा भी जिसका भेद नहीं हो पाता है जो साक्षात् मोक्ष का कारणभूत है और परमात्मपद स्वरूप है उस पद को शुद्धात्मा की अनुभूति से शून्य केवलमात्र कायक्लेशादि रूप व्रत तपश्चरणादि करने वाले नहीं प्राप्त कर सकते क्योंकि वे स्वसंवेदन ज्ञान से हीन हैं:—

णाणगुणेहिं विहीणा एदं तु पदं बहूवि ण लहंति ।
तं गिण्ह सुपदमेदं जदि इच्छसि कम्मपरिमोक्खं ॥२२२॥

ज्ञान गुणैर्विहीना एतत्तु पदं बहवोऽपि न लभंते ।
तद्गृहाण सुपदमिदं यदीच्छसि कर्मपरिमोक्षं ॥२२२॥

अर्थ—हे आत्मन् ! यदि तु कर्मों से सर्वथा मुक्त होना चाहता है तो उस निश्चित ज्ञान को ग्रहण कर क्योंकि ज्ञानगुण से रहित बहुत पुरुष अनेक प्रकार के कर्म करते रहकर भी इस ज्ञान स्वरूप पद को नहीं प्राप्त होते हैं ॥२२२॥

तात्पर्यवृत्तिः—**णाणगुणेहिं विहीणा एदं तु पदं बहूवि ण लहंति** निर्विकारपरमात्मतत्वोपलब्धिलक्षण-ज्ञानगुणेन विहीनाः, रहिताः पुरुषाः, बहवोऽपि शुद्धात्मोपादेयसंवित्तिरहितं दुर्धरकायक्लेशादितपश्चरणं कुर्वाणा अपि मत्यादिपंचज्ञानाभेदरूपं साक्षान्मोक्षकारणं स्वसंवेद्यं शुद्धात्मसंवित्तिविलक्षणमिदं पदं न लभंते। **तं गिण्ह सुपदमेदं जदि इच्छसि कम्मपरिमोक्खं** हे भव्य तत्पदं गृहाण यदीच्छसि कर्मपरिमोक्षमिति।

अथ विशेषपरिग्रहत्यागरूपेण तमेव ज्ञानगुणं विवृणोति—

टीका:—(णाणगुणेहिं विहीणा एदं तु पदं बहूवि ण लहंति) सभी प्रकार के विकार से वर्जित जो परमात्म तत्व उसकी उपलब्धि होना ही है लक्षण जिसका ऐसे ज्ञान गुण से रहित बहुत से पुरुष शुद्धात्मा ही उपादेय है इस स्वसंवेदन ज्ञान से रहित ऐसे घोर काय क्लेश आदि तपश्चरण को करते हुए भी मत्यादि पांच प्रकार के ज्ञानों से भी जिसमें भेद नहीं हो सके ऐसे साक्षात मोक्ष के कारणभूत तथा शुद्धात्मा की संवित्ती है लक्षण जिसका ऐसे अपने आपके द्वारा ही अनुभव करने योग्य पद को नहीं पा सकते हैं। (तं गिण्ह सुपदमेदं जदि इच्छसि कम्मपरिमोक्खं) इसलिए हे भव्य ! यदि तू कर्मों से मुक्त होना चाहता है तो उस उत्तम पद को स्वीकार कर ॥२२२॥

विशेषार्थ:—'ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठितं' इस अमृतचन्द्राचार्य के वचनानुसार जब छद्मस्थ आत्मा का ज्ञान ज्ञान को ही विषय करने वाला हो जाता है उस समय उसमें अपने आपके सिवाय और किसी का भान भी नहीं रहता। तब उसको ज्ञान गुण या ज्ञानभाव कहते हैं। स्वरूपाचरण, स्वसंवेदन, आत्मानुभव, शुद्धोपयोग और शुद्ध नय आदि सब इसी के नाम हैं। इस ज्ञान गुण को प्राप्त किये बिना आज तक किसी को न तो मोक्ष प्राप्त हुआ और न हो सकता है। यह बाह्य तपश्चरण आदि तो उसके साधन मात्र हैं उसी को प्राप्त करने के लिए किये जाते हैं। क्योंकि बाह्य त्याग तपस्या के बिना वह ज्ञान मात्र अवस्था कभी प्राप्त नहीं हो सकती जैसे कि खेती के बिना अन्न नहीं हो सकता है किन्तु खेती होकर भी यदि अन्न न आवे तो फिर वह घास है केवल पशु के खाने की वस्तु है। वैसे ही त्याग तपस्या अंगीकार करके भी शुद्धात्म ध्यान की ओर यदि लक्ष्य न रखा गया तो वह त्याग तपस्या केवल स्वर्ग सुख देने वाली है, उससे मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती।

आगे विशेष परिग्रह के त्याग कराने के अभिप्राय से उस ही ज्ञान गुण का विशेष वर्णन करते हैं:--

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णिच्छदे धम्मं।
अपरिग्गहो दु धम्मस्स जाणगो तेण सो होदि।।२२३।।

अपरिग्रहोऽनिच्छो भणितो ज्ञानी च नेच्छति धर्मं।
अपरिग्रहस्तु धर्मस्य ज्ञायकस्तेन स भवति।।२२३।।

अर्थ:–ज्ञानी जीव परिग्रह से रहित है (पर पदार्थों को ग्रहण किये हुए नहीं होता) क्योंकि वह इच्छा से रहित है ऐसा कहा है इसी कारण वह पुण्य कर्म करने की भी इच्छा नहीं करता इसलिए उसके पुण्य का भी परिग्रह नहीं है। वह केवल मात्र ज्ञायक होकर रहता है।।२२३।।

तात्पर्यवृत्ति:—अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणीय णिच्छदे धम्मं अपरिग्रहो भणितः कोसौ? अनिच्छः। तस्य परिग्रहो नास्ति यस्य बहिर्द्रव्येष्विच्छा वांछा मोहो नास्ति। तेन कारणेन स्वसंवेदनज्ञानी शुद्धोपयोग-रूपं निश्चय धर्मं विहाय शुभोपयोग धर्मं पुण्यं नेच्छति। **अपरिग्गहो दु धम्मस्स जाणगो तेण सो होदि** ततः कारणात्पुण्यरूपधर्मस्यापरिग्रहः सन् पुण्यमिदं ममस्वरूपं न भवतीति ज्ञात्वा तद्रूपेणापरिणमन्, अतन्मयो भवन् दर्पणे विम्बस्येव ज्ञायक एव भवति।

टीका—(अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णिच्छदे धम्मं) जो इच्छा रहित होता है वह अपरिग्रह होता है अर्थात् जिसके बाह्य द्रव्यों की इच्छा नहीं होती अर्थात बाह्य पदार्थों से उसका कोई लगाव नहीं होता। इससे स्वसंवेदन ज्ञानी जीव शुद्धोपयोग रूप निश्चय धर्म को छोड़कर शुभोपयोग रूप धर्म अर्थात् पुण्य को नहीं चाहता है। (अपरिग्गहो दु धम्मस्स जाणगो तेण सो होदि) इसलिए पुण्य रूप धर्म का परिग्रहवान न होकर, किन्तु पुण्य मेरा स्वरूप नहीं है ऐसा जानकर, उस पुण्य रूप से परिणमन नहीं करता हुआ तन्मय नहीं होता हुआ वह दर्पण में आये हुए प्रतिबिम्ब के समान उसका जानने वाला ही होता है।।२२३।।

अप्परिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णिच्छदि अधम्मं।
अप्परिग्गहो अधम्मस्स जाणगो तेण सो होदि ॥२२४॥

अपरिग्रहोऽनिच्छो भणितो ज्ञानी च नेच्छत्यधर्मं।
अपरिग्रहोऽधर्मस्य ज्ञायकस्तेन स भवति ॥२२४॥

अर्थः-ज्ञानी जीव परिग्रह रहित है (अन्य पदार्थ को ग्रहण नहीं करता) क्यों कि वह इच्छा से रहित है : अतः वह किसी भी प्रकार के पाप की भी इच्छा नहीं करता इसलिए उसके पाप का भी परिग्रह नहीं है। वह तो उसका केवल मात्र जानने वाला रहता है ॥२२४॥

तात्पर्यवृत्तिः—अप्परिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणीय णिच्छदि अहम्मं अपरिग्रहो भणितः, स कः ? अनिच्छः तस्य परिग्रहो नास्ति यस्य बहिर्द्रव्येषु, इच्छा कांक्षा नास्ति। तेन कारणेन तत्त्वज्ञानी विषयकषायरूपं अधर्मं पापं नेच्छति। **अपरिग्गहो अधम्मस्स जाणगो तेण सो होदि** तत एव कारणात्—विषयकषायरूपस्याधर्मस्याऽपरिग्रहःसन् पापमिदं मम स्वरूपं न भवतीति ज्ञात्वा तद्रूपेणापरिणमन् दर्पणे बिम्बस्येव ज्ञायक एव भवति। एवमेव च, अधर्मपदपरिवर्तनेन रागद्वेषमोहक्रोधमानमायालोभकर्मनोकर्ममनोवचनकायश्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसंज्ञानि सप्तदशसूत्राणि व्याख्येयानि। तथैव प्रकारेण शुभाशुभसंकल्पविकल्परहितानंतज्ञानादिगुणस्वरूपशुद्धात्मनः प्रतिपक्षभूतानि शेषाण्यप्यसंख्येयलोकप्रमितानि विभावपरिणामस्थानानि वर्जनीयानि।

टीका—(अप्परिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णिच्छदि अधम्मं) जिसके बाह्य द्रव्यों में वांछा नहीं है वह परिग्रह रहित है। इसलिये तत्वज्ञानी जीव विषय कषाय रूप अधर्म को, पाप को कभी नहीं चाहता। (अप्परिग्गहो अधम्मस्स जाणगो तेण सो होदि) इसलिए वह विषय कषायरूप पाप का ग्राहक न होता हुआ यह पाप मेरा स्वरूप नहीं ऐसा है जानकर पाप रूप से परिणमन नहीं करता हुआ वह दर्पण में आये हुए प्रतिबिम्ब के समान उसका ज्ञायक ही होता है ॥२२४॥

इस प्रकार अधर्म के स्थान पर राग, द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन, स्पर्शन ऐसे १७ सूत्र पृथक पृथक व्याख्यान करने योग्य हैं। इसी प्रकार शुभ व अशुभ संकल्प विकल्पों से रहित व अनंत ज्ञानादि गुण सहित है स्वरूप जिसका ऐसे शुद्धात्मा का विरोध करने वाले और भी असंख्यात लोक प्रमाण विभाव परिणाम स्थान त्यागने योग्य हैं॥

***धम्मात्थि अधम्मत्थी आयासं सुत्तमंग पुव्वेसु**
संगं च तहा णेयं देवमणु अत्तिरियणेरइयं ॥२२५॥

धर्मार्थी अधर्मार्थी आकाशं श्रुतमंग पूर्वेषु।
संगं च तथा ज्ञेयं देव मनुष्य तिर्यग् नरकादिकम् ॥२२५॥

---

* यह गाथा आत्मख्याति में नहीं है।

अर्थ—परम तत्वज्ञानी जीव परिग्रह रहित होता है क्योंकि वह इच्छा रहित होता है, जिसके बाह्य पदार्थों में आकांक्षा नहीं होती उसके परिग्रह भी नहीं होता यह नियम है इसलिए परम तत्वज्ञानी जीव चिदानन्द ही है एक स्वभाव जिसका ऐसी शुद्धात्मा को छोड़कर धर्म, अधर्म और आकाश आदि अंग पूर्वात्मक श्रुत में बताये हुए बाह्य और अंतरंग परिग्रह तथा देव, मनुष्य, तिर्यंच और नारकादि विभाव पर्यायों को नहीं चाहता है ऐसा समझना चाहिए। इस कारण इस विषय में परिग्रह रहित होता हुआ उस रूप से परिणमन नहीं करता हुआ वह दर्पण में आये हुए प्रतिबिम्ब के समान उसका केवलमात्र ज्ञायक ही होता है ।।२२५।।

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो असणं च णिच्छदे णाणी ।
अपरिग्गहो दु असणस्स जाणगो तेण सो होदि ।। २२६ ।।
अपरिग्रहोऽनिच्छो भणितोऽशनं च नेच्छति ज्ञानी ।
अपरिग्रहस्त्वशनस्य ज्ञायकस्तेन स भवति ।। २२६ ।।

अर्थ—जो इच्छा रहित है वह परिग्रह रहित कहा जाता है। इस प्रकार जो ज्ञानी होता है वह भोजन की इच्छा नहीं करता है। इस कारण से भोजन को नहीं ग्रहण करता हुआ केवलमात्र ज्ञाता ही रहता है ।। २२६ ।।

तात्पर्यवृत्तिः—**अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो असणं च णिच्छदे णाणी** अपरिग्रहो भणितः स कः ? अनिच्छः। तस्य परिग्रहो नास्ति यस्य बहिर्द्रव्येषु इच्छा मूर्छा ममत्वं नास्ति। इच्छा त्वज्ञानमयो भावः स च ज्ञानिनो न संभवति। **अपरिग्गहो दु असणस्स जाणगो तेण सो होदि** तत एव कारणात् आत्मसुखे तृप्तो भूत्वा अशनविषये निष्परिग्रहः सन् दर्पणे बिम्बस्येव अशनाद्याहारस्य वस्तुनो वस्तुरूपेण ज्ञायक एव भवति। न च रागरूपेण ग्राहक इति।

टीका—(अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो असणं च णिच्छदे णाणी) जिसके बाह्य द्रव्यों में इच्छा, मूर्छा, ममत्व परिणाम नहीं है वह अपरिग्रहवान कहा गया है क्योंकि इच्छा अज्ञानमय भाव है इससे इसका होना ज्ञानी के संभव नहीं है अतः ज्ञानी के भोजन की भी इच्छा नहीं होती इसलिये वह (अपरिग्गहो दु असणस्स जाणगो तेण सो होदि) आत्म सुख में संतुष्ट होकर भोजन व तत्संबंधी पदार्थों में परिग्रह रहित होता हुआ जैसे दर्पण में आये हुये प्रतिबिंब के समान केवल आहार में गृहण करने के योग्य वस्तु का उस वस्तु के रूप से ज्ञायक ही होता है। किन्तु रागरूप से उसका गृहण करने वाला नहीं होता ।। २२६ ।।

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो पाणं च णिच्छदे णाणी ।
अपरिग्गहो दु पाणस्स जाणगो तेण सो होदि ।। २२७ ।।
अपरिग्रहो अनिच्छो भणितः पानं च नेच्छति ज्ञानी ।
अपरिगृहस्तु पानस्य ज्ञायकस्तेन स भवति ।। २२७ ।।

अर्थ—जो इच्छा रहित है वह परिग्रह रहित कहा जाता है। इस प्रकार ज्ञानी जीव किसी पीने योग्य वस्तु की भी इच्छा नहीं करता है। इस कारण उसके पीने का भी परिग्रह नहीं होता है अतः वह तो उसका केवलमात्र ज्ञाता ही रहता है ।।२२७।।

तात्पर्यवृत्तिः—अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो पाणं तु णिच्छदे णाणी अपरिग्रहो भणितः कोसौ ? अनिच्छः। तस्य परिग्रहो नास्ति यस्य बहिर्द्रव्येश्वाकांक्षा तृष्णा मोह इच्छा नास्ति। इच्छात्वज्ञानमयो भावः स च ज्ञानिनो न संभवति **अपरिग्गहो दु पाणस्स जाणगो तेण सो होदि** ततः कारणात् स्वाभाविकपरमानंदसुखे तृप्तो भूत्वा विविधपानकविषये निष्परिग्रहः सन् दर्पणे बिम्बस्येव वस्तुस्वरूपेण ज्ञायक एव भवति, न च रागरूपेण ग्राहक इति।

तथा चोक्तं—

ण बलाउ साधु अट्ठं ण सरीरस्सय बयट्ठ तेजट्ठं, णाणट्ठं, संजमट्ठं झाणट्ठं चेव भुंजंति ॥ १ ॥

अरकामरकणिमित्तं इसिणो भुंजंति पाणधारणणिमित्तं, पाणा धम्मणिमित्तं, धम्मं हि चरंति मोक्खट्ठं ॥२॥

अथ परिग्रहत्यागव्याख्यानमुपसंहरति—

टीका:—(अप्परिग्गहो अणिच्छो भणिदो पाणं च णिच्छदे णाणी) जो इच्छा रहित है वह परिग्रह रहित कहलाता है अर्थात् जिसके बाह्य पदार्थों में इच्छा, मूर्छा व ममत्व परिणाम नहीं है वह अपरिग्रह-वान कहा गया है। अतः इच्छा जो अज्ञानमय भावरूप है वह ज्ञानी के कभी संभव नहीं है। अतएव उसके पीने योग्य वस्तु की भी इच्छा नहीं हो सकती इसलिये (अप्परिग्गहो दु पाणस्स जाणगो तेण सो होदि) स्वाभाविक परमानन्द सुखमें संतुष्ट होकर नाना प्रकार के पानक के विषय में परिग्रह रहित होता हुआ ज्ञानी जीव तो दर्पण में आये हुए प्रतिबिंब के समान वस्तु स्वरूपसे उस पानक का ज्ञायक ही होता है-रागसे उसका ग्राहक नहीं होता है ॥२२७॥

विशेषार्थ:—आचार्य देव ने इन गाथाओं में स्पष्ट कर बताया है कि ज्ञानी जीव को इच्छा नहीं होती अतः उसको किसी भी प्रकार का परिग्रह नहीं होता। वह तो निष्किंचन होकर आत्मतल्लीन रहता है। इस पर शंका हो सकती है कि ऐसा जीव इन छद्मस्थों में कौन है जिसके इच्छा बिल्कुल नहीं होती क्योंकि गृहस्थ के तो अनेक प्रकार की इच्छा हर समय लगी रहती है और मुनि त्यागी तपस्वी के भी और नहीं तो भोजन की इच्छा तो होती है और वह आहार भी ग्रहण करता ही है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि मुनि जब अप्रमत्तरूपसे आत्मध्यान में मग्न होता है उस समय उसके किसी भी प्रकार की इच्छा नहीं होती है अतः वास्तवमें वहाँ ज्ञानी होता है, जैसा कि "झाणणि लीणो मुनि णाणी" इस सिद्धांत के वाक्य से स्पष्ट है। रही मुनि के आहार ग्रहण करने की बात सो वह प्रमत्त संयत दशामें हुआ करता है। यह आहार लेना भी शरीर को मोटा ताजा सुन्दर बनाये रखने के लिये नहीं, किन्तु संयम के सम्पादन के लिये ज्ञानोपार्जन के लिए एवं ध्यान की सिद्धि के लिये होता है। जैसे गाड़ी चलाने के लिये उसके बांग लगाया जाता है वैसे ही केवलमात्र प्राण संधारण के लिये ऋषि लोग भोजन करते हैं और प्राणों का सधारण भी जिस धर्म से मुक्ति प्राप्त हो उसे सम्पादन करने के लिये किया करते हैं। जैसा कि टीका कार के द्वारा उद्धृत निम्नलिखित गाथाओं में लिखा हुआ है:—

ण बलाउसाहणट्ठं ण सरीरस्स य चयट्ठतेजट्ठं।
णाणट्ठं संजमट्ठं झाणट्ठं चेव भुंजंति ॥१॥
अक्खामक्ख णिमित्तं इसिणो भुंजंति पाणधारण णिमित्तं।
पाणा धम्मणिमित्तं धम्मं हि चरंति मोक्खट्ठं ॥२॥ (युग्मं)

अतः कारणमें कार्य का आरोप कर लेने से मुनि का आहार लेना भी परिग्रह न होकर वह ज्ञान ध्यान रूप ही कहा जाता है। हां जो लोग चतुर्थ गुणस्थानवर्ती असंयत सम्यग्दृष्टि को भी ज्ञानी कह कर उसे भी इन्हीं गाथाओं पर से अनिच्छक और निष्परिगृह समझ बैठते हैं उनकी बात मेरी समझ में नहीं आती, क्योंकि जो जीव छः खण्ड पृथ्वी को तो अपने पीछे लगाये बैठा है और अपने साधारण से स्वार्थ के लिये मोक्षगामी अपने भाई के ऊपर सुदर्शन चक्र चला देता है उसे ज्ञानी कहना ज्ञानी शब्द की विडंबना ही है। उसे ज्ञानी तो नहीं किन्तु निष्परिग्रही ज्ञानी लोगों का श्रद्धालु उनका हृदय से समादर करने वाला कह सकते हैं। अन्यथा मिथ्यादृष्टि तो उनका नहीं मानने वाला एवं विरोधी होता है। हाँ, यदि द्रव्य निक्षेप की अपेक्षा अव्रत सम्यग्दृष्टि को भी ज्ञानी या अनिच्छक आदि रूप कहा जाय तो कहा जा सकता है क्योंकि आगे चलकर वह भी वैसा बनने वाला होता है। किन्तु ग्रन्थ की शब्द सरणी को देखते हुए यहां पर उसका प्रसंग नहीं है। उपर्युक्त गाथाओं में ज्ञानी को बाह्य वस्तुओं का ग्राहक तो नहीं किंतु ज्ञायक बताया गया है, उसका तात्पर्य यह हैं कि जिस अवस्था को प्राप्त करके यह छद्मस्थ जीव ज्ञानी कहलाता है, वह अप्रमत्त दशा दो भागोंमें विभक्त होती है। एक सविकल्प और दूसरी निर्विकल्प। सविकल्प दशा में शरीरादि बाह्य वस्तुओं को स्मरण करते हुए उनसे आपको पृथक समझता हुआ वह दूसरे भाग में स्वयं निर्विकल्प रूप से अपने आप में स्थिर हो रहता है।

अब परिग्रह त्याग के व्याख्यान का उपसंहार करते हैं:—

इच्चादु एदु विविहे सव्वे भावे य णिच्छदे णाणी।
जाणग भावो णियदो णीरालंबो य सव्वत्थ ॥२२८॥

इत्यादिकांस्तु विविधान् सर्वान् भावांश्च नेच्छति ज्ञानी।
ज्ञायकभावो नियतः निरालंबश्च सर्वत्र ॥२२८॥

अर्थ—उपर्युक्त अनेक भावों आदि को लेकर और भी अनेक प्रकार के सब भावों को ज्ञानी जीव नहीं चाहता नहीं वांछा करता, किन्तु वह तो सब ओर से सब ठौर निरालंब होकर ज्ञायक ही रहता है ॥२२८॥

तात्पर्यवृत्तिः—**इच्चादु एदु विविहे सव्वे भावेय णिच्छदे णाणी** इत्यादिकान् पुण्यपापाशन पानादिबहिर्भावान् सर्वान् सर्वतः परमात्मतत्त्वज्ञानी नेच्छति। अनिच्छन् स कथंभूतो भवति? **जाणग भावो णीयदो णिरालंबोय सव्वत्थ** टंकोत्कीर्णपरमानंदज्ञायकैकस्वभाव एव भवति नियतो निश्चितः। पुनश्च कथंभूतो भवति जगत्त्रये कालत्रयेऽपि मनोवचनकायैः कृतकारितानुमितैश्च बाह्याभ्यंतरपरिग्रहरूपे चेतनाचेतनपरद्रव्ये सर्वत्र निरालंबोऽपि, अनंतज्ञानादिगुणस्वरूपे स्वस्वभावे पूर्णकलश इव सालंबन एव तिष्ठतीति भावार्थः।

अथ ज्ञानी वर्तमानभाविभोगेषु वांछां न करोतीति कथयति—

टीका—(इच्चादु एदु विविहे सव्वे भावे य णिच्छदे णाणी) परमात्म तत्व का जानने वाला जीव ऊपर कहे हुए पुण्य, पाप और भोजन पानादि इन बाह्य में होने वाले सभी भावों को कभी भी नहीं चाहता है। (जाणगभावो णियदो णीरालंबो य सव्वत्थ) क्योंकि वह तो नियम से टांकी से उकेरे हुए के समान सदा एकसा रहने वाला और परमानन्द स्वरूप ज्ञायक भाव है उस मय हो रहता है। वह ऊर्ध्व, मध्य और अधोरूप तीन जगत एवं भूत, भावी, वर्तमान रूप तीनों कालों में होने वाले बाह्य अभ्यंतर परिग्रह रूप चेतन अचेतनात्मक सभी पर पदार्थों में मन, वचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदना

से सर्वथा निरालंब होकर अनंतज्ञानादि गुणस्वरूप अपने स्वभाव में पूर्ण कलश के समान निश्चल अव-लंबन सहित ठहरता है ।।२२८।।

आगे कहते हैं कि ज्ञानी वर्तमान के व भविष्य के भोगों की इच्छा नहीं करता है:—

उप्पण्णोदय भोगे वियोगबुद्धीय तस्स सो णिच्चं ।
कंखामणागदस्स य उदयस्स ण कुव्वदे णाणी ।।२२९।।

उत्पन्नोदय भोगे वियोगबुद्ध्या तस्य स नित्यं ।
कांक्षामनागतस्य चोदयस्य न करोति ज्ञानी ।।२२९।।

अर्थ—उदय को प्राप्त हुए वर्तमान कर्म के भोगने में वियोग बुद्धि होने से ज्ञानी जीव आगामी काल में उदय होने वाले कर्म के भोगने की वांछा नहीं करता तथा भूत कालीन कर्म का भोग तो रहा ही नहीं है ।

तात्पर्यवृत्तिः—**उप्पण्णोदयभोगे वियोगबुद्धीय तस्स सो णिच्चं** उत्पन्नोदयभोगे वियोगबुद्धिश्च हेयबुद्धिर्भवति 'तस्य तस्मिन् भोगविषये षष्ठीसप्तम्योरभेद इति वचनात्' कोसौ निरीहवृत्तिर्भवति स्वसंवेदनज्ञानी नित्यं सर्वकालं **कंखामणागदस्स य उदयस्स ण कुव्वदे णाणी** स एव ज्ञानी, अनागतस्य निदानबंधरूपभाविभोगोदयस्याकांक्ष न करोति । किं च विशेषः य एव भोगोपभोगादिचेतनाचेतनसमस्तपरद्रव्यनिरालंबनो भावपरिणामः स एव स्वसंवेदनज्ञानगुणो भण्यते । तेन ज्ञानगुणालंबनेन य एव पुरुषः ख्याति-पूजा-लाभ-भोगाकांक्षारूपनिदानबंधादिविभावरहितः सन् जगत्त्रये कालत्रयेऽपि मनोवचनकायैः कृतकारितानुमितैश्च विषयसुखानंदवासनावासितं चित्तं मुक्त्वा शुद्धात्मभावनोत्थवीतरागपरमानंद सुखेन वासितं रंजितं मूर्छितं परिणतं तन्मयं तृप्तं रतं संतुष्टं चित्तं कृत्वा वर्तते स एव मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलज्ञानाभेदरूपं परमार्थशब्दाभिधेयं साक्षान्मोक्षकारणभूतं शुद्धात्मसंवित्तिलक्षणं परमागमभाषया वीतरागधर्मध्यानशुक्लध्यानस्वरूपं स्वसंवेद्यशुद्धात्मपदं परमसमरसीभावेन अनुभवति न चान्यः । यादृशं परमात्मपदमनुभवति तादृशं परमात्मपदस्वरूपं मोक्षं लभते । कस्मात् ? इतिचेत् उपादानकारणसदृशं कार्यं भवति यतः कारणात् इति । एवं स्वसंवेदनज्ञानगुणं विना मत्यादिपंचज्ञानविकल्परहितमखंडपरमात्मपदं न लभ्यते इति संक्षेपव्याख्यानमुख्यत्वेन सूत्राष्टकं गतं ।

अथानंतरं तस्यैव ज्ञानगुणस्य चतुर्दशगाथापर्यंतं पुनरपि विशेषव्याख्यानं करोति । तद्यथा-ज्ञानी सर्वद्रव्येषु वीतरागत्वात्कर्मणा न लिप्यते सरागत्वादज्ञानी लिप्यते, इति प्रतिपादयति—

टीका—(उप्पण्णोदय भोगे विओगबुद्धीय तस्स सो णिच्चं) उत्पन्न हुए कर्मोदय के भोगने में स्वसंवेदन ज्ञानी जीव सदा ही वियोग बुद्धि एवं हेयबुद्धि वाला होता है । (यहाँ गाथा में जो तस्य शब्द पड़ा है, वह षष्ठी का एकवचन है जो कि 'उत्पन्नोदय भोगे' इस सप्तमी के एक वचनात्मक पद का विशेषण है किन्तु साधारण नियमानुसार विशेषण और विशेष्य में एक विभक्ति होनी चाहिए । टीकाकार ने इसका उत्तर यह दिया है कि षष्ठी और सप्तमी में कहीं अभेद भी होता है) । (कंखामणागदस्स य उदयस्स ण कुव्वदे णाणी) वही ज्ञानी आगामी काल में उदय में आने वाले निदान बंध स्वरूप भविष्य कालीन भोगों का उदय है उसकी वांछा कैसे कर सकता है ? अर्थात् नहीं करता । इसका स्पष्ट विवेचन यह है कि भोग, उपभोग आदि चेतन और अचेतनात्मक जितने भी पर द्रव्य हैं उन सबके

विषय में निरालंबन रूप आत्मा के परिणाम हैं उसीका नाम स्वसंवेदन ज्ञान गुण है। इस स्वसंवेदन ज्ञान गुण के आलम्बन से जो पुरुष ख्याति, पूजा, लाभ व भोगों की इच्छारूप निदानबंध आदि विभाव परिणाम से रहित होता हुआ तीन लोक और तीन काल में भी अपने मन, वचन, काय तथा कृत, कारित और अनुमोदना द्वारा विषयों के सुख में आनन्द की वासना से वासित होने वाले चित्त का त्याग कर अर्थात् विषय सुख की अभिलाषा से रहित चित्तवाला होकर शुद्ध आत्मा की भावना से उत्पन्न हुए वीत-राग परमानंद सुख के द्वारा वासित अर्थात रंजित व मूर्छित रूप में परिणत अर्थात् उसी रूप अपने मन को संतृप्त, संतुष्ट व तल्लीन बनाकर रहता है, वही जीव शुद्ध आत्मा की संवित्ती है लक्षण जिसका तथा जिसमें मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान में भेद नहीं है, परमार्थ नाम से कहा जाने योग्य है, मोक्ष का साक्षात् कारण है तथा जो परमागम की भाषा में वीतराग धर्म्यध्यान तथा शुक्लध्यान स्वरूप कहा जाता है और अपने ही द्वारा संवेदन करने योग्य शुद्ध आत्मा का स्थान है ऐसे ज्ञान को परम समरसी भाव के द्वारा अनुभव करता है दूसरा जीव उसका अनुभव नहीं कर सकता है एवं वह जैसे परमात्म पद का अनुभव करता है उसी प्रकार परमात्म पद स्वरूप मोक्ष को प्राप्त करता है। क्योंकि उपादान कारण के समान ही कार्य हुआ करता है ऐसा नियम है। इस उपर्युक्त स्व-संवेदन ज्ञान गुण के बिना मत्यादि पांच ज्ञानों के विकल्प से रहित वह अखण्ड परमात्मपद को कभी प्राप्त नहीं होता। इस प्रकार संक्षेप से व्याख्यान करने की मुख्यता से आठ गाथाओं का वर्णन हुआ ॥२२९॥

अथानंतर इसी ही ज्ञानगुण का फिर चौदह गाथाओं द्वारा विशेष व्याख्यान करते हैं—

सबसे प्रथम यह बताते हैं कि ज्ञानी सभी द्रव्यों में रागरहित वीतरागी होता है इसलिए नूतन कर्मबन्ध नहीं करता किन्तु अज्ञानी जीव राग सहित होता है अतः कर्म बन्ध करता है—

णाणी रागप्पजहो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो।
णो लिप्पदि रज्ज एण दु कद्दममज्झे जहा कणयं ॥२३०॥
अण्णाणी पुण रत्तो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झ गदो।
लिप्पदि कम्मरएण दु कद्दमज्झे जहा लोहं ॥२३१॥ (युग्मं)

ज्ञानी रागप्रहायः सर्व द्रव्येषु कर्ममध्यगतः।
नो लिप्यते रजसा तु कर्दममध्ये यथा कनकं ॥२३०॥

अज्ञानी पुनः रक्तः सर्व द्रव्येषु कर्ममध्यगतः।
लिप्यते कर्मरजसा तु कर्दममध्ये यथा लोहं ॥२३१॥

अर्थ—ज्ञानी जीव सब ही द्रव्यों के प्रति होने वाले राग को छोड़ देता है अतः वह ज्ञानावरणादि कर्म सहित होकर भी नवीन कर्मरज से लिप्त नहीं होता जैसे कि कीचड़ में पड़ा हुआ सोना जंग नहीं खाता है। किन्तु अज्ञानी जीव सभी द्रव्यों में राग रखता है इसलिए कर्मों के फन्दे में फंसकर नित्य नये कर्म बंध किया करता है। जैसे कि लोहा कीचड़ में पड़ने पर जंग खा जाया करता है ॥२३०-२३१॥

तात्पर्यवृत्तिः—हर्षविषादादिविकल्पोपाधिरहितः स्वसंवेदनज्ञानी सर्वद्रव्येषु रागादिपरित्यागशीलः यतःकारणात् ततः कर्दममध्यगतं कनकमिव कर्मरजसा न लिप्यते इति। अज्ञानी पुनः स्वसंवेदनज्ञानाभावात् सर्वपंचेंद्रियविषयादिपरद्रव्ये रक्तः कांक्षितो मूर्छितो मोहितो भवति यतः कारणात्, ततः कर्दममध्यलोहमिव कर्मरजसा बध्यते, इति ।

अथ सकलकर्मनिर्जरा नास्ति कथं मोक्षो भविष्यतीति प्रश्ने परिहारमाह—

टीका—स्वसंवेदन ज्ञानी जीव हर्ष विषादादि विकल्प भावों की झंझट से रहित होता हुआ सभी द्रव्यों के प्रति होने वाले रागादिक विकारभावों का त्यागी होता है इसलिए कीचड़ में पड़े हुए सोने के समान वह नवीन कर्मरूप रज से लिप्त नहीं होता। किन्तु अज्ञानी स्वसंवेदन ज्ञान के न होने से पंचेन्द्रिय के विषयादि सभी प्रकार के परद्रव्यों में रागभाव युक्त आकांक्षायुक्त मूर्छावान एवं मोही रहता है इसलिए वह कीचड़ में पड़े हुए लोहे के समान नवीन कर्मरूप रज से बंध जाता है ॥२३०-२३१॥

विशेषार्थ—ज्ञानी को नवीन कर्म बन्ध नहीं होता, अज्ञानी ही कर्मबन्ध किया करता है। ऐसा बताते हुए उस ज्ञानी को स्वसंवेदन करने वाला बतलाया है। यह स्वसंवेदन क्या है? इसके विषय में आत्मानुशासन में भी एक श्लोक आया है:—

वेद्यत्वं वेदकत्वं च, यत्स्वस्य स्वेन योगिनः।
तत्स्वसंवेदनं प्राहु, रात्मनोऽनुभवं दृशः ॥१६१॥

अर्थात् जहां पर योगी के ज्ञान में ज्ञेयपना ज्ञायकपना ये दोनों अपने आप में ही हों ऐसी अनन्य अवस्था का नाम स्वसंवेदन है इसी को आत्मानुभव या स्वानुभव प्रत्यक्ष भी कहते हैं। अर्थात् सब परद्रव्यों से हट कर अपने आपके द्वारा आप में ही लीन होने का नाम स्वसंवेदन है। यह योगी के अर्थात् त्रिगुप्ति रूप समाधि में निरत मुनि के ही होता है। यही बात यहां कही है सब ठौर हर्ष विषादादि से रहित होने वाले ज्ञानी को संसार में देह युक्त होते हुए भी नवीन कर्म बंध नहीं होता किन्तु जिसके कहीं पर भी कुछ भी हर्ष विषाद रूप विभाव विद्यमान हैं तो उसके उपर्युक्त स्वसंवेदन ज्ञान न होने से उसके राग भाव के अनुसार नवीन कर्मबन्ध होता ही है। यहां पर यह शंका हो सकती है कि स्वसंवेदन ज्ञान तो अव्रत सम्यग्दृष्टि के भी होता है। उसका उत्तर यह है कि उसको तो अपनी आत्मा का चेतन लक्षण के द्वारा परोक्ष ज्ञान होता है जैसा कि धूम को देखकर उससे अग्नि का ज्ञान कर लिया जाता है। किन्तु योगी को हर्ष विषादादि रहित अपने शुद्धात्मा का जैसा मानसिक प्रत्यक्ष होता है वैसा नहीं होता, जिसको कि स्वानुभव कहा जावे। यही बात पंचास्तिकाय की गाथा १२७ की टीका में आई है—"यद्यप्यनुमानेन लक्षणेन परोक्ष ज्ञानेन व्यवहारनयेन धूमादग्निवदशुद्धात्मा ज्ञायते तथापि रागादि विकल्प रहित स्वसंवेदनज्ञान समुत्पन्न परमानन्द रूपानाकुलत्व सुस्थित वास्तविक सुखामृत जलेन पूर्णकलशवत् सर्वप्रदेशेषु भरितावस्थानां परम योगिनां यथा शुद्धात्मा प्रत्यक्षो भवति तथेतरेषां न भवति इत्यलिंग ग्रहणोऽस्ति ॥

ज्ञानी के बन्ध का अभाव हो जाने से पूर्व बद्ध कर्मों की निर्जरा होकर किस प्रकार मोक्ष होती है:—

❀ णागफणीए मूलं णाइणि तोएण गब्भणागेण।
णागं होदि सुवण्णं धम्मंतं भच्छवाएण ॥२३२॥

नागफण्या मूलं नागिनी तोयेन गर्भनागेन।
नागं भवति सुवर्णं धम्यमानं भस्त्रावायुना ॥२३२॥

❀ यह गाथा आत्म ख्याति में नहीं

तात्पर्यवृत्तिः—नागफणी नामौषधी तस्या मूलं नागिनी हस्तिनी तस्यास्तोयं मूत्रं गर्भनागं सिंदूरद्रव्यं नागं सीसकं। अनेन प्रकारेण पुण्योदये सति सुवर्णं भवति न च पुण्याभावे। कथंभूतः सन् भस्त्रया धम्यमानमिति दृष्टांतगाथागता।

अथ दार्ष्टांतमाह—

अर्थ व टीका—नागफणी, थूहर की जड़, हथिनी का मूत्र, गर्भनाग अर्थात् सिन्दूरद्रव्य और नाग अर्थात् सीसा धातु इनको धोंकनी से अग्नि पर तपाने पर यदि पुण्योदय हो तो स्वर्ण बन जाता है वैसे ही—

❀ कम्मं हवेइ किट्टं रागादी कालिया अह विभाओ।
सम्मत्तणाणचरणं परमोसहमिदि वियाणाहि ॥२३३॥
❀ झाणं हवेइ अग्गी तवयरणं भत्तली समक्खादो।
जीवो हवेइ लोहं धमिदव्वो परमजोईहिं ॥२३४॥

कर्म भवति किट्टं रागादयः कालिका अथ विभावाः।
सम्यक्त्वदर्शन ज्ञान चारित्रं परमौषधमिति विजानीहि ॥२३३॥
ध्यानं भवत्यग्निः तपश्चरणे भस्त्रा समाख्याते।
जीवो भवति लोहं धमितव्यः परमयोगिभिः ॥२३४॥

तात्पर्यवृत्तिः—द्रव्यकर्म किट्टसंज्ञं भवति रागादिविभावपरिणामाः कालिकासंज्ञा ज्ञातव्याः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रयं भेदाभेदरूपं परमौषधं जानीहि इति ॥२३३॥

तात्पर्यवृत्तिः—वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरूपं ध्यानमग्निर्भवति। द्वादशविधतपश्चरणं भस्त्रा ज्ञातव्या। आसन्नभव्यजीवो लोहं भवति। स च भव्यजीवः पूर्वोक्तसम्यक्त्वाद्यौषधध्यानाग्निभ्यां संयोगं कृत्वा द्वादशविधतपश्चरणभस्त्रया परमयोगिभिः धमितव्यो ध्यातव्यः। इत्यनेन प्रकारेण यथा सुवर्णं भवति तथा मोक्षो भवतीति संदेहो न कर्तव्यो भट्टचार्वाकमतानुसारिभिरिति ॥२३४॥

अथ ज्ञानिनः शंखदृष्टांतेन बंधाभावं दर्शयति—

अर्थ व टीका:—द्रव्य कर्म तो कीट है, रागादि विभाव परिणाम कालिका है, भेदाभेदरूप सम्यग्दर्शन ज्ञान, चारित्र नाम की परमौषधि है ऐसा जानो। वीतराग विकल्प रहित समाधिरूप ध्यान है वही अग्नि है और आसन्न भव्य जीव रूप लोहा है। उस भव्य जीव लोहे का पूर्वोक्त सम्यक्त्वादिरूप औषध तथा ध्यानरूप अग्नि के साथ संयोग मिलाकर परम योगी लोगों को धमना चाहिये इस प्रकार करने से जैसे स्वर्ण बन जाता है वैसे ही मोक्ष भी हो जाता है इसमें भट्ट और चार्वाक मत वालों को सन्देह नहीं करना चाहिये ॥२३३-२३४॥

अब ज्ञानी के जो कर्म बन्ध नहीं होता उसे शंख के दृष्टान्त द्वारा बतलाते हैं:—

भुंज्जंतस्सवि विविहे सच्चित्ताचित्तमिस्सिये दव्वे।
संखस्स सेदभावो णवि सक्कदि किण्णगो काऊँ ॥२३५॥

❀ यह गाथा आत्म ख्याति में नहीं।

तह णाणिस्स वि विविहे सच्चित्ताचित्त मिस्सिये दव्वे ।
भुंज्जंतस्सवि णाणं णवि सक्कदि रागदो एदुं ॥२३६॥
जइया स एव संखो सेदसहावं सयं पजहिदूण ।
गच्छेज्ज किण्हभावं तइया सुक्कत्तणं पजहे ॥२३७॥
जह संखो पोग्गलदो जइया सुक्कत्तणं पजहिदूण ।
गच्छेज्ज किण्हभावं तइया सुक्कत्तणं पजहे ॥२३८॥
तह णाणी विहु जइया णाणसहावं तयं पजहिदूण ।
अण्णाणेण परिणदो तइया अण्णाणदं गच्छे ॥२३९॥

भुंजानस्यापि विविधानि सचित्ताचित्त मिश्रितानि द्रव्याणि ।
शंखस्य श्वेतभावो नापि शक्यते कृष्णकः कर्तुं ॥२३५॥
तथा ज्ञानिनोऽपि विविधानि सचित्ताचित्त मिश्रितानि द्रव्याणि ।
भुंजानस्यापि ज्ञानं नापि शक्यते रागतां नेतुं ॥२३६॥
यदा स एव शंखः श्वेतभावं स्वयं प्रहाय ।
गच्छेत् कृष्णभावं तदा शुक्लत्वं प्रजह्यात्॥२३७॥
यथा शंखः पौद्गलिकः तदा शुक्लत्वं प्रहाय ।
गच्छेत् कृष्णभावं तदा शुक्लत्वं प्रजह्यात् ॥२३८॥
तथा ज्ञान्यपि यदि ज्ञानस्वभावं स्वयं प्रहाय ।
अज्ञानेन परिणतस्तदा अज्ञानतां गच्छेत् ॥२३९॥

अर्थ—जैसे शंख अनेक प्रकार के सचित्त, अचित्त व मिश्र द्रव्यों का भक्षण करता है तो भी उन वस्तुओं के खाने मात्र से अपने श्वेत स्वभाव को छोड़कर काला नहीं हो सकता, उसी प्रकार ज्ञानी भी सचित्त, अचित्त व मिश्र द्रव्यों को भोग करते हुए भी उस ज्ञानी का ज्ञान रागरूप नहीं हो सकता है। किन्तु वही शंख श्वेतपने को छोड़कर कृष्णरूप में परिणमन करता है तब उसके श्वेतपना नहीं रहता। उसी प्रकार ज्ञानी भी यदि अपने उस ज्ञान स्वभाव को छोड़कर अज्ञानरूप परिणमन करता है तो अवश्य अज्ञानी बन जाता है।

तात्पर्यवृत्तिः—यथा सजीवस्य शंखस्य श्वेतभावः कृष्णीकर्तुं न शक्यते। किं कुर्वाणस्यापि ? भुंजानस्यापि। कानि ? कर्मतापन्नसचित्ताचित्तमिश्राणि विविधद्रव्याणीति व्यतिरेकदृष्टांतगाथा गता।

तथा तेनैव प्रकारेण ज्ञानिनो जीवस्य वीतरागस्वसंवेदनलक्षणभेदज्ञानं, रागत्वमज्ञानत्वं नेतुं न शक्यते कस्मात् ? स्वभावस्यान्यथाकर्तुमशक्यत्वात्। किं कुर्वाणस्यापि ? भुंजानस्यापि। कानि स्वकीयगुणस्थानावस्थायोग्यानि सचित्ता-

चित्तमिश्राणि विविधद्रव्याणि । ततः कारणात् चिरंतनबद्धकर्मनिर्जरैव भवति । नवतरस्य च संवर इति व्यतिरेक-दार्ष्टांतगाथा गता । अन्वयव्यतिरेकशब्देन सर्वत्र विधिनिषेधौ ज्ञातव्यौ इति ।

यथा यदा स एव पूर्वोक्तः सजीवशंखः कृष्णपरद्रव्यलेपवशात्, अंतरंगस्वकीयोपादानपरिणामाधीनः सन् श्वेत-स्वभावत्वं विहाय कृष्णभावं गच्छेत् तदा शुक्लत्वं त्यजति । इत्यन्वयदृष्टांतगाथा गता ।

तथैव च यथा निर्जीवशंखः कृष्णपरद्रव्यलेपवशात् अंतरंगोपादानपरिणामाधीनः सन् श्वेतस्वभावत्वं विहाय कृष्णभावं गच्छेत् तदा शुक्लत्वं त्यजति । इति निर्जीवशंखनिमित्तं द्वितीयान्वयदृष्टांतगाथा गता ।

तथा तेनैव प्रकारेण ज्ञानी जीवोऽपि हि स्फुटं स्वकीयप्रज्ञापराधेन वीतरागज्ञानस्वभावत्वं विहाय मिथ्यात्वरागा-द्यज्ञानभावेन परिणतो भवति तदा स्वस्थभावच्युतः सन्नज्ञानत्वं गच्छेत् । तस्य संवरपूर्विका निर्जरा नास्तीति भावार्थः-इत्यन्वयदार्ष्टांतगाथा गता ।

अथ सरागपरिणामेन बंधः, तथैव वीतरागपरिणामेन मोक्षो भवतीति दृष्टांतदार्ष्टांताभ्यां समर्थयति–

टीका:—जैसे भोगने में आने वाले सचित्त, अचित्त या मिश्ररूप नाना प्रकार के द्रव्यों को खाने वाले शंख का श्वेतपना (किसी भी द्रव्य द्वारा) काला नहीं किया जा सकता है । यह व्यतिरेक दृष्टांत की गाथा हुई । उसी प्रकार ज्ञानी जीव का वीतराग स्वसंवेदनरूप भेदज्ञान को अज्ञान रूप अर्थात् रागरूप कोई नहीं कर सकता है भले ही वह अपने गुणस्थान अनुसार सचित्त, अचित्त या मिश्ररूप नाना प्रकार के द्रव्यों का उपभोग करता है क्योंकि किसी के स्वभाव को नहीं बदला जा सकता है एवं जब वह ज्ञान-स्वरूप ही रहता है, रागरूप नहीं होता तब उसके पहले बंधे हुए कर्मों की निर्जरा ही होती है नवीन बंध नहीं होता है । यह व्यतिरेक दार्ष्टांत गाथा हुई । जहां अन्वय और व्यतिरेक शब्द आते हैं वहां क्रमशः विधिरूप निषेधरूप अर्थ लिया जाता है । ऐसा जानना चाहिए। हां, जहां वही पूर्वोक्त सजीव शंख किसी भी परद्रव्य के लेपके वश से अपने अंतरंगरूप उपादान परिणाम के आधीन होता हुआ श्वेतपने को छोड़कर काला बनने चले तो श्वेतपन को छोड़ देता है । यह अन्वय दृष्टांत गाथा हुई । इसी प्रकार निर्जीव शंख भी कृष्ण स्वभाव परद्रव्य के लेप के वश से अपने अंतरंग उपादान परिणाम के आधीन होता हुआ श्वेत स्वभाव को छोड़कर काला बनने चले तो श्वेतपने को छोड़ ही देता है । इस प्रकार निर्जीव शंख को निमित्त लेकर कही हुई अन्वय रूप दूसरी दृष्टांत गाथा हुई उसी प्रकार उस शंख के समान ज्ञानी जीव भी अपनी बुद्धि को बिगाड़ लेने से वीतराग ज्ञान स्वभाव को छोड़कर मिथ्यात्व तथा रागादिरूप अज्ञानतया परिणत होता है तब अपने स्वभाव से च्युत होता हुआ अज्ञानपने को प्राप्त होता है यह स्पष्ट ही है फिर उसके संवर पूर्वक निर्जरा भी नहीं होती है । यह दार्ष्टांत गाथा हुई ॥२३५-२३६-२३७-२३८-२३९॥

विशेषार्थ—स्पष्टीकरण यह है कि कार्य में उपादान व निमित्त दो प्रकार के कारण होते हैं । जो स्वयं कार्यरूप में परिणत हो उसे उपादान कहते हैं और जो उसमें सहयोग दे उसे निमित्त कहते हैं । वहां लौकिक दृष्टि में निमित्त की मुख्यता और परमार्थ दृष्टि में उपादान की मुख्यता होती है । यह शास्त्र परमार्थी लोगों के लिए है सो यहां पर उपादान पर बल देते हुए संख का दृष्टांत देकर समझाया है कि काली पीली वस्तुओं को खाकर भी शंख सफेद ही रहता है क्योंकि उसका स्वभाव श्वेत ही है । हां यदि वह आप भी काला बने तो बन सकता है । वैसे ही ज्ञानी जीव को विकारी बनाने के लिए बाह्य निमित्त चाहे कितने ही क्यों न हों पर वे सब उसको (ज्ञानी जीव को) विकारी

नहीं कर सकते हैं। गजकुमार को चिगाने के लिए ब्राह्मण ने कितना बवंडर किया उनके माथे पर सिगड़ी जलादी फिर भी वे अपने ध्यान में ही रत रहे। किन्तु ज्ञानी जहां स्वयं ही बिगड़ने लगे और अपने उपयोग को बिगाड़े तो साधारण से निमित्त पर भी बिगाड़ सकता है। जैसे कि माघनन्दी आचार्य कुम्हार की लड़की को देखकर भ्रष्ट हो गये। इस प्रकार होने में तो ज्ञानी की स्वयं की ही भूल है और कोई क्या करे उसे तो सावधान रहना चाहिए।

पुरिसो जह कोवि इह वित्तिणिमित्तं तु सेवदे रायं।
तो सोवि देदि राया विविहे भोगे सुहुप्पादे ॥२४०॥
एमेव जीवपुरिसो कम्मरयं सेवदे सुहणिमित्तं।
तो सोवि कम्मरायो देदि सुहुप्पादगे भोगे ॥२४१॥
जह पुण सो चेव णरो वित्तिणिमिमित्तं ण सेवदे रायं।
तो सो ण देदि राया विविह सुहुप्पादगे भोगे ॥२४२॥
एमेव सम्मदिट्ठी विसयत्थं सेवदे ण कम्मरयं।
तो सो ण देदि कम्मं विविहे भोगे सुहुप्पादे ॥२४३॥

पुरुषो यथा कोपीह वृत्तिनिमित्तं तु सेवते राजानं।
तत्सोऽपि ददाति राजा विविधान् भोगान् सुखोत्पादकान् ॥२४०॥
एवमेव जीवपुरुषः कर्मरजः सेवते सुखनिमित्तं।
तत्सोपि ददाति कर्मराजा विविधान् भोगान् सुखोत्पादकान् ॥२४१॥
यथा पुनः स एव पुरुषो वृत्तिनिमित्तं न सेवते राजानं।
तत्सोपि न ददाति राजा विविधान् सुखोत्पादकान् भोगान् ॥२४२॥
एवमेव सम्यग्दृष्टिः विषयार्थं सेवते न कर्मरजः।
तत्तन्न ददाति कर्म विविधान् भोगान् सुखोत्पादकान् ॥२४३॥

अर्थ—लोक में जैसे कोई पुरुष आजीविका के लिए राजा की सेवा करता है तब राजा उसके साधनभूत यथोचित पारितोषिक देता है। वैसे ही यह अज्ञानी जीव विषय सुख के लिये कर्मराजा की सेवा करता है तब वही कर्मरूपी राजा सुख को उत्पन्न करने वाले भोग देता है। किन्तु यदि वही पुरुष किसी प्रकार की फल की इच्छा बिना राजा की सेवा करता है तो राजा उसे पारितोषिक नहीं देता, वैसे ही सम्यग्दृष्टि विरागी जीव विषयों के सुख के लिए कर्मरूपी राजा की सेवा नहीं करता है तब वही कर्मरूपी राजा नाना प्रकार के सुख पैदा करने वाले भोगों को नहीं देता है ॥ २४०-२४१-२४२-२४३ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—यथा कश्चित्पुरुषः, वृत्तिनिमित्तं राजानं सेवते ततः सोऽपि राजा तस्मै सेवकाय ददाति, कान् ? विविधसुखोत्पादकान् भोगान् इत्यज्ञानिविषयेऽन्वयदृष्टांतगाथा गता।

एवमेवाज्ञानी जीवपुरुषः शुद्धात्मोत्थसुखात्प्रच्युतः सन्नुदयागतं कर्मरजः सेवते विषयसुखनिमित्तं ततः सोऽपि पूर्वोपार्जितपुण्यकर्मराजा ददाति, कान् ? विषयसुखोत्पादकान् भोगाकांक्षानरूपान् शुद्धात्मभावानांविनाशकान् रागादिपरिणामान् इति।

अथवा द्वितीयव्याख्यानं—कोऽपि जीवोऽभिनवपुण्यकर्मनिमित्तं भोगाऽकांक्षानिदानरूपेण शुभकर्मानुष्ठानं करोति सोऽपि पापानुबंधिपुण्यराजा कालांतरे भोगान् ददाति। तेऽपि निदानबंधेन प्राप्ता भोगा रावणादिवन्नारकादिदुःखपरंपरां प्रापयंतीति भावार्थः। एवमज्ञानिजीवं प्रत्यन्वयदृष्टांतगाथा गता।

यथा स चैव पूर्वोक्तपुरुषो वृत्तिनिमित्तं न सेवते राजानं। ततः सोऽपि राजा तस्मै न ददाति, कान् ? विविधान् सुखोत्पादकान् भोगान् इति ज्ञानिजीवविषये व्यतिरेकदृष्टांतगाथा गता।

एवमेव च सम्यग्दृष्टिर्जीवः पूर्वोपार्जितमुदयागतं कर्मरजः शुद्धात्मभावनोत्थवीतरागसुखानंदात्प्रच्युतो भूत्वा विषयसुखार्थं, उपादेयबुद्धया न सेवते ततस्तदपि कर्म न ददाति, कान् ? विविधसुखोत्पादकान् भोगाकांक्षारूपान् शुद्धात्मभावनाविनाशकान् रागादिपरिणामानिति।

अथवा द्वितीयव्याख्यानं—कोऽपि सम्यग्दृष्टिर्जीवो निर्विकल्पसमाधेरभावात्, अशक्यानुष्ठानेन विषयकषायवंचनार्थं यद्यपि व्रतशीलदानपूजादिशुभकर्मानुष्ठानं करोति तथापि भोगाकांक्षारूपनिदानबंधेन तत्पुण्यकर्मानुष्ठानं न सेवते। तदपि पुण्यानुबंधिपुण्यकर्म भवांतरे तीर्थंकर-चक्रवर्ती—बलदेवाद्यभ्युदयरूपेणोदयागतमपि पूर्वभवभावितभेदविज्ञानवासनाबलेन शुद्धात्मभावनाविनाशकान् विषयसुखोत्पादकान् भोगाकांक्षानिदानरूपान् रागादिपरिणामान्न ददाति, भरतेश्वरादीनामिव। इति संज्ञानिजीवं प्रति व्यतिरेकदार्ष्ठां तगाथा गता। एवं मतिश्रुतावधिमनः पर्ययकेवलज्ञानाभेदरूपंपरमार्थशब्दवाच्यं साक्षान्मोक्षकारणभूतं शुद्धात्मसंवित्तिलक्षणं स्वसंवेद्यं संवरपूर्विकाया निर्जराया उपादानकारणं पूर्वं यद्व्याख्यातं परमात्मपदं, तत्पदं येन निर्विकारस्वसंवेदनलक्षणभेदविज्ञानगुणेन विना न लभ्यते तस्यैव भेदविज्ञानगुणस्य पुनरपि विशेषव्याख्यानरूपेण चतुर्दशसूत्राणि गतानि।

इत ऊर्ध्वं निश्शंकाद्यष्टगुणकथनं गाथानवकपर्यंतं व्याख्यानं करोति। तत्र तावत् प्रथमगाथायां निजपरमात्मपदार्थभावनोत्पन्नसुखामृतरसास्वादतृप्ताः संतः सम्यग्दृष्टयः, घोरोपसर्गेऽपि सप्तभयरहितत्वेन निर्विकारस्वानुभवस्वरूपं स्वस्थभावं न त्यजन्तीति कथयति—

टीकाः—जैसे कोई पुरुष आजीविका के लिए राजा की सेवा करता है तो राजा उस सेवक को नाना प्रकार की सुखदायक वस्तुये देता है। यह अज्ञानी जीव के विषय में अन्वय दृष्टान्त का वर्णन करने वाली गाथा हुई। इस प्रकार शुद्धात्मा से उत्पन्न होने वाले सुख से दूर होता हुआ अज्ञानी जीव भी विषय सुख के लिए कर्म रूपी राजा की सेवा करता है। अतः वह पूर्वोपार्जित पुण्य कर्म राजा भी उसे विषय सुख को उत्पन्न करने वाले भोगों की अभिलाषा वाले एवं शुद्धात्मा की भावना को नष्ट करने वाले रागादि परिणामों को उत्पन्न कर देता है। इसी गाथा का दूसरा अर्थ करते हैं कि कोई जीव नवीन पुण्य कर्म बंध के निमित्त भोगों की इच्छामय निदान भाव से शुभ कर्म का अनुष्ठान करता है तो वह पापानुबंधी पुण्य राजा कालान्तर में उसे भोग उत्पन्न कर देता है, परन्तु वे निदान बंध से प्राप्त हुए भोग रावण आदि के समान उसे अन्त में नरक में गिराने वाले होते है और उसे दुःखों की परम्परा को प्राप्त

कराते हैं। यह अज्ञानी जीव के प्रति अन्वय दृष्टांत गाथा हुई। अब यदि वही पुरुष किसी भी आजीविका के लिए राजा की सेवा नहीं करता है तो वह राजा भी नाना प्रकार के सुख उत्पन्न करने वाले भोग नहीं देता। यह ज्ञानी जीव के संबंध में व्यतिरेक दृष्टांत पूर्ण हुआ। इसी ही प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव पहले के बांधे हुए एवं उदय में आए हुए कर्म को शुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न वीतराग सुख से दूर हटकर विषय सुख के लिए उपादेय बुद्धि से अर्थात् प्रयत्न पूर्वक अपने विचार से उसे सेवन नहीं करता। इसलिए वह कर्म भी उसके लिए नाना प्रकार के सुख को उत्पन्न करने वाले तथा भोगों की अभिलाषारूप तथा शुद्धात्मीक भावना को नष्ट करने वाले रागद्वेषादिपरिणामों को नहीं उपजाता है इसी का अब दूसरे प्रकार से व्याख्यान यह है कि कोई भी सम्यग्दृष्टि जीव निर्विकल्प समाधि के न होने से अशक्यानुष्ठान के रूप में विषय कषायों से बचने के लिए व्रत शील या दान पूजादि शुभ कर्म का अनुष्ठान करता है किन्तु भोगों की आकांक्षा रूप निदान बंध के साथ उस पुण्य कर्म का अनुष्ठान नहीं करता है तो वह पुण्यानुबंधी पुण्य कर्म आगे के भव में तीर्थंकर, चक्रवर्ती, वलदेवादि के अभ्युदयरूप में उदय में आया हुआ भी पूर्व भव में भाये हुए भेद विज्ञान की भावना के बल से शुद्धात्मा की भावना का मूलोच्छेद करने वाले भोगों की आकांक्षा रूप निदान बंध वाले ऐसे विषय सुखों को उपजाने वाले रागादि परिणामों को पैदा नहीं करता है। जैसे कि भरतेश्वर चक्रवर्ती आदि के पैदा नहीं किया। यह सम्यग्ज्ञानी जीव के प्रति दार्ष्टांत गाथा पूर्ण हुई ।।२४०-२४१-२४२-२४३।।

विशेषार्थ—आचार्य श्री ने यहाँ यह बात बतलाई है कि अज्ञानी जीव फल प्राप्त करने की इच्छा से कार्य करता है परन्तु ज्ञानी फल की इच्छा के बिना ही करता है। इस पर यह शंका हो सकती है कि जब फल पाने की इच्छा ही ज्ञानी के नहीं हैं तो फिर वह कुछ करता भी क्यों है? इसका उत्तर यह है कि वह जो भी कुछ करता है वह पर प्रयोग वश होकर करता है। जैसे कि मुनि एक स्थान से दूसरे स्थान पर गमन करते हैं तो उन्हें परम आगम में एक स्थान पर अधिक ठहरने की आज्ञा नहीं है इसलिये गमन करते हैं। गृहस्थ यदि कहीं पर जाता है तो कुछ लाभ पाने के लिए या वहाँ का सौन्दर्य आदि देखने के लिए जाता है तो वह देखकर या प्राप्त कर प्रसन्न होता है आदि। परन्तु मुनि में ऐसी बात नहीं है उन्हें इस स्थान से न तो द्वेष होता है और न उस स्थान से राग और न कोई संबंध ही रखते हैं। वे तो जैसे यहां बैठे थे वैसे ही वहां जा बैठते है, अपने आपमें प्रसन्न रहते हैं स्वस्थित रहते हैं इत्यादि। यही बात यहां बतलाई है।

इस प्रकार जिस परमात्मपद का वर्णन इन विशेषणों से किया जा चुका है वह मति श्रुत, अवधि मनः पर्यय और केवल ज्ञान के भेदसे भी भेदको प्राप्त नहीं होता। जो परमार्थशब्द से कहा जाने योग्य है, जो साक्षात् मोक्ष का कारण भूत है, शुद्धात्मा का संवेदन होना ही जिसका लक्षण है जो अपने आपके द्वारा ही जानने योग्य है और संवर पूर्वक निर्जरा का उपादान कारण है, वह पद जिस विकार रहित स्वसंवेदन लक्षण वाले भेद विज्ञान गुणके बिना नहीं प्राप्त किया जासकता है उसी भेद विज्ञान गुण का विशेष व्याख्यान इन चौदह गाथाओं में पूर्ण हुआ।

अब इसके आगे नव गाथाओं में निःशंकितादि आठ गुणों का वर्णन करते हैं। उसमें भी सबसे प्रथम पहली गाथा में यह बताते हैं कि जो सम्यक्त्वी जीव निज परमात्मा की भावना से उत्पन्न हुए सुखरूप अमृतरस के आस्वादन से संतुष्ट रहते हैं वे घोर उपसर्ग के आने पर भी सात प्रकार के भय से रहित होने के कारण निर्विकार रूप स्वानुभव ही है स्वरूप जिसका ऐसे अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते हैं उसीमें तल्लीन रहते हैं।

सम्मादिट्ठी जीवा णिस्संका होंति णिब्भया तेण ।
सत्तभयविप्पमुक्का जम्हा तम्हा दु णिस्संका ॥२४४॥

सम्यग्दृष्टयो जीवा निश्शंका भवंति निर्भयास्तेन ।
सप्तभयविप्रमुक्ता यस्मात्तस्मात्तु निश्शंका ॥२४४॥

अर्थः—सम्यग्दृष्टि जीव निःशंक कहे गये हैं इसलिये निर्भय होते हैं। वे मरणादिरूप सप्त प्रकार के भय से रहित होते हैं यही उनके निःशंक होने का अर्थ है ॥२४४॥

तात्पर्यवृत्तिः—सम्मादिट्ठी जीवा णिस्संका होंति सम्यग्दृष्टयो जीवाः शुद्धबुद्धैकस्वभावनिर्दोषपरमात्माराधनं कुर्वाणाः संतो निश्शंका भवंति यस्मात् कारणात् । **णिब्भया तेन** तेन कारणेन निर्भया भवंति **सत्तभयविप्पमुक्का जह्मा** यस्मादेव कारणात्, इहलोक-परलोक-अत्राण अगुप्ति-मरण-वेदना-आकस्मिकसंज्ञितसप्तभयविप्रमुक्ता भवंति **तह्मा दु णिस्संका** तस्मादेव कारणात् घोरपरीषहोपसर्गे प्राप्तेपि निश्शंकाः शुद्धात्मस्वरूपे निष्कंपाः संतः शुद्धात्मभावनोत्थवीतरागसुखानंदतृप्ताश्च परमात्मस्वरूपान्न प्रच्यवंते पांडवादिवत् ।

अथानंतरं वीतरागसम्यग्दृष्टेर्निश्शंकाद्यष्टगुणाः नवतरबंधं निवारयंति ततः कारणाद्बंधो नास्ति किन्तु संवरपूर्विका निर्जरैव भवतीति प्रतिपादयति—

टीकाः—(सम्मादिट्ठी जीवा णिस्संका होंति) सम्यग्दृष्टि जीव शुद्ध बुद्ध एक स्वभावरूप निर्दोष परमात्मा का आराधन करते हुए निःशंक होते हैं (णिब्भया तेण) इसी से वे भय रहित होते। (सत्तभयविप्पमुक्का जह्मा) क्योंकि इस लोक का भय, परलोक, भय, अत्राण (अरक्षा) अगुप्तिभय, वेदनाभय, और आकस्मिक भय इन सात भय से रहित होते है, (तह्मा दु णिस्संका) इसलिये वे घोर उपसर्गके आपड़ने पर भी पाण्डवादि के समान निःशंक होते हैं अर्थात् शुद्धात्मा के स्वरूप में निश्चल रहते हुए तथा शुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न जो वीतराग परमानन्द सुख उसमें तृप्त रहते हुए उस परमात्मस्वरूप से च्युत नहीं होते हैं ॥२४४॥

विशेषार्थः—शंका शब्द के मुख्यता से दो अर्थ हैं। सन्देह और भय। आचार्य श्री ने यहां पर भय अर्थ को लेकर प्रतिपादन किया हैं। समन्तभद्रादि ने अपने रत्नकरण्ड आदि ग्रंथों में 'सन्देह' अर्थ को लेकर लिखा है जैसे— 'इदमेवेदृशमेव, तत्वं नान्यन्न चान्यथा। इत्यकम्पायसाम्भोवत्सन्मार्गेऽसंशया रुचिः ॥ इसमें स्पष्ट है। वह सन्देह जहाँ नहीं होता वहां भय भी नहीं होता ऐसा नहीं है, सोही यहां पर भी समझना चाहिए। देखो, अनादिकाल का अज्ञानी प्राणी शरीर और आत्मा को एक समझ रहा है अतः शरीर को नष्ट होता हुआ देखकर आत्मा को भी नष्ट हुआ मान रहा है एवं दुःखी हो रहा है। किन्तु जब सन्तों का समागम प्राप्त करता है तो उनके कहने से कि हे भाई ! यह तेरा शरीर नाशवान् है जो कि जड़ है किन्तु तेरा आत्मा तो इसमें रहता हुआ भी इससे भिन्न है जोकि अमूर्तिक, चैतन्य और नित्य है। यह शरीर जो रूपादिमान् है वह तो यहीं पड़ा रह जायगा, किन्तु आत्मा तो अपनी करनी के अनुसार अन्यत्र जाकर अपना ठाठ दिखाने लगेगा जैसा कि व्यन्तरादिक के मुंह से सुनने में आता है इत्यादि। तब यह मानने लग जाता है कि जैसा कि श्री गुरु कहते हैं वह ठीक ही है। फिर भी इस शरीर से ममत्व

बनाये ही रहता है कि यह शरीर है तो भगवान् भजन आदि कर लेता हूं। यदि यह अस्वस्थ रोगी आदि हो जाय तो मैं क्या करूं इत्यादि रूप से भय बना ही रहता है यह अव्रत सम्यग्दृष्टि की अवस्था है। जिसको कि लक्ष्य में लेकर रत्नकरण्ड श्रावकाचार में निःशंकितादि अंग का लक्षण लिखा है परन्तु जब वही विरक्त होता है तो धन धान्यादि का त्याग करके एकान्त में आत्म ध्यानस्थ रहता है, वहां पर शरीर से निरपेक्ष होने के कारण उसे फिर वहां किसी भी प्रकार का भय नहीं रहता। उसी विरत सम्यग्दृष्टि को लक्ष्य में लेकर यहां इस प्रकार निःशंकितादि आठ अंगों का वर्णन किया है। जैसा कि आत्मख्यातिकार के द्वारा लिखे गये सप्त भयों के वृत्तों में आये हुए अन्तिम चरण से स्पष्ट होता है–"निःशङ्कः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति" अर्थात् वह ज्ञानी सदा निरन्तर स्वयं सहज ज्ञान स्वरूप अपनी आत्मा का अनुभव करता है अर्थात् आत्मध्यान में तल्लीन रहता है।

आगे कहते हैं कि वीतराग सम्यग्दृष्टि जीव के निःशंक आदि आठ गुण नवीन बंध का निवारण करते रहते हैं इसलिये उसके बन्ध नहीं होता अपितु संवर पूर्वक निर्जरा होती है :—

जो चत्तारिवि पाए छिंददि ते कम्म मोहबाध करे।
सो णिस्संको चेदा सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥ २४५ ॥

यश्चतुरोपि पादान् छिनत्ति तान् कर्म मोह बाधाकरान्।
स निश्शंक श्चेतयिता सम्यग्दृष्टि र्ज्ञातव्यः ॥ २४५ ॥

अर्थ— जो कोई कर्मबन्ध का करने वाला मोह भाव, व बाधा को उत्पन्न करने वाले, मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और शुभाशुभरूप योग इन चार पायों को उखाड़ डालता है वह आत्मा ही निःशंक सम्यग्दृष्टि होता है।।२४५।।

तात्पर्यवृत्तिः— जो चत्तारिवि पाए छिंददि ते कम्मोहबाधकरे यः कर्ता मिथ्यात्वाविरति कषाययोगलक्षणान् संसारवृक्षस्य मूलभूतान् निष्कर्मात्मतत्त्वविलक्षणत्वेन कर्मकरान् निर्मोहात्मद्रव्यपृथक्त्वेन मोहकरान् अव्याबाधसुखादिगुणसिक्षणपरमात्मपदार्थभिन्नत्वेन वा बाधाकरांस्तान् आगमप्रसिद्धांश्चतुरः पादान् शुद्धात्मभावनाविषये निश्शंको भूत्वा स्वसंवेदनज्ञानखड्गेन छिनत्ति **सो णिस्संको चेदा सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो** स चेतयिता आत्मा सम्यग्दृष्टिर्निश्शंको मंतव्यः, तस्य तु शुद्धात्मभावनाविषये शंकाकृतो नास्ति बंधः, किंतु पूर्वबद्धकर्मणो निश्चितं निर्जरैव भवति।

टीका—(जो चत्तारिवि पाए छिंददि ते कम्म मोहबाधकरे) जो कोई मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और शुभाशुभरूप योग भाव ही है लक्षण जिसका ऐसे संसार रूप वृक्ष के जड़ सरीखे हैं एवं निष्कर्म जो आत्मतत्व से विलक्षणता लिए हुए होने से कर्मों को उत्पन्न करने वाले हैं और अव्याबाध (बाधा रहित) सुख आदि गुणों का धारी जो परमात्मा पदार्थ है उससे पृथक् होने के कारण बाधा पैदा करने वाले हैं ऐसे उन आगम प्रसिद्ध चारों पायों को शुद्धात्मा की भावना में शंका रहित होकर स्वसंवेदन नाम वाले ज्ञान रूप खड्ग के द्वारा काट डालता है (सोणिस्संको चेदा सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो) वह चेतनस्वरूप आत्मा ही निश्शंक सम्यग्दृष्टि माना गया है। उसके शुद्धात्मा के विषय में शंका को पैदा करने वाला बंध नहीं होता किन्तु पूर्व बद्धकर्म की निर्जरा ही निश्चित रूप से होती है।

विशेषार्थ—यहां पर भी आचार्य उसी वीतरागी सम्यग्दृष्टि को लक्ष्य में लेकर कह रहे हैं कि

जिसने अन्तरंग और बहिरंग परिग्रह का सर्वथा त्याग कर दिया है और कर्म बंध के करनेवाले चारों प्रत्ययों से दूर हटकर निर्विकल्प समाधि में लगकर अपने स्वस्थ भाव का ही अनुभव कर रहा है। न कि चतुर्थगुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि का जो अपने सहोदर भाई पर चक्र चला रहा है या भयके मारे घबराकर लोहे के कीलों से टकरा जाने के कारण मर जाता है। यही बात आगे की गाथाओं से भी झलकती है।

जो ण करेदि दु कंखं कम्मफलेसु तहयसव्वधम्मेसु।
सो णिक्कंखो चेदा सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२४६॥

यो न करोति तु कांक्षां कर्मफलेषु तथा सर्वधर्मेषु।
स निष्कांक्षश्चेतयिता सम्यग्दृष्टिर्मन्तव्यः ॥२४६॥

अर्थ—जो आत्मा कर्मों के फलों में व सभी प्रकार के धर्मों में इच्छा नहीं करता है उस आत्मा को निःकांक्षित (इच्छा रहित) सम्यग्दृष्टि समझना चाहिये ॥२४६॥

तात्पर्यवृत्तिः—जो ण करेदि दु कंखं कम्मफलेसु तहय सव्वधम्मेसु यः कर्त्ता शुद्धात्मभावनासंजातपरमानन्दसुखे तृप्तो भूत्वा कांक्षां वांछां न करोति केषु ? पंचेंद्रियविषयसुखभूतेषु कर्मफलेषु तथैव च समस्तवस्तुधर्मेषु स्वभावेषु अथवा विषयसुखकारणभूतेषु नानाप्रकारपुण्यरूपधर्मेषु अथवा इहलोकपरलोककांक्षारूपसमस्तपरसमयप्रणीतकुधर्मेषु। **सो णिक्कंखो चेदा सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो** स चेतयिता आत्मा सम्यग्दृष्टिः संसारसुखे निष्कांक्षितो मंतव्यः। तस्य विषयसुखकांक्षाकृतो नास्ति बंधः किंतु पूर्वसंचितकर्मणो निर्जरैव भवति।

टीका:—(जो ण करेदि दु कंखं कम्म फलेसु तह सव्वधम्मेसु) जो आत्मा शुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न हुये परमानन्द सुख में संतुष्ट होकर कांक्षा अर्थात् कुछ भी वांछा नहीं करता है अर्थात् पांचों इन्द्रियों के विषय सुख रूप जो कर्मों के फल हैं उनमें तथा समस्त वस्तुओं के धर्मों में स्वभावोंमें या विषय सुख के कारणभूत नानाप्रकार पुण्यरूप धर्मों में अथवा इस लोक व परलोक संबंधी इच्छाओं के कारणभूत समस्त परसमय (शास्त्र) हैं उनके द्वारा प्ररूपित कुधर्मों में भी कुछ भी इच्छा नहीं रखता है (सो णिक्कंखो चेदा सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो) वह आत्मा सम्यग्दृष्टि इच्छा व कांक्षा रहित है ऐसा जानना चाहिये। इस ज्ञानी जीव के विषयों के सुख की इच्छा नहीं होती इसलिये उसके वांछा जन्य बन्ध नहीं होता किन्तु पूर्व संचित कर्म की निर्जरा ही होती है ॥२४६॥

जो ण करेदि दु गुंछं चेदा सव्वेसिमेव धम्माणं।
सो खलु णिव्विदिगिंछो सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२४७॥

यो न करोति जुगुप्सां चेतयिता सर्वेषामेव धर्माणां।
स खलु निर्विचिकित्सः सम्यग्दृष्टिर्मन्तव्यः ॥२४७॥

अर्थ—जो जीव सभी वस्तुओं के धर्मों में ग्लानि नहीं करता है वह अवश्य ही विचिकित्सा दोष रहित सम्यग्दृष्टि मानने योग्य है ॥२४७॥

तात्पर्यवृत्तिः—जो ण करेदि दु गुंछं चेदा सव्वेसिमेव धम्माणं यश्चेतयिता आत्मा परमात्मतत्वभावना-बलेन जुगुप्सां निंदां दोषं विचिकित्सांन करोति, केषां संबंधित्वेन ? सर्वेषामेव वस्तुधर्माणां स्वभावानां, दुर्गंधादिविषये वा **सो खलु णिव्विदिगिंछो सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो** स सम्यग्दृष्टिः निर्विचिकित्स स्फुटं मंतव्यो ज्ञातव्यः तस्य च परद्रव्यद्वेषनिमित्तो नास्ति बंधः । किं तु पूर्वसंचितकर्मणो निर्जरैव भवति ।

टीका:—(जो ण करेदि दु गुंछ चेदा सव्वेसिमेव धम्माणं) जो चेतन आत्मा परमात्म तत्व की भावना के बलसे सभी वस्तुओं के स्वभावों के प्रति जुगुप्सा ग्लानि निन्दा या विचिकित्सा नहीं करता, दुर्गन्ध के विषय में ग्लानि नहीं करता (सो खलु णिव्विदिगिंछो सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो) वह ही ग्लानि रहित सम्यग्दृष्टि माना गया है। उसके पर पदार्थों से द्वेष निमित्तक बन्ध नहीं होता किन्तु पूर्व संचित कर्मों की निर्जरा ही होती है ।।२४७।।

जो हवदि असम्मूढ़ो चेदा सव्वेसु कम्मभावेसु ।
सो खलु अमूढ़दिट्ठी सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ।।२४८।।

यो भवति असंमूढ़ श्चेतयिता सर्वेषु कर्मभावेषु ।
स खलु अमूढ़दृष्टिः सम्यग्दृष्टिर्मन्तव्यः ।।२४८।।

अर्थ—जो चेतन आत्मा सर्वकर्मों के उदयरूप भावों में मूढता (मोह ममता) धारण नहीं करता वह वास्तव में अमूढ दृष्टि अंगका धारी सम्यग्दृष्टि मानने योग्य है ।।२४८।।

तात्पर्यवृत्तिः—जो हवदि असंमूढो चेदा सव्वेसु कम्मभावेसु यश्चेतयिता आत्मा स्वकीयशुद्धात्मनि श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपेण निश्चयरत्नत्रयलक्षणभावनाबलेन शुभाशुभकर्मजनितपरिणामरूपे बहिर्विषये सर्वथाऽसंमूढ़ो भवति **सो खलु अमूढदिट्ठी सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो** स खलु स्फुटं सम्यग्दृष्टिरमूढदृष्टिर्मंतव्यो ज्ञातव्यः । तस्य च बहिर्विषये मूढताकृतो नास्ति बंधः परममममयमूढताकृतो वा। किं तु पूर्वबद्धकर्मणो निश्चितं निर्जरैव भवति ।

टीका:—(जो हवदि असम्मूढ़ो चेदा सव्वेसु कम्मभावेसु) जो चेतन आत्मा अपनी शुद्धात्मा में ही श्रद्धान, ज्ञान और आचरण रूप निश्चय रत्नत्रयमय भावना का बल है उससे समाधि परिणामोंसे शुभ और अशुभ कर्मो से उपजाये हुये परिणाम स्वरूप इन बाह्य द्रव्यों के विषयों में सर्वथा असम्मूढ़ है मोह ममता नहीं रखता है (सो खलु अमूढदिट्ठी सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो) वास्तवमें वही सम्यग्दृष्टि अमूढ़-दृष्टि अंगका धारी माना जाना चाहिए । इस ज्ञानी जीव के बाह्य पदार्थोंमें मूढ़ता-ममता से होने वाला कर्मबन्ध नहीं होता, किन्तु पूर्वकृत कर्मों की निर्जरा ही होती है ।।२४८।।

विशेषार्थ:—इस गाथा के दूसरे चरण के आत्मख्यातिकार के पाठमें तथा तात्पर्यवृत्ति कारके पाठ में थोड़ा सा अन्तर है । आत्मख्याति कारका पाठ है 'चेदासदिट्ठी सव्वभावेसु' जिसका अर्थ होता है विश्व के सभी पदार्थों में समीचीन दृष्टि वाला किन्तु तात्पर्यवृत्ति में पाठ है " सव्वेसु कम्मभावेसु" शुभ या अशुभ कर्मों के द्वारा उपजाये हुए शुभ अशुभ भावों से जिनका उपयोग होता है ऐसे सभी पदार्थो में जो असम्मूढ़ हैं । इस प्रकार अर्थ पर दृष्टि डालने पर दोनों में कोई विशेष अन्तर नहीं है । मूल मतलब दोनों का एक है आत्मख्यातिकार कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि जीव टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक भाव मय होता

है अर्थात् शुद्धात्मध्यान में तल्लीन रहता है बाह्य पदार्थो से उसका विचार दूर हटा हुआ है। यही बात तात्पर्यवृत्ति कार कह रहे हैं अर्थात् दोनों के ही कहने में त्रिगुप्तिमय परम समाधि में निरत रहता हुआ मुनि ही वास्तव में अमूढ़दृष्टि या सम्यग्दृष्टि है।

जो सिद्धभत्ति जुत्तो उवगूहणगो दु सव्वधम्माणं।
सो उवगूहण गारी सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२४९॥

जो सिद्धभक्ति युक्तः उपगूहनकस्तु सर्व धर्माणां।
स उपगूहनकारी सम्यग्दृष्टि र्मन्तव्यः ॥२४९॥

अर्थः—जिसने सिद्ध भावना की भक्तिमें ही अपना उपयोग लगा रखा है अतएव सर्व विभाव धर्मों का ढकने वाला है वह उपगूहन अंग का धारी सम्यग्दृष्टि मानना योग्य है ॥२४९॥

तात्पर्यवृत्तिः—**जो सिद्धभत्तिजुत्तो उवगूहणगो दु सव्वधम्माणं** शुद्धात्मभावनारूपपारमार्थिकसिद्धभक्तियुक्तः मिथ्यात्वरागादिविभावधर्माणामुपगूहकः प्रच्छादको विनाशकः **सो उवगूहणगारी सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो** स सम्यग्दृष्टिः, उपगूहनकारी मंतव्यो ज्ञातव्यः। तस्य चानुपगूहनकृतो नास्ति बंधः किं तु पूर्वसंचितकर्मणो निश्चितं निर्जरैव भवति।

टीकाः—(जो सिद्धभत्तीजुत्तो उवगूहणगो दु सव्वधम्माणं) जो जीव शुद्धात्मा की भावनारूप पारमार्थिक सिद्ध भक्ति से युक्त है तो वह मिथ्यात्व और रागादिरूप विभाव भावों का उपगूहक अर्थात् दबानेवाला है या नाश करने वाला ही है, (सो उवगूहणगारी सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो) तो ऐसा वह सम्यग्दृष्टि उपगूहनकारी माना जाना ही चाहिए। उस जीवके दोषों को नहीं छिपाने रूप अनुपगूहन के द्वारा किया हुआ बन्ध नहीं होता किन्तु उसके तो निश्चित रूप से पूर्व संचित कर्म की निर्जरा ही होती है ॥२४९॥

विशेषार्थः—जिसने सिद्ध भगवान् की भक्ति में वास्तवमें अपना मन लगाया है-उसमें तन्मय हो गया है तो उसका उपयोग अन्य विभाव भावों पर कहां रहेगा वे तो सब दबे ही रहेंगे अतः वह दोषों का उपगूहक ही रहता है। उपगूहन का दूसरा नाम उपबृंहण अर्थात् गुणों को बढ़ाना है जिसको आत्मख्याति कारने लिया है वह इस प्रकार है कि जब अपने उपयोग को सिद्धों के स्वरूप में लगा लिया तब आत्मा की स्वाभाविक शक्ति अभिव्यक्त होती है, पुष्ट होती है, बढती है, एवं आत्म दुर्बलता से होने वाला बंध न होकर निर्जरा ही होती है।

उम्मग्गं गच्छंतं सिवमग्गे जो ठवेदि अप्पाणं
सो ठिदिकरणेण जुदो सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२५०॥

उन्मार्गं गच्छंतं शिवमार्गे यः स्थापयत्यात्मानं।
स स्थितिकरणेन युक्तः सम्यग्दृष्टिर्मन्तव्यः ॥२५०॥

अर्थ—जो जीव उन्मार्ग में जाते हुए अपने आप को भी बचाकर मार्ग में स्थापना करता है वह सम्यग्दृष्टि स्थितिकरण गुण सहित है, ऐसा समझना योग्य है ।।२५०।।

तात्पर्यवृत्तिः—उम्मग्गं गच्छंतं सिवमग्गे जो ठवेदि अप्पाणं यः कर्ता मिथ्यात्वरागादिरूपमुन्मार्गं गच्छंतं संतमात्मानं परमयोगाभ्यासबलेन शिवमार्गे स्वशुद्धात्मभावनारूपे निश्चयमोक्षमार्गे निश्चलं स्थापयति **सो ठिदिकरणेण जुदो सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो** स सम्यग्दृष्टि; स्थितिकरणयुक्तो मंतव्यो ज्ञातव्यः । तस्य चास्थितिकरणकृतो नास्ति बंधः किं तु पूर्वबद्धकर्मणो निश्चितं निर्जरैव भवति ।

टीकाः—(उम्मग्गं गच्छंतं सिवमग्गे जो ठवेदि अप्पाणं) जो कोई मिथ्यात्व और रागादिरूप उन्मार्ग की ओर जाते हुये अपने आप को परम उत्तमरूप योगाभ्यास के बल से अपनी शुद्ध आत्मा की भावना स्वरूप मोक्ष मार्ग है, शिवमार्ग है उसमें निश्चलतया स्थापन करता है (सो ठिदिकरणेण जुदो सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो) वह सम्यग्दृष्टि जीव स्थितिकरण गुण युक्त माना जाना चाहिये। उसके अस्थितीकरण रूप दोष का किया हुआ बन्ध नहीं होता किन्तु निश्चितरूप से पूर्वबद्ध कर्म की निर्जरा ही होती है ।।२५०।।

जो कुणदि वच्छलत्तं तिण्हे साधूण मोक्खमग्गम्मि ।
सो वच्छलभावजुदो सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ।।२५१।।

यः करोति वत्सलत्वं त्रयाणां साधूनां मोक्षमार्गे ।
सः वात्सल्यभावयुक्तः सम्यग्दृष्टिर्मन्तव्यः ।।२५१।।

अर्थ—जो मोक्ष मार्ग पर चलनेवाले तीनों साधुओं के प्रति वात्सल्य भाव रखता है वह सम्यग्दृष्टि जीव वात्सल्य गुण का धारी माना जाना चाहिए ।।२५१।।

तात्पर्यवृत्तिः—जो कुणदि वच्छलत्तं तिण्हे साधूण मोक्खमग्गमि यः कर्त्ता मोक्षमार्गे स्थित्वा वत्सलत्वं भक्तिं करोति, केषां ? त्रयाणां स्वकीयसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणां, कथंभूतानां साधूनां ? मोक्षमार्गे साधकानां अथवा व्यवहारेण तदाधारभूतसाधूनां **सो वच्छलभावजुदो सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो** स सम्यग्दृष्टिः वत्सलभावयुक्तो मंतव्यो ज्ञातव्यः । तस्य चावात्सल्यभावकृतो नास्ति बंधः किं तु पूर्वसंचितकर्मणो निर्जरैव भवति ।

टीका—(जो कुणदि वच्छलत्तं तिण्हे साहूण मोक्खमग्गमि) जो कोई मोक्ष मार्ग में ठहरकर मोक्ष मार्ग के साधन करने वाले इन तीन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र रूप अपने ही भावों की अथवा व्यवहार से उस रत्नत्रय के आधार भूत आचार्य, उपाध्याय और साधु इन तीनों की भक्ति करता है उसमें धार्मिक प्रेम करता है (सो वच्छल भावो जुदो सम्मादिट्ठी मुणेदव्वों) वह सम्यग्दृष्टि जीव वत्सल भाव युक्त माना जाना चाहिए । उसके वात्सल्य भाव कृत बन्ध नहीं होता। किन्तु पूर्व संचित कर्मों की निर्जरा ही होती है ।।२५१।।

विज्जारहमारूढो मणोरहरएसु हणदि जो चेदा ।
सो जिणणाणपहावी सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ।।२५२

विद्यारथमारूढः मनोरथरयान् हंति यश्चेतयिता ।
स जिनज्ञानप्रभावी सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः ॥२५२॥

अर्थ—जो जीव आत्मानुभूति रूप विद्यारूपी रथ में आरूढ होकर मन रूपी रथ के वेगों को नष्ट करता है वह सम्यग्दृष्टि जिनेन्द्र के ज्ञान की प्रभावना करने वाला मानना चाहिए ।।२५२।।

तात्पर्यवृत्तिः—विज्जारहमारूढो मणोरहएसु हणदि जो चेदा यश्चेतयिता आत्मा स्वशुद्धात्मतत्त्वोपलब्धिस्वरूपविद्यारथमारूढः सन् ख्यातिपूजालाभभोगाकांक्षारूपनिदानबंधादिविभावपरिणामरूपान् द्रव्यक्षेत्रादिपंचप्रकारसंसारदुःखकारणान् शत्रून् मनोरथरयान् वेगांश्चित्तकल्लोलान् स्वस्थभावसारथिबलेन दृढतरध्यानखड्गेन हंति । **सो जिणणाणपहावी सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो** स सम्यग्दृष्टिर्जिनज्ञानप्रभावी मंतव्यो ज्ञातव्यः । तस्य चाप्रभावनाकृतो नास्ति बंधः किं तु पूर्वसंचितकर्मणो निश्चितं निर्जरैव भवति । एवं संवरपूर्विकाया भावनिर्जराया उपादानकारणभूतानां शुद्धात्मभावनारूपाणां शुद्धनयमाश्रित्य निश्शंकाद्यष्टगुणानां व्याख्यानमुख्यत्वेन गाथानवकं गतं ।

इदं तु निश्शंकाद्यष्टगुणव्याख्यानं निश्चयनयमुख्यत्वेन व्याख्यातं । निश्चयरत्नत्रयसाधके व्यवहाररत्नत्रयेऽपि स्थितस्य सरागसम्यग्दृष्टेरप्यंजनचौरादिकथारूपेण व्यवहारनयेन यथासंभवं योजनीयं । निश्चयं व्याख्याय पुनरपि किमर्थं व्यवहारनयव्याख्यानं ? इति चेन्नैवं । अग्निसुवर्णपाषाणयोरिव निश्चयव्यवहारनययोः परस्परसाध्यसाधकभावदर्शनार्थमिति तथाचोक्तं—

जेइजिणमइं पउंजह तामा ववहारणिच्छए मुचह ।
एक्केण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण पुण तच्चं । इति

किं च—संवरपूर्विका निर्जरा या व्याख्याता सा सम्यग्दृष्टेर्जीवस्य शुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपे मुख्यवृत्त्या निश्चयरत्नत्रये सति भवति स च निश्चयरत्नत्रयलाभो वीतरागधर्मध्यानशुक्लध्यानरूपे शुभाशुभबहिर्द्रव्यनिरालंबने निर्विकल्पसमाधौ सति भवति, स च समाधिरतीव दुर्लभः । कस्मात् ? इति चेत् एकेंद्रियविकलेंद्रियपंचेन्द्रियसंज्ञिपर्याप्तमनुष्यदेशकुलरूपेंद्रियपटुत्वनिर्व्याध्यायुष्कवरबुद्धिसद्धर्मश्रवणग्रहणधारणश्रद्धानसंयमविषयसुखव्यावर्तनक्रोधादिकषायनिवर्तनतपोभावनासमाधिमरणानि परंपरादुर्लभानि यतः । तदपि कस्मात् ? तत्प्रतिपक्षभूतानां मिथ्यात्वविषयकषायख्यातिपूजालाभभोगाकांक्षारूपनिदानबंधादिविभावपरिणामानां प्रबलत्वात् इति दुर्लभपरंपरां ज्ञात्वा सर्वतात्पर्येण समाधौ प्रमादो न कर्तव्यः ।

इत्यतिदुर्लभरूपां बोधिं लब्ध्वा यदि प्रमादी स्यात् ।
संसृतिभीमारण्ये भ्रमति वराको नरः सुचिरं । इति

तत्रैवं सति शृंगाररहितपात्रवत् शांतरसरूपेण निर्जरा निष्क्रांता ।

इति श्री **जयसेनाचार्य कृताया** समयसारव्याख्यायां शुद्धात्मानुभूतिलक्षणायां तात्पर्यवृत्तौ गाथाचतुष्टयं पीठिका रूपेण, गाथापंचकं ज्ञानवैराग्यशक्त्योः सामान्यविवरणरूपेण, गाथादशकं तयोरेव विशेष विवरणरूपेण, गाथाष्टकं ज्ञानगुणस्य सामान्यविवरणरूपेण, गाथाचतुर्दश तस्यैव विशेषविवरणरूपेण, गाथानवकं निश्शंकाद्यष्टगुणकथनरूपेण चेति समुदायेन पंचाशद्गाथाभिः षड्भिरंतराधिकारैः सप्तमो निर्जराधिकारः समाप्तः ।

टीका- (विज्जारहमारूढो मणोरहरएसु हएादि जो चेदा) जो चेतन आत्मा अपने शुद्ध आत्मा की उपलब्धि स्वरूप विद्यामई रथ पर आरूढ़ होकर मान, बड़ाई, पूजा, प्रतिष्ठा, लाभ तथा भोगों कीइच्छा को आदि लेकरनिदानबंध आदि विभावरूप परिणाम होता है जो कि द्रव्य, क्षेत्रादि रूप पांच प्रकार सांसारिक दु:खों केकारण होते हैं एवं जो आत्मा के शत्रु हैं ऐसे मनोरथ के वेगों को चित्त की तरंगो को स्वस्थ भाव समभाव रूप सारथी के बल से और दृढ़तर ध्यान रूप खड्ग के द्वारा नष्ट करदेता है (सो जिणणाणपहावी सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो) वह सम्यग्दृष्टि जीव जिनेन्द्र भगवान के ज्ञान की प्रभावना करने वाला माना गयाहै। अत: उसके अप्रभावना से होने वाला बंध नही होता किन्तु निश्चित रूप से पूर्व संचित कर्मो की निर्जरा ही होती ।।२५२।।

इस प्रकार शुद्ध नय का आश्रय लेकर संवर पूर्वक जो भाव निर्जरा होती है उसके उपादान कारण रूप तथा शुद्धात्मा की भावना स्वरूप जो नि:शकित आदि आठ गुण होते हैं उनके व्याख्यान करने की मुख्यता से नव गाथायें पूर्ण हुई ।।

यह नि:शंकितादि गुणों का जो व्यख्यान है वह निश्चयनय की प्रधानता से किया गया है। इस व्याख्यान को निश्चय रत्नत्रय का साधक जो व्यवहार रत्नत्रय है उसमें स्थित होने वाले सराग सम्यग्दृष्टि के ऊपर भी अंजन चौरादिक की कथारूप जो व्यवहारनय है उसके द्वारा यथा संभव लगा लेना।

टीकाकार के इस कथन को लेकर शंका पैदा होती है कि निश्चयनय का व्याख्यान करने के बाद भी व्यवहारनय का व्याख्यान यहां क्यों किया? टीकाकार इसका उत्तर देते हैं कि सुवर्ण और स्वर्णपाषाण में परस्पर कार्य कारणभाव है वैसा ही कार्यकारण भाव निश्चयनय और व्यवहार नयमें है, व्यनहारनय कारण है तो निश्चयनय उसका कार्य है यह बात दिखलाने के लिए ही यहां यह प्रयास किया गया है जैसे कि-

जइ जिणसमइ पउंजह ता मा ववहार णिच्छए मुवह, एक्केण विणा छिज्जई, तित्थं अण्णेण पुण तच्चं। अर्थात्—यदि जिनमत का रहस्य प्राप्त करना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चयनय इन दोनों में से किसो को मत भूलो क्योंकि व्यवहारनय को छोड़ देने से अभीष्ट सिद्धि का मूल कारण जो तीर्थ है वह नष्ट हो जाता है और निश्चयनय को भुला देने पर समुचित वस्तु तत्व हो नहीं रह पाता है।

सम्यग्दृष्टि जीव के जो संवर पूर्वक निर्जरा होती हुई बताई गई है वह भी प्रधानतया निर्विकल्प समाधि के होने पर ही होती है। जो कि निर्विकल्प समाधि, शुद्धात्मा के समीचीन (तन्मयतारूप) श्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठान रूप निश्चय रत्नत्रय स्वरूप होती है तथा राग (आर्त्त और रौद्रभाव) से रहित धर्म्यध्यान और शुक्ल ध्यान मय होती है और शुभ और अशुभ रूप बाह्य द्रव्यों के आलंबन से सर्वथा रहित होती है। यह निर्विकल्प समाधि वास्तव में अत्यन्त दुर्लभ है क्योंकि साधारण निगोद से निकल कर एकेन्द्रियपना, विकलेन्द्रियपना, पंचेन्द्रियपना, संज्ञीपना, संज्ञीमें भी पर्याप्तपना, मनुष्यपना, उत्तमदेश, उत्तमकुल सुडोलशरीर, इन्द्रियों की पूर्णता, रोगरहित आयु, भलीबुद्धि, समीचीन धर्म का सुनना, उसे विचार पूर्वक अपने मन में उतारना और धारण करना, उस पर विश्वास लाना, संयम स्वीकार करना, वैषयिक सुखसे दूर हटना, क्रोधादि कषायों को दूर करना, अनशनादिक तप की भावना का होना, एवं समाधि पूर्वक मरण ये सब बातें उत्तरोत्तर दुर्लभ हैं। क्योंकि उपर्युक्त बातों में रुकावट डालने वाले मिथ्यात्व विषय

कषायरूप विकारी परिणामों की प्रबलता रहती है जिससे ख्याति पूजा, लाभ और भोगों की आकांक्षा रूप निदान बंध आदि विभाव परिणाम होते ही रहते हैं। इस प्रकार की दुर्लभता को जानकर समाधि के विषय में किसी भी प्रकार का प्रमाद नहीं करना चाहिये।

जैसा कि कहा भी है— इत्यतिदुर्लभरूपं बोधिं लब्ध्वा यदि प्रमादी स्यात्।
संसृतिभीमारण्ये, भ्रमति वराको नरः सुचिरं॥

अर्थात्—उपर्युक्त प्रकार से जिसका प्राप्त होना अत्यन्त दुर्लभ है उस बोधि भाव को प्राप्त करके भी यदि मनुष्य प्रमादी बना रहे और उसे हाथ से खोदे तो फिर वह बिचारा इस भयंकर संसाररूपबन में बहुत काल तक परिभ्रमण करता ही रहेगा। इस प्रकार शृंगार रहित पात्र की भांति शान्त रस रूप जो निर्जरा है वह चली गई।

इस प्रकार श्री जयसेनाचार्य की बनाई हुई शुद्धात्मा की अनुभूति रूप लक्षण वाली तात्पर्यवृत्ति नाम की समयसार की व्याख्या के हिन्दी अनुवाद में ४ गाथायें पीठिकारूप में, ५ गाथायें ज्ञान और वैराग्य का सामान्य वर्णन करने के रूप में, १० गाथायें उन्हीं दोनों शक्तियों का विशेष वर्णन के रूपमें, ८ गाथायें ज्ञान गुण के सामान्य वर्णन करनेमें, १४ गाथायें उसी का विशेष वर्णन करनेमें फिर ६ गाथायें निःशंकितादि गुणों का वर्णन करने में इस प्रकार सब मिलाकर ५० गाथाओं द्वारा छह अंतर अधिकारों में सातवां निर्जरा नाम का अधिकार पूर्ण हुआ।

आठवां महा अधिकार (बंध तत्व)

तात्पर्यवृत्तिः—अथ प्रविशति बंधः। तत्र **जहणाम कोवि पुरिसो** इत्यादि गाथामादिं कृत्वा पाठक्रमेण षट्पंचाशद्गाथापर्यंतं व्याख्यानं करोति। तासु षट्पंचाशद्गाथासु मध्ये प्रथमतस्तावद् बंधस्वरूपसूचनमुख्यत्वेन गाथादशकं। तदनंतरं निश्चयेन हिंसाहिंसाव्रताव्रतद्वयस्य लक्षणकथनरूपेण **जो मण्णदि हिंसामि** इत्यादि गाथासप्तकं। ततः परं बहिरंगद्रव्यहिंसा भवतु, मा वा भवतु, निश्चयेन हिंसाध्यवसाय एव हिंसेति प्रतिपादनरूपेण **जो मरदि** इत्यादि गाथाषट्कं। अथानंतरं निश्चयरत्नत्रयलक्षणं यद्भेदविज्ञानं तस्माद्विलक्षणानि यानि व्रताव्रतानि तद्व्याख्यानमुख्यत्वेन **एवमलिए** इत्यादि सूत्रभूतगाथाद्वयं। तदनंतरं तस्यैव भावपुण्यपापरूपव्रताव्रतस्य शुभाशुभबंधकारणभूतस्य परिणामव्याख्यानमुख्यत्वेन **वत्थुं पडुच्च** इत्यादि गाथात्रयोदश। एवं समुदायेन पंचदश। तदनंतरं निश्चये स्थित्वा व्यवहारो निषेध्यत इति कथनरूपेण **ववहारणओ** इत्यादि सूत्रषट्कं। अतः परं रागद्वेषरहितज्ञानिनां प्राशुकान्नपानाद्याहारो, बंधकारणं न भवति इति पिंडशुद्धिव्याख्यानरूपेण **आधाकम्मादीया** इत्यादि सूत्रचतुष्टयं। तदनंतरं क्रोधादिकषायाः कर्मबंधनिमित्तं भवंति तेषां च चेतनाचेतनबहिर्द्रव्यं निमित्तं भवतीति प्रतिपादनरूपेण **जह फलिहमणि विसुद्धो** इत्यादि सूत्रपंचकं। तदनंतरमप्रतिक्रमणमप्रत्याख्यानं च बंधकारणं भवति न पुनः। शुद्धात्मेति व्याख्यानमुख्यत्वेन **अप्पडिकमणं** इत्यादिगाथात्रयं चेति समुदायेन षट्पंचाशद्गाथाभिरष्टांतराधिकारैः बंधाधिकारे समुदायपातनिका। तद्यथा बहिरात्मजीवसंबंधिनो बंधकारणभूतस्य शृंगारसहितपात्रस्थानीयस्य मिथ्याज्ञानस्य नाटकरूपेण प्रविशतः सतः शांतरसपरिणतं वीतरागसम्यक्त्वाविनाभूतं भेदज्ञानंप्रतिषेधं करोतीति उपदिशति।

टीका—अब बंध प्रवेश करता है। वहाँ 'जहणाम कोवि पुरुषो' इत्यादि गाथा को आदि लेकर पाठ क्रम से ५६ गाथाओं में इसका वर्णन है। उन ५६ गाथाओं में से भी सबसे प्रथम दश गाथाओं में मुख्यता से बंध के स्वरूप की सूचना है। फिर 'जोमण्णदि हिंसामिय' इत्यादि सात गाथाओं में हिंसक और अहिंसक का स्वरूप है तत्पश्चात् बाहर में दीखनेवाली द्रव्य हिसा हो या ना हो किन्तु जहां हिंसा का अध्यवसाय हो गया वहां निश्चय से हिंसा है ही इस प्रकार का प्रतिपादन 'जोमरदि' इत्यादि छह गाथाओं में हुआ है। फिर दो गाथायें ऐसी है जिसमें निश्चय रत्नत्रय स्वरूप जो भेद विज्ञान उससे विलक्षणता रखने वाले जो व्रत और अव्रत हैं उन्हीं का 'एवमलिए' इत्यादि रूप से किया गया है। उसके भी बाद 'वत्थु पडुच्च' इत्यादि तेरह गाथायें हैं जिनमें शुभ व अशुभ बन्ध के कारण भूत भाव पुण्य और भाव पाप जो व्रत और अव्रत उनका व्याख्यान प्रधानता से किया गया है। फिर 'ववहारणयो' इत्यादि छह गाथायें हैं जिनमें यह बतलाया गया है कि निश्चय में स्थित होने पर ही व्यवहार का निषेध किया जा सकता है। इसके 'आधाकम्मादीया' इत्यादि चार सूत्र हैं जो पिण्ड शुद्धि का व्याख्यान करने वाले हैं उनमें यह बताया गया है कि प्राशुक अन्न पान रूप आहार का ग्रहण करना रागद्वेष रहित ज्ञानी जीवों के लिए बन्ध का कारण नहीं होता है। इससे भी आगे 'जह फलिह मणि विसुद्धो' इत्यादि पांच गाथायें हैं जिनमें बताया गया है कि क्रोधादि कषायें ही कर्म बन्ध का निमित्त होती हैं जो कि चेतन और अचेतन बाह्य द्रव्यों के निमित्त से हुआ करती हैं। इसके आगे 'अप्पडिकमणं' इत्यादि तीन गाथाये हैं जिनमें बताया गया है कि अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान ही बन्ध के कारण हैं किन्तु शुद्धात्मा बंध का कारण नहीं होती। इस प्रकार मिलाकर आठ अंतर अधिकारों और छप्पन गाथाओं के द्वारा बन्ध अधिकार पूर्ण होता है उसकी पातनिका हुई।

अब यह बताते हैं कि मिथ्यादृष्टि जीव के कर्म बंध का कारण भूत जो मिथ्यात्व है जो कि शृंगारसहित पात्र स्थानीय है जो कि नाटक रूप से प्रवेश कर रहा है उसका प्रतिरोध करने वाला भेद विज्ञान है जो कि शान्त रस के परिणत होकर रहने वाला है और वीतराग रूप सम्यक्त्व को साथ में लिए हुए होता है।

जह णाम कोवि पुरिसो णेहभत्तो दु रेणुबहुलम्मि।
ठाणम्मि ठाइदूण य करेइ सत्थेहिं वायामं ॥ २५३ ॥
छिंददि भिंददि य तहा तालीतल कयलि बंसपिंडीओ।
सच्चित्ताचित्ताणं करेइ दव्वाणमुवघायं ॥ २५४ ॥
उवघायं कुव्वंतस्स तस्स णाणाविहेहिं करणेहिं।
णिच्छयदो चिंतिज्ज हु किं पच्चयगो दु रयबंधो ॥२५५॥
जो सो दु णेहभावो तह्मि णरे तेण तस्स रयबन्धो।
णिच्छयदो विण्णेयं ण कायचेट्ठीहिं सेसाहिं ॥२५६॥
एवं मिच्छादिट्ठी वट्टन्तो बहुविहासु चिट्ठासु।
रायाई उवओगे कुव्वंतो लिप्पई रयेण ॥२५७॥ (पंचकम्)

यथा नाम कोऽपि पुरुषः स्नेहाभ्यक्तस्तु रेणुबहुले ।
स्थाने स्थित्वा च करोति शस्त्रैर्व्यायामं ॥२५३॥
छिनत्ति भिनत्ति च तथा तालीतलकदली वंशपिंडीः ।
सचित्ताचित्तानां करोति द्रव्याणामुपघातं ॥२५४॥
उपघातं कुर्वतस्तस्य नानाविधैः करणैः ।
निश्चयतश्चित्यतां किं प्रत्ययिकस्तु तस्य रजोबंधः ॥२५५॥
यः स तु स्नेहभावस्तस्मिन्नरे तेन तस्य रजोबंधः ।
निश्चयतो विज्ञेयं न कायचेष्टाभिः शेषाभिः ॥२५६॥
एवं मिथ्यादृष्टिर्वर्त्तमानो बहुविधासु चेष्टासु ।
रागादीनुपयोगे कुर्वाणो लिप्यते रजसा ॥२५७॥

अर्थ—जैसे कोई पुरुष अपनी देहमें तैलादि लगाकर बहुत धूलवाले स्थानमें स्थित होकर नाना हथियारों से व्यायाम करता है। वहां वह ताड़ का वृक्ष केले का वृक्ष तथा बांस के पिण्ड इत्यादि को तोड़ मरोड़ता है, भेदता है और सचित्त व अचित्त द्रव्यों का उपघात करता है। इस प्रकार नाना प्रकार के उपकरणों द्वारा आघात करनेवाले पुरुष के जो धूल या मिट्टी लगती है वह वास्तवमें क्यों चिपकी है ? कि उसने तैल लगा रखा है इसलिये उसके मिट्टी चिपक रही है शेष काय चेष्टाओं से धूलका चिपकना नहीं हैं। इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव नाना प्रकार की चेष्टाओं में प्रवृत्त होता है वह अपने उपयोगमें रागादि विकारभावों को करता हुआ प्रवर्त्तता है इसलिये कर्मरज से लिप्त होता रहता है ॥ २५३-२५४-२५५-२५६-२५७ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—जहणाम कोवि पुरिसो इत्यादि व्याख्यानं क्रियते–यथा नाम स्फुटमहो वा कश्चित्पुरुषः स्नेहाभ्यक्तः सन् रजोबहुलस्थाने स्थित्वा शस्त्रैर्व्यायाममभ्यासं श्रमं करोति इति प्रथमगाथा गता।

छिनत्ति भिनत्ति च तथा, कान् ? तालतमालकदलीवंशाशोकसंज्ञान् वृक्षविशेषान् तत्संबंधिसचित्ताचित्तद्रव्याणामुपघातं च करोति इति द्वितीयगाथा गता।

उपघातं कुर्वाणस्य तस्य नानाविधैर्वैशाखस्थानादिकरणविशेषैर्निश्चयतश्चित्यतां विचार्यतां किंप्रत्ययकः किंनिमित्तकः रजोबंधः ? इति पूर्वपक्षरूपेण गाथात्रयं गतं। अत्रोत्तरं—

यः स्नेहभावस्तस्मिन्नरे स पूर्वोक्तस्तैलाभ्यंगनरूपः तेन तस्य रजोबंध इति निश्चयतो विज्ञेयं न कायादिव्यापारचेष्टाभिः शेषाभिरित्युत्तरगाथा। एवं सूत्रचतुष्टयेन प्रश्नोत्तररूपेण दृष्टांतो गतः। अथ दार्ष्टांतमाह **एवं मिच्छादिट्ठी वट्टंतो बहुविहासु चेट्ठासु** एवं पूर्वोक्तदृष्टांतेन मिथ्यादृष्टिर्जीवः विविधासु कायादिव्यापारचेष्टासु वर्त्तमानः **रागादी उवओगे कुव्वंतो लिप्पदि रयेण** शुद्धात्मतत्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपाणां सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणामभावात् मिथ्यात्वरागाद्युपयोगान् परिणामान् कुर्वाणः सन् कर्मरजसा लिप्यते बध्यत इत्यर्थः। एवं यथा तैलम्रक्षितस्य रजोबंधो भवति तथा मिथ्यात्वरागादिपरिणतस्य जीवस्य कर्मबंधो भवति इति बंधकारणतात्पर्यकथनरूपेण सूत्रपंचकं गतं।

अथ गाथापंचकेन वीतरागसम्यग्दृष्टेर्बंधाभावं दर्शयति—

टीका—(जहणाम कोवि पुरुसो) जैसे कोई भी पुरुष अपने शरीर में तैल आदि चिकना पदार्थ लगाकर बहुत सी धूल वाले स्थान में जाकर मुद्गरादि शस्त्रों से व्यायाम का अभ्यास करता है। यह एक गाथा का अर्थ हुआ। वह ताड़ का वृक्ष, तमाखू का पौधा, केले का पेड़ बाँसों का बीड़ा और अशोक वृक्ष आदि नाना वृक्षों को छेदता भेदता है एवं उनसे संबंध रखने वाले सचेतन और अचेतन द्रव्यों का घात करता हैं। यह दूसरी गाथा का अर्थ हुआ। उन नाना प्रकार के उपकरणों द्वारा उपघात करते हुए उस जीव के जो धूली लगती है वह सोचो किस कारण से धूली लगती है? इस प्रकार पूर्वपक्ष के रूप में तीन गाथायें हुईं। उसका उत्तर यह है कि उसने अपने शरीर में तेल मालिश से चिकनापन कर रखा है उसीसे वह धूल उसके चिपकती है। यह चौथी उत्तर रूप गाथा हुई। इस प्रकार प्रश्नोत्तर रूप चार सूत्रों द्वारा दृष्टांत कहा गया। (एवं मिच्छादिट्ठी वट्टन्तो बहुविहासु चिट्ठासु) उपर्युक्त दृष्टांत के अनुसार ही मिथ्यादृष्टि जीव अर्थात् विरति रहित जीव नाना प्रकार की शारीरिक व्यापारमय चेष्टाओं में प्रवर्तमान होता है तब वहां पर वह (रागादि उवओगे कुव्वन्तो लिप्पदि रयेण) शुद्धात्म तत्व का समीचीन रूप श्रद्धान, ज्ञान और आचरण रूप जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र के न होने से मिथ्यात्व और रागादिरूप उपयोगों को अर्थात् विकारी परिणामों को करता वह कर्म रूप रज से लिपजाता है बंध जाता है ऐसा समझना चाहिए। जिस प्रकार तैल लगाये हुए पुरुष के जैसे धूली चिपकती है वैसे ही मिथ्यात्व तथा रागादि रूप में परिणत जीव के कर्मबंध होता है। इस प्रकार कर्म बन्ध के कारण का व्याख्यान करने के रूप में पांच गाथायें पूर्ण हुईं ।।२५३-२५४-२५५-२५६-२५७।।

आगे वीतराग सम्यग्दृष्टि जीव के कर्म बन्ध नहीं होता है ऐसा पांच गाथाओं से बतलाते हैं:—

जह पुण सो चेव णरो णेहे सव्वह्मि अवणिये संते।
रेणु बहुलम्मि ठाणे, करेदि सत्थेहि वायामं ।।२५८।।
छिंददि भिंददि य तहा तालीतल कदलि वंस पिण्डीओ।
सचित्ताचित्ताणं करेदि दव्वाणमुवघादं ।।२५९।।
उवघादं कुव्वंतस्स, तस्स णाणा विहेहिं करणेहिं।
णिच्छयदो चिंतिज्जहु किंपच्चयगो ण रयबंधो ।।२६०।।
जो सो दु णेहभावो, तह्मिणरे तेण तस्स रयबंधो ।।
णिच्छयदो विण्णेयं ण कायचेट्ठाहि सेसांहिं ।।२६१।।
एवं सम्मादिट्ठी वट्टंतो बहुविहेसु जोगेसु।
अकरन्तो उवओगे, रागाइ ण लिप्पइ रयेण ।।२६२।।

यथा पुनः स चैव नरः स्नेहे सर्वस्मिन्न पनीते सति।
रेणबहुले स्थाने करोति शस्त्रैर्व्यायामं ।।२५८।।

छिनत्ति भिनत्ति च तथा तालीतल कदली वंश पिंडी: ।
सचित्ताचित्तानां करोति द्रव्याणमुपघांत ॥२५९॥
उपघातं कुर्वतस्तस्य नानाविधैः करणैः ।
निश्चयतश्चित्यतां किं प्रत्ययिको न रजोबंध ॥२६०॥
यः सतुस्नेहभावस्तस्मिन् नरे तेन तस्य रजोबंधः ।
निश्चयतो विज्ञेयं न काय चेष्टाभिः शेषाभिः ॥२६१॥
एवं सम्यग्दृष्टिर्वर्त्तमानो बहुविधेषु योगेषु ।
अकुर्वन्नुपयोगे रागादीन् न लिप्यते रजसा ॥२६२॥

अर्थ—हां, वही पूर्वोक्त पुरुष यदि अपने शरीर में लगी हुई चिकनाहट को दूर करके अर्थात् हटाकर बहुत मट्टी वाले स्थानमें भी नाना शस्त्रों द्वारा अनेक प्रकार के व्यायाम करता है। ताड़वृक्ष की जड को, केले के वृक्षको, बांस के बीड़े को छेदता है भेदता है, और सचित्त अचित्त द्रव्यों का उपघात भी करता है। इस प्रकार नानाविध उपकरणों के द्वारा उपघात करने वाले के भी नाना प्रकार की कायिक चेष्टा करने पर भी उसके धूलि नहीं चिपकती सो क्यों नहीं चिपकती ? इस प्रकार विचार करो तो समझमें आवेगा कि उस मनुष्य ने जो तेल लगा रखा था उसी से उसके धूल चिपकती थी, काय की अन्य चेष्टाओं से नहीं चिपकती थी, सो अब वह तैल नहीं है इसलिये नहीं चिपकती है। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि विरत जीव भी नाना प्रकार के योगों में प्रवर्त्तमान होता हुआ भी अपने उपयोग में रागादिकों को नहीं करता इसलिये कर्मरज से लिप्त नहीं होता है ॥ २५८-२५९-२६०-२६१-२६२ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—यथा स एव पूर्वोक्तो नरः स्नेहे सर्वस्मिन्नपनीते सति धूलिबहुलस्थाने स्थित्वा शस्त्रैर्व्यायामं, अभ्यासं श्रमं करोतीति प्रथमगाथा गता। छिनत्ति भिनत्ति च तथा, कान् ? तालतमालकदलीवंश पिंडीसंज्ञान् वृक्षविशेषान्। तत्संबंधिसचित्तद्रव्याणामुपघातं च करोति इति द्वितीयगाथा गता। उपघातं कुर्वाणस्य तस्य नानाविधैर्वैशाखस्थानादिकरणविशेषैः, निश्चयतश्चित्यतां विचार्यतां किंप्रत्ययकः किंनिमित्तकः, तस्य रजोबंधो न भवति। एवं प्रश्नरूपेण गाथात्रयं गतं। अत्रोत्तरं—यः स्नेहभावस्तस्मिन्नरे स पूर्वोक्तस्तैलाभ्यंगरूपः, तेन स तस्य रजोबंधः, इति निश्चयतो विज्ञेयं । न कायादिव्यापारचेष्टाभिःशेषाभिः, तदभावात् तस्य बंधो नास्तीत्यभिप्रायः, इत्युत्तरगाथा गता। एवं सूत्रचतुष्टयेन प्रश्नोत्तररूपेण दृष्टांतो गतः। अथ दार्ष्टांतमाह—

एवं सम्मादिट्ठी वट्टंतो बहुविहेसु जोगेसु एवं पूर्वोक्तदृष्टांतेन सम्यग्दृष्टिर्जीवः विविधयोगेषु नाना प्रकारमनोवचनकायव्यापारेषु वर्तमानः। **अकरंतो उवओगे रागादी** निर्मलात्मतत्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपाणां सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणां सद्भावात् रागाद्युपयोगान् परिणामानकुर्वाणः सन् **णेव बज्झदि रयेण** कर्मरजसा न बध्यते। एवं तैलम्रक्षणाभावे यथा रजोबंधो न भवति तथा वीतरागसम्यग्दृष्टेर्जीवस्य रागाद्यभावाद्बंधो न भवति, इति बंधाभावकारणतात्पर्यकथनरूपेण गाथापंचकं गतं। किं च यथात्र पातनिकायां भणितं, संज्ञानिजीवस्य शांतरसे स्वामित्वं, अज्ञानिनस्तु श्रृंगाराद्यष्टरसानां स्वामित्वं, तथाध्यात्मविषये नाटकावतारप्रस्तावे नवरसानां स्वामित्वं ज्ञातव्यं। इति सूत्रदशकसमुदायेन प्रथमस्थलं गतं।

अथ वीतरागस्वस्वभावं मुक्त्वा हिंस्यहिंसकभावेन परिणमनमज्ञानिजीवलक्षणं। तद्विपरीतं संज्ञानिलक्षणमिति प्रज्ञापयति—

टीका:—जैसे वही पूर्वोक्त पुरुष शरीर से सर्व तैलादिरूप चिकने पदार्थ को सर्वथा दूर कर धूल भरे स्थान में भी अनेक हथियारों द्वारा व्यायाम परिश्रम करता है। यह प्रथम गाथा हुई। वहां वह ताल-तमाल (तम्बाखू), केला बांस का बीड़ा आदि वृक्षों को छेदता है भेदता है, उनमें होने वाले सचित और अचित्त पदार्थों को बिगाड़ता है। यह दूसरी गाथा का अर्थ हुआ। वैशाख स्थान आदि साधनों के द्वारा उपघात करते रहने वाले उस पुरुष के जो धूल नहीं चिपकती सो क्यों ? इस प्रकार प्रश्न करनेरूप में तीसरी गाथा हुई। उसका उत्तर यह है कि उस पुरुष के शरीर में तेल चुपड़ने रूप चिकनापन था उसीसे धूल चिपकती थी यह निश्चित बात है। उसी की अन्य शारीरिक चेष्टाओं से धूल नहीं चिपकती थी अब उसके शरीर में वह तैलादि जनित चिकनापन नहीं रहा इसलिये उसके धूल नहीं चिपकती यह सब उत्तररूप गाथा का अभिप्राय हुआ। इस प्रकार चार गाथाओं में दृष्टान्त हुआ। अब दार्ष्टांत कहते हैं कि (एवं सम्मादिट्ठी वट्टन्ता बहुविहेसु जोगेसु) पूर्वोक्त दृष्टांत के अनुसार सम्यग्दृष्टि अर्थात् विरत जीव भी विविध प्रकार के योगों में अर्थात् अनेक प्रकार के मन, वचन, और काय संबंधी व्यापारों में प्रवर्तमान होता हुआ भी (अकरंतो उवओगे रागादी) निर्मल आत्मा का समीचीन श्रद्धान, ज्ञान और आचरण ही है स्वरूप जिसका ऐसे सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र का सद्भाव होने से रागादि के उपयोग स्वरूप विकारी परिणामों को नहीं करता है अतः (णेव बज्झदि रयेण) नूतन कर्मों से नहीं बन्धता है। इस प्रकार तैलादिक की चिकनाहट न होने पर जैसे धूल नहीं चिपकने पाती वैसे ही वीतराग सम्यग्दृष्टि जीव के रागादि विकार रूप भाव न होने से बन्ध नहीं होता इस प्रकार बन्ध अभाव का कारण बतानेके रूप में ये पांच गाथायें आईं ॥ २५८-२५९-२६०-२६१-२६२ ॥

विशेषार्थ:—यहां आचार्य महाराज कह रहे हैं कि जो काम मिथ्यादृष्टि अज्ञानी करता है वही काम सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीव भी करता है उसमें मिथ्यादृष्टि को बन्ध होता है और सम्यग्दृष्टि को बन्ध नहीं होता। इस पर से कोई व्यक्ति "हम भी भगवान के भक्त हैं, सम्यग्दृष्टि हैं, हम कुछ भी करें हमारे बन्ध नहीं होता" ऐसा सोचकर यदि स्वच्छन्द हो जाता है तो वह भूल करता है क्योंकि जो कोई कुछ भी करेगा तो उसके बन्ध होगा ही। ज्ञानी सम्यग्दृष्टि कुछ भी करता नहीं है इसलिए उसके बन्ध नहीं होता ऐसा स्वयं आचार्य श्री कर्ता कर्म अधिकार में बता ही आये हैं। यहां पर आचार्य श्री के कहने का इतना ही तात्पर्य है कि किसी २ कार्य में सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि इन दोनों का सहयोग होता है तभी वह सम्पन्न होता है। वहां पर मिथ्यादृष्टि तो उस कार्य को चलाकर इच्छापूर्वक सम्पन्न करता है अतः उसके कर्म बन्ध हुए बिना नहीं रहता परन्तु सम्यग्दृष्टि तो वहां तटस्थ रहता है अतः उसके बन्ध नहीं होता। यहां उदाहरण में सुदर्शन मुनि और वेश्या के प्रसंग को ही लिया जा सकता है। वेश्याने सुदर्शन मुनिराज को प्रतिग्रहण के बहाने से अपने घर पर ले जाकर उनके साथ तीन दिन तक भारी कुचेष्टा की एवं घोर पाप बन्ध किया किन्तु वहीं पर श्री मुनिराज पूर्ण निर्विकार बने रहे ऐसी दशामें उन्हें कर्म बन्ध कैसे हो सकता था ? हां, यदि वहां पर थोड़ा सा भी भला बुरा पन मान करके भी तनिकसा अपना कर्तापन का संबंध जोड़ लेते तो मुनि भी अज्ञानी बन करके कर्म बंध के करनेवाले बन जाते क्योंकि कर्त्तापन और ज्ञानीपन दोनों एक साथ नहीं रहते जैसा कि अमृतचन्द्र आचार्य के निम्न वृत्त से स्पष्ट है:-

जानाति यः स न करोति करोति यस्तु जानात्ययं न खलु तत्किल कर्मरागः।
रागं त्ववोधमयमध्यवसाय माहुर्मिथ्यादृशः स नियतं स हि (च) बंधहेतुः ॥ १६७॥

अर्थात्-जो जानता है वह करता नहीं है और जो करता है वह जानता नहीं है क्योंकि कर्त्तापन उस कार्य के प्रति इच्छा हुए बिना नहीं होता। इच्छा रागभाव है और राग अज्ञानमय अध्यवसान भाव है जो कि नियमसे बन्ध का कारण होता है एवं वह मिथ्यादृष्टि के ही होता है अर्थात् जहां पर किंचित् भी इच्छा या राग भाव है मिथ्यादृष्टिपन है ऐसा आचार्यों ने कहा है। अस्तु

जैसा यहां पातनिका में बताया था कि ज्ञानी जीव का स्वामीपना अर्थात् अधिकार तो एक शांत रस पर होता है किन्तु अध्यात्म के विषय में इस नाटकके प्रस्तावमें नवों रसों का स्वामीपना है ऐसा समझना चाहिये। इस प्रकार अज्ञानी के पांच तथा ज्ञानी के पांच मिलाकर दश गाथाओं में यह बन्ध अधिकार का पहला स्थल पूर्ण हुआ।

आगे यह बतलाते हैं कि वीतरागरूप स्वस्थ भाव को छोड़कर हिंस्य हिंसक भाव रूप से परिणमन करना यह अज्ञानी जीव का लक्षण है उससे विपरीत सम्यग्ज्ञानी जीव का लक्षण है:-

जो मण्णदि हिंसामिय हिंसिज्जामिय परेहिं सत्तेहिं।
सो मूढ़ो अण्णाणी, णाणी एत्तोदु विवरीदो ॥२६३॥

यो मन्यते हिनस्मि हिंस्ये च परैः सत्वैः।
स मूढ़ोऽज्ञानी ज्ञान्यतस्तु विपरीतः ॥२६३॥

अर्थ--जो ऐसा मानता है कि मैं किसी पर जीव को मार रहा हूं या मार सकता हूं और मैं पर जीवों के द्वारा मारा जा रहा हूं या मारा जा सकता हूं अर्थात् कोई भी मुझे मार रहे हैं या मार सकते हैं ऐसा समझने वाला जीव अज्ञानी है। ज्ञानी का विचार इससे उलटा होता है ॥ २६३ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—जो मण्णदि हिंसामिय हिंसिज्जामिय परेहिं सत्तेहिं सो मूढो अण्णाणी यो मन्यते जीवानहं हिनस्मि, परैः सत्वैरहं हिंस्ये इति च योसौ परिणामः स निश्चितमज्ञानः स एव बंधहेतुः, स परिणामो यस्यास्ति स चाज्ञानी। **णाणी एत्तोदु विवरीदो** एतस्माद्विपरीतो यो जीवितमरणलाभालाभसुखदुःखशत्रुमित्रनिंदाप्रशंसादिविकल्पविषये रागद्वेषरहितशुद्धात्मभावनासंजातपरमानंदसुखास्वादरूपे वा भेदज्ञाने रतः स ज्ञानीत्यर्थः।

अथ कथमयमध्यवसायः पुनरज्ञानं? इति चेत्--

टीका:—(जो मण्णदि हिंसामिय हिंसिज्जामिय परेहिं सत्तेहिं सो मूढ़ो अण्णाणी) जो कोई ऐसा मानता है कि मैं पर जीवों को मारता हूँ तथा पर जीवों के द्वारा मैं मारा जा रहा हूं, तो उसका यह भाव-विचार नियम से अज्ञान भाव है जो कि बंध का कारण है। इस प्रकार जिस किसी के भी यह विचार भाव होता है वही अज्ञानी मूर्ख होता है (णाणी एत्तो दु विवरीदो) किन्तु जो इससे उलटे विचार वाला है जो कि जीवन, मरण, लाभ, अलाभ, सुख, दुःख, शत्रु, मित्र तथा निन्दा और प्रशंसा आदि विकल्पों में राग द्वेष नहीं करता हुआ शुद्ध आत्मा की भावना से उत्पन्न हुआ जो परमानन्द सुख उसका आस्वादन करना ही है स्वरूप जिसका ऐसे भेदज्ञान में तल्लीन होता है अर्थात् उपर्युक्त समभाव से तन्मय होता है वह ही ज्ञानी जीव होता है ॥२६३॥

अब यह विचार अज्ञान क्यों है सो बताते हैं:-

आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
आउं ण हरेसि तुमं कह ते मरणं कयं तेसि ।।२६४।।

आयुः क्षयेण मरणं जीवानां जिनवरैः प्रज्ञप्तं ।
आयुर्न हरसि त्वं कथं त्वया मरणं कृतं तेषां ।।२६४।।

अर्थ व टीका:—जब कि जीवों का मरण उनकी आयुके क्षयसे होता है ऐसा ही जिनेश्वर देवने कहा है। जब उनकी आयु का तू अपहरण नहीं कर सकता (और तेरी आयु का अपहरण वे नहीं कर सकते हैं) तो कैसे तुम्हारे द्वारा उनका मरण किया गया ।।२६४।।

तात्पर्यवृत्ति:—**आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं** आयुःक्षयेण मरणं जीवानां जिनवरैः प्रज्ञप्तं कथितं। **आउं ण हरेसि तुमं कहते मरणं कदं तेसिं** तेषामायुःकर्म च न हरसि त्वं तस्यायुषः स्वोपयोगेनैव क्षीयमाणत्वात् कथं ते त्वया तेषां मरणं कृतमिति।

आउक्खयेण मरणं जीवाण जिणवरेहिं पण्णत्तं।
आऊं न हरंति तुहं कहते मरणं कयं तेहिं ।।

आयुः क्षेयण मरणं जीवानां जिनवरैः प्रज्ञप्तं ।
आयुर्न हरंति तव कथं ते मरणं कृतं तैः ।।

अर्थ—जीवों का मरण आयु कर्म के क्षय से होता है ऐसा जिनेश्वर देव ने कहा है क्योंकि पर जीव तेरा आयु कर्म नहीं हरते इसलिए उन्होंने तेरा मरण कैसे किया।

(यह उपरोक्त गाथा तात्पर्यवृत्ति में नहीं पर आत्मख्याति को टीका में है)

विशेषार्थ—प्रत्येक प्राणी का जीवन उसकी आयु के ऊपर निर्भर है। यदि आयु निःशेष हो चुकी है तो वह कभी जीवित नहीं रह सकता और अभी शेष है तो वह किसी का मारा नहीं मर सकता क्योंकि कोई भी किसी की आयु को हड़प नहीं सकता है, वह तो उपभोग के द्वारा ही समाप्त होगी। हां, उसका उपभोग दो प्रकार से होता है उदय से और उदीरणा से। उदय से आयु का उपभोग होना समुचित मरण है और उदीरणा से उपभोग अकाल मरण कहलाता है परन्तु आयु का उपभोग होकर उसकी समाप्ति होना ही चाहिये तभी मरण होगा अन्यथा नहीं। रही निमित्त की बात सो निमित्त मिलने पर भी किसी की मृत्यु नहीं होती तो किसी की साधारण निमित्त से भी मृत्यु हो जाती है तो किसी के बिना निमित्त के भी। जैसे कि किसी से तलवार की मर्म की चोट लगने पर भी नहीं मरता तो कोई साधारण चाकू की चोट से ही मर जाता है तथा मरने वाला बिना चोट खाये भी मर जाता है। अतः ऐसे अनियमित निमित्त पर ज्ञानी महत्व नहीं देता है। शंका-तो फिर आपके कहने में हम

कुछ भी करते रहें भले ही आंख मींचकर भी चलें तो कोई दोष नहीं है। उत्तर—हे भाई ! कुछ भी क्यों करते रहें। करना तो अज्ञान भाव है, बन्ध करने वाला है। इसके स्थान पर यों कहो कि कुछ भी नहीं करें निर्विकल्प समाधि में लग कर आत्म तल्लीन होकर नवीन बंध न होने से ज्ञानी कहलाने का अधिकारी बने रहें उस अवस्था में चाहे कुछ भी हो हमारा उसमें क्या चारा है यदि कोई मरता है तो अपने आयु की समाप्ति पर, और कोई जीवित है तो अपने आयु के बल पर पर क्योंकि हमारा तो उधर उपयोग ही नहीं है। परन्तु समाधि से च्युत होने पर यदि वहांविकल्प आवे तो उसे मारने का विकल्प न करके बचाने का विकल्प करना चाहिए जैसा कि बालि मुनि ने या विष्णुकुमार मुनि ने किया था ताकि कर्म बन्ध भी हो तो वह शुभ हो अनंत संसार के कारणभूत अशुभ कर्म बन्ध से बच जावे।

जीवन का अध्यवसाय भी अज्ञान है सो बताते हैं—

जो मण्णदि ज वेमि य जीविज्जामि य परेहिं सत्तेहिं।
सोमूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥

यो मन्यते जीवयामि च जीव्ये चापरैः सत्वैः।
स मूढोऽज्ञानी ज्ञान्यतस्तु विपरीतः ॥

अर्थ—जो ऐसा मानता है—विचारता है कि मैं पर जीवों को जीवित रखता हूं और ये दूसरे जीव भी मुझे जीवित रखते हैं तो वह मूढ़ है अज्ञानी है। ज्ञानी जीव तो इससे उलटा मानता है। (यह उपर्युक्त गाथा तात्पर्यवृत्ति की टीका में नहीं है पर आत्मख्याति की टीका में है)

आऊदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वण्हू।
आऊं च ण देसि तुमं कहं त ये जीवियं कयं तेसिं ॥२६५॥

*** आऊदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वण्हू।**
आऊं च ण दिंति तुंह कहं णु ते जीवियं कयं तेहिं ॥

आयुरुदयेन जीवति जीव एवं भणंति सर्वज्ञाः।
आयुश्च न ददासि त्वं कथं त्वया जीवितं कृतं तेषां ॥२६५॥

आयुरुदयेन जीवति जीव एवं भणंति सर्वज्ञाः
आयुश्च न ददाति तुभ्यं कथं नु ते जीवितं कृतं तैः ॥

अर्थ—जीव अपनी आयु के उदय से ही जीवित है ऐसा सर्वज्ञ देव कहते हैं। सो हे भाई ! तू पर जीव को आयु तो देता नहीं है तो तूने उन जीवों को जीवित कैसे किया ? तथा पर जीव भी तुझे आयु नहीं दे सकते तो उन्होंने भी तुझे जीवित किया यह भी कैसे माना जा सकता है ? अर्थात् नहीं माना जा सकता ॥ २६५ ॥

* (यह गाथा तात्पर्यवृत्ति की टीका में नहीं है)

तात्पर्यवृत्तिः—आउउदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वण्हू आयुरुदयेन जीवति जीव एवं भणंति सर्वज्ञाः। **आउं च ण देसि तुमं कहं तए जीविदं कदं तेसिं** आयुःकर्म च न ददासि त्वं तेषां जीवानां तस्यायुषः स्वकीयशुभाशुभपरिणामेनैव उपार्ज्यमाणत्वात्, कथं त्वया जीवितं कृतं ? न कथमपि। किं च ज्ञानिना पुरुषेण स्वसंवित्तिलक्षणत्रिगुणत्रिगुप्तिसमाधौ स्थातव्यं तावत्। तदभावे चाशक्यानुष्ठानेन प्रमादेन; अस्य मरणं करोमि, अस्य जीवितं करोमि, इति यदा विकल्पो भवति तदा मनसि चिंतयति अस्य शुभाशुभकर्मोदये सति, अहं निमित्तमात्रमेव जातः इति मत्वा मनसि रागद्वेषरूपोऽहंकारो न कर्तव्य इति भावार्थः।

अथ दुःखसुखमपि निश्चयेन स्वकर्मोदयवशाद् भवति, इत्युपदिशति—

टीका:—(आऊदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वण्हू) प्रत्येक जीव अपनी आयु के उदयसे जीवित है। इस प्रकार सर्वज्ञ भगवान कहते हैं तू (आऊं च ण देसि तुमं कहं तये जीवियं कयं तेसिं) आयु कर्म तो उन्हें देता नहीं है क्योंकि उनकी आयु तो उनके शुभ तथा अशुभ परिणामों के अनुसार उपजी है तो फिर तूने उन्हें कैसे जीवित कर दिया। अर्थात् किसी भी प्रकार जीवित नहीं किया। इसलिये हो सके जहां तक इन सब विकल्पों को छोड़कर ज्ञानी जीव को स्वसंवेदन ही है लक्षण जिसका ऐसी त्रिगुप्ति रूप समाधि में लगा रहना चाहिये और जब इसका अभाव हो जाय अर्थात् उसका उपयोग उस समाधि से हट जावे तो उस असमर्थ अवस्था में प्रमाद के कारण से मैं इस जीव को मार रहा हूं या जिला रहा हूं "ऐसा विकल्प आवे तो मन में ऐसा विचारना चाहिए कि इसके ऐसा होने में प्रधान कारण इसके शुभ तथा अशुभ कर्म का उदय है, मैं तो केवल निमित्त मात्र हूँ, ऐसा विचार कर अपने मन में राग और द्वेष रूप अहंकार नहीं करना चाहिए इसका यही तात्पर्य है ॥२६५॥

आगे कहते हैं कि सुख और दुःख भी निश्चय से अपने ही कर्मों के उदय से होते हैं—

जो अप्पणादु मण्णदि दुःखिदसुहिदं करेमि सत्तेति।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तोदु विवरीदो ॥२६६॥

य आत्मना तु मन्यते दुःखित सुखितान् करोमि सत्वानिति।
स मूढोऽज्ञानी ज्ञान्यतस्तु विपरीतः ॥२६६॥

अर्थ—जो जीव अपने मन में ऐसा समझता है कि मै इन पर जीवों को दुःखी या सुखी करता हूँ या कर सकता हूं, तो ऐसा विचार करने वाला जीव मूढ़ है अज्ञानी है ज्ञानी का विचार तो इससे उलटा होता हैं ॥२६६॥

तात्पर्यवृत्तिः—जो अप्पणादु मण्णदि दुःखिदसुहिदे करेमि सत्तेति यः कर्ता आत्मनः संबंधित्वेन मन्यते किं ? दुःखितसुखितान् सत्वान् करोम्यहं। **सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तोदु विवरीदो** यश्चाहमिति परिणामो निश्चितमज्ञानः स एव बंधकारणं स परिणामो यस्यास्ति स अज्ञानी बहिरात्मा। एतस्माद्विपरीतः परमोपेक्षासंयमभावनापरिणताभेदरत्नत्रयलक्षणे भेदज्ञाने स्थितो ज्ञानीति।

अथ परस्य सुखदुःखं करोमीत्यध्यवसायकः कथमज्ञानी जातः ? इति चेत्—

टीका- (जो अप्पणा दु मण्णदि दुःखिदसुहिदे करेमि सत्तेति) जो कोई अपने मन में ऐसा मानता है कि मैं इन जीवों को दुखी या सुखी करता हूँ या कर सकता हूँ (सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तोदु

विवरीदो) यह उपर्युक्त अहंकार रूप परिणाम नियम से अज्ञान भाव है जो कि बंध का कारण है और यह भाव जिसके है वह अज्ञानी बहिरात्मा है ज्ञानी जीव तो इससे विपरीत विचार वाला है वह परम उपेक्षा रूप सर्वथा निर्वृत्तिरूप जो संयमभाव उसकी भावना में परिणत हो रहने वाला अभेद रत्नत्रय ही है लक्षण जिसका ऐसे भेदज्ञान में स्थित होता है ।।२६६।।

अस्तु मैं पर को सुख या दुःख दे सकता हूं इस प्रकार के परिणाम करने वाला अज्ञानी कैसे है ? सो कहते हैं:-

कम्मणिमित्तं सव्वे दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सत्ता ।
कम्मं च ण देसि तुमं दुक्खिदसुहिदा कह कदा ते ।।२६७।।
कम्मणिमित्तं सव्वे दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सत्ता ।
कम्मं च ण देसि तुमं कहं तं सुहिदो कदो तेहिं ।।२६८।।
कम्मोदयेण जीवा दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सव्वे ।
कम्मं च ण देसि तुमं कह तं दुहिदो कदो तेहिं ।।२६९।।

कर्मनिमित्तं सर्वे दुःखितसुखिता भवंति यदि सत्वाः ।
कर्म च न ददासि त्वं दुःखितसुखिताः कथं कृतास्ते ।।२६७।।
कर्मनिमित्तं सर्वे दुःखितसुखिता भवंति यदि सत्वाः ।
कर्म च न ददासि त्वं कथं त्वं सुखितः कृतास्तैः ।।२६८।।
कर्मोदयेन जीवा दुःखितसुखिता भवंति यदि सर्वे ।
कर्म च न ददासि त्वं कथं त्वं दुःखितः कृतस्तैः ।।२६९।।

अर्थ—अपने अपने कर्मोदय के निमित्त से ही सब जीव सुखी या दुखी होते हैं ऐसा देखने में आ रहा है और तू उनको कर्म देता नहीं तब तेरे द्वारा वे प्राणी कैसे सुखी या दुखी किये गये । एवं वे सब जीव तुझे कर्म तो देते नहीं हैं फिर उन्होंने तुझे दुःखी किया यह भी कैसे बन सकता है । तथा उन्होंने तुझे सुखी किया यह भी कैसे कहा जा सकता है ? कभी नहीं कहा जा सकता ।।२६७-२६८-२६९।।

तात्पर्यवृत्तिः—कम्मणिमित्तं सव्वे दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सत्ता यदि चेत् कर्मोदयनिमित्तं सर्वे सत्वा जीवाः सुखितदुःखिता भवंति ? **कम्मं च ण देसि तुमं दुःखिदसुहिदा कहं कदा ते** तर्हि शुभाशुभकर्म च न ददासि त्वं कथं ते जीवास्त्वया सुखितदुःखिता कृताः ? न कथमपि ।

कम्मणिमित्तं सव्वे दुःखिदसुहिदा हवंति जदि सत्ता यदि चेत्कर्मोदयनिमित्तं सर्वे जीवा सुखितदुःखिता भवंति **कम्मं च ण देसि तुमं कह तं सुहिदो कदो तेहिं** तर्हि शुभाशुभंकर्म च न ददासि त्वं न प्रयच्छसि तेभ्यः कथं त्वं दुखीकृतस्तैः ? न कथमपि ।

कम्मोदयेरण जीवा दुःखिदसुहिदा हवंति जदि सव्वे यदि चेत् कर्मोदयेन सर्वे जीवा दुःखित सुखिता भवंति **कम्मं च ण देसि तुमं कह तं दुहिदो कदो तेहिं** तर्हि शुभाशुभंकर्म च न ददासि त्वं न प्रयच्छसि तेभ्यः कथं दुखीकृतस्तैः ? न कथमपि ।

किं च तत्त्वज्ञानी जीवस्तावत् अन्यस्मै परजीवाय सुखदुःखे ददामि, इति विकल्पं न करोति । यदा पुनर्निर्विकल्प समाधेरभावे सति प्रमादेन सुखदुःखं करोमीति विकल्पो भवति तदा मनसि चिंतयति—अस्य जीवस्यांतरंगपुण्यपापोदयो जातः अहं पुर्नानिमित्तमात्रमेव, इति ज्ञात्वा मनसि हर्षविषादपरिणामेन गर्वं न करोति, इति । एवं परजीवानां जीवित-मरणं सुखदुःखं करोमीति व्याख्यानमुख्यतया गाथासप्तकेन द्वितीयस्थलं गतं ।

अथ परोजनः परस्य निश्चयेन जीवितमरणसुखदुःखं करोतीति योसौ मन्यते स बहिरात्मेति प्रतिपादयति—

टीका:—(कम्मणिमित्तं सव्वे दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सत्ता) यदि अपने अपने कर्मोदय को निमित्त लेकर ही सब जीव सुखी और दुःखी होते हैं, (कम्मं च ण देसि तुमं दुक्खिदसुहिदा कहं कदा ते) अतः जबकि वह कर्म तो उन्हें तुम देते नहीं हो फिर तुमने उन्हें दुःखी और सुखी कर दिये यह कैसे कहा जावे, नहीं कहा जा सकता है । (कम्मणिमित्तं सव्वे दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सत्ता) और जब कि कर्मोदय को निमित्त लेकर ही सब संसारी जीव दुःखी और सुखी होते हैं (यह नियम अटल है) (कम्मं च ण देसि तुमं कह तं सुहिदो कदो तेहिं) और इन संसारी जीवों ने जब वह कर्म तुझे दिया नहीं फिर उन्होंने तुझे सुखी बना दिया यह कैसे बन सकता है ? (कम्मोदयेण जीवा दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सव्वे) कर्म के उदयसे ही सब जीव सुखी और दुखी होते है (कम्मं च ण देसि तुमं कह तं दुहिदो कदो तेहिं) एवं जब कि कर्म उन्होंने तुझे दिया ही नहीं उन्होंने फिर हमें दुःखी बना दिया यह भी कैसे हो सकता है ? अर्थात् कभी नहीं हो सकता । इस प्रकार सोच समझकर तत्व ज्ञानी जीव 'मैं दूसरों को सुख दुख दे सकता हूं अथवा वे मुझे सुख दुःख दे सकते हैं' ऐसा विकल्प ही नहीं करता (वह निर्विकल्प समाधि में रत होरहता है) । जब कि प्रमाद से, उस समाधि के टूट जाने पर मै किसी को सुखी या दुखी करता हूँ इत्यादि विकल्प आता है तब वह मनमें ऐसा विचारता है कि इस जीव के ऐसा ही अंतरंग पुण्य या पाप का उदय हो आया है, उसी से ऐसा हुआ है, मैं तो केवल निमित्त मात्र हूँ । इस प्रकार विचार कर मनमें हर्ष विषाद परिणामों के द्वारा किसी प्रकार का अहंकार नहीं करता ।। २६७-२६८-२६९ ।।

विशेषार्थ:—प्रद्युम्नकुमार को दुःखी करने का व मारने का कितना प्रयास किया गया परन्तु उसके पुण्यके उदयसे जहाँ भी गया वहां लाभ ही हुआ । इसलिए मानना पड़ता है कि किसी के भी हानि, लाभ, सुख या दुख होता है उसके पुण्यके अनुसार ही होता है । अतः ज्ञानी जीव तो ऐसी उलझन में न पड़कर अपनी शुद्धात्मा के चिंतवन द्वारा पूर्व कर्मों को हलका करने में ही लगा रहता है । हां, जब वह समाधि से च्युत हो जाता है तब उस प्रमत्त संयत दशामें किसी के भी लिए अशुभ निमित्त न होकर शुभ निमित्त मात्र होने के कारण अपना कालक्षेप करता है ।

इस प्रकार दूसरे जीवों को जीवन दान करना, मार डालना, सुख देना और दुख देना आदि का विचार करने वाली सात गाथाओं द्वारा यह दूसरा स्थल पूर्ण हुआ ।

अब इसके आगे यह बताते हैं कि दूसरा कोई भी दूसरे को जिला सकता है मार सकता है सुख दे सकता है इस प्रकार जो मानता है वह निश्चय से बहिरात्मा होता है—

जो मरदि जोय दुहिदो जायदि कम्मोदयेण सो सव्वो।
तह्मा दु मारिदोदे दुहाविदो चेद् णहु मिच्छा ।।२७०।।
जोण मरदि ण य दुहिदो सोविय कम्मोदयेण खलु जीवो।
तह्मा ण मारिदोदे दुहाविदो चेदि णहु मिच्छा ।।२७१ ।।

यो म्रियते यश्च दुःखितो जायते कर्मोदयेन स सर्वः ।
तस्मात्तु मारितस्ते दुःखितो चेति न खलु मिथ्या ।।२७०।।
यो न म्रियते न च दुःखितो सोपि च कर्मोदयेन खलुजीवः
तस्मान्न मारितस्ते दुःखितो चेति न खलु मिथ्या ।।२७१।।

अर्थ—जो कोई भी मरता है या दुखी होता है वह सब अपने कर्म के उदयानुसार ही होता है अतः मैंने अमुक को मार दिया या दुखी कर दिया इस प्रकार का विचार हे भाई क्या मिथ्या नहीं है ? किन्तु मिथ्या ही है। तथा जो नहीं मरता है या दुःखी नहीं हो रहा है वह भी सब अपने कर्म के उदय से ही है इसलिये मैंने नहीं मरने दिया या मैंने दुःखी भी नहीं होने दिया यह भी तेरा विचार क्या मिथ्या नहीं है? किन्तु मिथ्या ही है ।।२७०-२७१ ।।

तात्पर्यवृत्तिः-**जो मरदि जोय दुहिदो जायदि कम्मोदयेण सो सव्वो** यो म्रियते यश्च दुःखितो भवति स सर्वोऽपि कर्मोदयेन जायते **तह्मा दु मारिदोदे दुहाविदो चेदि णहु मिच्छा** तस्मात्कारणात्, मया मारितो दुःखीकृतश्चेति तवाभिप्रायोयं न खलु मिथ्या ? किंतु मिथ्यैव। **जो ण मरदि णय दुहिदो सोविय कम्मोदयेण खलु जीवो** यो न म्रियते यश्च दुःखितो न भवति कोऽसौ ? जीवः खलु स्फुटं स सर्वोऽपि कर्मोदयेनैव **तह्मा ण मारिदो दे दुहाविदो चेदि णहु मिच्छा** तस्मात् कारणात् न मारितो मया न दुःखीकृतश्चेति तवाभिप्रायोयं न खलु मिथ्या ? अपि तु मिथ्यैव अनेनापध्यानेन स्वस्थभावाच्च्युतो भूत्वा कर्मैव बध्नातीति भावार्थः ।

अथ स एव पूर्वसूत्रद्वयोक्तो मिथ्याज्ञानभावो मिथ्यादृष्टेर्बंधकारणं भवतीति कथयति—

टीकाः—(जो मरदि जोय दुहिदो जायदि कम्मोदयेण सो सव्वो) जो कोई मरता है अथवा दुःखी होता है वह सब अपने कर्म के उदय से ही होता है अतः (तम्हा दु मारिदोदे दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा) इसलिए मैंने अमुक को मार दिया या अमुक को दुःखी कर दिया यह तेरा विचार है, हेआत्मन्! क्या झूंठा नहीं है ? अपितु झूंठा ही है। तथा (जो ण मरदि ण य दुहिदो सोविय कम्मोदयेण खलु जीवो) जो नहीं मरता है या नहीं दुःखी होता है वह भी अपने कर्मोदय के द्वारा ही होता है ऐसा स्पष्ट है (तम्हा ण मारिदोदे दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा) इसलिए मैंने उसे नहीं मरने दिया अथवा मैंने उसे दुःखी नहीं होने दिया इस प्रकार का विचार हे आत्मन्! क्या झूंठा नहीं है ? अपितु यह झूंठा ही है।

प्रत्युत इस अपध्यान के द्वारा तू अपने स्वस्थ भाव से च्युत होकर कर्म बन्ध ही करेगा यह इसका तात्पर्य है ।।२७०-२७१।।

विशेषार्थः—यह सब कथन उन त्यागी तपस्वी लोगों को लक्ष्य में लेकर किया गया है जिनका जीवन निश्चयनय के ऊपर अवलम्बित है और शुद्धात्मा के ध्यान से ही प्रयोजन रह गया है। यदि वे इस उलझन में पड़ते हैं तो आर्त्तभाव और रौद्रभाव को अपनाकर अपने ध्येय से च्युत होते हैं अतः मिथ्यादृष्टि या बहिरात्मा कहलाने के अधिकारी बन जाते हैं। बहिरात्मा शब्द के दो अर्थ हैं (१) पहला बाह्य शरीर पर ही है आत्मबुद्धि जिसकी (२) दूसरा बाह्य अर्थात् आत्मा से अतिरिक्त इन दृश्यमान वस्तुओं पर मन है जिसका। आत्मा शब्द का अर्थ मन भी होता है सो यहां पर दूसरा अर्थ विवक्षित है। इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि शब्द के भी दो अर्थ होते हैं—(१) पहला मिथ्या अर्थात् झूंठी या उल्टी है दृष्टि अर्थात् श्रद्धा जिसकी वह मिथ्यादृष्टि (२) दूसरा मिथ्या अर्थात् भूलभरी दृष्टि अर्थात् विचार धारा जिसकी वह मिथ्यादृष्टि। यहां पर मिथ्यादृष्टि शब्द का भी यह दूसरा अर्थ ही विवक्षित है।

आगे कहते हैं कि पूर्व के दो सूत्रों में कहा हुआ मिथ्याज्ञान रूपी भाव मिथ्यादृष्टि के बंध का कारण होता है:—

एसा दु जामदी दे दुःखिदसुहिदे करेमि सत्तेति ।
एसा दे मूढ़मदी सुहासुहं बंधदे कम्मं ।।२७२।।
एषा तु या मतिस्ते दुःखितसुखितान् करोमि सत्वानिति ।
एषा ते मूढ़मतिः शुभाशुभं बध्नाति कर्म ।।२७२।।

अर्थ—हे आत्मन्! तेरी जो ऐसी बुद्धि है कि मैं इन प्राणियों को सुखी या दुखी करता हूं, यह तेरी मूढ़ बुद्धि है, मिथ्या बुद्धि या मोह बुद्धि है यह शुभ या अशुभ कर्मों को बांधने वाली है ।।२७२।।

तात्पर्यवृत्तिः—**एसा दु जा मदी दे दुःखिदसुहिदे करेमि सत्तेति** एषा या मतिस्ते तव दुःखितसुखितान् करोम्यहं सत्वान् **एसा दे मूढ़मदी सुहासुहं बंधदे कम्मं** सैषा भवदीया मतिः हे मूढ़मते स्वस्थभावच्युतस्य शुभाशुभं कर्म बध्नाति न किमप्यन्यत्कार्यमस्ति इति।

अथ निश्चयेन रागाद्यध्यवसानमेव बंधहेतुर्भवति इति प्रतिपादनरूपेण तमेवार्थं दृढयति—

टीकाः—(एसादे दु जा मदी दे दुःखिदसुहिदे करेमि सत्तेति) हे आत्मन्! मैं इन जीवों को सुखी या दुखी करता हूं या कर सकता हूँ इस प्रकार की बुद्धि है (एसा दे मूढ़मदी सुहासुहं बंधदे कम्मं) यह तेरी मूढ़बुद्धि है जो कि तुझे स्वस्थभाव से दूर रख कर तेरे शुभाशुभ कर्मों का बन्ध करने वाली है और इसका कुछ भी कार्य नहीं है।

यह रागद्वेष रूप अध्यवसान भाव ही बन्ध करनेवाला है ऐसा आगे बतलाते हैं।

दुक्खिद सुहिदे सत्ते करेमि जं एस मज्झवसिदं ते ।
तं पावबंधगं वा पुण्णस्स य बंधगं होदि ।।२७३।।

मारेमि जीवावेमिय सत्ते जं एव मज्झवसिदंते ।
तं पाव बंधगं वा पुण्णस्य य बंधगं होदि ।।२७४।। (युग्मम्)

दुःखित सुखितान् सत्वान् करोमि यदेवमध्यवसितं ते ।
तत्पापबंधकं वा पुण्यस्य च बंधकं वा भवति ।।२७३।।
मारयामि जीवयामि च सत्वान् यदेवमध्यवसितं ते ।
तत्पापबंधकं वा पुण्यस्य च बंधकं वा भवति ।।२७४।।

अर्थ—मैं इन संसारी प्राणियों को सुखी या दुखी करता हूं या कर सकता हूं तथा मार सकता हूं या जिला सकता हूँ, इस प्रकार का जो अध्यवसान भाव है वही तेरे पाप या पुण्य के बंध का कारण होता है ।। २७३-२७४ ।।

तात्पर्यवृत्तिः—दुखितसुखितान् सत्वान् करोम्यहं कर्ता यदेवमध्यवसितं रागाद्यध्यवसानं ते तव शुद्धात्मभावनाच्युतस्य सतः पापस्य पुण्यस्य वा तदेव बंधकारणं भवति नचान्यत् किमपि दुःखादिकं कर्तुमायाति । कस्मात् ? इति चेत् तस्य सुखदुःखपरिणामस्य जीवस्य स्वोपार्जितशुभाशुभकर्माधीनत्वात् इति ।

मारयामि जीवयामि सत्वान् यदेवमध्यवसितं ते तव शुद्धात्मश्रद्धानज्ञानानुष्ठानशून्यस्य सतः पापस्य पुण्यस्य वा तदेव बंधकं भवति नचान्यत् किमपि कर्तुमायाति । कस्मात् ? इति चेत् तस्य परजीवस्य जीवितमरणादेः स्वोपार्जितकर्मोदयाधीनत्वात् इति ।

अथैवं निश्चनयेनहिंसाध्यवसाय एव हिंसेत्यायातं विचार्यमाणं—

टीकाः—मैं इन दृश्य मान जीवों को दुःखी या सुखी करता हूँ या कर सकता हूं इस प्रकार जो अध्यवसित अर्थात् रागादिरूप विकार भाव तेरे होता है वही उस समय शुद्धात्मा की भावना से गिरा हुआ होने के कारण तेरे पाप या पुण्य के बंध का कारण बनता है । वही तुझे दुःख देता है इसके सिवाय और कोई भी तुझे दुःखादि देने के लिये नहीं आता क्योंकि जीव के सुख या दुःखरूप परिणाम होता है वह अपने से ही उत्पन्न किये हुए शुभाशुभरूप कर्मों के आधीन होता है । तथा मैं पर जीवों को मार रहा हूं, मार सकता हूं, एवं जिला रहा हूं या जिला सकता हूँ ऐसा जो तेरा अध्यवसान है वह शुद्धात्मा के श्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठान से रहित होने वाले तुझको केवल मात्र पाप व पुण्य के बंध का करने वाला है और तेरे इस विचारसे और कुछ भी होना जाना नहीं है क्योंकि पर जीव का मरना और जीना आदि तो उसीके उपार्जित किये हुए कर्म के आधीन होता ।। २७३-२७४ ।।

आगे कहते हैं कि निश्चयनय से विचार किया जाय तो यही हिंसा करने रूप जो द्वेष रूप अध्यवसान है सो ही हिंसा है:—

अज्झवसिदेण बंधो सत्ते मारे हि मा व मारेंहि ।
एसो बंधसमासो जीवाणं णिचछयणयस्स ।।२७५।।

अध्यवसितेन बंधः सत्वान् मारयतु मा वा मारयतु ।
एष बंधसमासो जीवानां निश्चयनयस्य ॥२७५॥

अर्थ—निश्चयनय का कहना है कि जीवों को मारो या न मारो किन्तु जीवों के मारने रूप भाव से कर्मोंका बंध तो होता है। यही बंधतत्व का संक्षेप है ॥ २७५ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—अज्झवसिदेण बंधो सत्ते मारे हि माव मारे हि अध्यवसितेत परिणामेन बंधो भवति, सत्वान् मारय मा वा मारय **एसो बंधसमासो** एष प्रत्यक्षीभूतो बंधसमासः बंधसंक्षेपः। तद्विपरीतेन निरुपाधिचिदानंदैकलक्षणनिर्विकल्पसमाधिना मोक्षो भवतीति मोक्षसमासः। केषां ? **जीवाणां णिच्छयणयस्स** जीवानां निश्चयनयस्येति। एवं जीवितमरणसुखदुःखानि परेषां करोमीत्यध्यवसाय एव बंधकारणं, प्राणव्यपरोणादिव्यापारो भवतु वा मा भवतु। एवं सर्वं ज्ञात्वा रागाद्यपध्यानं त्यजनीयमिति व्याख्यानमुख्यत्वेन सूत्रषट्केन तृतीयस्थलं गतं।

अथ हिंसाध्यवसानं पूर्वमुक्तं तावत् इदानीं पुनः असत्याद्यव्रताध्यवसानैः पापं सत्याद्यवसानैश्च पुण्यं बंधो भवतीत्याख्याति—

टीकाः—(अज्झवसिदेण बंधो सत्ते मारे हि मा व मारेहिं) किसी जीव को मारो या न मारो परन्तु जहां किसी को मारने का विकल्प हुआ कि उस विकल्प (परिणामसे) से हिंसा होकर कर्मों का बंध होता ही है। (एसो बंधसमासो जीवाणं णिच्छयणयस्स) जीवों के लिए निश्चयनय से यही प्रत्यक्षरूप बंध तत्व का संक्षेप है और इससे विपरीत उपाधि रहित चिदानंदमई एक लक्षण को रखने वाली विकल्प रहित समाधि से मोक्ष होता है। यह मोक्ष तत्व का संक्षेप कथन है ॥ २७५ ॥

विशेषार्थः—श्री जिन शासन में मुख्य दो नय हैं-एक निश्चयनय व दूसरा व्यवहार नय। निश्चयनय स्वावलम्बी है स्वयं आत्मनिर्भर करता है और व्यवहार नय परावलम्बीहै, बाह्य अन्य पदार्थों के आश्रय पर टिकता है। व्यवहारनय, जो कि मुख्यतया गृहस्थों के द्वारा अपनाने योग्य है—कहता है कि जब किसी के द्वारा कोई जीव मारा या पीटा जाता है, वहां हिंसा होती है क्योंकि उसके भाव को कौन जानता है कि मारने का उसका भाव था या नहीं। किन्तु निश्चयनय जो कि मुख्यतया ऋषियों के द्वारा ग्राह्य है अपने अधिकारियों को कहता है कि जब तुमने बाह्य सर्व परिग्रह का त्याग ही कर दिया तो फिर बाह्य हिंसा करने की आवश्यकता भी क्या रह गई ? कुछ भी नहीं। परन्तु हे भाई ! मन बड़ा ही चपल, है अच्छा विचार करते करते ही बुरे विचार पर भी चला जाता है अतः इसे संभालकर रखो और दूसरे को मारडालने, या दुख देने आदि का भी विचार कभी मत आनेदो। यदि इस प्रकार के विचार भी मनमें आगये तो तुम फिर हिंसा के दोष से बच नहीं सकते। फिर तुम यह कहकर कि हमने किसी भी जीव को मारा तो है नहीं ऐसा कहने से हिंसासे छूट नहीं सकते हो। इसलिए तुम्हें तो सदा ही स्वस्थ भाव में रहना चाहिए अर्थात् ज्ञान ध्यान में ही रहना चाहिए। इसी प्रकार मैं दूसरे जीवों को जीवन दान देना, मार ड़ालना एवं सुख दुख देना आदि कर सकता हूँ यह सब अध्यवसान हैं विचार हैं वही बन्ध का कारण है किसी के प्राणों का अपहरण करनेरूप आदि चेष्टा हो, भले ही मत हो। ऐसा जानकर रागादि दुर्भावरूप अपध्यान का त्याग करना चाहिए।

इस प्रकार का व्याख्यान करते हुए यह तीसरा स्थल छह गाथाओं में पूर्ण हुआ।

जिसमें हिंसाध्यवसान की बात कही गई वह विषय पूर्व में वर्णित कर दिया गया, अब आगे यह बताते हैं कि असत्यादि अव्रत रूप विचारों से तो पाप बन्ध होता है और सत्य बोलना आदि विचारों से पुण्य बंध होता है:—

एवमलिये अदत्ते अबंभचेरे परिग्गहे चेव।
कीरदि अज्झवसाणं जं तेण दु बज्झदे पावं ॥२७६॥
तहय अचोज्जे सच्चे बंभे अपरिग्गहत्तणे चेव।
कीरदि अज्झवसाणं जं तेण दु बज्झदे पुण्णं ॥२७७॥

एवमलीकेऽदत्तेऽब्रह्मचर्ये परिग्रहे चैव।
क्रियतेऽध्यवसानं यत्तेन तु बध्यते पापं ॥२७६॥
तथापि चाचौर्ये सत्ये ब्रह्मणि अपरिग्रहत्वे चैव।
क्रियतेऽध्यवसानं यत्तेन तु बध्यते पुण्यं ॥२७७॥

अर्थ—जिस प्रकार हिंसा के विषय में किया हुआ विचार पाप बन्ध का कारण है उसी प्रकार झूंठ, चोरी, कुशील और परिग्रह के विषय में किया हुआ विचार भी पाप बन्ध का कारण होता है जिस प्रकार अहिंसा के विषय में किया हुआ विचार पुण्य बंध करने वाला है वैसे ही सत्य बोलने चोरी न करने, ब्रह्मचर्य पालने और अपरिग्रह के विषय का विचार भी पुण्य के बंध का करने वाला है ॥२७६-२७७॥ यहां पर मूलार्थ और टीकार्थ में कोई अन्तर नहीं है।

तात्पर्यवृत्तिः—एवमसत्येऽचौर्येऽब्रह्मणि परिग्रहे चैव यत्क्रियतेऽध्यवसानं तेन पापं बध्यते इति प्रथमगाथा गता। यश्चाचौर्ये सत्ये ब्रह्मचर्ये तथैवापरिग्रहत्वे यत्क्रियतेऽध्यवसानं तेन पुण्यं बध्यते इति व्रताव्रतविषये पुण्यपापा-बंधरूपेण सूत्रभूतगाथाद्वयं गतं। अतः परमिदमेव सूत्रद्वयं परिणाममुख्य त्वेन त्रयोदशगाथाभिर्विवृणोति तद्यथा—

बाह्यं वस्तु रागादि परिणामकारणं परिणामवस्तु बंधकारणमित्यावेदयति—

टीकाः—यहां मूलार्थ और टीका में कोई अन्तर नहीं है

विशेषार्थः—आचार्य श्री यहां बतला रहे है कि अव्रत रूप प्रवृत्ति करने में पाप बन्ध होता है और व्रत रूप सदवस्था में पुण्य बंध होता है।

शंका—पहले तो आचार्य श्री बतला आये हैं कि मात्र सम्यग्दर्शन होने पर ही किसी भी प्रकार का बन्ध नहीं होता और यहां कहा जा रहा है कि महाव्रत अवस्था में भी पुण्य बंध होता है सो कुछ समझ में नहीं आया।

समाधान—हे भाई, जहां आचार्य श्री ने सम्यग्दृष्टि को निर्बन्ध कहा है वहां केवल वीतराग सम्यग्दृष्टि को लेकर कहा है जैसा कि 'चत्तारि विपापे' इत्यादि गाथा से सुस्पष्ट है शेष अविरत सम्यग्-दृष्टि आदि के बन्ध उनके रागानुसार होता ही है क्यों कि राग ही बन्ध का कारण है।

शंका—आपने कहा सो ठीक परन्तु महाव्रतों से भी पुण्य बंध होता है यह कैसे ? क्योंकि फिर जो बन्ध नहीं करना चाहता वह क्या व्रत छोड़ दे ?

उत्तर—हे भाई ! महाव्रतों के दो रूप होते हैं--(१) सत्प्रवृत्तिरूप (२) निवृत्ति रूप। जैसे कि हिंसा करना या किसी को भी कष्ट देना यह पाप है, अशुभ बन्ध का कारण है किन्तु हिंसा नहीं करना अर्थात् सभी के सुखी होने की भावना करना यह सत्प्रवृत्तिरूप महाव्रत है यह पुण्य बंध करने वाला है और इसी का सम्पन्न रूप किसी से भी डरने डराने रूप भय संज्ञा से रहित स्वयं निर्भय होना यह पुण्य और पाप इन दोनों से भी दूर रहने वाला है। इसी प्रकार झूंठ बोलना पाप, सत्य बोलना पुण्य किन्तु सर्वथा नहीं बोलना अर्थात् मौन रहना सो पुण्य और पाप इन दोनों से भी रहित। किसी की भी बिना दी हुई वस्तु लेना सो चोरी पाप, और उसका त्याग किन्तु श्रावक के द्वारा भक्ति पूर्वक उचित रूप से दिया हुआ शुद्ध आहार ग्रहण करना सो पुण्य और आहार संज्ञा से रहित होना सो पुण्य व पाप इन दोनों से भी रहित। व्यभिचार तो पाप तथा स्त्री त्याग रूप ब्रह्मचर्य सो पुण्य किन्तु मैथुन संज्ञा से रहित होना यह पुण्य और पाप से रहित। इस प्रकार परिग्रह पाप, परिग्रह त्याग पुण्य किन्तु परिग्रह संज्ञा का नहीं होना सो शुद्ध रूप इस प्रकार महाव्रतों का पूर्व प्रारम्भात्म रूप शुभ किन्तु उन्हीं का ही अपर रूप जो कि पूर्णतया उदासीनतामय एवं चारों प्रकार की संज्ञाओं से भी रहित होता है। वह शुद्ध अतः अबन्ध कर होता है ऐसा जानना।

इस प्रकार अव्रत पाप बंध करने वाला व व्रत पुण्य बंध करने वाला है ऐसा कथन करने वाली दो गाथायें पूर्ण हुईं ॥२७६-२७७॥

अब इसके आगे परिणामों की मुख्यता से इन्हीं दो गाथाओं का तेरह गाथाओं से विशेष वर्णन करते हैं उसमें पहले यह बताते हैं कि बाह्य वस्तु तो रागादि परिणामों के लिए कारण होती है तथा रागादिरूप परिणाम बंध का कारण होते हैं:—

वत्थुं पडुच्च जं पुण, अज्झवसाणं तु होइ जीवाणं।
ण य वत्थुदो दु बंधो, अज्झवसाणेण बंधोत्थि ॥२७८॥

वस्तु प्रतीत्य यत्पुनरध्यवसानं तु भवति जीवानां।
न च वस्तुतस्तु बंधोऽध्यवसानेन बंधोस्ति ॥२७८॥

अर्थ—इन संसारी जीवों के जो रागादि रूप अध्यवसान भाव होता है वह बाह्य वस्तु का निमित्त लेकर होता है वह अध्यवसान भाव ही बन्ध का कारण होता है किन्तु वह वस्तु बंध का कारण नहीं होती ॥२७८॥

तात्पर्यवृत्तिः—वत्थुं पडुच्च जं पुण अज्झवसाणं तु होदि जीवाणं बाह्यवस्तुचेतनाचेतनं पंचेंद्रियविषयभूतं प्रतीत्य आश्रित्य जीवानां तत्प्रसिद्धं रागाद्यध्यवसानं भवति **ण हि वत्थुदो दु बंधो** न हि वस्तुनः सकाशाद्बंधो भवति। तर्हिकेन बंधः? **अज्झवसाणेण बंधोत्थि** वीतरागपरमात्मतत्त्व-भिन्नेन रागाद्यध्यवसानेन बंधो भवति वस्तुनः सकाशाद्बंधो कथं न भवतीति चेत् अन्वयव्यतिरेकाभ्यां व्यभिचारात्। तथा हि बाह्यवस्तुनि सति नियमेन बंधो भवतीति—अन्वयो नास्ति, तदभावे बंधोन भवतीति व्यतिरेकोऽपि नास्ति। तर्हि किमर्थं बाह्यवस्तुत्यागः? इति

चेत् रागाद्यध्यवसानानां परिहारार्थं । अयमत्र भावार्थः । बाह्यपंचेंद्रियविषयभूते वस्तुनि सति, अज्ञानभावात् रागाद्यध्यवसानं भवति तस्मादध्यवसाना बद् धोभवतीतिपारंपर्येण वस्तु, बंधकारणंभवति न च साक्षात् । अध्यवसानं पुर्निनिश्चयेन बंधकारणमिति ।

एवं बंधहेतुत्वेन निर्धारितस्याध्यवसानस्य स्वार्थक्रियाकारित्वाभावेन मिथ्यात्वमसत्यत्वं दर्शयति—

टीका:—(वत्थु पडुच्च जं पुरा अज्झवसाणं तु होदि जीवाणं) जीवों के रागादिरूप से प्रसिद्ध होने वाला विकारी भाव इन पंचेन्द्रियों के विषयभूत चेतन और अचेतनात्मक बाह्य वस्तुओं के आश्रय से होता है (ण हि वत्थुदो दु बंधो) फिर भी वह वस्तु बंध का कारण नहीं होती । फिर बन्ध का कारण क्या है ? कि (अज्झवसाणेण बंधोत्ति) बंध तो श्री वीतराग परमात्मा तत्व से भिन्नता रखने वाला रागादिरूप अध्यवसान भाव विकारी परिणाम से होता है । वस्तु से बन्ध क्यों नहीं होता है?ऐसा कहो तो उसका समाधान यह है कि वस्तु के साथ में बन्ध का अन्वय व्यतिरेक पूरी प्रकार नहीं बैठता उसमें व्यभिचार आता है । क्योंकि जहां बाह्य वस्तु हो वहां बंध भी अवश्य हो इस प्रकार तो अन्वय और जहां बाह्य वस्तु न रहे वहां बंध भी न होवे इस प्रकार का व्यतिरेक भी नहीं पाया जाता (देखो, एक संयमी यत्नाचार से चल रहा है वहां सहसा टकराकर कोई जीव मर गया तो वहां वध होने पर भी संयमी के बंध नहीं, इसी प्रकार किसी को मारने के लिए किसी ने तलवार चलाई किन्तु उसके लगी नहीं वह बच गया तो बधतो नहीं हुआ फिर भी उस तलवार चलाने वाले के कर्म बन्ध हो ही गया) इस पर शंका होती है कि फिर बाह्य वस्तु के त्याग की आवश्यकता ही क्या रह जाती है ? तो इसका उत्तर यह है कि रागादिरूप अध्यवसान भाव को न होने देने के लिए बाह्य वस्तु के त्याग की आवश्यकता है क्योंकि पंचेन्द्रियों की विषयभूत बाह्य वस्तु के होने पर ही अज्ञान भाव के कारण रागादिरूप अध्यवसान भाव होता है जिस अध्यवसान भावसे नूतन कर्म बन्ध होता है । इस प्रकार परम्परा से बाह्य वस्तु भी कर्म बन्ध का कारण होती है किन्तु साक्षात् बाह्य वस्तु ही बन्ध का कारण होती हो ऐसा नहीं है अपितु ऐसा साक्षात् संबंध तो अध्यवसान के ही साथ में है इसलिए निश्चय से बन्ध का कारण अध्यवसान भाव को ही माना जाता है ।।२७८।।

विशेषार्थ:—यहां बाह्य त्याग का समर्थन किया गयाहै । आचार्य महाराज कहते हैं कि यद्यपि नूतन कर्म बन्ध आत्मा के रागद्वेष विकार भाव से होता है किन्तु वह विकार भाव बाह्य वस्तु के आलम्बन से ही होता है । जैसे कि सुभट है तो उसको मारने या बचाने का विचार हो सकता है किन्तु बांझ के पुत्र को मारने या बचाने का विकल्प नहीं हो सकता क्योंकि वह है ही नहीं । एवं जब बाह्य वस्तु का आलम्बन लेकर ही विकार भाव होता है तब उस विकार भावसे बचने के लिए छद्मस्थ को बाह्य वस्तु का त्याग करना भी परमावश्यक है । जब बाह्य वस्तु का मन, वचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदना से सर्वथा त्याग करके उनसे दूर हो जायगा तो उसका स्मरण भी कभी नहीं करेगा फिर उसके रागादिरूप विकार भाव कैसे होगा ? इसलिये बाह्य त्याग आवश्यक है ।

आगे बताते हैं कि कर्म बंध करनेवाला जो अध्यवसान भाव होता है वह अपना कार्य करने में असमर्थ होता है (अर्थात् मारने का विचार करने पर भी मार नहीं सकता) तब वह झूंठा होता है:—

दुक्खिद सुहिदे जीवे करेमि बंधेमि तह विमोचेमि ।
जा एसा मूढ़मई णिरत्थया सा हु दे मिच्छा ।।२७६।।

दुःखितसुखितान् जीवान् करोमि बंधयामि तथा विमोचयामि ।
या एषा मूढ़मतिः निरर्थिका सा खलु ते मिथ्या ।।२७६।।

अर्थ—हे भाई ! तेरी जो ऐसी मूढ़ बुद्धि है कि मैं इन जीवों को दुःखी या सुखी करता हूं या कर सकता हूं, बांध सकता हूं या छुड़ा सकता हूं वह तेरी मोह रूप बुद्धि है, निरर्थक है, मिथ्या ही है इसमें तथ्य नहीं है ।।२७६।।

तात्पर्यवृत्तिः—दुक्खिदसुहिदे जीवे करेमि बंधामि तह विमोचेमि दुःखितसुखितान् जीवान् करोमि, बध्नामि, तथा विमोचयामि **जा एसा तुज्झ मदी णिरत्थया सा हु दे मिच्छा** या एषा तव मतिः सा निर्थिका निष्प्रयोजना **हु** स्फुटं **दे** अहो ततः कारणात् मिथ्या वितथा व्यलीका भवति । कस्मात् ? इति चेत् भवदीयाध्यवसाने सत्यपि परजीवानां सातासातोदयाभावात् सुखदुःखाभावः स्वकीयाशुद्धशुद्धाध्यवसानाभावात् बंधो मोक्षाभावश्चेति ।।

अथ कस्मादध्यवसानं स्वार्थक्रियाकारि न भवती चेत्—

टीका:—(दुक्खिदसुहिदे जीवे करेमि बंधामि तह विमोचेमि) मैं इन जीवों को दुःखी या सुखी कर रहा हूं, बांध रहा हूँ या छुड़ा रहा हूं (जा एसा मूढ़मई णिरत्थया सा हु दे मिच्छा) यह जो तेरी बुद्धि है वह निरर्थक है, कोई भी प्रयोजन सिद्ध करने वाली नहीं है यह स्पष्ट है इसलिये यह मिथ्या है, झूंठी है, व्यर्थ है । क्योंकि जब तक उन जीवों को साता वेदनीय तथा असाता वेदनीय का उदय न हो तब तक तेरे विचार मात्र से उनको सुख या दुःख नहीं हो सकता है । इसी प्रकार जब तक उनका अपना विचार अशुद्ध या शुद्ध न हो तब तक तेरे विचार मात्र से उनका बंध जाना और मुक्त हो जाना नहीं हो सकता है ।।२७६।।

इस पर शिष्य प्रश्न करता है यह उपरोक्त अध्यवसान क्रियाकारी क्यों नहीं है—

अज्झवसाणणिमित्तं जीवा बज्झंति कम्मणा जदि हि ।
मुच्चंति मोक्खमग्गे ठिदा य ते किं करोसि तुमं ।।२८०।।

अध्यवसाननिमित्तं जीवा बध्यंते कर्मणा यदि हि ।
मुच्यंते मोक्षमार्गे स्थिताश्च तर्हि किं करोषि त्वं ।।२८०।।

अर्थ—जब कोई भी जीव अपने २ अध्यवसान के निमित्त से कर्म से बंध को प्राप्त होते हैं और मोक्षमार्ग में स्थित होने पर कर्म से छूटते हैं (अन्यथा नहीं ऐसा नियम है) तब तेरा विचार क्या काम आया ?

तात्पर्यवृत्तिः—अज्झवसाणणिमित्तं जीवा बज्झंति कम्मणा जदि हि मिथ्यात्वरागादिस्वकीयाध्यवसाननिमित्तं कृत्वा ते जीवा निश्चयेन कर्मणाबध्यंते ; इति चेत् **मुच्चंति मोक्खमग्गे ठिदा य ते** शुद्धात्मसम्यक्त्वश्रद्धानज्ञानानुचरणरूपनिश्चयरत्नत्रयलक्षणे मोक्षमार्गे स्थिताः पुनर्मुच्यंते यदि चेत्ते जीवाः **किं करोसि तुमं** तर्हि किं करोषि त्वं हे दुरात्मन् न किमपीति, त्वदीयाध्यवसानं स्वार्थक्रियाकारि न भवति ।

अथ दुःखिता जीवाः स्वकीयपापोदयेन भवंति न च भवदीयपरिणामेनेति—

टीका:-(अज्झवसाणणिमित्तं जीवा बज्झंति कम्मणा जदि हि) जब कि सब ही संसारी जीव अपने में होने वाले मिथ्यात्व या रागादि अध्यवसान का निमित्त लेकर ही नवीन कर्म के बंध से जकड़ लिये जाते हैं ऐसा ही नियम है (मुच्चंति मोक्खमग्गे ठिदा य ते) शुद्धात्मा के समीचीन श्रद्धान, ज्ञान, चारित्र रूप निश्चय रत्नत्रय ही है लक्षण जिसका उस मोक्षमार्ग में स्थित होने पर अर्थात् आत्मध्यान में तल्लीन होकर मुक्त हो सकते हैं तब (किं करोसि तुमं) हे दुरात्मन् ! तू वहां क्या कर सकता है ? कुछ भी नहीं अपितु तेरा विचार तो व्यर्थ ही ठहरता है ।। २८० ।।

इस प्रकार जो जीव दुःखी होते हैं वे अपने पाप कर्म के उदय से होते हैं, तुम्हारे विचारानुसार नहीं, यह बतलाते हैं:—

कायेण दुक्खवेमिय सत्तो एवं तु जं मदिं कुणसि ।
सव्वावि एस मिच्छा दुहिदा कम्मेण जदि सत्ता ।।२८१।।
वाचाए दुक्खवेमिय सत्तो एवं तु जं मदिं कुणसि ।
सव्वावि एस मिच्छा दुहिदा कम्मेण जदि सत्ता ।।२८२।।
मणसाए दुक्खवेमिय सत्तो एवं तु जं मदिं कुणसि ।
सव्वावि एस मिच्छा दुहिदा कम्मेण जदि सत्ता ।।२८३।।
सच्छेणं दुक्खवेमिय सत्तो एवं तु जं मदिं कुणसि ।
सव्वावि एस मिच्छा दुहिदा कम्मेण जदि सत्ता ।।२८४।।(चतुष्कम्)

कायेन दुःखयामि सत्वान् एवं तु यन्मतिं करोषि ।
सर्वापि एषा मिथ्या दुःखिताः कर्मणा यदि सत्वाः ।।२८१।।
वाचा दुःखयामि सत्वान् एवं तु यन्मतिं करोषि ।
सर्वापि एषा मिथ्या दुःखिता कर्मणा यदि सत्वाः ।।२८२।।
मनसा दुःखयामि सत्वान् एवं तु यन्मतिं करोषि ।
सर्वापि एषा मिथ्या दुःखिताः कर्मणा यदि सत्वाः ।।२८३।।
शस्त्रेण दुःखयामि सत्वान् एवं तु यन्मतिं करोषि ।
सर्वापि एषा मिथ्या दुःखिताः कर्मणा यदि जीवाः ।।२८४।।

अर्थ—मैं शरीर से प्राणियों को दुःखी करता हूं यह जो तेरी बुद्धि है वह झूंठी है क्योंकि जो जीव दुःखी होते हैं वे अपने २ कर्मों के उदय से दुःखी होते हैं। मैं वचन से इनको दुखी करता हूं यह जो तू बुद्धि करता है

वह सब मिथ्या है क्योंकि जीव दु:खी होते हैं वे सब अपने २ कर्मों के उदय से दु:खी होते हैं। मैं मेरे मन से इन जीवों को दु:खी करता हूं यह जो तेरी बुद्धि है वह मिथ्या है क्योंकि जीव जो दु:खी होते हैं वे सब अपने २ कर्मोंके उदय से दु:खी होते हैं इसीप्रकार मैं शस्त्र के द्वारा प्राणियों को दु:खी करता हूँ यह तेरी बुद्धि मिथ्या है क्योंकि जीव जो दु:खी होते हैं वे सब अपने २ कर्मों के उदयसे दु:खी होते हैं।। २८१-२८२-२८३-२८४ ।।

तात्पर्यवृत्तिः—कायेण इत्यादि स्वकीयपापोदयेन जीवाः दुःखिताः भवंति यदि चेत् ? तेषां जीवानां स्वकीय-पापकर्मोदयभावे भवतो किमपि कर्तुं नायाति इति हेतोः मनोवचनकायैः शस्त्रैश्च जीवान् दुःखितान् करोमि इति रे दुरात्मन् त्वदीया मतिर्मिथ्या। परं किं तु स्वस्थभावच्युतो भूत्वा त्वं पापमेव बध्नासि इति।

अथ सुखिता अपि निश्चयेन स्वकीयशुभकर्मोदये सति भवंतीति कथयति—

टीका:—हे दुरात्मन् ! भोले प्राणी ! यदि जीव अपने ही पाप कर्म के उदयसे दु:खी होते हैं एवं तुम उन जीवों के विषयमें कुछ कर ही नहीं सकते हो तो फिर मैं इन जीवों को मन से, वचन से, कायसे और शस्त्रों के द्वारा भी दु:खी कर सकता हूं या कर रहा हूं यह जो तेरी बुद्धि है वह झूंठी है प्रत्युत ऐसी बुद्धि के द्वारा स्वस्थ भाव (सहज निराकुल आत्मभाव) से च्युत होकर तू पाप बंध ही करेगा।

यह जीव सुखी भी निश्चय से अपने शुभ कर्म के उदय होने पर होता है ऐसा बतलाते हैं:—

कायेण च वायाइव मणेण सुहिदे करेमि सत्तेति।
एवंपि हवदि मिच्छा सुहिदा कम्मेण जदि सत्ता ।।२८५।।

कायेन च वाचा वा मनसा सुखितान् करोमि सत्वानिति।
एवमपि भवति मिथ्या सुखिनः कर्मणा यदि सत्वाः ।।२८५।।

अर्थ—उसी प्रकार यदि ये प्राणी अपने २ कर्मों के उदय से सुखी होते हैं तब मैं मन, वचन, काय से इनको सुखी करता हूं यह तेरी बुद्धि मिथ्या है ।।२८५।।

तात्पर्यवृत्तिः—स्वकीयकर्मोदयेन जीवा यदि चेत् सुखिता भवंति। न च त्वदीयपरिणामेन तर्हि मनोवचन-कायैर्जीवान् सुखितानहं करोमि इति भवदीया मतिर्मिथ्या। एवं तवाध्यवसानं स्वार्थकं न भवति। परं किंतु निरुपराग-परमचिज्ज्योतिः स्वभावे स्वशुद्धात्मतत्वमश्रद्दधानः. तथैवाजानन् अभावयंश्च तेन शुभपरिणामेन पुण्यमेव बध्नाति इत्यर्थः।

अथ स्वस्थभावप्रतिपक्षभूतेन च रागाद्यध्यवसानेन मोहितः सन्नयं जीवः समस्तमपि परद्रव्यमात्मनि नियोजयति इत्युपदिशति—

टीका:—यदि सभी जीव सुखी भी अपने अपने कर्मोदय से होते हैं, न कि तेरे परिणामों से, तो निश्चय से मैं मन, वचन, काय से इन संसारी प्राणियों को सुखी करता हूँ यह तेरी बुद्धि मिथ्या है। क्योंकि तेरे विचार से तो जीव सुखी होते नहीं है एवं तेरा विचार तो निरर्थक ही है प्रत्युत दूसरों को सुखी करने के विचार से तो तू वीतराग मय परम चेतन ज्योतिस्वरूप जो शुद्धात्म तत्व उसको नहीं जानता हुआ, नहीं मानता हुआ और नहीं अनुभव करता हुआ तू उस शुभ परिणाम से पुण्य को ही बांधता है इस प्रकार इसका अर्थ है ।।२८५।।

विशेषार्थः—जिसने सर्वप्रकार का परिग्रह त्याग कर महाव्रत धारण कर लिया फिर भी मैं अमुक को मार रहा हूँ या बचा रहा हूँ इसी विचार में उलझा रहा तो उस जीव को लक्ष्य में लेकर आचार्य महाराज कहते हैं कि तेरे इस विचार मात्र से कोई भी जीव सुखी दुखी नहीं होता। सुखी दुखी होना तो उस जीव के शुभ व अशुभ कर्मोदय के अनुसार है तब तू क्यों व्यर्थ ही इस प्रकार के संकल्प विकल्प में फंस रहा है ? तुझे तो इन सब प्रपंचों से दूर हटकर अपने शुद्ध आत्मा के ध्यान में लगकर अपने पूर्वकर्मों को हलका करना चाहिए ।।

आगे कहते हैं कि यह जीव अपने आत्मा में स्थितिरूप स्वस्थ भाव के विरोधी रागादिरूप अध्यवसान से मोहित होता है तब यह सब ही परद्रव्य को अपना मानने लगता है:—

सव्वे करेदि जीवो अज्झवसाणेण तिरियणेरयिए।
देवमुणये य सव्वे पुण्णं पावं च णेयविह ।।२८६।।
धम्माधम्मं च तहा जीवाजीवे अलोगलोगं च ।
सव्वे करेदि जीवो अज्झवसाणेण अप्पाणं ।।२८७।।

सर्वान् करोति जीवोऽध्यवसानेन तिर्यङ्नैरयिकान् ।
देवमनुजांश्च सर्वान् पुण्यं पापं च नैकविधं ।।२८६।।
धर्माधर्मं च तथा जीवाजीवौ अलोकलोकंच ।
सर्वान् करोति जीवः अध्यवसानेन आत्मानं ।।२८७।।

अर्थ—यह जीव अध्यवसान भाव के द्वारा तिर्यंच, नारक, देव और मनुष्य नाम से कही जाने वाली सभी पर्यायों को तथा अनेक प्रकार के पुण्य और पाप को तथा धर्म, अधर्म, जीव, अजीव द्रव्य को एवं लोक अलोक को इन सबको अपना लेता है अपने कर लेता है ।।२८६-२८७।।

तात्पर्यवृत्तिः—उदयागतनरकगत्यादिकर्मवशेन नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवपापपुण्यरूपान् कर्मजनितभावान् आत्मानं करोति आत्मनः संबंधात्करोति । निर्विकारपरमात्मतत्त्वज्ञानाद् भ्रष्टः सन् नारकोऽहमित्यादिरूपेण, उदयागतकर्मजनित विभावपरिणामान् आत्मनि योजयतीत्यर्थः ।

धर्माधर्मास्तिकायजीवाजीवलोकालोकज्ञेयपदार्थान् अध्यवसानेन तत्परिच्छित्तिविकल्पेनात्मानं करोति, आत्मनः संबंधात् करोति त्यभिप्रायः । किं च यथा घटकारपरिणतं ज्ञानं घट इत्युपचारेणोच्यते । तथा धर्मास्तिकायादिज्ञेयपदार्थं विषये धर्मोऽय-स्तिकायादिधमित्यादि योऽसौ परिछित्तिरूपो विकल्पः सोप्युपचारेण धर्मास्तिकायादिर्मण्यते । कथं ! इति चेत् धर्मा विषयत्वात् । स्वस्थभावच्युतोभूत्वा यदा धर्मास्तिकायोयमित्यादिविकल्पं करोति तदा तस्मिन् विकल्पे कृते सति धर्मास्तिकायादिरप्युपचारेण कृतो भवति इति ।

अथ निश्चयेन परद्रव्याद्भिन्नोऽपि यस्य मोहस्य प्रभावात् आत्मानं परद्रव्ये योजयति स मोहो येषां नास्ति त तव तपाधेना इति प्रकाशयति—

टीकाः—उदय में आए हुए नरकगति आदि कर्म के वश से यह जीव नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देवरूप अवस्थाओं को तथा पुण्य पाप रूप और भी सभी अवस्थाओं को जो कि कर्म जनित अवस्थायें हैं उनको अपने आप के साथ लगा कर अपना लेता है, अपनी कर लेता है। अर्थात् निर्विकार रूप जो परमात्म तत्व उसके ज्ञान से भ्रष्ट होता हुआ वह उन उदयागत कर्म से उत्पन्न विभाव रूप परिणामों को मैं नारकी हूं इत्यादि रूप से अपने ऊपर लाद लेता है तथा धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय जीव, अजीव लोक और अलोक रूप जो ज्ञेय पदार्थ हैं उनको भी अपनी परिच्छित्ति करने के विकल्परूप अध्यवसान के द्वारा अपने आप से जोड़ करके अपना लेता है; अभिप्राय यह है कि जैसे घटाकार में परिणत हुआ ज्ञान भी उपचार से अर्थात् विषय विषयी के संबंध से घट कहा जाया करता है, वैसे ही धर्मास्तिकायादि ज्ञेय पदार्थों के विषय में यह धर्मास्तिकाय है इत्यादि परिच्छित्तिरूप (जाननरूप) विकल्प है वह भी उपचार से धर्मास्तिकायादि कहलाता है क्यों कि उस विकल्प का विषय धर्मास्ति कायादि है। अतः जब स्वस्थ भाव से च्युत होकर यह आत्मा "मै धर्मास्तिकाय हूँ इत्यादि" रूप विकल्प करता है उस समय उपचार से धर्मास्तिकाय आदि ही किया हुआ होता है ॥२८६-२८७॥

विशेषार्थः—जैसे हिंसा के अध्यवसान से आत्मा हिंसक, अहिंसा के अध्यवसान से अहिंसक और उदय में आये हुए नारकादि अध्यवसान से नारकादिरूप, सुख दुःख आदि अध्यवसान से पुण्य पाप रूप होता है उसी प्रकार ज्ञायमान धर्म द्रव्यादि के अध्यवसान से धर्मादि रूप स्वयं होता है अर्थात् तत्तदध्य-वान से आत्मा स्वयं विश्वरूप बन जाता है यह सब अध्यवसान मोहात्मक ही है अतः उससे नूतन बन्ध होता रहता है।

आगे यह बताते हैं कि निश्चय से यह आत्मा शरीरादि पर द्रव्य से भिन्न है किन्तु जिस मोह के प्रभाव से यह अपने आपको पर द्रव्य के साथ संबंध जोड़ता है वह मोह भाव जिसके नहीं है वही तपोधन है:-

एदाणि णत्थि जेसिं अज्झवसाणाणि एवमादीणि।
ते असुहेण सुहेण व कम्मेण मुणी ण लिप्पंति ॥२८८॥

एतानि न संति येषामध्यवसानान्येवमादीनि।
तेऽशुभेन शुभेन वा कर्मणा मुनयो न लिप्यंते ॥२८८॥

अर्थ—ये उपर्युक्त अध्यवसान तथा और भी इस प्रकार के अध्यवसान भाव जिनके नहीं हैं वे मुनि लोग ही शुभ तथा अशुभ दोनों प्रकार के कर्मों से नहीं लिपते हैं ॥२८८॥

तात्पर्यवृत्तिः—**एदाणि णत्थि जेसिं अज्झवसाणाणि एवमादीणि** एतान्येवमादीनि पूर्वोक्तानि शुभाशुभा-ध्यवसानानि कर्मबंधनिमित्तभूतानि न संति येषां ते **असुहेण सुहेण य कम्मेण मुणी ण लिप्पंति** त एव मुनीश्वराः शुभाशुभकर्मणा न लिप्यंते। किं च विस्तरः शुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपं निश्चयरत्नत्रयलक्षणं भेदविज्ञानंयदा न भवति तदाहं जीवान् हिनस्मीत्यादि हिंसाध्यवसानं नारकोहमित्यादि न कर्मोदयाध्यवसानं, धर्मास्तिकायोयमित्यादि ज्ञेयपदार्थाध्यवसानं च निर्विकल्पशुद्धात्मनः सकाशाद्भिन्नं न जानातीति। तदजानन् हिंसाध्यवसानविकल्पेन सहा-त्मानमभेदेन श्रद्दधाति जानाति अनुचरति च. ततो मिथ्यादृष्टिर्भवति मिथ्याज्ञानी भवति मिथ्याचारित्री भवति ततः

कर्मबन्धः स्यात् । यदापुनः पूर्वोक्त भेदविज्ञानं भवति तदा सम्यग्दृष्टिर्भवति, सम्यग्ज्ञानी भवति सम्यक्चारित्री भवति, ततः कर्मबन्धो न भवतीति भावार्थः ।

कियंतं कालं परभावानात्मनि योजयतीति चेत्—

टीका:—(एदाणि णत्थि जेसिं अज्झवसाणाणि एवमादीणि) ये ऊपर बतलाये गये तथा इसी प्रकार के और भी जो अध्यवसान हैं वे ही कर्मबन्ध के निमित्त भूत होते हैं जो कि शुभ और अशुभ के भेद से दो प्रकार के हैं, ये अध्यवसान भाव जिनके नहीं होते (ते असुहेण सुहेण य कम्मेण मुणी ण लिप्पंति) वे ही मुनीश्वर शुभ और अशुभ कर्म के द्वारा लिप्त नहीं होते हैं। इसका स्पष्ट तात्पर्य यह है कि जिस समय इस जीव को शुद्धात्मा का समीचीन रूप श्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठान स्वरूप निश्चय रत्नत्रय ही है लक्षण जिसका ऐसा भेद विज्ञान नहीं होता तब उस समय वह जीव "मैं इन जीवों को मारता हूँ" इत्यादि रूप से हिंसा के अध्यवसान को, "मैं नारक हूँ" इत्यादि कर्मोदय के अध्यवसान को 'यह धर्मास्तिकाय है' इत्यादिरूप से ज्ञेय पदार्थ के अध्यवसान को अर्थात् जो कि शुद्धात्मा से भिन्न वस्तु है, उसको जानता है तब उस समय में वह उस हिंसा अध्यवसान रूप विकल्प के साथ अपने आपको अभेदरूप अर्थात् एकमेक रूप से जानता हुआ वैसे ही श्रद्धान रकता अर्थात् जानता है, वैसे ही मानता है और वैसे ही आचरण भी करता है इसलिये मिथ्यादृष्टि होता है, मिथ्याज्ञानी होता है और मिथ्या चारित्री भी होता है इसीलिए उसके कर्म बन्ध होता है और जब पूर्वोक्त भेद विज्ञान होता है तब वह सम्यग्दृष्टि होता है, सम्यग्ज्ञानी होता है और सम्यक् चारित्रवान् होता है उस समय कर्मका बंध नहीं होता है यह भावार्थ है ॥२८८॥

अब यह बताते हैं कि यह आत्मा इन पर पदार्थों को अपने ऊपर कब तक लादता है:—

जा संकप्पवियप्पो ता कम्मं कुणदि असुह सुह जणयं ।
अप्पसरूवा रिद्धी जाव ण हियए परिप्फुरइ ॥२८९॥

यावत्संकल्पविकल्पौ तावत्कर्म करोत्यशुभशुभजनकं ।
आत्मस्वरूपा ऋद्धिः यावत् न हृदये परिस्फुरति ॥२८९॥

अर्थ—जब तक यह छद्मस्थ जीव बाह्य वस्तुओं के संबंध में संकल्प विकल्प करता है तब तक उसके हृदय में आत्मा के स्वरूप के विषय का ज्ञान नहीं हो पाता अतः तभी तक वह शुभ और अशुभ जाति के कर्म भी करता है ॥२८९॥

तात्पर्यवृत्तिः—यावत्कालं बहिर्विषये देहपुत्रकलत्रादौ ममेतिरूपं संकल्पं करोति अभ्यंतरे हर्षविषादरूपं विकल्पं च करोति तावत्कालमनंतज्ञानादिसमृद्धिरूपमात्मानं हृदये न जानाति । यावत्कालमित्थंभूत आत्मा हृदये न परिस्फुरति तावत्कालं शुभाशुभजनकं कर्म करोतीत्यर्थः ।

अथाध्यवसानस्य नाममालामाह—

टीका:—जब तक यह जीव शरीर, पुत्र, स्त्री आदिक बाह्य वस्तुओं के विषयमें ये सब मेरे हैं

इस प्रकार का तो संकल्प और उन्हें लक्ष्यमें लेकर प्रसन्नता तथा अप्रसन्नतारूप विकल्प को मनमें करता है तब तक यह जीव अनन्त ज्ञानादि स्वरूप आत्मा को हृदय से नहीं जानता है। और जब तक इस प्रकार की आत्मा इसके हृदय में स्फुरायमान नहीं होती तब तक शुभाशुभ को उपजाने वाले कर्म करता ही रहता है ॥ २८९॥

विशेषार्थः—आचार्य श्री ने यहां आत्मोपलब्धि की बात कही है। वह आत्मोपलब्धि तीन प्रकार की है-(१) आगमिक आत्मोपलब्धि (२) मानसिक आत्मोपलब्धि (३) केवलात्मोपलब्धि। (१) गुरु की वाणी में आत्मा का स्वरूप सुनकर उसपर विश्वास ले आना यह आगमिक आत्मोपलब्धि है। (२) आत्मा के शुद्ध स्वरूप को मन से स्वीकार करना अर्थात् मन को तदनुकूल परिणमा लेना यह मानसिक आत्मोपलब्धि है। (३) केवलज्ञान हो जाने पर प्रत्यक्षरूप से आत्मा की प्राप्ति है वह केवलात्मोपलब्धि है। उनमें से केवलआत्मोपलब्धि की बात तो अपूर्व है वह तो परमात्मस्वरूप एवं ध्येय रूप है ही, परन्तु यहां पर शेष आत्मोपलब्धियों में से मानसिक आत्मोपलब्धि की बात है जहां पर श्रद्धा के साथ आचरण भी तदनुकूल होता है अर्थात् 'जैसी कथनी वैसी करणी' की बात है। जहां पर श्रद्धाके साथ २ मानसिक आत्मोपलब्धि के समय स्वयं में भी हर्ष विषादादि विकारभावों का अभाव होता है अतः वहां शुभ या अशुभ किसी प्रकार के नूतन कर्मबन्ध का सद्भाव नहीं होता। अतः वही महर्षियों को स्वीकार्य है तथा उसी का यहां इस अध्यात्म प्रकरण में संग्रहण है एवं उसी मानसिक आत्मोपलब्धि वाले को सम्यग्दृष्टि, ज्ञानी, निर्बन्ध आदि रूप से कहा गया है जहां आगमिक आत्मोपलब्धि की बात है वहां पर शुद्धात्मा के विषय का श्रद्धान तो होता है किन्तु आचरण तदनुकूल न होकर उससे उलटा होता है अर्थात् उसे यह विश्वास तो है कि आत्मा का स्वरूप हर्ष विषादादि करना नहीं है किन्तु स्वयं हर्ष विषादादि को लिए हुए रहता है और करता रहता है इस प्रकार "कथनी और व करणी और" वाली कहावत को चरितार्थ करने वाला होने से उसे इस अध्यात्म शैली ग्रन्थ में सम्यग्दृष्टि आदि न कह कर मिथ्यादृष्टि आदि कहा गया है जैसा कि ऊपर गाथा नं २८८ में व टीका में लिखा गया है। हां, आगमिक लोग शुद्धात्मा की श्रद्धा मात्र से भी सम्यग्दृष्टिपन मानते हैं क्योंकि उनकी विचार धारा यह है कि इसके शुद्धात्मा होने रूप आचरण भले ही आज न सही किन्तु शुद्धात्मा की श्रद्धा तो इसके भी जगी है अतः संग्राहकता के रूप से यह भी सम्यग्दृष्टि ही है:—

अब आगे की गाथामें आचार्यदेव अध्यवसान के पर्याय नाम गिनाते हैं:-

बुद्धी ववसाओवि य अज्झवसाणं मई य विण्णाणं।
एकट्ठमेव सव्वं चित्तं भावो य परिणामो ॥२९०॥

बुद्धि र्व्यवसायोऽपि च अध्यवसानं मतिश्च विज्ञानं।
एकार्थमेव सर्वं चित्तं भावश्च परिणामः ॥२९०॥

अर्थ—बुद्धि, व्यवसाय, अध्यवसान, मति, विज्ञान, चित्त, भाव और परिणाम ये सब नाम एक ही अर्थ के वाचक हैं ॥ २९० ॥

तात्पर्यवृत्तिः—बोधनं बुद्धिः, व्यवसानं व्यवसायः, अध्यवसानमध्यवसायः, मननं पर्यालोचनं मतिश्च, विज्ञायते

अनेनेति विज्ञानं, चिंतनं चित्तं. भवनं भावः, परिणमनं परिणामः, इति शब्दभेदेऽपि नार्थभेदः-किं तु सर्वोऽपि समभिरूढनयापेक्षयाऽध्यवसानार्थं एव। कथं ? इति चेत् यथेंद्रः शक्रः पुरंदर इति। एवं व्रतैः पुण्यं अव्रतैः पापमिति कथनेन सूत्रद्वयं पूर्वमेव व्याख्यातं तस्यैव सूत्रद्वयस्य विशेषविवरणार्थं बाह्यं वस्तु रागाद्यध्यवसानकारणं रागाद्यध्यवसानं तु बंधकारणमिति कथनमुख्यत्वेन त्रयोदश गाथा गताः, इति समुदायेन पंचदशसूत्रैश्चतुर्थस्थलं समाप्तं।

अतः परमभेदरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिरूपेण निश्चयनयेन विकल्पात्मकव्यवहारनयो हि बाध्यत इति कथनमुख्यत्वेन गाथाषट्कपर्यंतं व्याख्यानं करोति—

टीका:—बोधनं अर्थात् जानना मात्र सो बुद्धि; व्यवसानं अर्थात् जानने मात्र के रूपमें व्यवसाय सो व्यवसाय; अध्यवसानं अर्थात् समझ लेना सो अध्यवसाय; मननं अर्थात् मान लेना स्वीकार करना सो मति; विज्ञान जिसके द्वारा जाने सो विज्ञान; चिन्तनं अर्थात् स्मरण करना वह चित्त; भवनं अर्थात् चेतना का होना सो भाव; परिणमनं अर्थात् चेतना का रूपान्तर में होना सो परिणाम। इस प्रकार यहां शब्द भेद तो है किन्तु अर्थ भेद नहीं है। यदि समभिरूढ़नय से देखें तो इन सब का अर्थ अध्यवसान ही होता है जैसे कि इन्द्र, शक्र और पुरन्दर का एक ही देवराज ऐसा अर्थ होता है ॥२९०॥

इस प्रकार व्रतों के द्वारा पुण्य होता है और अव्रतों के द्वारा पाप इस प्रकार का कथन दो गाथाओं में हुआ। उसी का विशेष वर्णन करने के लिये बाह्य वस्तु रागादिरूप अध्यवसान का कारण होती है और रागादिरूप अध्यवसान है वह बन्ध का कारण होता है इस प्रकार के कथन को मुख्य लेकर शेष तेरह गाथायें हुईं। इस प्रकार पन्द्रह गाथाओं में यह चतुर्थ स्थल पूर्ण हुआ॥

अब इसके आगे यह कथन करते हैं कि अभेद रत्नत्रयात्मक निर्विकल्प समाधि है स्वरूप जिसका ऐसे उस निश्चयनय के द्वारा विकल्पात्मक जो व्यवहार नय है वह दबा दिया जाता है इस प्रकार के कथन की मुख्यता से छह गाथाओं में वर्णन करते हैं:—

एवं ववहारणओ पडिसिद्धो जाण णिच्छयणयेण।
णिच्छयणयसल्लीणा मुणिणो पावंति णिव्वाणं ॥२९१॥

एवं व्यवहारनयः प्रतिषिद्धो जानीहि निश्चयनयेन।
निश्चयनय संलीना मुनयः प्राप्नुवंति निर्वाणं ॥२९१॥

अर्थ—ऊपर लिखे अनुसार सविकल्प जो व्यवहार नय है वह निर्विकल्प रूप निश्चयनय के द्वारा प्रतिषेध करने योग्य है। इस निर्विकल्प रूप निश्चय नय में तल्लीन होकर मुनि निर्वाण को प्राप्त करते हैं ॥२९१॥

तात्पर्यवृत्तिः—**एवं ववहारणओ पडिसिद्धो जाण णिच्छयणयेण** एवं पूर्वोक्तप्रकारेण परद्रव्याश्रितत्वाद् व्यवहारनयः प्रतिषिद्ध इति जानीहि। केन ? कर्तृभूतेन शुद्धात्मद्रव्याश्रितनिश्चयनयेन। कस्मात् ? **णिच्छयणयसल्लीणा मुणिणो पावंति णिव्वाणं** निश्चयनयमालीना आश्रिताः स्थिताः संतो मुनयो निर्वाणं लभंते यतः कारणादिति। किंच यद्यपि प्राथमिकापेक्षया प्रारंभप्रस्तावे सविकल्पावस्थायां निश्चयसाधकत्वाद् व्यवहारनयः सप्रयोजनस्तथापि विशुद्धज्ञानदर्शनलक्षणे शुद्धात्मनि स्थितानां निष्प्रयोजन इति भावार्थः। कथं निष्प्रयोजनः ? इति चेत् कर्मभिरमुच्यमानेनाभव्येनाप्याश्रियमाणत्वात्।

टीका:—(एवं व्यवहारणयो पडिसिद्धो जाण णिच्छयणयेण) हे आत्मन् ? उपर्युक्त व्यवहारनय जो कि पराश्रित है वह शुद्ध द्रव्य के आश्रित होने वाले निश्चयनय से हटा देने योग्य है ऐसा तुम समझो क्योंकि (णिच्छय णय सल्लीणा मुणिणो पावंति णिव्वाणं) निश्चय नय का आश्रय लेने वाले उसमें लीन रहने वाले, स्थित रहने वाले मुनि लोग ही निर्वाण को प्राप्त होते हैं। भावार्थ यह है कि यद्यपि व्यवहार नय निश्चयनय का साधक है इसलिए प्रारंभ में, प्रथम सविकल्पदशा में, प्रयोजनवान् हैं। उसे प्राप्त करना आवश्यक है फिर भी जो लोग विशुद्ध ज्ञान दर्शन रूप जो शुद्धात्मा उसमें स्थित हैं चिगते नहीं है, उनको व्यवहारनय से कोई प्रयोजन नहीं होता है ।।२९१।।

विशेषार्थ:--व्यवहार नय से यहां पर व्रत, समिति आदि रूप बाह्य क्रियात्मक दशा को और निश्चय नय से आत्म तल्लीनतारूप निर्विकल्प समाधि दशा को लिया गया है। अब जो जीव अनादि कालीन सांसारिक उलझन से मुक्त होना चाहता है वह अब मै हिंसा नहीं करके अहिंसा का पालन करूंगा इत्यादि रूप से महाव्रत धारण करता है ताकि निराकुल बन कर आत्मानुचिंतन द्वारा अपने मन के मैलको धो डालता है बिना ऐसा किये वह सीधा ही आत्मानुचिंतन रूप समाधि में नहीं लग सकता व मन के मेल को नहीं धो सकता इसलिए व्रत का धारण करना परम आवश्यक है। किन्तु व्रत धारण करने पर भी आत्मानुमनन रूप समाधि नहीं प्राप्त की जा सके तो भी उद्देश्य की सिद्धि नहीं हो सकती है क्यों कि उसका साक्षात् कारण तो आत्म समाधि ही है। जिसने आत्मानुभवरूप समाधि दशा रूप निश्चयनय को प्राप्त कर लिया उसके लिए फिर बाह्य व्रत पालन रूप क्रियात्मक दशापर आनेका कोई प्रयोजन नहीं रहता। यह बात दूसरी है कि उपयोग की दुर्बलता से आत्मानुभव पर अधिक देर नहीं टिका रहने के कारण उसे वहां से हटकर बाह्य महाव्रतादि के पालने में प्रवृत्त होना पड़ता है वह भी इसलिए कि उसे ऐसा करके फिर आत्मानुभव रूप समाधि को पुन: प्राप्त कर सके इसीलिए व्यवहार नय निश्चय नय के द्वारा प्रतिषेध्यं है। सार यही है कि मुनि को निर्विकल्प समाधि के प्राप्त करने का भरसक प्रयत्न करना चाहिए तभी मुनिपना सफल है अन्यथा नहीं।

शंका--फिर आजकल तो मुनि नहीं बनना चाहिये क्योंकि इस समय तो निर्विकल्प समाधि नहीं हो सकती है ? ऐसा सुना जाता है।

समाधान—कौन कहता है कि आजकल निर्विकल्प समाधि नहीं हो सकती है ? विकल्प भी दो प्रकार के होते हैं (१) ध्येय ध्याता आदि रूप विकल्प (२) इष्ट अनिष्टादि रूप विकल्प। जहां मै ध्यान करने वाला हूं और अमुक अर्हन्तादि का ध्यान कर रहा हूं इस प्रकार का ध्याता और ध्येय आदि का विकल्प न हो जैसा कि छहढाला में लिखा हुआ है।

जहं ध्यान ध्याता ध्येय को, न विकल्प वच भेद न जहां। चिद्भाव कर्म चिदेश कर्ता, चेतना किरिया तहां।। तीनों अभिन्न अखिन्न शुध, उपयोग की निश्चल दशा। प्रगटी जहां, दृग, ज्ञान व्रत ये, तीन धा एक हि लसा।। ऐसा एकाकार ध्यान जिसको आगम भाषा में शुक्ल ध्यान कहते हैं वह तो उत्तम संहनन वाले के ही होता है अतः इस समय नहीं हो सकता है किन्तु जहां पर यह मेरा और यह पराया अथवा यह अच्छा और यह बुरा इस प्रकार के आर्त्तरौद्रभावात्मक संकल्प विकल्प न होने पावे ऐसा धर्म्य ध्यान तो हो सकता है। जैसा कि श्री कुन्दकुन्द स्वामी लिखते हैं:—

अज्जवितिरयण सुद्धा, अप्पा झाऊण जांति सुरलोए।
लोयन्तिय देवत्तं, तत्थचुदा णिव्वुदिं जंति ॥७७॥ (मोक्षपाहुड़)

अर्थात् आज भी ऐसे जीव हैं जिनका सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय निर्दोष व शुद्ध है अतः वे अपनी आत्मा का ध्यान करके उसके बल पर यहां से ब्रह्म स्वर्ग में जाकर लौकांतिक देव हो जावें और वहां से आकर मनुष्य हो मुनि बनकर निर्वाण को प्राप्त कर लें। इस प्रकार शुद्ध रत्नत्रय को पालन करने की, एवं सीधा यहां से लौकान्तिक पद पाने जैसी योग्यता मुनि बनने पर ही हो सकती है अतः आज भी मुनि बनना निरर्थक नहीं है, सार्थक ही है यदि वह समाधि के लिये है।

अन्यथा कोरे व्रतादिक तो अभव्य भी स्वीकार करता है जो कि कर्मों से मुक्त नहीं होता ऐसा बताते हैं:-

वदसमिदिगुत्तीओ सीलतवं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
कुव्वंतोवि अभव्वो अण्णाणी मिच्छदिट्ठी दु ॥२६२॥

व्रतसमितिगुप्तयः शीलतपो जिनवरैः प्रज्ञप्तं।
कुर्वन्नप्यभव्योऽज्ञानी मिथ्यादृष्टिस्तु ॥२६२॥

अर्थ–देखो, श्री जिन भगवान् ने बताया है कि उन व्रत, समिति, गुप्ति शील, और तपों को करता हुआ भी अभव्य जीव अज्ञानी तथा मिथ्यादृष्टि बना रहता है ॥२६२॥

तात्पर्यवृत्तिः—**वदसमिदि गुत्तीओ सीलतवं जिणवरेहिं परिकहिदं** व्रतसमितिगुप्तिशील तपश्चरणादिकं जिनवरैः प्रज्ञप्तं कथितं **कुव्वंतोवि अभव्वो अण्णाणी मिच्छदिट्ठीओ** मंदमिथ्यात्वमंदकषायोदये सति कुर्वन्नप्यभव्यो जीवस्त्वज्ञानी भवति मिथ्यादृष्टिश्च भवति। कस्मात्? इति चेत् मिथ्यात्वादिसप्तप्रकृत्युपशमक्षयोपशमक्षयाभावात् शुद्धात्मोपादेयश्रद्धानाभावात्। इति

अथ तस्यैकादशांगश्रुतज्ञानमस्ति कथमज्ञानी? इति चेत्

टीका:—(वदसमिदिगुत्तीओसीलतवं जिणवरेहिं परिकहिदं) श्री जिन भगवान के द्वारा बताये हुए व्रत, समिति, गुप्ति, शील, तपश्चरण आदि को (कुव्वंतोवि अभव्वो अण्णाणी मिच्छदिट्ठीओ) मिथ्यात्व तथा कषाय का मन्द उदय होने से, करता रहने पर भी अभव्य जीव अज्ञानी तथा मिथ्यादृष्टि बना रहता है। क्योंकि उसके मिथ्यात्व आदि सात प्रकृतियों को उपशम, क्षय वा क्षयोपशम नहीं हो पाता, इसलिये शुद्ध आत्म तत्व ही उपादेय है इस प्रकार का श्रद्धान उसके नहीं होता। यद्यपि उसके ग्यारह अंग तक का ज्ञान हो जाता है फिर भी वह अज्ञानी बना रहता है ऐसा नीचे बताते हैं:-

मोक्खं असद्दहंतो अभवियसत्तो दु जो अधीएज्ज।
पाठो ण करेदि गुणं असद्दहंतस्स णाणं तु ॥२६३॥

मोक्षमश्रद्दधानोऽभव्यसत्त्वस्तु योऽधीयीत।
पाठो न करोति गुणमश्रद्दधानस्य ज्ञानं तु ॥२६३॥

अर्थ—अभव्य जीव यदि शास्त्र भी पढ़ता है पर शुद्ध ज्ञानमय आत्म स्वरूप मोक्ष तत्व का श्रद्धान न होने से उसका वह शास्त्र पढ़ना भी गुणकारी नहीं होता है ।।२९३।।

तात्पर्यवृत्तिः—मोक्खं असद्दहंतो अभविय सत्तो दु जो अधीयेज्ज मोक्षमश्रद्दधानः सन्नभव्यजीवो यद्यपि ख्यातिपूजालाभार्थमेकादशांगश्रुताध्ययनं कुर्यात् पाठो ण करेदि गुणं तथापि तस्य शास्त्रपाठः शुद्धात्मपरिज्ञानरूपं गुणं न करोति किंकुर्वतस्तस्य ? असद्दहंतस्य णाणं तु अश्रद्दधतोऽरोचमानस्य । किं ज्ञानं । कोऽर्थः ? शुद्धात्मसम्यक्-श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपेण निर्विकल्पसमाधिना प्राप्यं गम्यं शुद्धात्मस्वरूपमिति । कस्मान्न श्रद्धत्ते ? दर्शनचारित्रमोहनी-योपशमक्षयोपशमक्षयाभावात् । तदपि कस्मात् । अभव्यत्वादिति भावार्थः--

अथ तस्य पुण्यरूपधर्मादिश्रद्धानमस्तीति चेत्—

टीका:—(मोक्खं असद्दहंतो अभवियसत्तो दु जो अधीएज्ज) मोक्षका जिसको श्रद्धान नहीं है (अर्थात् अशुद्ध आत्मा भी शुद्ध हो सकती है इस प्रकार की आत्म विशुद्धि पर जिसका विश्वास नहीं जमता है) ऐसा अभव्य जीव यद्यपि अपनी ख्याति, पूजा, लाभादि के लिए ग्यारह अंग श्रुत का अध्ययन भी करता है तो करे (पाठो न करेदि गुणं) तो भी शास्त्र का पढ़ना उसके लिये शुद्धात्मा के परिज्ञान रूप गुण का करनेवाला नहीं होता। (असद्दहंतस्स णाणं तु) क्योंकि वह ज्ञान पर अपनी रुचि नहीं लाता है, विश्वास नहीं लाता है, अर्थात् वह शुद्धात्मा के श्रद्धान, ज्ञान, और अनुष्ठानरूप जो निर्विकल्प समाधि है उसके द्वारा प्राप्त करने योग्य, जानने योग्य शुद्धात्मा का स्वरूप है उसको नहीं मानता नहीं स्वीकार करता है क्योंकि उसके दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय के भेद से दो प्रकार के मोहनीय कर्म का उपशम क्षयोपशम व क्षय नहीं होता। उसका भी यह कारण है कि वह अभव्य है यह भावार्थ है ।। २९३ ।।

फिर यहां शंका होती है कि वह पुण्य रूप धर्मादि को क्यों मानता है ?

सद्दहदि य पत्तेदि य रोचेदि य तह पुणो ह फासेदि ।
धम्मं भोगणिमित्तं ण दु सो कम्मखयणिमित्तं ।।२९४।।

श्रद्दधाति च प्रत्येति च रोचयति च तथा पुनश्चस्पृशति ।
धर्मं भोगनिमित्तं न तु स कर्मक्षयनिमित्तं ।।२९४।।

अर्थ—वह अभव्य जीव धर्म का श्रद्धान करता है, उसे प्रतीति में लाता है, उसमें रुचि रखता है, एवं उसे धारण करता है, सो वह कर्मों को नष्ट करने के लिए नहीं किंतु भोगों को प्राप्त करने के लिए करता है ।।२९४।।

तात्पर्यवृत्तिः—सद्दहदि श्रद्धत्ते च पत्तेदिय ज्ञानरूपेण प्रत्येति च प्रतीतिं परिच्छित्तिं करोति रोचेदिय विशेषश्रद्धानरूपेण रोचते च तह पुणोवि फासेदिय तथा पुनःस्पृशति च अनुष्ठानरूपेण कं ! धम्मं भोगणिमित्तं अहमिंद्रादिपदवीकारणत्वादिति मत्वा भोगाकांक्षारूपेण पुण्यरूपं धर्मं ण दु सो कम्मक्खयणिमित्तं नच कर्मक्षय-निमित्तं शुद्धात्मसंवित्तिलक्षणं निश्चयधर्ममिति ।

अथ कीदृशौ तौ प्रतिषेध्यप्रतिषेधकौ व्यवहारनिश्चयनयाविति चेत्—

टीका—(सद्दहदिय) श्रद्धान करता है, उसे (पत्तेदिय) ज्ञान के द्वारा प्रतीति में लाता है, उसकी जानकारी प्राप्त करता है (रोचेदिय) विशेष रूप से विश्वास लाता है (तह पुणोवि फासेदिय) तथा उसे

छूता है अर्थात् आचरण में लाता है। कौन से धर्म को लाता है! कि (धम्मं भोगणिमित्तं) अहमिंद्रादि का कारण होने से जो धर्म भोगों का विशेष रूप से साधन है उस पुण्य रूप धर्म को भोगों की अभिलाषा से ही धारण करता है (ण दु सो कम्मखयणिमित्तं) किन्तु शुद्धात्मा की संवित्ति है लक्षण जिसका ऐसा जो निश्चय धर्म जो कि कर्मों के नाश करने में निमित्त होता है उस धर्म को नहीं मानता नहीं जानता आदि ॥२६४॥

विशेषार्थः—जैसे कि किसान अन्न को पृथ्वी पर डालता है वह इसलिए नहीं कि यह बेकार है अपितु वह उसे इसलिए डालता है कि ऐसा करने पर यह मुझे कई गुणा अधिक होकर फल देगा। इसी प्रकार अभव्य मुनि भी वर्तमान भोगों का त्याग करता है वह वैराग्य से नहीं, परन्तु मैं इन मानव उचित भोगों को छोड़ दूंगा तो मुझे स्वर्गीय दिव्य भोग प्राप्त होंगे इसलिए करता है शरीर से काय क्लेशादि तप करता है वह भी इसलिए कि इस घिनावने शरीर को तप में लगादूंगा तो मुझे विक्रियादि ऋद्धिवाला दिव्य शरीर मिलेगा अपितु इसलिए नहीं कि मैं अशरीरी बन जाऊंगा क्योंकि अशरीरी बन रहने का तो उसे महत्व ही मालूम नहीं है इसलिए उसका वह श्रद्धान, ज्ञान आचरण ठीक न होकर मिथ्यादृष्टि ही रहता है।

आगे प्रतिषेध्य जो व्यवहार नय व प्रतिषेधक जो निश्चय नय उसका क्या स्वरूप है सो बताते हैं:—

आयारादी णाणं जीवादी दंसणं च विण्णेयं।
छज्जीवाणं रक्खा भणदि चरित्तं तु ववहारो ॥२६५॥
आदा खु मज्झ णाणं आदा मे दंसणे चरित्ते य।
आदा पच्चक्खाणे आदा में संवरे जोगे ॥२६६॥

आचारादि ज्ञानं जीवादि दर्शनं च विज्ञेयं।
षड् जीवनिकां च तथा भणति चरित्रं तु व्यवहारः ॥२६५॥
आत्मा खलु मम ज्ञानमात्मा मे दर्शनं चरित्रं च।
आत्मा प्रत्याख्यानं आत्मा में संवरो योगः ॥२६६॥

अर्थ—आचारांग आदि शास्त्र का पढ़ना ज्ञान है, जीवादि नव पदार्थों का मानना दर्शन है और छह काय के जीवों की रक्षा करना सो चारित्र है इस प्रकार व्यवहार नय कहता है। किन्तु वास्तव में मेरा आत्मा ही ज्ञान है, आत्मा ही दर्शन है, आत्मा ही चारित्र है, आत्मा ही प्रत्याख्यान है, आत्मा ही संवर है और आत्मा ही योग है ऐसा निश्चय नय कहता है ॥२६५-२६६॥

तात्पर्यवृत्तिः— **आयारादीणाणं** आचारसूत्रकृतमित्यादि एकादशांगशब्दशास्त्रं ज्ञानस्याश्रयत्वात्कारणत्वाद् व्यवहारेण ज्ञानं भवति। **जीवादी दंसणं च विण्णेयं** जीवादिनवपदार्थः श्रद्धानविषयः सम्यक्त्वाश्रयत्वान्निमित्तत्वाद् व्यवहारेण सम्यक्त्वं भवति। **छज्जीवाणं रक्खा भणदि चरित्तं तु ववहारो** षट्जीवनिकायरक्षा चारित्राश्रयत्वात्, हेतुत्वाद् व्यवहारेण चारित्रं भवति एवं पराश्रितत्वेन व्यवहारमोक्षमार्गः प्रोक्त इति।

आदा खु मज्झ णाणे स्वशुद्धात्मा ज्ञानस्याश्रयत्वान्निमित्तत्वान्निश्चयनयेन मम सम्यग्ज्ञानं भवति। **आदा मे दंसणे** शुद्धात्मा सम्यग्दर्शनस्याश्रयत्वात् कारणत्वात् निश्चयेन सम्यग्दर्शनं भवति **चरित्ते य** शुद्धात्मा चारित्रस्याश्रयत्वाद्धेतुत्वात् निश्चयेन सम्यक्चारित्रं भवति **आदा पच्चक्खाणे** शुद्धात्मा रागादिपरित्यागलक्षणस्याप्रत्याख्यानस्याश्रयत्वात्कारणत्वात् निश्चयेन प्रत्याख्यानं भवति। **आदा मे संवरे** शुद्धात्मा स्वरूपोपलब्धिबलेन हर्षविषादादिनिरोधलक्षणसंवरस्याश्रयत्वान्निश्चयेन संवरोभवति **जोगे** शुभाशुभचिंतानिरोधलक्षणपरमध्यानशब्दवाच्ययोगस्याश्रयत्वाद्धेतुत्वात् परमयोगो भवतीति शुद्धात्माश्रितत्वेन निश्चयमोक्षमार्गो ज्ञातव्यः। एवं व्यवहारनिश्चयमोक्षमार्गस्वरूपं कथितं तत्र निश्चयः प्रतिषेधको भवति, व्यवहारस्तु प्रतिषेध्य इति। कस्मादिति चेत् निश्चयमोक्षमार्गे स्थितानां नियमेन मोक्षो भवति व्यवहारमोक्षमार्गे स्थितानां तु भवति न भवति च। कथं न भवति? इति चेत्, यदि मिथ्यात्वादिसप्तप्रकृत्युपशमक्षयोपशमक्षयात्सकाशाच्छुद्धात्मानमुपादेयं कृत्वा वर्तते तदा मोक्षो भवति। यदि पुनः सप्तप्रकृत्युपशमाद्यभावे शुद्धात्मानमुपादेयं कृत्वा न वर्तते तदा मोक्षो न भवति। तदपि कस्मात्? सप्तप्रकृत्युपशमाद्यभावे सति, अनंतज्ञानादिगुणस्वरूपमात्मानमुपादेयं कृत्वा न वर्तते न श्रद्धत्ते यतः कारणात्। यस्तु तादृगमात्मानमुपादेयं कृत्वा श्रद्धत्ते तस्य सप्तप्रकृत्युपशमादिकं न विद्यते स तु भव्यो भवति। यस्य पुनः पूर्वोक्तशुद्धात्मस्वरूपमुपादेयं। नास्ति तस्य सप्तप्रकृत्युपशमादिकं न विद्यते इति ज्ञातव्यं। मिथ्यादृष्टिरभौ तेन कारणेनाभव्यजीवस्य मिथ्यात्वादिसप्तप्रकृत्युपशमादिकं कदाचिदपि न संभवति इति भावार्थः। किं च निर्विकल्पसमाधिरूपेनिश्चये स्थित्वा व्यवहारस्त्याज्यः, किं तु तस्यां त्रिगुप्तावस्थायां व्यवहारः स्वयमेव नास्तीति तात्पर्यार्थः। एवं निश्चयनयेन व्यवहारः प्रतिषिद्ध इति कथनरूपेण षट् सूत्रैः पंचमं स्थलं गतं।

अथाहारविषये सरसविरसमानापमानादिचिंतारूपरागद्वेषकारणाभावादाहारग्रहणकृतौ ज्ञानिनां बंधो नास्ति इति कथयति—

टीका:—(आयारादी णाणं) आचारांग सूत्रकृतांग आदि ग्यारह अंग रूप जो शब्द शास्त्र है वह ज्ञान का आश्रय होने के कारण व्यवहार से सम्यग्ज्ञान है। (जीवादी दंसणं च विण्णेयं) जीवादि स्वरूप नव पदार्थ जो श्रद्धान का विषय है वही सम्यक्त्व का आश्रय है निमित्त है इसलिए व्यवहार से वही सम्यक्त्व है। (छज्जीवाणं रक्खा भणंति चरित्रं तु ववहारो) छह कार्य के जीवों की रक्षा करना चारित्र का आश्रय होने से, कारण होने से व्यवहार नय से चारित्र है। इस प्रकार यह मोक्षमार्ग का स्वरूप हुआ। किन्तु (आदा खु मज्झणाणे) अपनी शुद्धात्मा ही ज्ञान का आश्रय है, निमित्त है इसलिए निश्चयनय से मेरी आत्मा ही सम्यग्ज्ञान है। (आदा में दंसणे) मेरी शुद्धात्मा ही सम्यग्दर्शन का आश्रय है हेतु है इसलिए निश्चयनय से वही सम्यग्दर्शन है (चरित्तेय) मेरी शुद्धआत्मा ही चारित्र का आश्रय है, हेतु है इसलिए निश्चयनय से वही सम्यक्चारित्र है। (आदा पच्चक्खाणे) शुद्धात्मा ही, रागादि के परित्याग स्वरूप जो प्रत्याख्यान उसका आश्रय है, कारण है इसलिए निश्चयनय से वही प्रत्याख्यान है। (आदा मे संवरे) शुद्धात्मा ही, स्वरूप की उपलब्धि के वश से हर्ष विषाद आदि का न होना ही लक्षण जिसका एसे संवर का आश्रय होने से, निश्चयनय से वही सवर है। (जोगे) शुभ और अशुभ रूप जो चिंता उसका निरोध करके रखना वही है लक्षण जिसका ऐसा परम ध्यान शब्द से कहा जाने योग्य योग है उसका आश्रय होने से, हेतु होने से, शुद्धात्मा ही परम योग है। इस प्रकार स्वशुद्धात्मा के ही आश्रय होने से यह निश्चय मोक्षमार्ग है ऐसा समझना चाहिए। इस प्रकार व्यवहार मोक्ष मार्ग व निश्चय मोक्ष मार्ग का स्वरूप कहा। वहां निश्चय मोक्ष मार्ग तो प्रतिषेधक है और व्यवहार मोक्ष मार्ग (निश्चय मोक्षमार्ग से) प्रतिषेध्य है। क्योंकि निश्चय मोक्ष मार्ग में स्थित है इनको नियम से मोक्ष

होता है किन्तु व्यवहार मोक्ष मार्ग में स्थित होने वालों को मोक्ष होता भी है और नहीं भी होता है। क्यों कि यदि मिथ्यात्व आदि (तीन मिथ्यात्व की और चार अनंतानुबंधी की) सात प्रकृतियों का उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षय होने से शुद्धात्मा को उपादेय मान कर वह व्यवहार मोक्ष मार्ग में प्रवृत्त होता है तब तो मोक्ष होता है। और यदि उन्हीं सात प्रकृतियों के उपशमादि के न होने पर शुद्धात्मा को उपादेय न मानकर ही वह व्यवहार मोक्ष मार्ग में प्रवृत्त हुआ है तो उसके फिर कभी मोक्ष नहीं हो सकता है सो उससे मोक्ष नहीं होने का यही कारण है कि उसमें मिथ्यात्वादि सात प्रकृतियों का उपशमादिभाव न होने से अनंत ज्ञानादि गुण स्वरूप शुद्धात्मा है उसकी उपादेयता वहां नहीं होती। हां, जो जीव शुद्धात्मा को उपादेय मानता है उसका विश्वास करता है (अर्थात् जो कोई रागद्वेष मिटाना चाहे तो मिटाकर सदा के लिए वीतराग रूप बन सकता है) तो उसके मिथ्यात्व आदि सात प्रकृतियां का उपशमादि भी अवश्य होता है वह भव्य जीव होता है। किन्तु जो पूर्वोक्त शुद्धात्मा के स्वरूप को नहीं मानता उस पर विश्वास नहीं रखता, तो उसके मिथ्यात्वादि सात प्रकृतियों का उपशमादि भी नहीं है एवं वह मिथ्यादृष्टि है, ऐसा समझना चाहिए। अभव्यजीव भी वही होता है जिसके मिथ्यात्वादि सात प्रकृतियों का उपशमादिकन है और न हो सकेगा यह भावार्थ है। हां, यहां यह बात आई है कि निश्चय मोक्ष मार्ग तो निर्विकल्प समाधि रूप है उस त्रिगुप्ति रूप मोक्ष मार्ग में स्थित होने पर प्रवृति रूप व्यवहार मोक्ष मार्ग में पहुँच कर व्यवहार छोड़ दिया जाता है उसका भी अर्थ यह है कि निश्चय मोक्षमार्ग तो निर्विकल्प समाधि रूप है इस त्रिगुप्ति रूप मोक्षमार्ग में स्थित होने पर प्रवृत्ति रूप व्यवहार मोक्षमार्गस्वयं नहीं रहता यह इन गाथाओं का तात्पर्य है इस प्रकार निश्चय नय से व्यवहार के प्रतिषेधरूप कथन की मुख्यता से छह सूत्रों से पंचम स्थल पूर्ण हुआ ॥२९५-२९६॥

विशेषार्थः—मोक्ष शब्द का अर्थ छोड़ देना-त्याग कर देना होता है। उसका मार्ग अर्थात् त्याग करने का उपाय आचार्य श्री ने निश्चय और व्यवहार के भेद से दो प्रकार कहा है। बाह्य सर्व वस्तुओं का त्याग कर आत्मा को ही मानना, उसे ही जानना, और उसी में ही तल्लीन होना यह तो निश्चय मोक्षमार्ग है जोकि एक ही प्रकार का है उसमें भेद नहीं है। जीवादि नव पदार्थों के स्वरूप को भिन्न भिन्न रूप से अच्छी प्रकार समझकर उस पर विश्वास लाना और हिंसादि पांच पापों का त्याग करना व्यवहार मोक्षमार्ग होता है वह दो प्रकार से होता है। एक भव्य के द्वाराआराध्य और दूसरा अभव्य द्वारा ग्राह्य। भव्य जीव स्वयं अशरीरी बन रहने के लिये उसे धारण करता है और उसका पालन करके उसके द्वारा निश्चय मोक्षमार्ग में लगकर अशरीरी बन जाता है। किन्तु अभव्य का विश्वास अशरीरी पन पर नही होता, वह तो सांसारिक वैभव प्राप्ति करने के लिये ही ग्रहण करता है अतः ग्रैवेयक में जा जन्म लेता है।

आगे कहते हैं कि आहार लेने के विषय में मान, अपमान, सरस, नीरस, आदि की चिंता रूप रागद्वेष न करने के कारण आहार लेते हुए भी ज्ञानी जीव के आहार कृत बंध नहीं होता—

आधाकम्मादीया पुग्गलदव्वस्स जे इमे दोसा।
कह ते कुव्वदि णाणी परदव्वगुणा हु जे णिच्चं ॥२९७॥
आधाकम्मादीया पुग्गलदव्वस्स जे इमे दोसा।
कह मणुमण्णदि अण्णेण कीरमाणा परस्स गुणा ॥२९८॥

आधाकर्माद्याः पुद्गलद्रव्यस्य ये इमे दोषाः ।
कथं तान् करोति ज्ञानी परद्रव्यगुणाः खलु ये नित्यं ।।२६७।।
आधाकर्माद्याः पुद्गलद्रव्यस्य ये इमे दोषाः ।
कथमनुमन्यते अन्येन क्रियमाणा परस्य गुणाः ।।२६८।।

तात्पर्यवृत्तिः—स्वयं पाकेनोत्पन्न आहार अधःकर्मशब्देनोच्यते तत्प्रभृतिव्याख्यानं करोति-अधःकर्माद्या ये इमे दोषाः, कथंभूताः ? शुद्धात्मनः सकाशात्परस्याभिन्नस्याहाररूपपुद्गलद्रव्यस्य गुणाः । पुनरपि कथंभूताः ? तस्यैवाहारपुद्गलस्य पचनपाचनादिक्रियारूपाः तान्निश्चयेन कथं करोतीति ज्ञानीति प्रथमगाथार्थः । अनुमोदयति वा कथमिति द्वितीय गाथार्थः परेण गृहस्थेन क्रियमाणान्, न कथमपि । कस्मात् ? निर्विकल्पसमाधौ सति आहारविषयमनोवचनकायकृतकारितानुमननाभावात् इत्यधःकर्मव्याख्यानरूपेण गाथाद्वयं गतं ।

आहारग्रहणात्पूर्वं तस्य पात्रस्य निमित्तं यत्किमप्यशनपानादिकं कृतं तदौपदेशिकं भण्यते तेनोपदेशिकेन सह तदेवाधःकर्म पुनरपि गाथाद्वयेन कथ्यते

अर्थ व टीका:—स्वयं अपने बनाने से सम्पन्न हुआ आहार आधाकर्म शब्द से कहा जाता है। उसी को प्रथम लेकर कहते हैं कि आधाकर्मादिक जो दोष हैं वह सब शुद्धात्मा से पृथग्भूत आहाररूप पुद्गल द्रव्य के गुण हैं क्योंकि वह सब उसी आहार रूप पुद्गल द्रव्य के पकने पकाने आदि क्रियारूप होते हैं अतः निश्चय से ज्ञानी उन्हें कैसे कर सकता है ? एवं किसी दूसरे गृहस्थ के द्वारा उन सबकी वह अनुमोदना भी कैसे कर सकता है ? कभी नहीं कर सकता । क्योंकि ज्ञानी के तो निर्विकल्प समाधि होती है उसके होने पर उसके आहार विषयक मन, वचन, काय, और कृत कारित और अनुमोदना का अभाव होता है। इस प्रकार आधाकर्म दोष के व्याख्यान रूप में दो गाथायें कही गईं ।। २६७-२६८ ।।

इसी प्रकार आहार ग्रहण करने से पहले उस पात्र को निमित्त लेकर जो कुछ अन्न पान सम्पन्न किया जाता है वह औद्देशिक दोष कहलाता है इस औद्देशिक दोष के साथ उसी आधादोष का वर्णन फिर दो गाथाओं में करते हैं-

आधाकम्मं उद्देसियं च पोग्गलमयं इमं दव्वं ।
कह तं मम होदि कदं जं णिच्चमचदेणं वुत्तं ।।२६६।।
आधाकम्मं उद्देसियं च पोग्गल मयं इमं दव्वं ।
कह तं मम कारविदं जं णिच्चमचदेणं वुत्तं ।।३००।।

आधाकर्मौपदेशिकं च पुद्गलमयमेतद्द्रव्यं ।
कथं तन्मम भवति कृतं यन्नित्यमचेतनमुक्तं ।।२९९।।
आधाकर्मौपिदेशिकं च पुद्गलमय मेतद् द्रव्यं ।
कथं तन्मम कारितं यन्नित्यमचेतनमुक्तं ।।३००।।

अर्थ—पर के उद्देश्य से किया हुआ यह आधाकर्म पुद्गलमयी द्रव्य है तथा नित्य ही अचेतन है ऐसा कहा गया है सो वह मेरी की हुई कैसे हो सकती है अथवा मेरी कराई हुई कैसे हो सकती है ।। २९९-३००।।

तात्पर्यवृत्ति:—यदिदमाहारकपुद्गलद्रव्यमधःकर्मरूपमौपदेशिकं च चेतनशुद्धात्मद्रव्यपृथक्त्वेन नित्यमेवाचेतनं भणितं तत्कथं मया कृतं भवति कारितं वा कथं भवति ? न कथमपि। कस्माद्धेतोः ? निश्चयरत्नत्रयलक्षणभेदज्ञाने सति आहारविषये मनोवचनकायकृतकारितानुमननाभावात् । इत्यौपदेशिकव्याख्यानमुख्यत्वेन च गाथाद्वयं गतं ।

अयमत्राभिप्रायः पश्चात्पूर्वं संप्रतिकाले वा योग्याहारादिविषये मनोवचनकायकृतकारितानुमतरूपैर्नवभिर्विकल्पैः शुद्धास्तेषां परकृताहारादिविषये बंधो नास्ति यदि पुनः परकीयपरिणामेन बंधो भवति तर्हि क्वापि काले निर्वाणं नास्ति। तथा चोक्तं ।

णवकोडिकम्मसुद्धो पच्छापुरदोय संपदियकाले ।
परसुहदुक्खणिमितं बज्झदि जदि णत्थि णिव्वाणं ।।

एवं ज्ञानिनामाहारग्रहणकृतो बंधो नास्तीति व्याख्यानमुख्यत्वेन सूत्रचतुष्टयेन षष्ठस्थलं गतं ।
अथ रागादयः किल कर्मबन्धकारणं भणिताः, तेषां पुनः किं कारणं ? इति पृष्टे प्रत्युत्तरमाह—

टीका:—जो अधःकर्मरूप तथा औद्देशिकरूप आहारमय पुद्गलद्रव्य है वह चेतनात्मक शुद्ध आत्मद्रव्य से पृथक् होने के कारण सर्वथा अचेतन कहा गया है तब वह मेरे द्वारा किया हुआ कैसे हो सकता है ? कराया हुआ भी कैसे हो सकता है ? कभी नहीं हो सकता है। क्योंकि निश्चय रत्नत्रय ही है लक्षण जिसका ऐसे भेदज्ञान के होने पर आहार के विषय में मन, वचन, काय और कृत कारित और अनुमोदना का अभाव होता है। इस प्रकार औद्देशिक दोष के व्याख्यान की मुख्यता से दो गाथायें पूर्ण हुईं। तात्पर्य यह है कि बादमें पहले या वर्तमान में कभी भी योग्य आहार आदि के विषय में मन, वचन, काय, कृत, कारित और अनुमोदनारूप नव प्रकार के विकल्पों से जो शुद्ध है, रहित है उनके दूसरे के द्वारा बनाये हुए आहारादि विषयक बन्ध कभी नहीं हो सकता है। यदि दूसरे के परिणामों द्वारा बन्ध हो जाय तब कभी भी किसी का निर्वाण नहीं हो सकेगा, सो कहा भी है-

णव कोडि कम्म सुद्धो पच्छा पुर दोय संपदिय काले ।
पर सुह दुःख णिमित्तं बज्झदि जदि णत्थि णिव्वाणं ।।

अर्थात्—त्रिकाल संबंधी कार्यों से मन, वचन, काय, और कृत, कारित, अनुमोदनारूप नव कोटि-तया जो दूर है ऐसा जीव भी दूसरों के सुख दुःख का निमित्त लेकर यदि बन्धता होवे तब तो किसी की भी मुक्ति नहीं हो सकेगी। अतः जो ज्ञानी जीव हैं अर्थात् जो आत्म- समाधि में लीन हैं उनके आहार ग्रहण करने से होने वाला बंध भी नहीं होता (क्योंकि वे उस प्रपंच से ही दूर हैं)। ऐसी व्याख्यान वाली चार गाथाओं से यह छट्ठा स्थल पूर्ण हुआ ।। २९९-३०० ।।

अब यह बताते हैं कि जिन रागादिभावों से आत्मा को बन्ध होता है सो रागादि विकारी भाव कैसे बनते हैं ?:—

जह फलिहमणी सुद्धो ण सयं परिणमइ रायमाईहिं ।
राइज्जदि अण्णेहिं दु सो रत्तादीहिं दव्वेहिं ।।३०१।।

एवं णाणी सुद्धो ण सयं परिणमइ रायमाईहिं ।
राइज्जदि अण्णेहिं दु सो रागादीहिं दोसेहिं ।।३०२।।

यथा स्फटिकमणिः शुद्धो न स्वयं परिणमते रागाद्यैः ।
रज्यतेऽन्यैस्तु स रक्तादिभिर्द्रव्यैः ।।३०१।।

एवं ज्ञानी शुद्धो न स्वयं परिणमते रागाद्यैः ।
रज्यतेऽन्यैस्तु स रागादिभिर्दोषैः ।।३०२।।

अर्थ व टीका:—जैसे स्फटिक मणि जो कि निर्मल होता है वह किसी बाहरी लगाव के बिना अपने आप ही लाल आदि रूप परिणमन नहीं करता है किन्तु जपा पुष्पादि बाह्य दूसरे २ द्रव्य के द्वारा वह लाल आदि बनता है उसी प्रकार ज्ञानी जीव भी उपाधि से रहित अपने चिच्चमत्कार रूप स्वभाव से वह शुद्ध ही होता है जोकि जपा पुष्प स्थानीय कर्मोदय रूप उपाधि के बिना रागादिरूप विभावों के रूप में परिणमन नहीं करता है। हां, जब कर्मोदय से होने वाले रागादिरूप दोष भावों से अपनी सहज स्वच्छता से च्युत होता है तब वह रागी बनता है। इससे यह बात मान लेनी पड़ती है कि रागादिक हैं वे सब कर्मोदय जनित हैं किन्तु ज्ञानी जीव के स्वयं के भाव नहीं हैं ।। ३०१-३०२ ।।

इस प्रकार चिदानंद ही है एक लक्षण जिसका ऐसे अपने स्वभाव को जानता हुआ (अनुभव करता हुआ) ज्ञानी जीव रागादि नहीं करता है इसलिए वह नूतन रागादि की उत्पत्ति के कारण भूत कर्मों का कर्त्ता भी नहीं होता ऐसा आगे बतलाते हैं—

णवि रागदोसमोहं कुव्वदि णाणी कसायभावं वा ।
सयमप्पणो ण सो तेण कारगो तेसिं भावाणं ।।३०३।।

नापि रागद्वेषमोहं करोति ज्ञानी कषायभावं वा ।
स्वयमेवात्मनो न स तेन कारकस्तेषां भावानां ।।३०३।।

अर्थ—ज्ञानी जीव स्वयं ही अपने आप में रागद्वेष और मोह भाव को तथा किसी भी प्रकार के कषाय भाव को नहीं करता हैं इसलिए वह उन भावों का करने वाला नहीं होता हैं ।।३०३।।

तात्पर्यवृत्ति:—णवि रागदोसमोहं कुव्वदि णाणी कसायभावं वा ज्ञानी न करोति । कान् ? रागादिदोष-रहितशुद्धात्मस्वभावात्पृथग्भूतान् रागद्वेषमोहान् क्रोधादिकषायभावं वा । कथं न करोति ? **सयं** स्वयं शुद्धात्मभावेन कर्मोदयसहकारिकारणं विना । कस्य संबंधित्वेन ? **अप्पणो** आत्मनः **ण सो तेण कारगो तेसिं भावाणं** तेन कारणेन स तत्त्वज्ञानी तेषां रागादिभावानां कर्ता न भवतीति ।

अज्ञानी जीवः शुद्धस्वभावमात्मानमजानन् रागादीन् करोति ततः स भाविरागादिजनकनवतरकर्मणां कर्ता भवतीत्युपदिशति—

टीका:—(णवि रागदोस मोहं कुव्वदि णाणी कसायभावं वा) रागादि दोषों से रहित जो शुद्धात्मा उसके स्वभाव से पृथक् रहने वाले रागद्वेष मोह भावों को तथा किसी भी प्रकार के कषाय भाव को क्रोधादि रूप परिणाम को ज्ञानी जीव नहीं करता क्योंकि वह (सयमप्पणो ण सो तेण कारगो तेसिं भावाणं) कर्मोदय रूप सहकारी कारण के बिना अपने आप ही अपने उन विकार भावों का कर्त्ता शुद्ध भाव के द्वारा नहीं हो सकता ।।३०३।।

विशेषार्थ:—यहां पर आचार्य श्री ने २९७-२९८-२९९ गाथाओं में स्पष्ट कर बताया है कि यद्यपि आत्मा परिणमन स्वभाव है स्वभाव को छोड़ कर विभाव रूप में परिणमन करने वाला है किन्तु वह अपने आप विभाव रूप कभी परिणमन नहीं करता। हां, जब कर्मोदयात्मक पर द्रव्यों का संयोग पाता है तभी विभाव रूप में परिणमन करता है। जैसे कि स्फटिक मणि श्वेत होता है वह लाल पीला आदि भी बनता है फिर भी श्वेत स्वच्छ तो अपने आप होता है किन्तु लाल पीला आदि तो वह डांक का संबंध पावे तब ही बनता है। आत्मा की भी ऐसी ही बात है। ज्ञानी इसको भली प्रकार जानता है इसलिए वह सब विकल्पों से दूर हटकर अपने आप, आत्मस्वरूप में तल्लीन रहता है, अब उसके लिए बाह्य निमित्त तो कोई रहा नहीं फिर अपने आप रागद्वेष मोहरूप कषाय भाव करे तो कैसे करे? इसलिए ज्ञानी जीव किसी भी प्रकार के कषायभाव का करने वाला नहीं होता अर्थात् उसकी आत्मा में किसी भी प्रकार का विकार पैदा नहीं होता।

शंका—हमने तो सुना है कि ज्ञानी जीव अनन्तानुबंधी कषाय नहीं करता है इतर कषाय होने पर भी उसके ज्ञानी पन में कोई भी बाधा नहीं आती है।

समाधान—यहां पर तो आचार्य महाराज ने ऐसी कोई छटनी नहीं की है अपितु यहां तो स्पष्ट रूप से कहा है कि ज्ञानी तो वह है जो किसी भी प्रकार की कषाय नहीं करता। और यह कहना ठीक भी है क्योंकि ज्ञानी को बंध इष्ट नहीं होता। क्योंकि सभी प्रकार के कषाय भाव से बन्ध होता है अतः ज्ञानी को फिर कोई भी कषाय कैसे इष्ट हो सकती है? अर्थात् नहीं हो सकती! जैसाकि आत्मख्याति के उल्लेख से भी स्पष्ट होता है—ज्ञानी शुद्धस्वभावादेव न प्रच्यवते, ततो रागद्वेषमोहादिभावैः स्वयं न परिणमते न परेणापि परिणम्यते, ततष्टंकोत्कीर्णैकज्ञायकस्वभावो ज्ञानी रागद्वेष मोहादिभावानामकर्तै वेति नियमः" अर्थात् ज्ञानी निर्विकल्परूप अपने शुद्ध स्वभाव से नहीं चिगता इसलिए रागद्वेषमोहादि भावों से न तो अपने आप परिणमन करता है और न कोई दूसरा भी उसे उन विकारी भावों से परिणमा सकता है। क्यों कि वह तो टांकी से उकीरा हुआ भाव जैसा है सदा एकसा रहता है एक अटल ज्ञायक भाव मय बना रहता है इसलिए वह रागद्वेषमोहादि भावों का अकर्त्ता होता है ऐसा नियम है।

जब यह जीव शुद्ध स्वभाव रूप आत्मा को नहीं जानता हुआ अज्ञानी होता है तब रागादिकों को करने लगता है तो वह उनसे रागादिकों को पैदा करने वाले नवीन कर्मों का कर्त्ता बनता है ऐसा बताते हैं—

रायह्मिय य दोसह्मिय कसायकम्मेसु चेव जे भावा।
तेहिं दु परिणममाणो रायाई बंधदि पुणोवि ।।३०४।।

रागे च द्वेषे च कषायकर्मसु चैव ये भावाः ।
तैस्तु परिणममानो रागादीन् बध्नाति पुनरपि ।।३०४।।

अर्थ—हां, रागद्वेष आदि कषाय रूप कर्मों के उदय आने पर जो भाव होते हैं उन विकारी परिणामों के रूपमें परिणमन करता हुआ वही जब अज्ञानी बन जाता है तो फिर रागादिरूप कर्मों को बान्धने लगजाता है ।।३०४।।

तात्पर्यवृत्तिः—रागह्मिय दोसह्मिय कसायकम्मेसु चेव जे भावा रागद्वेषकषायरूपे द्रव्यकर्मण्युदयागते सति स्वस्थभावच्युतस्य तदुदयनिमित्तेन ये जीवगतरागादिभावाः परिणामा भवंति । **तेहिं दु परिणममाणो रागादि बंधदि पुणोवि** तैः कृत्वा रागादिरहमित्यभेदेनाहमिति प्रत्ययेन कृत्वा परिणमन् सन् पुनरपि भाविरागादिपरिणामोत्पादकानि द्रव्यकर्माणि बध्नाति ततस्तेषां रागादीनामज्ञानी जीवः कर्ता भवतीति । तमेवार्थं दृढयति ।

टीका:—(रायह्मि य दोसह्मिय कसायकम्मेसु चेव जे भावा) रागद्वेषादि कषायरूप द्रव्य कर्म के उदय आने पर अपने सहज भाव से चिगे हुए इस जीव के उस कर्मोदय के निमित्त से जो आत्मगत रागादि भाव अर्थात् विकारी परिणाम होते हैं (तेहिं दु परिणममानो रागादी बंधदि पुणोवि) उनसे मैं रागादि-रूप हूं इस प्रकार के अभेद को लिये हुए परिणमन करता हुआ अर्थात् रागद्वेष रूप होता हुआ वह फिरसे भावी रागादिरूप परिणामों के उत्पादक द्रव्य कर्मों का बन्ध करने लग जाता है । इस प्रकार वह अज्ञानी जीव उन रागादिकों का कर्ता बनता है ।।३०४।।

इसी बात को आगे की गाथा से दृढ़ करते हैं—

रायह्मिय दोसह्मिय कसायकम्मेसु चेव जे भावा ।
ते मम दु परिणमंतो रागादी बंधदे चेदा ।।३०५।।

रागे च द्वेषे च कषायकर्मसु चैव ये भावाः ।
तन्मम तु परिणममानो रागादीन् बध्नाति चेतयिता ।।३०५।।

अर्थ—रागद्वेष आदि कषाय रूप कर्मों के उदय आने पर ये सब मेरे हैं इस प्रकार से परिणमन करता हुआ आत्मा रागादि का बन्ध करता है ।।३०५।।

तात्पर्यवृत्तिः—पूर्वगाथायामहं रागादीत्यभेदेन परिणमन् सन् तानि रागादिभावोत्पादकानि नवतरद्रव्यकर्माणि बध्नातीत्युक्तं । अत्र तु शुद्धात्मभावनारहितत्वेन मदीयो रागः इति संबंधेन परिणमन् सन् तानि नवतरद्रव्यकर्माणि बध्नाति, इति विशेषः ? । किं च विस्तरः—यत्र मोहरागद्वेषाव्याख्यायंते तत्र मोहशब्देन दर्शनमोहः; मिथ्यात्वादिजनक इति ज्ञातव्यं । रागद्वेषशब्देन तु क्रोधादिकषायोत्पादकश्चारित्रमोहो ज्ञातव्यः । अत्राह शिष्यः—मोहशब्देन तु मिथ्यात्वादिजनको दर्शनमोहो भवतु दोषो नास्ति रागद्वेषशब्देन चारित्रमोह इति कथं भण्यते ? इति पूर्वपक्षे परिहारं ददाति—कषायवेदनीयाभिधानचारित्रमोहमध्ये क्रोधमानौ द्वेषांगौ द्वेषोत्पादकत्वात्, मायालोभौ रागांगौ रागजनकत्वात्, नोकषायवेदनीयसंज्ञाचारित्रमोहमध्ये स्त्रीपुन्नपुंसकवेदत्रयहास्यरतयः पंच नोकषायाः रागांगा रागोत्पादकत्वात्,अरतिभय शोकजुगुप्सा संज्ञाः चत्वारो द्वेषांगा द्वेषोत्पादकत्वात् इत्यनेनाभिप्रायेण मोहशब्देन दर्शनमोहो मिथ्यात्वं भण्यते, राग द्वेषशब्देन पुनश्चारित्रमोह इति सर्वत्र ज्ञातव्यं ।एवं कर्मबंधकारणं रागादयः, रागादीनां च कारणं निश्चयेन कर्मोदयो न च ज्ञानी जीव इति व्याख्यानमुख्यत्वेन सप्तमस्थले गाथापंचकं गतं ।

अथ कथं सम्यग्ज्ञानी जीवो रागादीनामकारक इति पृष्टे प्रत्युत्तरमाह–

टीका:—इससे पहली गाथा में तो मै स्वयं रागादिरूप हूं इस प्रकार उन रागादि से अभिन्न परिणमन करता हुआ आत्मा रागादि के उत्पन्न करने वाले उन नवीन द्रव्य कर्मों का बन्ध करता है ऐसा बता आए हैं, किन्तु इस गाथा में यह बता रहे हैं कि शुद्धात्मा की भावना से रहित होने से यह जीव 'यह रागभाव मेरा है' इस प्रकार राग के साथ संबंध करता हैं इतनी विशेषता है। हां, यहां पर यह बात जान लेने की है कि जहां पर रागद्वेष और मोह ये तीनों एक शब्द एक साथ आवें वहां पर मोह शब्द से दर्शन मोह जोकि मिथ्यात्व का जनक है उसे लेना चाहिए और रागद्वेष शब्द से क्रोधादि कषायों के उत्पन्न करने वाले चारित्र मोह को समझना चाहिए । यहां शिष्य पूछता है कि मोह शब्द से मिथ्यात्वादि जनक दर्शन मोह लिया जाय यह ठीक ही है इसमें दोष नहीं है किन्तु रागद्वेष शब्दसे चारित्र मोह कैसे लिया? इसका उत्तर यह है कि कषाय वेदनीय नामवाले चारित्र मोह के भीतर क्रोध और मान ये दोनों द्वेष के उत्पादक होने से द्वेष के अंग हैं और माया और लोभ ये दोनों राग जनक होने से रागरूप हैं। इसी प्रकार नो कषाय वेदनीय नामक चारित्र मोह में स्त्री, वेद, पुरुष वेद, नपुंसक वेद, हास्य, रति ये पाच नो कषाय रागोत्पादक होने से राग में आगई शेष अरति, शोक, भय, जुगुप्सा ये चारों नो कषायें द्वेष की उत्पादक होने से द्वेष में इस प्रकार मोह शब्द से दर्शन मोह मिथ्यात्व और राग द्वेष शब्द से चारित्र मोह, ऐसा सभी स्थान पर समझना चाहिए। इस प्रकार कर्म बन्ध के कारण रागादि भाव हैं और रागादि भावों का कारण नियम से कर्म का उदय है किन्तु ज्ञानी जीव नहीं, इस प्रकार के व्याख्यान की मुख्यता से इस सातवें स्थल में पांच गाथायें कही गईं ॥३०५॥

सम्यग्ज्ञानी जीव रागादि विकारी भावों का अकर्त्ता कैसे है ? सो बताते हैं:—

अपडिकमणं दुविहं अपच्चक्खाणं तहेव विण्णेयं ।
एदेणु वदेसेण दु अकारगो वण्णिदो चेदा ॥३०६॥
अपडिक्कमणं दुविहं दव्वे भावे तहा अपच्चज्खाणं ।
एदेणुवदेसेण दु अकारगो वण्णिदो चेदा ॥३०७॥
जाव ण पच्चक्खाणं अपडिक्कमणं च दव्वभावाणं ।
कुव्वदि आदा तावदु कत्ता सो होदि णादव्वं ॥३०८॥ (त्रिकलम्)

अप्रतिक्रमणं द्विविधमप्रत्याख्यानं तथैव विज्ञेयं ।
एतेनोपदेशेन चाकारको वर्णितश्चेतयिता ॥३०६॥
अप्रतिक्रमणं द्विविधं द्रव्ये भावे तथैवाप्रत्याख्यानं ।
एतेनोपदेशेन चाकारको वर्णितश्चेतयिता ॥३०७॥
यावन्न प्रत्याख्यानमप्रतिक्रमणं च द्रव्य भावयोः ।
करोत्यात्मा तावत्तु कर्त्ता स भवति ज्ञातव्यः ॥३०८॥

अर्थ—अप्रतिक्रमण भी दो प्रकार का है, अप्रत्याख्यान भी दो प्रकार का है इस आगम के उपदेश से जान लेना चाहिये कि आत्मा कर्मों का कर्ता नहीं है। अप्रतिक्रमण द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार का है उसी प्रकार अप्रत्याख्यान भी द्रव्य और भावके भेद से दोप्रकार का है इस आगम के उपदेश से आत्मा कर्मों का अकर्ता कहा गया है। क्योंकि जब तक आत्मा द्रव्य और भावों का अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान करता है तबतक आत्मा कर्मों का करने वाला होता है ऐसा जानना चाहिये ।।३०६-३०७-३०८।।

तात्पर्यवृत्तिः-**अपडिक्कमणं दुविहं अपच्चक्खाणं** तहेव विण्णेयं पूर्वानुभूतविषयानुभवरागादिस्मरणरूपमप्रतिक्रमणं द्विविधं, भाविरागादिविषयाकांक्षारूपमप्रत्याख्यानमपि तथैव द्विविधं **एदेणुवदेसेण दु अकारगो वण्णिदो चेदा** एतेनोपदेशेन परमागमेन ज्ञायते किं ज्ञायते? चेतयितात्मा हि द्विप्रकाराप्रतिक्रमणेन द्विप्रकाराप्रत्याख्यानेनच रहितत्वात् कर्मणामकर्ता भवतीति। **अपडिक्कमणं दुविहं दव्वे भावे अपच्चक्खाणंपि** द्रव्यभावरूपेणाप्रतिक्रमणम प्रत्याख्यानं च द्विविधं भवति **एदेणुवदेसेणदु अकारगो वण्णिदो चेदा** तदेव बंधकारणमित्युपदेश आगमः तेनोपदेशेन ज्ञायते, किं ज्ञायते? द्रव्यभावरूपेणाप्रत्याख्यानेनाप्रतिक्रमणेन च परिणतः शुद्धात्मभावनाच्युतो योऽसावज्ञानी जीवः स कर्मणां कारकः। तद्विपरीतोऽज्ञानी चेतयिता पुनरकारक इति। तमेवार्थं दृढयति-**जाव ण पच्चक्खाणं** यावत्कालं द्रव्यभावरूपं, निर्विकारस्वसंवित्तिलक्षणं प्रत्याख्यानं नास्ति **अपडिक्कमणं तु दव्वभावाणं कुव्वदि** यावत्कालं द्रव्यभावरूपमप्रतिक्रमणं च करोति **आदा तावदु कत्ता सो होदि णादव्वो** तावत्कालं परमसमाधेरभावात् स चाज्ञानी जीवः कर्मणां कारको भवतीति ज्ञातव्यः। किं चाप्रतिक्रमणमप्रत्याख्यानं च कर्मणां कर्तृ, न च ज्ञानी जीवः। यदि स एव कर्ता भवति? तदा सर्वदैव कर्तृत्वमेव। कस्मात्? इति चेत् जीवस्य सदैव विद्यमानत्वात् इति। अप्रतिक्रमणमप्रत्याख्यानं पुनरनित्यं रागादिविकल्परूपं, तच्च स्वस्थभावच्युतानां भवति न सर्वदैव। तेन किं सिद्धं? यदा स्वस्थभावच्युतः सन् अप्रतिक्रमणाप्रत्याख्यानाभ्यां परिणमति तदा कर्मणां कारको भवति। स्वस्थभावे पुनरकारकः इति भावार्थः। एवमज्ञानिजीवपरिणतिरूपमप्रतिक्रमणमप्रत्याख्यानं च बंधकारणं नच ज्ञानी जीवः इति व्याख्यानमुख्यत्वेनाष्टमस्थले गाथात्रयं गतं।

अथ निर्विकल्पसमाधिरूपनिश्चयप्रतिक्रमणनिश्चयप्रत्याख्यानरहितानां जीवानां योऽसौ बंधो भणितः स च हेयस्याशेषस्य नारकादिदुःखस्य कारणत्वाद्धेयः। तस्य बंधस्य विनाशार्थं विशेषभावनामाह—

सहजशुद्धज्ञानानंदैकस्वभावोऽहं, निर्विकल्पोऽहं. उदासीनोऽहं निरंजननिजशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपनिश्चयरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिसंजातवीतरागसहजानंदरूपसुखानुभूतिमात्रलक्षणेन स्वसंवेदनज्ञानेन संवेद्यो गम्यः प्राप्यः. भरितावस्थोऽहं, राग-द्वेष-मोह-क्रोध-मान-माया-लोभ-पंचेंद्रियविषयव्यापार, मनोवचनकायव्यापार-भावकर्म-द्रव्यकर्म-नोकर्म-ख्याति-पूजा-लाभ-दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षारूपनिदानमायामिथ्याशल्यत्रयादिसर्वविभावपरिणामरहितः शून्योऽहं, जगत्त्रये कालत्रयेपि मनोवचनकायैः कृतकारितानुमतैश्च शुद्धनिश्चयेन, तथा सर्वे जीवाः इति निरंतरं भावना कर्त्तव्या।

इति **श्री जयसेनाचार्य कृतायां** समयसारव्याख्यायां शुद्धात्मानुभूतिलक्षणायां तात्पर्यवृत्तौ पूर्वोक्तक्रमेण **जह णाम कोवि पुरिसो** इत्यादि मिथ्यादृष्टिसदृष्टिव्याख्यानरूपेण गाथादशकं। निश्चयहिंसाकथनरूपेण गाथासप्तकं, निश्चयेन रागादिविकल्प एव हिंसेति कथनरूपेण सूत्रषट्कं अव्रतव्रतानि पापपुण्यबंधकारणानीत्यादिकथनेन गाथापंचदश, निश्चयनयेन स्थित्वा व्यवहारस्त्याज्य इति मुख्यत्वेन गाथाषट्कं, पिंडशुद्धिमुख्यत्वेन सूत्रचतुष्टयं। निश्चयनयेन रागादयः कर्मोदयजनिता इति कथनमुख्यत्वेन सूत्रपंचकं, निश्चयनयेनाप्रतिक्रमणमप्रत्याख्यानं च बंधकारणमिति प्रतिपादनरूपेण गाथात्रयमित्येवं समुदायेन षट्पंचाशद्गाथाभिरष्टभिरंतराधिकारैः, **अष्टमो बंधाधिकारः समाप्तः।**

टीका:-(अपडिक्कमणं दुविहं अपच्चक्खाण तहेव विण्णेयं) पूर्वकाल में अनुभव किये हुए विषयों का अनुभवन करने रूप रागादि का स्मरण करना सो अप्रतिक्रमण दो प्रकार का है। एवं आगामी काल में होनेवाले रागादि के विषयों की आकांक्षा रूप जो अप्रत्याख्यान वह भी दो प्रकार का है। (एदेणुवदेसेण दु अकारगो वण्णिदो चेदा) इस प्रकार के परमागम के उपदेश से जाना जाता है कि आत्मा दोनों प्रकार के अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यानों से रहित है इसलिये वह कर्मों का अकर्ता है (अपडिक्कमणं दुविहं दव्वेभावे अपच्चक्खाणंपि) द्रव्य और भाव के रूप में अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान भी दो २ प्रकार के हैं। (एएणुवएसेण य अकारगो वण्णिदो चेदा) वह अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान ही तो बन्ध का कारण है ऐसा आगम का उपदेश है जिससे यह जान लिया जाता है कि द्रव्य और भावरूप जो अप्रतिक्रमण तथा अप्रत्याख्यान है उसमें परिणत होता हुआ आत्मा शुद्धात्मा की भावना से च्युत होता है वह अज्ञानी ही कर्मों का करनेवाला होता है किन्तु उससे विपरीत स्वभाववाला अर्थात् शुद्धात्मा की भावना में लीन रहता हुआ प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान मय जो ज्ञानी है वह बन्ध कारक नहीं होता है, इसी बात को दृढ़ता से कहते हैं कि (जावण पच्चक्खाणं) जितने काल तक द्रव्य और भावस्वरूप प्रत्याख्यान जो कि विकार रहित स्वसंवेदन लक्षण वाला है वह नहीं होता है (अपडिक्कमणं दु दव्वभावाणं कुव्वदि) और जितने काल तक द्रव्य और भावरूप अप्रतिक्रमण भी करता रहता है (आदा ताव दु कत्ता सो होदि णायव्वो) तब तक परमसमाधि के न होने से वह जीव अज्ञानी होता है जो कि कर्मों का करने वाला होता है ऐसा समझना चाहिये। यहां यह तात्पर्य है—जीव की अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान रूप परिणति ही कर्मों को करने वाली होती है। ज्ञानी जीव (जोकि नियम से उस परिणति से रहित होता है) कर्मों का करने वाला नहीं होता यह बात स्पष्ट है। यदि वह (ज्ञानी जीव) कर्त्ता हो तो कर्त्तापन सदा ही बना रहे क्यों कि जीव (जोकि ज्ञान स्वभाव वाला है (तो सदा ही बना रहता है। अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान रूप भात्र रागादि विकल्प भाव हैं अतः वे अनित्य हैं, क्योंकि वे स्वस्थभाव से च्युत हुए जीवों के ही होते हैं इसलिये सदा नहीं होते हैं। इससे यह बात सिद्ध होगई कि जब यह स्वस्थ भाव से च्युत होता हुआ अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान के रूप में परिणत होता है उस समय में कर्मों का करने वाला होता है, और स्वस्थ भाव में रहने पर फिर अकर्त्ता होता है यह तात्पर्य है। इस प्रकार अज्ञानी जीव की परिणतिरूप जो अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान है वही बन्ध का कारण है किन्तु ज्ञानी जीव बंध का कारण नहीं। इस कथन की मुख्यता से इस आठवें स्थल में तीन गाथायें पूर्ण हुईं ॥ ३०६-३०७-३०८ ॥

अब निर्विकल्प समाधि रूप निश्चय प्रतिक्रमण और निश्चय प्रत्याख्यान इन दोनों से रहित जो जीव हैं उनके बन्ध बताया गया है वह त्यागने योग्य सम्पूर्ण नरक आदि के दुःखों का कारण है इस लिये हेय है अतः उस बन्ध के नाश के लिए जो भावना होती है उसे कह रहे हैं कि—मै सहज शुद्ध ज्ञानानन्द रूप एक स्वभाव वाला हूँ, विकल्प रहित हूं, उदासीन हूं, निरंजन जो निज शुद्धात्मा उसके समीचीन श्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठान रूप जो निश्चय रत्नत्रय है उस रत्नत्रय स्वरूप निर्विकल्प समाधि से उत्पन्न हुआ जो वीतराग सहजानन्द रूप सुख उसकी अनुभूति मात्र ही है लक्षण जिसका ऐसे स्वसंवेदन के द्वारा संवेद्य है, जानने योग्य है, प्राप्त करने योग्य है वह मैं हूँ, भरित अर्थात् संतृप्त अवस्था वाला हूं, राग, द्वेष मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ एवं पंचेन्द्रियों के विषयों में होने वाला व्यापार मन, वचन और काय का व्यापार तथा भावकर्म, नोकर्म, द्रव्यकर्म, ख्याति, लाभ, पूजा, एवं देखे गये, सुने गये तथा अनुभव में लाए गये जो भोग उनकी आकांक्षा रूप निदान शल्य, माया शल्य, और मिथ्या शल्य इन तीनों शल्यों से

रहित तथा और भी सब प्रकार के विभाव परिणामों से रहित हूं, शून्य हूं, तीन लोक और तीन काल में मन, वचन, काय और कृत कारित अनुमोदना द्वारा शुद्ध निश्चयनय से तो मैं ऐसा ही हूं और ऐसे ही सब जीव हैं इस प्रकार की भावना निरन्तर करनी चाहिये।

इस प्रकार श्री जयसेनाचार्य की बनाई हुई शुद्धात्मानुभुति के लक्षण वाली श्री समयसार जी की तात्पर्य नाम की टीका के हिन्दी रूपान्तर में जैसा कि लिख आये हैं "जह णाम कोवि पुरिसो" इत्यादि मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि की व्याख्या में दश गाथायें, निश्चय हिंसा के कथन में सात गाथायें निश्चयसे रागादि विकल्प ही हिंसा है ऐसा कथन करने वाली छह गाथायें, अव्रत पाप बन्धक हैं तो व्रत पुण्य बन्धक इत्यादि कथन पन्द्रह गाथाओं में, निश्चनय में स्थित होने पर व्यवहारनय छूट जाता है ऐसा कथन मुख्यता से छह गाथाओं में, पिण्डशुद्धि की मुख्यता से चार गाथाओं में, निश्चनय से रागादिक है सो कर्म जनित हैं यह कथन मुख्यता से पांच गाथाओं में, निश्चय नय से अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान ही बन्ध के कारण हैं यह कथन तीन गाथाओं में, इस प्रकार समुदाय से छप्पन गाथाओं में आठ अन्तर अधिकारों द्वारा यह आठवां बंधाधिकार समाप्त हुआ।

नवाँ महाधिकार (मोक्ष तत्व)

तात्पर्यवृत्तिः—तत्रैवं सति पात्रस्थनीयशुद्धात्मनः सकाशात्पृथग्भूत्वा शृंगारस्थानीयबंधो निष्क्रांतः।
अथ प्रविशति मोक्षः—

जहणाम कोवि पुरिसो इत्यादि गाथामादिं कृत्वा यथाक्रमेण द्वाविंशतिगाथापर्यंतं मोक्षपदार्थव्याख्यानं करोति—तत्रादौ मोक्षपदार्थस्य संक्षेपव्याख्यानरूपेण गाथासप्तकं, तदनंतरं मोक्षकारणभूतभेदविज्ञानसंक्षेपसूचनार्थं **बंधाणं च सहावं** इत्यादि सूत्रचतुष्टयं अतः परं तस्यैव भेदज्ञानस्य विशेषविवरणार्थं **पण्णाए घेत्तव्वो** इत्यादि सूत्रपंचकं तदनंतरं वीतरागचारित्रसहितस्य द्रव्यप्रतिक्रमणादिकं विषकुंभः सरागचारित्रस्यामृतकुंभ इति युक्तिसूचन-मुख्यत्वेन **ते यादी अवराहे** इत्यादि सूत्रषट्कं कथयतीति द्वाविंशतिगाथाभिः स्थलचतुष्टये मोक्षाधिकारे समुदायपातनिका तद्यथा विशिष्टभेदज्ञानावष्टंभेन बंधात्मनोः पृथक्करणं मोक्ष इति प्रतिपादयति—

वहां पात्र के स्थान पर जो शुद्धात्मा है उसके पास में से शृंगार स्थानीय जो बंध है वह तो चला गया है। अब मोक्ष प्रवेश कर रहा है सो "जहणाम कोवि पुरिसो" इत्यादि गाथा से प्रारम्भ करके बावीस गाथा पर्यंत मोक्ष पदार्थ का व्याख्यान कर रहे हैं। वहां सबसे पहले सात गाथाओं में मोक्ष पदार्थ का व्याख्यान है। तत्पश्चात् मोक्ष के कारणभूत भेद विज्ञान की सूचना देने के लिये 'बंधाणं च सहावं' इत्यादि चार गाथायें हैं। फिर उसी भेद विज्ञान का विशेष वर्णन करने के लिये 'पण्णाए घेत्तव्वो' इत्यादि पांच गाथायें हैं। पश्चात् वीतरागचारित्र वाले जीव के लिये द्रव्य प्रतिक्रमणादिक विषकुम्भ है किन्तु सराग चारित्र वाले के लिये वही अमृतकुम्भ है इस प्रकार की युक्ति की मुख्यता लेकर 'ते यादी

अवरोहे' छह गाथायें हैं। इस प्रकार बावीस गाथाओं से चार स्थल वाले मोक्ष अधिकार की यह समुदाय पातनिका है।

यहां विशिष्ट भेदज्ञान के बल से बंध और आत्मा को पृथक् करना, सो मोक्ष है ऐसा बताते है—

जह णाम कोवि पुरिसो बंधणियह्मि चिरकालपडिबद्धो।
तिव्वं मंदसहावं कालं च वियाणदे तस्स ॥३०९॥
जइ णवि कुव्वदि छेदं ण मुंचदि तेण कम्मबंधेण।
कालेण वहुएणवि ण सो णरो पावदि विमोक्खं ॥३१०॥
इय कम्मबंधणाणं पयेसपयडिट्ठिदीय अणुभागं।
जाणंतोवि ण मुंचदि मुंचदि सव्वे जदि विसुद्धो ॥३११॥

यथा नाम कश्चित्पुरुषो बंधनके चिरकाल प्रतिबद्धः।
तीव्रं मंदस्वभावं कालं च विजानाति तस्य ॥३०९॥
यदि नापि करोति छेदं न मुच्यते तेन कर्म बंधेन।
कालेन बहुकेनापि न स नरः प्राप्नोति विमोक्षं ॥३१०॥
इति कर्मबंधनानां प्रदेशस्थितिप्रकृतिमेवमनुभागं।
जानन्नपि न मुंचति मुंचति सर्वान् यदि विशुद्ध ॥३११॥

अर्थ—जैसे कोई पुरुष चिरकाल से बंधन में बंधा हुआ है तथा उस बंधन के तीव्र या मन्द स्वभाव को भी जानता है एवं उसके काल को भी जानता है कि यह इतने दिन से है, फिर भी यदि उस बन्धन का छेद नहीं करता है तो वह बन्धन में पड़ा हुआ पुरुष बहुत काल हो जानेपर भी उससे मुक्त नहीं हो सकता है उसी प्रकार कर्म के बन्धनों की बात है। उनके भी प्रदेश, स्थिती, प्रकृति और अनुभाग ये भेद हैं उनको जानता हुआ भी बन्धन से मुक्त नहीं हो सकता है। यदि रागादि को छोड़कर शुद्ध होता है तो वही बन्धन से छूट सकता है ॥३०९–३१०–३११॥

तात्पर्यवृत्तिः—जह णाम इत्यादि यथा कश्चित्पुरुषः बंधनके चिरकालबद्धस्तिष्ठति तस्य बंधस्य तीव्रमंदस्वभावं जानाति दिवसमासादिकालं च विजानाति इति प्रथमगाथा गता। जानन्नपि यदि बंधच्छेदं न करोति तदा न मुच्यते तेन कर्मबंधविशेषेणामुच्यमानः सन् पुरुषो बहुतरकालेऽपि मोक्षं न लभते इति गाथाद्वयेन दृष्टांतो गतः। अथ **इय कम्मबंधणाणं पदेसपयडिट्ठिदीय अणुभागं जाणंतोवि ण मुंचदि** एवं ज्ञानावरणादिमूलोत्तरप्रकृतिभेदभिन्नकर्मबंधनानां प्रदेशं प्रकृतिस्थिति, अनुभागं च जानन्नपि कर्मणा न मुंचति। **मुंचदि सव्वे जदि विसुद्धो** यदा मिथ्यात्वरागादिरहितो भवति तदाऽनंतज्ञानादिगुणात्मकपरमात्मस्वरूपे स्थितः सर्वान्कर्मबंधान् मुंचति। अथवा पाठांतरं **मुंचदि सव्वे जदि स बंधे** मुच्यते कर्मणा यदि किं सिस्यति छिनत्ति कान्? सर्वबंधान्। अनेन व्याख्यानेन ये प्रकृत्यादिबंधपरिज्ञानमात्रेण संतुष्टास्ते प्रतिबोध्यंते। कथं? इति चेत् बंधपरिज्ञानमात्रेण स्वरूपोपलब्धिरूपवीतराग-

चारित्ररहितानां स्वर्गादिसुखनिमित्तभूतः पुण्यबंधो भवति न च मोक्ष इति दार्ष्टांतगाथा गता । एतेन व्याख्यानेन कर्मबंध-प्रपंचरचनाविषये चिंतामात्रपरिज्ञानेन संतुष्टा निराक्रियंते ।

टीका:—(जह णाम इत्यादि) जैसे कोई पुरुष चिरकाल से बंधन में बंधा हुआ उसके तीव्र या मन्द स्वभाव को भी जानता है एवं उसके काल को भी जानता है । यह एक गाथा हुई । इस प्रकार से जानता हुआ भी यदि वह बंध को नहीं छेदता है तो उससे वह नहीं छूटता है एवं उस बन्धन से नहीं छूटता हुआ वह पुरुष चिरकाल तक भी मोक्ष को प्राप्त नहीं होता है । यह दो गाथाओं में दृष्टांत हुआ । (इय कम्मबंधणाणं पदेसपयडिट्ठिदीय अणुभागं जाणंतो वि ण मुच्चइ) उसी प्रकार ज्ञानावरणादि मूलोत्तर प्रकृतियों के भेद से नाना भेद वाले जो कर्मों के बन्धन हैं उनके प्रदेश, प्रकृति, स्थिती और अनुभाग को जानता हुआ भी जीव कर्म से मुक्त नहीं होता है । (मुंचदि सव्वे जदि विसुद्धो) जब कि मिथ्यात्व और रागादि से रहित हो जाता है तो अनन्तज्ञानादि गुणात्मक परमात्मा के में स्वरूप स्थित होता हुआ वह सभी कर्मों को छोड़ देता है उनसे रहित हो जाता है । इसका दूसरा पाठ यह है कि (मुंचदि सव्वे जदि स बंधे) हां, यदि उन सभी कर्मबन्धों को छेद डालता है तो कर्मबन्ध से मुक्त हो जाता है । इस कथन से आचार्यदेव ने जो प्रकृति स्थिति आदि रूप कर्म बन्ध के परिज्ञान मात्र से संतुष्ट हुए बैठे हैं (हमको कर्म बन्ध का ज्ञान तो है अतः हम्हें कुछ नहीं करना है क्योंकि ज्ञानमात्र से मोक्ष होता है ऐसा बताया है) उनको समझाया है कि हे भाई ! स्वरूप की उपलब्धिरूप वीतराग चारित्रसे रहित जीवों के बन्ध के परिज्ञानमात्र से स्वर्गादिक के सुख का निमित्तभूत पुण्य बंध ही होता है मोक्ष नहीं होता । इस प्रकार यह दार्ष्टान्ति की गाथा हुई । इस कथन से उन लोगों का निराकरण किया है जो कर्मबन्ध की प्रपंच की रचना (बन्धोदयादिरूप) के विषय में चिन्ता कर लेने रूप ज्ञान मात्र से संतुष्ट हुए बैठे हैं ।। ३०९-३१०-३११ ।।

इसी को और स्पष्ट करते हैं:—

जह बंधे चिंतंतो बंधणबद्धो ण पावदि विमोक्खं ।
तह बंधे चिंतंतो जीवोवि ण पावदि विमोक्खं ।।३१२।।

यथा बंधान् चिंतयन् बंधनबद्धो न प्राप्नोति विमोक्षं ।
तथा बंधान् चिंतयन् जीवोऽपि न प्राप्नोति विमोक्षं ।।३१२।।

अर्थ—जैसे बन्धन से बंधा हुआ कोई पुरुष इन बंधनों के विषय में विचार करने मात्र से बंधन मुक्त नहीं हो पाता है वैसे ही जीव भी कर्म बन्धनों के विषय में चिंतवन करने मात्र से उनसे मुक्त नहीं हो सकता है ।।३१२।।

तात्पर्यवृत्ति:—**जह बंधे चिंतंतो बंधणबद्धो ण पावदि विमोक्खं** यथा कश्चित्पुरुषो बंधनबद्धो बंधं चिंतयमानो मोक्षं न लभते **तह बंधे चिंतंतो जीवोवि ण पावदि विमोक्खं** तथा जीवोऽपि प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेश-बंधं चिंतयमानः स्वशुद्धात्मावाप्तिलक्षणं मोक्षं न लभते । किं च समस्त शुभाशुभबहिर्द्रव्यालंबनरहितचिदानंदैकशुद्धात्म वलंबनस्वरूपवीतरागधर्मध्यानशुक्लध्यानरहितो जीवः, बंधप्रपंचरचनाचिंतारूपसरागधर्मध्यानशुभोपयोगेन स्वर्गादिसुख-कारणपुण्यबंधं लभते न च मोक्षमिति भावार्थः ।

ग्रथ कस्तर्हि मोक्षहेतुरिति प्रश्न प्रत्युत्तरं ददाति—

टीका:—(जह बन्धे चिन्ततो बंधण बद्धो ण पावदि विमोक्खं) जैसे बंधन से बंधा हुग्रा कोई भी पुरुष उनके विषय में विचार करने मात्र से हो बंधन मुक्त नहीं हो जाता है। (तह बंधे चिंततो जीवोवि ण पावदि विमोक्खं) उसी प्रकार जीव भी प्रकृति, स्थिति, ग्रनुभाग ग्रौर प्रदेशरूप बंध के विषय का मात्र विचार करता हुग्रा ही स्वशुद्धात्मा की प्राप्ति रूप है लक्षण जिसका उस मोक्ष को कभी प्राप्त नहीं हो सकता है। भावार्थ यह है कि समस्त शुभ ग्रौर ग्रशुभ बाह्य द्रव्यों के ग्रालम्बन से रहित चिदानंदैकरुप शुद्धात्मा के ग्रालम्बन स्वरूप जो वीतराग धर्म्यध्यान या शुक्ल ध्यान से रहित जीव, बंधप्रपंच की रचना की चितारूप सराग धर्म्य ध्यान स्वरूप शुभोपयोग से, स्वर्गादि सुख का कारणभूत पुण्यबंध प्राप्त करता है परन्तु मोक्ष नही पाता है ।।३१२।।

इस पर प्रश्न होता कि फिर मोक्ष कैसे होगा? इसका उत्तर देते है:—

जह बंधे मुत्तूण य बंधण बंधो उ पावदि विमोक्खं ।
तह बंधे मुत्तूणय जीवो संपावइ विमोक्खं ।।३१३।।
यथा बंधांश्छित्वा च बंधनबद्धस्तु प्राप्नोति विमोक्षं ।
तथा बंधांश्छित्वा च जीवः संप्राप्नोति विमोक्षं ।।३१३।।

ग्रर्थ—जैसे बंधन से बंधा हुग्रा पुरुष उस बंधन को काट कर मुक्त होता है वैसे ही जीव भी कर्मबंध को काट कर ही मोक्ष पासकता है ग्रौर प्रकार नहीं ।।३१३।।

तात्पर्यवृत्ति:—**जह बंधेमुत्तूणय बंधणवद्धोय पावदि विमोक्खं तह बंधे मुत्तूणय जीवो संपावदि विमोक्खं** यथा बंधनबद्धः कश्चित्पुरुषो रज्जुबंधं शृंखलाबंधं काष्ठिनिगलबंधं वा कमपिबंधं छित्वा कमपि भित्वा कमपि मुक्त्वा स्वकीयविज्ञानपौरुषबलेन मोक्षं प्राप्नोति। तथा जीवोऽपि वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानायुधेन बंधं छित्त्वा द्विधाकृत्वा भित्वा विदार्य मुक्त्वा छोटयित्वा च निज शुद्धात्मोपलंभस्वरूपमोक्षं प्राप्नोतीति। ग्रत्राह शिष्यः प्राभृतग्रंथे यन्निर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानं भण्यते तन्न घटते कस्मात् ? इति चेत् तदुच्यते-सत्तावलोकनरूपं चक्षुरादिदर्शनं यथा जैनमते निर्विकल्पं कथ्यते तथा बौद्धमते ज्ञानं निर्विकल्पं भण्यते परंतु तन्निर्विकल्पमपि विकल्पजनकं भवति जैनमते तु विकल्पस्योत्पादकं भवत्येव न, किंतु स्वरूपेणैव सविकल्पमिति तथैव स्वपरप्रकाशकं चेति। तत्र परिहार कथंचित्सविकल्पमपिच कथंचिन्निर्विकल्पं च। तद्यथा यथा विषयानंदरूपं सरागस्वसंवेदनज्ञानं सरागसंवित्तिविकल्परूपेण सविकल्पमपि शेषानीहितसूक्ष्मविकल्पानां सद्भावेऽपि सति तेषां मुख्यत्वं नास्ति तेन कारणेन निर्विकल्पमपि भण्यते। तथापि स्वशुद्धात्मसंवित्तिरूपं वीतराग स्वसंवेदनज्ञानमपि स्वसंवित्याकारैकविकल्पेन सविकल्पमपि बहिर्विषयानीहितसूक्ष्मविकल्पानां सद्भावेऽपि सति तेषां मुख्यत्वं नास्ति तेन कारणेन निर्विकल्पमपि भण्यते यत एवेहापूर्वस्वसंवित्याकारांतर्मुख्यप्रतिभासेऽपि बहिर्विषयानीहित सूक्ष्मविकल्पा ग्रपि संति तत एवकारणात् स्वपरप्रकाशकं च सिद्धं इदं निर्विकल्पसविकल्पस्य। तथैव स्वपरप्रकाशकस्य च ज्ञानस्य च व्याख्यानं यथागमाध्यात्मतर्कशास्त्रानुसारेण विशेषेण व्याख्यायते तदा महान् विस्तरो भवति सचाध्यात्मशास्त्रत्वान्न कृतः। एवं मोक्षपदार्थसंक्षेपसूचनार्थं प्रथमस्थले गाथासप्तकं गतं।

ग्रथ किमयमेव मोक्षमार्ग ? इति चेत्—

टीका:—(जह बंधे छित्तूण य बंधण बंधो दु पावदि विमोक्खं) जैसे बंधन में बंधा हुआ कोई पुरुष रस्सी के बंध को, सांकल के बंध को, व काठ की बेड़ी के बंध को किसी को तोड़कर, किसीको फोड़कर एवं किसी को खोल कर अपने विज्ञान और पुरुषार्थ के बल से उस बंधन से छुटकारा पाता है (तह बंधे छित्तूण य जीवो संपावइ विमोक्खं) उसी प्रकार यह जीव भी वीतराग एवं विकल्प रहित स्वसंवेदन-ज्ञान के बल से बंध को छेद कर, उसे दो रूप कर अर्थात् भिन्न २ कर, खोलकर, विदारण कर अपने शुद्धात्मा के उपलंभ स्वरूप मोक्ष को प्राप्त करता है। यहाँ शिष्य प्रश्न करता है कि इस प्राभृत ग्रन्थ में निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञान होता हुआ बताया गया है वह तो किसी भी प्रकार घटित नहीं होता है क्योंकि चक्षु आदि के द्वारा दर्शन होता है जो कि सत्ता मात्र अवलोकन स्वरूप है उसे जैनमत में निर्विकल्प कहा है। हां, बौद्धमत में ज्ञान को निर्विकल्प कहा गया है, किन्तु वह भी उत्तर क्षण में विकल्प का जनक होता है परन्तु जैनमत में ज्ञान विकल्प का उत्पादक न होकर अपने स्वरूप से ही सविकल्प तथा स्व पर प्रकाशक कहा गया है। इसका उत्तर यह है कि जैनमत अनेकान्तात्मक है इसलिए ज्ञान को कथंचित् सविकल्प और कथंचित् निर्विकल्प कहा गया है। जैसे विषयानंदरूप सराग स्वसंवेदन ज्ञान होता है वह सराग संवित्ति के विकल्प रूप तो सविकल्प होता है किन्तु वहीं पर शेष अनिच्छित सूक्ष्म विकल्पों का सद्भाव होने पर भी वहां पर उनकी मुख्यता नहीं होती इसलिए उसे निर्विकल्प भी कहा जाता है। वैसे ही अपनी शुद्धात्मा की संवित्तिरूप वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान होता है वह भी स्वसंवित्तिरूप एक आकार से तो सविकल्प होता है फ़िर भी वहां पर बाह्य विषयों के अनिच्छित सूक्ष्म विकल्प भी होते हैं उनके होने पर भी उनकी वहां मुख्यता नहीं होती इसलिए उसे निर्विकल्प भी कहते हैं। और ईहापूर्वक स्वसंवित्याकार जो अन्तर्मुख प्रतिभास होता हैं वहीं पर बहिर्विषयों के भी अनिच्छित सूक्ष्म विकल्प भी होते हैं इसलिए वह स्व पर प्रकाशक भी होता है, यही निर्विकल्प व सविकल्प ज्ञान का तथा स्व पर प्रकाशक ज्ञान का व्याख्यान स्पष्ट सिद्धि है। इसीका आगम. अध्यात्म तर्क शास्त्र के अनुसार विशेष व्याख्यान किया जावे तब तो बहुत विस्तार हो जावे सो इस अध्यात्म शास्त्र में नहीं किया गया है ॥३१३॥

इस प्रकार मोक्ष पदार्थ की संक्षेप सूचना करते हुए सात गाथाओं द्वारा प्रथम स्थल पूर्ण हुआ। (गाथा नं० ३१३ में जह बंधे छित्तूणय, जह बंधे भित्तूणय, जह बंधे मुत्तूणय इत्यादि इस प्रकार तीन प्रकार से पाठ पाया जाता है इस प्रकार पाँच गाथाओ के स्थान में सात गाथायें समझ लेना चाहिए)

क्या यही मोक्ष का मार्ग है इसका समाधान करते हैं।

बंधाणं च सहावं वियाणिओ अप्पणो सहावं च।
बंधेसु जो ण रज्जदि सो कम्मविमोक्खणं कुणई ॥३१४॥

बंधानां च स्वभावं विज्ञायात्मनः स्वभावं च।
बंधेषु यो न रज्यते स कर्मविमोक्षणं करोति ॥३१४॥

अर्थ—बंध के स्वभाव को और आत्मा के स्वभाव को जान कर जो पुरुष विरक्त होता है वही कर्मों को काट सकता है ॥३१४॥

तात्पर्यवृत्तिः—बंधाणं च सहावं वियाणिदुं भावबंधानां मिथ्यात्वरागादीनां स्वभावं ज्ञात्वा कथं ज्ञात्वा ? मिथ्यात्वस्वभावो हेयोपादेयतत्त्वविषये विपरीताभिनिवेशो भण्यते रागादीनां च स्वभावः पंचेंद्रियविषयेष्विष्टानिष्टपरिणाम इति न केवलं बंधस्वभावं ज्ञात्वा **अप्पणो सहावं च** अनंतज्ञानादिस्वरूपं शुद्धात्मनः स्वभावं **च ज्ञात्वा बंधेसु जो ण रज्जदि** द्रव्यबंधहेतुभूतेषु मिथ्यात्वरागादिभावबंधेषु निर्विकल्पसमाधिबलेन यो न रज्यते **सो कम्मविमोक्खणं कुणदि** स कर्म विमोक्षणं करोति।

अथ केन कृत्वात्मबंधो द्विधा भवति ? इति चेत् !

टीका:—(बंधाणं च सहावं वियाणिदुं) भावबंध मिथ्यात्व और रागादिक हैं उनके स्वभाव को जानकर हेय उपादेय के विषय में विपरीत मान्यता (अर्थात् हेय को उपादेय और उपादेय को हेय समझना) मिथ्यात्व कहलाता है। पंचेन्द्रियों के विषय में इष्ट और अनिष्ट का विचार होना रागादिक का स्वभाव है उसे जानकर (अप्पणो सहावं च) केवल बंध स्वभाव को ही नहीं परन्तु आत्मा के अनंत ज्ञानादि स्वभाव को जानकर (बंधेसु जो ण रज्जदि) द्रव्यबंध के हेतुभूत मिथ्यात्व और रागादिरूप भाव बंध है उनमें निर्विकल्प समाधि के बल से रंजायमान नहीं होता (सो कम्मविमोक्खणं कुणई, वह कर्मों का नाश करता है ॥३१४॥

इस पर प्रश्न होता है कि आत्मा और बन्ध को किस प्रकार भिन्न भिन्न किया जाय ?

जीवो बंधो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं।
पण्णाछेदणएण दु छिण्णा णाणत्तमावण्णा ॥३१५॥

जीवो बंधश्च तथा छिद्येते स्वलक्षणाभ्यां नियताभ्यां।
प्रज्ञाछेदकेन तु छिन्नौ नानात्वमापन्नौ ॥३१५॥

अर्थ—जीव और बन्ध इन दोनों को निश्चित अपने अपने लक्षणों द्वारा बुद्धिरूपी छैनी से इस प्रकार पृथक् करना चाहिये कि ये नानापन को प्राप्त हो जावें ॥३१५॥

तात्पर्यवृत्तिः—जीवो बंधोय तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं यथा जीवस्तथा बंधश्चैतौ द्वौ छिद्येते पृथक्क्रियेते, काभ्यां कृत्वा ? स्वलक्षणरूपाभ्यां निजकाभ्यां **पण्णाछेदणएण दु छिण्णा णाणत्तमावण्णा** प्रज्ञाछेदनैकलक्षणेन भेदज्ञानेन छिन्नौ संतौ नानात्वमापन्नौ इति। तथाहि-जीवस्य लक्षणं शुद्धचैतन्यं भण्यते, **बंधस्य** लक्षणं मिथ्यात्वरागादिकं, ताभ्यां पृथक्कृतौ। केन ? करणभूतेन प्रज्ञाछेदनकेन, शुद्धात्मानुभूतिलक्षणभेदज्ञानरूपा प्रज्ञैव छेत्र्येव छुरिका तया एवेत्यर्थः। छिन्नौ संतौ नानात्वमापन्नौ।

आत्मबंधयोर्द्विधाकरणे किं साध्यं ? इति चेत्—

टीका:—(जीवो बंधो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं) जैसे जीव और बंध यह दोनों अपने अपने लक्षणों द्वारा पृथक् किये जाते हैं (पण्णाछेदणएण दु छिण्णा णाणत्तमावण्णा) उसी प्रकार प्रज्ञा-रूपी छैनी है लक्षण जिसका ऐसे भेदज्ञान के द्वारा भिन्न किये हुए भिन्नता को प्राप्त हो जाते हैं। क्योंकि जीव का लक्षण शुद्ध चैतन्य है और बंध का लक्षण मिथ्यात्व रागादिक है उनके द्वारा भिन्न भिन्न

कर लिये जाते हैं। किससे पृथक् किये जाते हैं ? कि शुद्धात्मा की अनुभूति है लक्षण जिसका ऐसी भेदज्ञान रूपी प्रज्ञा वही है छेदने वाली छुरी उससे पृथक् किये जाते हैं। छिन्न २ होने पर वह नानापन को प्राप्त हो जाते हैं ॥३१५॥

आत्मा और बंध इन दोनों का पृथक्करण होने पर क्या सिद्धि होती है ?—

जीवो बंधो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं।
बंधोछेदेदव्वो सुद्धो अप्पा य घेत्तव्वो ॥३१६॥

जीवो बंधश्च तथा छिद्येते स्वलक्षणाभ्यां नियताभ्यां।
बंधश्छेत्तव्यः शुद्ध आत्मा च गृहीतव्यः ॥३१६॥

अर्थ—जीव और बंध इन दोनों को निश्चित अपने २ लक्षणों द्वारा इस प्रकार पृथक् करना कि बंध तो छिदकर भिन्न हो जाय और आत्मामात्र रह जाय वह ग्रहण किया जाय ॥३१६॥

तात्पर्यवृत्तिः—जीवो बंधोय तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं जीवबंधौ द्वौ पूर्वोक्ताभ्यां स्वलक्षणाभ्यां निजकाभ्यां। छिद्येते पूर्ववत्। ततश्छेदानंतरं किं साध्यं ? **बंधो छेदेदव्वो** विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावपरमात्मतत्व-सम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपनिश्चयरत्नत्रयात्मकभेदज्ञानछुरिकया मिथ्यात्वरागादिरूपो बंधश्छेत्तव्यः शुद्धात्मनः सकाशात्पृथक्कर्तव्यः। **सुद्धो अप्पाय घेत्तव्वो** वीतरागसहजपरमानंदलक्षणः सुखसमरसीभावेन शुद्धात्मा च गृहीतव्य इत्यभिप्रायः।

इदमेवात्मबंधयोर्द्विधाकरणे प्रयोजनं यद्बंधपरिहारेण शुद्धात्मोपादानमित्युपदिशति—

टीकाः—(जीवो बंधोय तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं) जीव और बन्ध ये दोनों पूर्वोक्त अपने २ लक्षणों द्वारा ऊपर लिखे अनुसार पृथक् कर लिये जाते हैं उसका फल यह है कि (बन्धो छेदेदव्वो) विशुद्ध ज्ञान और दर्शन ही है स्वभाव जिसका ऐसे परमात्म तत्व का समीचीन श्रद्धान ज्ञान और आचरणरूप जो निश्चय रत्नत्रय, तत्स्वरूप जो भेद विज्ञान वही हुई छुरी उसके द्वारा मिथ्यात्व और रागादिरूप बन्ध वह तो छेद डाला जावे, शुद्धात्मा से पृथक् कर दिया जावे (सुद्धो अप्पा य घेतव्वो) किन्तु वीतराग सहज परमानन्द है लक्षण जिसका ऐसे शुद्धात्मा का सुख समरसी भाव के द्वारा ग्रहण कर लिया जावे यही आत्मा तथा बन्धको पृथक् करने का प्रयोजन है।

आत्मा तथा बंध को पृथक् करने का प्रयोजन यह है कि बंध को त्याग कर शुद्धात्मा ग्रहण कर लिया जावे ऐसा आगे बताते हैं।

कहसो घिप्पदि अप्पा पण्णाए सो दु घिप्पदे अप्पा।
जह पण्णाए विभत्तो तह पण्णाएव घित्तव्वो ॥३१७॥

कथं स गृह्यते आत्मा प्रज्ञया स तु गृह्यते आत्मा।
यथा प्रज्ञया विभक्तस्तथा प्रज्ञयैव गृहीतव्य ॥३१७॥

अर्थ—शिष्य पूंछता है कि शुद्धात्मा कैसे ग्रहण किया जाता है तो उत्तर मिलता है कि प्रज्ञा के द्वारा ही वह

ग्रहण किया जाता है। जैसे प्रज्ञा के द्वारा वह बंध से विभक्त किया गया है वैसे ही प्रज्ञा के द्वारा वह ग्रहण के योग्य भी है।।३१७।।

तात्पर्यवृत्तिः—कह सो घिप्पदि अप्पा कथं स गृह्यते आत्मा दृष्टिविषयो न भवत्यमूर्तत्वात्, इति प्रश्नः ? **पण्णाए सो दु घिप्पदे अप्पा** प्रज्ञया भेदज्ञानेन गृह्यते, इत्युत्तरं। कथं ? इति चेत् **जह पण्णाए विभत्तो** यथा पूर्वसूत्रे प्रज्ञया विभक्तः, रागादिभ्यः पृथक्कृतः **तह पण्णाएव घित्तव्वो** तथा प्रज्ञयैव गृहीतव्यः। ननु केन शुद्धोऽयमात्मा गृहीतव्यः ? प्रज्ञयैव शुद्धोयमात्मा गृहीतव्यः शुद्धस्यात्मनः स्वयमात्मानं गृण्हतोऽपि विभजत इव प्रज्ञैककरणत्वात्। अतो यथा प्रज्ञया प्रविभक्तस्तथा प्रज्ञयैव गृहीतव्यः।

कथमात्मा प्रज्ञया गृहीतव्य इति चेत्—

टीकाः—(कह सो घिप्पइ अप्पा) आत्मा तो अमूर्त है अतः वह दृष्टि का तो विषय नहीं है तब फिर वह कैसे ग्रहण किया जा सकता है, ऐसा प्रश्न, होने पर आचार्य उत्तर देते हैं कि (पण्णाए सो दु घिप्पदे अप्पा) वह बुद्धि के द्वारा, भेद ज्ञान के द्वारा ही, ग्रहणकिया जा सकता है(जह पण्णाए विभत्तो) जैसे पूर्व सूत्र में प्रज्ञा के द्वारा ही वह विभक्त किया गया है रागादि से पृथक किया गया है (तह पण्णा एव घित्तव्वो) उसी प्रकार प्रज्ञा से ही उसे ग्रहण कर लेना चाहिये। तात्पर्य यह है कि शुद्धात्मा कैसे प्राप्त किया जाय ? उसका एक ही उत्तर है कि विवेक बुद्धि से ही शुद्धात्मा प्राप्त किया जाय क्योंकि जैसे शुद्धात्मा को विभक्त करने के लिये आत्मा के पास विवेक बुद्धि ही कारण है वैसे ही उसे ग्रहण करने के लिये भी उसके पास वही एक कारण है। इसलिये जैसे विवेक बुद्धि के द्वारा उसे पृथक् किया वैसे ही उसी से उसे ग्रहण कर लेना चाहिये ।।३१७।।

इस आत्मा को प्रज्ञा से कैसे ग्रहण करना सो बताते हैं—

पण्णाए घित्तव्वो जो चेदा सो अहन्तु णिच्छयदो।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परेत्ति णादव्वा ।।३१८।।

प्रज्ञया गृहीतव्यो यश्चेतयिता सोऽहं तु निश्चयतः।
अवशेषा ये भावा ते मम परा इति ज्ञातव्याः ।।३१८।।

अर्थ—जो चेतनावान है सो नियम से मैं हूँ उसके सिवा जितने भी भाव हैं वे सब मेरे से भिन्न हैं इस प्रकार विवेक बुद्धि से शुद्धात्मा को ग्रहण करना चाहिये ।।३१८।।

तात्पर्यवृत्तिः—प्रज्ञया गृहीतव्यो यश्चेतयिता सोहं तु निश्चयतः, अवशेषा ये भावास्ते मम परे इति ज्ञातव्याः। यो हि निश्चयतः स्वलक्षणावलंबिन्या प्रज्ञया प्रविभक्तश्चेतयिता सोऽयमहं, ये त्वमी अवशिष्टा अन्ये स्वलक्षणलक्ष्या व्यवह्रियमाणाभावास्ते सर्वेऽपि चेतयितृत्वस्य व्यापकस्य व्याप्यत्वमनायांतोऽत्यंतमत्तो भिन्नास्ततोऽहमेव मयैव मह्यमेवमत्त एव, मय्येव मामेव गृह्णामि, यत् किल गृह्णामि तच्चेतनैकक्रियत्वादात्मनश्चेतये एव, चेतयमान एव चेतये, चेतयमानेनैव चेतये, चेतयमानायैव चेतये, चेतयमानादेव चेतये, चेतयमान एव चेतये, चेतयमानमेव चेतये। अथवा न चेतये, न चेतयमानश्चेतये, न चेतयमानेन चेतये, न चेतयमानाय चेतये, न चेतयमानाच्चेतये, न चेतयमाने चेतये, न चेतयमानं

चेतये, किं तु सर्वविशुद्धचिन्मात्रोभावोऽस्मि । भित्त्वा सर्वमपि स्वलक्षणबलाद्‌भेत्तुं हि यच्छक्यते चिन्मुद्रांकितनिर्विभाग-महिमा शुद्धश्चिदेवास्म्यहंभिद्यंते यदि कारकाणि यदि वा धर्मा गुणा वा यदि, भिद्यंतां न भिदास्ति काचन विभौ भावे विशुद्धे चिति ।।१।।

टीका:—नियम से स्वलक्षण का अवलम्बन करने वाली ऐसी बुद्धि से चेतन स्वरूप आत्मा प्रविभक्त हुआ—(जाना गया, पहिचाना गया) वही मैं हूँ और जो शेष अपने २ लक्षण से लखे जाने वाले भाव हैं जो कि व्यवहार में आते हैं, किन्तु व्यापक चेतयितापन के व्याप्यपने को प्राप्त नहीं होते हुए चेतन से शून्य हैं वे सब भाव मेरे से अत्यन्त भिन्न हैं । इसलिये मैं ही मेरे द्वारा ही मेरे लिये ही, मेरे से ही, मुझ में ही और मुझ को ही ग्रहण करता हूँ जो कुछ ग्रहण करता हूं वह सब आत्मा के एक चेतना ही क्रिया है, इसलिये चेतता हो हूँ चेतता हुआ ही चेतता हूँ, चेतते हुये के द्वारा ही चेतता हूँ, चेतते हुये के लिये ही चेतता हूं, चेतते हुये से ही चेतता हूँ, चेतते हुये को ही चेतता हूं । अथवा न तो चेतता ही हूं, न चेतता हुआ ही चेतता हूं, न चेतते हुये द्वारा हो चेतता हूं, न चेतते हुये के लिये ही चेतता हूं, न चेतते हुये से ही चेतता हूं, न चेतते हुये में ही चेतता है और न चेतते हुये को ही चेतता हूँ । तो फिर कैसा हूँ ? कि सर्व विशुद्ध चैतन्यमात्र भाव हूँ । जैसा कि श्री अमृतचन्द्र आचार्य भी लिखते हैं—

भित्त्वा सर्वमपि स्वलक्षणबलाद्‌भेत्तुं हि यच्छक्यते ।
चिन्मुद्रांकितनिर्विभाग महिमा शुद्धश्चिदेवास्म्यहं ।।
भिद्यंते यदि कारकाणि यदि वा धर्मा गुणा वा यदि ।
भिद्यंतां न भिदास्ति काचन विभौ भावे विशुद्धे चिति ।।

अर्थ—ज्ञानी जीव सोचता समझता है कि जिनको भिन्न किया जा सकता है उन सब परभावों को निज लक्षण के बल से पृथक् करके चैतन्य चिह्न से चिह्नित एवं विभाग रहित महिमावाला मैं तो शुद्ध चैतन्यमात्र ही हूँ, उसमें कर्ता, कर्म, करण आदि कारक भेद तथा सत्व, असत्व, नित्यत्व, अनित्यत्व, एकत्व, अनेकत्व आदि धर्म भेद और ज्ञानदर्शन आदि गुणभेद किये जाते हों तो किये जावें किन्तु उन सब में व्यापक होकर रहनेवाले भावस्वरूप परम शुद्ध चैतन्य प्रभु में उनसे कोई भेद नहीं होता ।।३१८।।

विशेषार्थ:—पराश्रित रूप आस्रवभाव से दूर होने के लिये पहले तो ज्ञानी जीव कर्ता कर्म आदि षट कारकों को अपने आप में ही घटित करता है फिर उस भेदभाव से भी दूर होकर अपने आप अखंड स्वरूप हो जाता है इसी बात को यहां बताई है ।

उसी चैतन्य के ज्ञातृत्व व दृष्टत्व ये दो धर्म हैं उनको लेकर कथन करते हैं—

पण्णाए घित्तव्वो जो दट्ठा सो अहं तु णिच्छयओ ।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परेत्ति णायव्वा ।।३१९।।
पण्णाए घित्तव्वो जोणादा सो अहं तु णिच्छयदो ।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परेत्ति णादव्वा ।।३२०।। (युग्मं)

प्रज्ञया गृहीतव्यो यो द्रष्टा सोऽहं तु निश्चयतः ।
अवशेषा ये भावास्ते मम परा इति ज्ञातव्याः ।।३१९।।

प्रज्ञया गृहीतव्यो यो ज्ञाता सोऽहं तु निश्चयतः।
अवशेषा ये भावास्ते मम परा इति ज्ञातव्याः ॥३२०॥

अर्थ—विवेक बुद्धि के द्वारा अंगीकार करना कि नियम से जो देखने वाला है वह मैं हूं किन्तु अवशेष जितने भी भाव हैं वे सब मेरे से पर हैं। इसी प्रकार विवेक बुद्धि के द्वारा यह भी स्वीकार करना कि जो ज्ञाता है वह तो नियम से मैं हूँ, उसके सिवाय जितने भी भाव हैं वे सब मेरे नहीं हैं किन्तु मुझसे भिन्न है ऐसा जानना चाहिये॥ ३१९-३२०॥

तात्पर्यवृत्तिः—प्रज्ञया गृहीतव्यो यो द्रष्टा सोहं तु निश्चयतः, अवशेषा ये भावा ते मम परा इति ज्ञातव्याः। प्रज्ञया गृहीतव्यो यो ज्ञाता सोऽहं तु निश्चयतः, अवशेषा ये भावा ते मम परा इति ज्ञातव्याः चेतनाया दर्शनज्ञानविकल्पानतिक्रमणाच्चेतयितृत्वमिव द्रष्टृत्वं ज्ञातृत्वं चात्मनः स्वलक्षणमेव। ततोहं द्रष्टारमात्मानं गृण्हामि। यत्किल गृह्णामि तत्पश्याम्येव, पश्यन्नेव पश्यामि, पश्यतैव पश्यामि, पश्यते एव पश्यामि, पश्यत एव पश्यामि, पश्यत्येव पश्यामि, पश्यंतमेव पश्यामि। अथवा—न पश्यामि, न पश्यन् पश्यामि, न पश्यता पश्यामि, न पश्यते पश्यामि, न पश्यतः पश्यामि, न पश्यति पश्यामि, पश्यंतं पश्यामि। किं तु सर्वविशुद्धो दृङ्मात्रो भावोऽस्मि। अपि च ज्ञातारमात्मानं गृण्हामि यत्किल गृण्हामि तज्जानयेव, जानन्नेव जानामि, जानतैव जानामि, जानते एव जानामि, जानत एव जानामि, जानत्येव जानामि, जानंतमेव जानामि। अथवा न जानामि, न जानन् जानामि, न जानतैव जानामि, न जानते जानामि, न जानति जानामि, न जानंतं जानामि। किं तु सर्वविशुद्धो ज्ञप्तिमात्रो भावोऽस्मि। ननु कथं चेतना दर्शनज्ञानविकल्पौ नातिक्रामति येन चेतयिता दृष्टा ज्ञाता च स्यात्? उच्यते चेतना तावत्प्रतिभासरूपा सा तु सर्वेषामेव वस्तूनां सामान्यविशेषात्मकत्वाद् द्वैरूप्यं नातिक्रामति। ये तु तस्या द्वे रूपे ते दर्शनज्ञाने, ततः सा ते नातिक्रामति। यद्यतिक्रामति? सामान्यविशेषातिक्रांतत्वाच्चेतनैव न भवति। तदभावे द्वौ दोषौ स्वगुणोच्छेदाच्चेतनस्याचेतनतापत्तिः, व्यापकाभावे व्याप्यस्य चेतनस्याभावो वा। ततस्तद्दोषभयाद्दर्शनज्ञानात्मिकैव चेतनाभ्युपगंतव्या।

अद्वैतापि हि चेतना जगति चेद्दृग्ज्ञप्तिरूपं त्यजेत्, तत्सामान्यविशेषरूपविरहात्सास्तित्वमेव त्यजेत्।
तत्त्यागे जडता चितोऽपि भवति व्याप्यो विना व्यापकादात्मा चांतमुपैति तेन नियतं दृग्ज्ञप्तिरूपास्तु चित् ॥१॥

एकश्चितश्चिन्मय एव भावो, भावाः परे ये किल ते परेषां।
ग्राह्यस्ततश्चिन्मय एव भावो, भावाः परे सर्वत एव हेयाः ॥२॥

निश्चयतोऽवशेषा ये रागादिभावा विभावपरिणामास्ते चिदानंदैकभावस्य ममापेक्षया परा इति ज्ञातव्याः। अत्राह शिष्यः—चेतनाया ज्ञानदर्शनभेदो न स्तः, एकैवचेतना ततो ज्ञाता दृष्टेति द्विधात्मा कथं घटते इति? अत्र पूर्वपक्षे परिहारः—सामान्यग्राहकं दर्शनं विशेषग्राहकं ज्ञानं। सामान्यविशेषात्मकं च वस्तु। सामान्यविशेषात्मकत्वाभावे चेतनाया अभावः स्यात्। चेतनाया अभावे आत्मनो जडत्वं चेतनालक्षणस्य विशेषगुणस्याभावे सत्यभावो वा भवति। नचात्मनो जडत्वं दृश्यते, नचाभावः? प्रत्यक्षविरोधात्? ततः स्थितं यद्यप्यभेदनयेनैकरूपा चेतना तथापि सामान्यविशेषविषयभेदेन दर्शनज्ञानरूपा भवतीत्यभिप्रायः।

अथ शुद्धबुद्धैकस्वभावस्य परमात्मनः शुद्धचिद्रूप एक एव भावः न च रागादय इत्याख्याति—

टीका:–जो भी चेतना है वह या तो दर्शन रूप या ज्ञान रूप होती है इन दोनों को छोड़कर चेतना पृथक् नहीं होती। इसलिये चेतयितापन ही दृष्टापन या ज्ञातापन है जो कि आत्मा का स्वलक्षण है

इसलिये मैं आत्मा को द्रष्टारूप में ग्रहण करता हूँ। ग्रहण करता हूं, इसका अर्थ यह है कि मै देखता ही हूं, देखता हुआ ही देखता हूँ, देखते हुए के द्वारा ही देखता हूँ, देखने वाले के लिए ही देखता हूं, देखने वाले से ही देखता हूं, देखने वाले में ही देखता हूं, देखने वाले को ही देखता हूं, अथवा यों कहो कि मैं नहीं देखता हूँ, न देखता हुआ देखता हूँ, न देखते हुए के द्वारा देखता हूं, न देखते हुए के लिये देखता हूँ, न देखते हुए से देखता हूँ, न देखते हुए में देखता हूँ, और न देखते हुए को देखता हूँ किन्तु मैं तो सब प्रकार से विशुद्ध दर्शनमात्र भाव हूँ। तथा ज्ञातृस्वरूप आत्मा को ग्रहण करता हूं, ग्रहण करता हूँ अर्थात् जानता ही हूं। जानता हुआ ही जानता हूँ, जानते हुए के द्वारा ही जानता हूँ, जानते हुए के लिए ही जानता हूँ, जानते हुए से ही जानता हूं, जानते हुए में ही जानता हूँ, तथा जानते हुए को ही जानता हूँ। अथवा मैं नहीं जानता हूँ, नहीं जानता हुआ जानता हूं न जानते हुए के द्वारा जानता हूँ, नहीं जानते हुए के लिए जानता हूं, न जानते हुए से जानता हूं, नहीं जानते हुए में जानता हूँ, न जानते हुए को जानता हूँ, किन्तु सब ओर से विशुद्ध ज्ञप्ति मात्र भाव हूं। इस पर शिष्य प्रश्न करता है कि चेतना दर्शन और ज्ञान इन दोनो भेदों को छोड़कर क्यों नहीं रहती ? क्योंकि आप ऐसा कहते हैं कि जो चेतयिता वही द्रष्टा भी है और ज्ञाता भी है। उसका समाधान करते हैं कि चेतना प्रतिभास स्वरूप है अर्थात् पदार्थों के स्वरूप को झलकाने वाली है और जितने भी पदार्थ हैं वे सामान्य विशेषात्मक हैं इसलिये द्विरूपपन का उल्लंघन नहीं करते हैं अतः चेतना भी द्विरूपपने को नहीं छोड़ती है। एवं उस चेतना के दो रूप हैं उन्हीं का नाम दर्शन और ज्ञान है इसलिये वह इन्हें नहीं छोडती है क्योंकि यदि वह उन्हें छोड़दे तो सामान्य और विशेष से अतिक्रांत होजाने के कारण चेतना ही न रहे। ऐसी दशा में दो दोष उत्पन्न होते हैं—एक तो यह है कि चेतन का अपना गुण चेतना नहीं रहा तब वह अचेतन ठहरेगा, दूसरा अथवा व्यापक चेतनत्व के नहीं रहने पर फिर चेतन भी नहीं रहेगा उसका अभाव ही हो जायगा। इसलिये इन दोनों दोषों से बचने के लिए ज्ञान दर्शन स्वरूप ही चेतना को मानना चाहिये। ऐसा ही श्री अमृतचन्द्र आचार्य भी कहते हैं—

अद्वैतापिहि चेतना जगति चेद्दृग्ज्ञप्तिरूपं त्यजेत्। तत्सामान्य विशेषरूपबिरहात्सास्तित्वमेव त्यजेत्।
तत्त्यागे जड़ता चितोपि भवति व्याप्यो विना व्यापकादात्मा चातमुपैति तेन नियतंदृग्ज्ञप्ति रूपास्तुचित्
॥१८३॥

अर्थ—जगत में निश्चय से चेतना अद्वैत है अखंड रहने वाली है, फिर भी वह दर्शन ज्ञानरूप को छोड़दे तो सामान्य और विशेष के अभाव से वह चेतना अपने अस्तित्व को ही छोड़ दे। उसके अस्तित्व के छोड़ देने पर चेतन के जड़पना हो जावे। अथवा व्याप्य आत्मा व्यापक चेतना के बिना अन्त को प्राप्त हो जावे अर्थात् उसका अभाव ही हो जावे इसलिये चेतना नियम से दर्शन ज्ञान स्वरूप ही है। और तव फिर—

एकाश्चिताश्चिन्मय एव भावो भावाः परे ये किल ते परेषाँ।
ग्राह्यस्ततश्चिन्मय एव भावो भावाः परे सर्वत एव हेयाः ॥१८४॥

अर्थ—चैतन्य का तो एक चिन्मय भाव ही है। दूसरे भाव हैं वे प्रगट रूप से पर के भाव हैं। इसलिए एक चिन्मय भाव ही ग्रहण करने योग्य है और जो परभाव है वे सभी त्यागने योग्य हैं। अर्थात् चैतन्यभाव के अतिरिक्त जो रागादिरूप भाव हैं वे विभाव परिणाम हैं और वे चिदानंद स्वरूप जो मेरे भाव हैं उससे पर हैं ऐसा जानना चाहिए। यहां शिष्य कहता है कि चेतना के ज्ञान और दर्शन ये दो भेद नहीं हो सकते क्योंकि चेतना जब एक है तो उसकी आत्मा ज्ञाता दृष्टा के रूप में दो भेद वाली यह कैसे बन सकती हैं। इस प्रश्न का उत्तर देते हैं कि प्रत्येक वस्तु

सामान्य विशेषात्मक होती है अतः उसका सामान्य ग्राहक अंश दर्शन और विशेष ग्राहक अंश ज्ञान होता है। इस प्रकार सामान्य विशेषात्मक यदि चेतना में न हो तो चेतना का अभाव ही ठहरे और उसका अभाव होने पर या तो आत्मा को जड़पना प्राप्त हो अथवा चेतना लक्षण विशेष गुण के न होने पर उसका अभाव ही ठहरे, किन्तु न तो आत्मा का अभाव ही है और न उसमें जड़ता ही देखी जाती है क्यों कि इसमें प्रत्यक्ष से विरोध आता हैं। इसलिए यह बात निश्चित हुई कि यद्यपि अभेद नय से चेतना एक रूप है फिर भी वह सामान्य और विशेष को विषय करने वाली है अतः विषय के भेद से दर्शन और ज्ञान रूप है। यही आचार्यों का अभिप्राय है ॥३१९-३२०॥

आगे बताते है कि शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव वाले परमात्मा का एक शुद्ध चेतन्य रूप एक ही भाव है, रागादिक नहीं है—

को णाम भणिज्ज वुहो णादुं सव्वे परोदये भावे।
मज्झमिणं तिय वयणं जाणंतो अप्पयं सुद्धं ॥ ३२१॥

को नाम भणेद् बुधः ज्ञात्वा सर्वान् परोदयान् भावान्।
ममेदमिति वचनं जानन्नात्मानं शुद्धं ॥ ३२१॥

अर्थ—वह कौनसा ज्ञानी है जो उपर्युक्त एक चिन्मात्रभाव के सिवाय इन और सभी भावों को परके जान कर भी तथा शुद्धात्मा को जानता हुआ भी इन सबको ये मेरे हैं ऐसा कहता रहे? अर्थात कोई भी नहीं हैं।

तात्पर्यवृत्तिः—को णाम भणिज्ज वुहो को ब्रूयाद्बुधो ज्ञानी विवेकी नाम स्फुटमहो वा न कोऽपि। किं ब्रूयात्। **मज्झमिणंतियवयणं** ममेति वचनं किं कृत्वा ? पूर्वं **णादुं** निर्मलात्मानुभूतिलक्षणभेदज्ञानेन ज्ञात्वा। कान् ? **सव्वे परोदये भावे** सर्वान् मिथ्यात्वरागादिभावान् विभावपरिणामान्। कथंभूतान् ? परोदयान् शुद्धात्मनः सकाशात् परेण कर्मोदयेन जनितान्। किं कुर्वन् सन् ? **जाणंतो अप्पयं सुद्धं** जानन् परमसमरसीभावेनानुभवन्, कं ? आत्मानं। कथं भूतं ? शुद्धं, भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मरहितं। केन कृत्वा जानन् ? शुद्धात्मभावनापरिणताभेदरत्नत्रयलक्षणेन भेदज्ञानेनेति। एवं विशेषभेदभावनाव्याख्यानमुख्यत्वेन तृतीयस्थले सूत्रपंचकं गतं।

अथ: मिथ्यात्वरागादिपरभावस्वीकारेण बध्यते वीतरागपरमचैतन्यलक्षणस्वस्थभावस्वीकारेण मुच्यते जीव इति प्रकाशयति—

टीका:—(को णाम भणिज्ज वुहो) कौन ज्ञानी विवेकी बुद्धीमान ऐसा कहे ? कोई भी नहीं कहे (मज्झमिणंतिय वयणं) कि ये सब मेरे हैं ऐसा वचन कहे। क्या करके ? कि (णादुं) निर्मल आत्मा की अनुभूति वही है लक्षण जिसका ऐसे भेदज्ञान के द्वारा जान कर, किनको जानकर ? कि (सव्वे परोदये भावे) सभी मिथ्यात्व और रागादिरूप विभाव परिणामों को जानकर। कैसे जानकर ? कि परोदयान् अर्थात् शुद्धात्मा से पृथक् जो कर्मोदय उससे ये सब पैदा हुए हैं ऐसा जानकर। क्या करता हुआ? कि (जाणंतो अप्पयं सुद्धं) परम समरसीभाव के द्वारा जानता हुआ, अनुभव करता हुआ। किसको ? कि आत्मा को, कैसी आत्मा को ? भाव कर्म, दव्य कर्म और नो कर्म रहित शुद्धात्मा को, किससे जानता हुआ ? कि शुद्धात्मा की भावना में परिणत जो अभेद रत्नत्रय वही है लक्षण जिसका उस भेद ज्ञान के द्वारा जानता हुआ ।

विशेषार्थः—आचार्य महाराज कहते हैं कि शुद्धात्मा को जानता हुआ विद्वान जब सब बाह्य वस्तुओं को पर जान चुका है तब ये मेरी हैं इस प्रकार से नहीं बता सकता है। यदि बाह्य वस्तुओं को अपनी बताता है तो उसे अभी शुद्धात्मा का ज्ञान नहीं हुआ है। अध्यात्म व आगम की बात तो दूर रहे किन्तु आम जनता में भी जो बुद्धिमान है वह पर के धनादि को अपना नहीं कहता है फिर एक सम्यग्ज्ञानी अन्तरात्मा इन पर पदार्थों को अपना कहता रहे यह बात कभी बन नहीं सकती है अपितु पर पदार्थों को अपना कहने वाला का ज्ञान वास्तविक सम्यग्ज्ञान नहीं है।

इस प्रकार विशेष भेदभावना के व्याख्यान की मुख्यता से इस तीसरे स्थल में पांच सूत्र कहे गये हैं।

आगे प्रकाश करते हैं कि मिथ्यात्व व रागद्वेषादि पर भावों को अपना मानने से यह जीव कर्मों से बंधता है और वीतराग परम चैतन्य मई है लक्षण जिसका ऐसे स्वस्थ भाव को स्वीकार करने से मुक्त होता है—

तेयादी अवराहे कुव्वदि जो सो ससंकिदो होदि।
मा बज्झेऽहं केणवि चोरोत्ति जणम्मि विचरंतो ।।३२२।।
जो ण कुणदि अवराहे सो णिस्संको दु जणवदे भमदि।
ण वि तस्स बज्झिदुं जे चिन्ता उप्पज्जदि कयावि ।।३२३।।
एवं हि सावराहो बज्झामि अहं तु संकिदो चेदा।
जो पुण णिरावराहो णिस्संकोहं ण बज्झामि ।।३२४।। (त्रिकलम्)

स्तेयादीनपराधान् करोति यः स शंकितो भवति।
मा बध्ये केनापि चौर इति जने विचरन् ।।३२२।।
यो न करोत्यपराधान् स निश्शंकस्तु जन पदे भ्रमति।
नापि तस्य बद्धुं, यच चिंतोत्पद्यते कदाचित् ।।३२३।।
एवं हि सापराधो बध्येऽहं तु शंकितश्चेतयिता।
यदि पुर्निनरपराधो निश्शंकोऽहं न बध्ये ।।३२४।।

अर्थ—जो पुरुष चोरी आदि अपराधों को करता है वह शंकाशील होकर भटकता फिरता है कि लोगों में घूमते हुए किसी के द्वारा बांध न लिया जाऊं। तथा जो अपराधों को नहीं करता है वह पुरुष जनपद में (देश में) निःशंक होकर घूमता है उसको बन्ध जाने की शंका कभी नहीं उपजती। इसी प्रकार मैं यदि अपराध सहित हूं तो बंधूगा ऐसी शंकायुक्त आत्मा होता है और यदि निपराध हूं तो मैं निश्शंक कभी नहीं बंधूगां इस प्रकार सोचकर ज्ञानी निर्द्वन्द्व होता है ।।३२२-३२३-३२४।।

तात्पर्यवृत्तिः—**तेयादी अवराहे कुव्वदि जो सो ससंकिदो होदि** यःस्तेयपरदाराद्यपराधान् करोति स पुरुषः सशंकितो भवति। केन रूपेण ? **मा बज्झेहं केणवि चोरोत्ति जणह्मि विचरंतो** जने विचरन् माहं बध्ये केनापि तलवरादिना। किं कृत्वा ? चौर इति मत्वा। इत्यन्वयदृष्टांतगाथा गता।

जो ण कुणदि अवराहे सो णिस्संको दु जणवदे भमदि यःस्तेयपरदाराद्यपराधं न करोति स निश्शंको जनपदे लोके भ्रमति। **णवि तस्स बज्झिदुं जे चिंता उप्पज्जदि कयावि** तस्य चिंता नोत्पद्यते कदाचिदपि **जे** अहो यस्मात्कारणात् वा निरपराधः, केन रूपेण चिंता नोत्पद्यते ? नाहं बध्ये केनापि चौर इति मत्वा। एवं व्यतिरेक दृष्टांतगाथा गता। **एवंहि सावराहो बज्झामि अहं तु संकिदो चेदा** यो रागादिपरद्रव्यग्रहणं स्वीकारं करोति स स्वस्थभावच्युतः सन् सापराधो भवति सापराधोऽत्र शंकितो भवति। केन रूपेण ? बध्येऽहं कर्मपेपन्नो ज्ञानावरणादिकर्मणा। ततः कर्मबंधभीतः प्रायश्चित्तंप्रतिक्रमणरूपं दंडं ददाति **जो पुण णिरवराहो णिस्संकोहं ण बज्झामि** यस्तु पुनर्निरपराधो भवति स तु दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षारूपनिदानबंधादिसमस्तविभावपरिणामरहितोभूत्वानिश्शंको भवति। केन रूपेण ? इति चेत्—रागाद्यपराधरहितत्वात् नाहं बध्ये केनापि कर्मणेति प्रतिक्रमणादिदंडं विनाप्यनंतज्ञानादिरूपनिर्दोषपरमात्मभावनयैव शुद्धयति इत्यन्वयव्यतिरेकदार्ष्टांतगाथा गता।

अथ को हि नामायमपराधः ? इति पृच्छति।

टीका:—(तेयादी अवराहे कुव्वदि सो ससंकिदो होदि) जो पुरुष चोरी परदार गमनादि अपराधों का करने वाला है वह सशंकित रहता है। किस प्रकार से सशंक रहता है ? कि (मा बज्झेऽहं केणवि चोरोत्ति जणम्मि विचंरतो) लोगों में विचरण करता हुआ मैं चोर समझा जाकर किसी कोटपाल आदि के द्वारा कभी बान्ध न लिया जाऊं। इस प्रकार यह अन्वय दृष्टांत की गाथा हुई। (जो ण कुणदि अवराहे सो णिस्संको दु जणवदे भमदि) किन्तु जो कोई चोरी आदि अपराध नहीं करता वह निश्शंक होता हुआ गांव में लोगों के बीच में घूमता रहता है (ण वि तस्स बज्झिदुं जे चिंता उप्पज्जदि कयावि) क्योंकि वह निरपराध है इसलिए उसके कभी कोई चिंता नहीं उपजती कि मैं चोर समझकर किसी के द्वारा बांधा जा सकता हूँ ऐसा समझा हुये होता है। यह व्यतिरेक दृष्टांत हुआ। (एवं हि सावराहो बज्झामि अहं तु संकिदो चेदा) इसी प्रकार जो कोई जीव रागादि रूप पर द्रव्यों को ग्रहण करता है स्वीकार करता है वह स्वस्थ भाव से च्युत होता हुआ अपराध युक्त होता है और अपराधयुक्त होने के कारण शंकाशील भी होता है। किस प्रकार शंकाशील होता है कि मैं ज्ञानावरणादि कर्म के द्वारा बांधा जा रहा हूँ। इसलिये कर्म बन्ध के भय से प्रतिक्रमण व प्रायश्चित नाम दण्ड देता है अर्थात् उसे भोगता है। (जो पुण णिरवराहो णिस्संकोहं ण बज्झामि) किन्तु जो निरपराध है वह तो देखे गये सुने गये और अनुभव में आये ऐसे भोगों की आकांक्षा रूप निदान बंध आदि समस्त विभाव परिणामों से रहित होने के कारण निश्शंक होता है ? किस प्रकार निश्शंक होता है ? कि मैं तो रागादि रूप अपराध से रहित हूं इसलिये मैं किसी भी कर्म से नहीं बंध सकता हूँ इसलिये वह प्रतिक्रमणादिरूप दंड विधान के बिना भी अनन्त ज्ञानादि रूप निर्दोष परमात्मा की भावना के द्वारा ही शुद्ध हो जाता है। इस प्रकार यह अन्वय व्यतिरेक रूप दार्ष्टांत गाथा हुई ॥३२२-३२३-३२४॥

विशेषार्थ:—यहां यह स्पष्ट बताया है कि जो मुनि आत्म आराधना रूप समाधि में स्थित है उसे प्रतिक्रमणादि की चिंता नहीं करनी चाहिये क्योंकि वह तो अपने आप में है निरपराध है। प्रतिक्रमणादिक का दण्ड विधान तो उनके लिये विधेय है जो कि अपराधवान हैं। हां, जब उसका उपयोग समाधि से उचट कर बाह्य बातों की ओर है तब अपराधवान है अर्थात् प्रमादवान है अतः प्रमाद के प्रति विधान रूप दण्ड के रूप में यथा समय यथारीति प्रतिक्रमणादि नहीं करता है तो वह अपराधी ही नहीं किन्तु महा अपराधी है। संयमी न होकर असंयमी है।

आगे अपराध शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हैं—

संसिद्धिराधसिद्धि साधियमाराधियं च एयंट्ठ।
अवगयराधो जो खलु चेया सो होइ अवराधो ॥३२५॥

संसिद्धिराधसिद्धं साधितमाराधितं चैकार्थं।
अपगतराधो यः खलु चेतयिता स भवत्यपराधः ॥३२५॥

अर्थ—संसिद्धि, राध, सिद्ध, साधित और आराधित ये सब एकार्थवाचक हैं इसलिये जो आत्मा राध से रहित हो वह आत्मा अपराध होता है ॥३२५॥

तात्पर्यवृत्तिः—संसिद्धिराधसिद्धी साधिदमाराधिदं च एयट्ठो कालत्रयवर्तिसमस्तमिथ्यात्वविषयकषायादिविभावपरिणामरहितत्वेन निर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा निजशुद्धात्माराधनं सेवनं राध इत्युच्यते संसिद्धिः सिद्धिरिति साधितमित्याराधितं च तस्यैव राधशब्दस्य पर्यायनामानि। **अवगदराधो जो खलु चेदा सो होदि अवराहो** अपगतो विनष्टो राधः शुद्धात्माराधना यस्य पुरुषस्य स पुरुष एवा भेदेन भवत्यपराधः। अथवा अपगतोविनष्टो राधः शुद्धात्माराधः शुद्धात्माराधना यस्य रागादिविभावपरिणामस्य स भवत्यपराधः सहापराधेन वर्तते यः स सापराधः, चेतयितात्मा तद्विपरीतःत्रिगुप्तिसमाधिस्थो निरपराध इति।

अर्थ—हे भगवन्, किमनेन शुद्धात्माराधनाप्रयासेन यतः प्रतिक्रमणाद्यनुष्ठानेनैव निरपराधो भवत्यात्मा, कस्मात्? इति चेत् सापराधस्याप्रतिक्रमणादेर्दोषशब्दवाच्यापराधाविनाशकत्वेन विषकुंभत्वे सति प्रतिक्रमणादेर्दोषशब्दवाच्यापराधविनाशकत्वेनामृतकुंभत्वात् इति तथा चोक्तं चिरंतनप्रायश्चित्तग्रंथे—

अपडिक्कमणं अपडिसरणं अप्पडिहारो अधारणा चेव।
अणियत्तीय अणिंदा अगरुहा सोहीय विसकुंभो ॥१॥
पडिकमणं पडिसरणं पडिहरणं धारणा णियत्तीय।
णिंदा गरुहा सोही अट्ठविहो अमयकुंभो दु ॥२॥

अत्र पूर्वपक्षे परिहारः—

टीका—(संसिद्धिराधसिद्धि साधिदमाराधिदं च एयट्ठो) तीन काल में होने वाले मिथ्यात्व, विषय कषायादि परिणाम से रहित होने के द्वारा निर्विकल्प समाधि में स्थित होकर अपनी शुद्ध आत्मा का आराधन सेवन, वह राध कहलाता है; संसिद्धि, सिद्धि साधित तथा आराधित ये शब्द उस राध के पर्यायवाची नाम हैं। (अवगदराधो जो खलु चेदा सो होदि अवराहो) अपगत अर्थात् नष्ट हो गया है राध अर्थात् शुद्धात्मा का आराधन जिस पुरुष का वह पुरुष ही अभेद विवक्षासे अपराध ठहरता है। अथवा अपगत है अर्थात् नष्ट हो गया है राध अर्थात् शुद्धात्मा की आराधना जिसके वह रागादि विभाव परिणाम वही अपराध है और उस सहित जो है वह सापराध है। किन्तु उससे विपरीत जो आत्मा त्रिगुप्ति रूप समाधि में स्थित होता है वह निरपराध है। इस पर शिष्य कहता है कि हे भगवन्! शुद्धात्मा की आराधना के प्रयास करने का क्या प्रयोजन है, जब कि प्रतिक्रमण आदि अनुष्ठान से ही आत्मा निरपराध हो जाता है। क्योंकि अपराधी के जो अप्रतिक्रमणादिक हैं वे दोष शब्द का वाच्य जो अपराध

उसके नष्ट न करने वाले होने से विषकुंभ स्वरूप कहे जाते हैं किन्तु प्रतिक्रमणादिक हैं व दोष शब्द के वाच्य अपराध का नाश करने वाले होने से अमृत कुंभ स्वरूप कहे जाते हैं। जैसा कि पुराने प्रायश्चित् नाम के ग्रंथमें कहा गया है:—

अपडिक्कमणं अपडिसरणं अप्पंडिहारो अधारणा चेव।
अणियत्तीय अणिंदा अगरुहाऽसोहीय विसकुंभो ॥१॥
पडिकमणं पडिसरणं पडिहरणं धारण णियत्तीय।
णिंदा गरुहा सोही अट्ठविहो अमयकुंभो दु ॥२॥

अब आचार्य महाराज इस शंका का निवारण करते हैं:—

पडिकमणं पडिसरणं पडिहरणं धारणा णियत्तीय।
णिंदा गरुहा सोही अट्ठविहो होइ विसकुंभो ॥३२६॥
अपडिकमणं अप्पडिसरणं अप्परिहारो अधारणा चेव।
अणियत्ती य अणिंदाऽगरहाऽसोही अमयकुंभो ॥३२७॥

प्रतिक्रमणं प्रतिसरणं परिहारो धारणा निवृत्तिश्च।
निंदा गर्हा शुद्धिः अष्टविधो भवति विषकुंभः ॥३२६॥
अप्रतिक्रमणमप्रतिसरणमपरिहारोऽधारणा चैव।
अनिवृत्तिश्चानिंदाऽगर्हाशुऽद्धिरमृत कुम्भः ॥३२७॥

अर्थ—(ज्ञानी समाधिस्थ के लिये) प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, परिहार, धारणा, निवृत्ति, निंदा, गर्हा और शुद्धि इस प्रकार आठ प्रकार तो विष कुंभ है क्योंकि इसमें कर्तापन की बुद्धि होती है और अप्रतिक्रमण, अप्रतिसरण, अपरिहार, अधारणा, अनिवृत्ति, अनिंदा, अगर्हा, और अशुद्धि इस प्रकार आठ प्रकार ये अमृत कुंभ हैं क्योंकि यहां कर्तापन को छोड़कर आत्मतल्लीनता पर जोर दिया है अतः ज्ञानी को निर्बंधपने के लिये यह उपयोगी पड़ता है॥ ३२६-३२७॥

तात्पर्यवृत्तिः— **पडिकमणमित्यादि पडिकमणं** प्रतिक्रमणं कृतदोषनिराकरणं। **पडिसरणं** प्रतिसरणं सम्यक्त्वादिगुणेषु प्रेरणं। **पडिहरणं** प्रतिहरणं मिथ्यात्वरागादिदोषेषु निवारणं **धारणा** पंचनमस्कारप्रभृतिमंत्रप्रतिमादिबहिर्द्रव्यावलंबनेन चित्तस्थिरीकरणं धारणा। **णियत्तीय** बहिरंगविषयकषायादीहागतचित्तस्य निवर्तनं निवृत्तिः। **णिंदा** आत्मसाक्षिदोषप्रकटनं निंदा **गरुहा** गुरुसाक्षिदोषप्रकटनं गर्हा। **सोहिय** दोषे सति प्रायश्चित्तं गृहीत्वा विशुद्धिकरणं शुद्धिः। इत्यष्टविकल्परूपशुभोपयोगो यद्यपि मिथ्यात्वादिविषयकषायपरिणतिरूपाशुभोपयोगापेक्षया सविकल्पसरागचारित्रावस्थायाममृतकुंभो भवति। तथापि रागद्वेषमोहख्यातिपूजालाभदृष्टश्रुतानुभूतिभोगाकांक्षारूपनिदानबंधादिसमस्तपरद्रव्यालंबनविभावपरिणामशून्या, चिदानंदैकस्वभावविशुद्धात्मालंबनभरितावस्था निर्विकल्पशुद्धोपयोगलक्षणा, **अपडिकमणं** इति गाथाकथितक्रमेण ज्ञानजनाश्रितनिश्चयाप्रतिक्रमणादिरूपा तु या तृतीया भूमिस्तदपेक्षया वीतरागचारित्रस्थितानां पुरुषाणां विषकुंभ एवेत्यर्थः।

किं च विशेषः—अप्रतिक्रमणं द्विविधं भवति ज्ञानिजनाश्रितं, अज्ञानिजनाश्रितं चेति। अज्ञानिजनाश्रितं यद-प्रतिक्रमणं तद्विषयकषायपरिणतिरूपं भवति। ज्ञानिजीवाश्रितमप्रतिक्रमणं तु शुद्धात्मसम्यक्त्वश्रद्धानज्ञानानुष्ठानलक्षण-त्रिगुप्तिरूपं। तच्च ज्ञानिजनाश्रितमप्रतिक्रमणं सरागचारित्रलक्षणशुभोपयोगापेक्षयायद्यप्यप्रतिक्रमणं भण्यते तथापि वीतरागचारित्रापेक्षया तदेव निश्चयप्रतिक्रमणं। कस्मात्? इति चेत् समस्तशुभाशुभास्रवदोषनिराकरणरूपत्वादिति। ततः स्थितं तदेव निश्चयप्रतिक्रमणं व्यवहारप्रतिक्रमणापेक्षया, अप्रतिक्रमणशब्दवाच्यं ज्ञानिजनस्य मोक्षकारणं भवति। व्यवहारप्रतिक्रमणं तु यदि शुद्धात्मानमुपादेयं कृत्वा तस्यैव निश्चयप्रतिक्रमणस्य साधकभावेन विषयकषायवंचनार्थं करोति तदपि परंपरया मोक्षकारणं भवति, अन्यथा स्वर्गादिसुखनिमित्तपुण्यकारणमेव। यत्पुनरज्ञानिजनसंबंधि मिथ्यात्वविषयकषायपरिणतिरूपमप्रतिक्रमणं तन्नरकादिदुःखकारणमेव। एवं प्रतिक्रमणाद्यष्ट-विकल्परूपः शुभोपयोगो यद्यपि सविकल्पावस्थायाममृतकुंभो भवति तथापि सुखदुःखादिसमतालक्षणपरमोपेक्षारूप-संयमापेक्षया विषकुंभ एवेति व्याख्यानमुख्यत्वेन चतुर्थस्थले गाथाष्टकं गतं।

इति श्री जयसेनाचार्य कृतायां समयसारव्याख्यायां शुद्धात्मानुभूतिलक्षणायां, तात्पर्यवृत्तौ द्वाविंशति-गाथाभिश्चतुर्भिरंतराधिकारैर्नवमो मोक्षाधिकारः समाप्तः।

टीका:—पडिकमणमित्यादि। प्रतिक्रमण—किये हुए दोषों का निराकरण करना, प्रतिशरण—सम्य-क्त्वादि गुणों में प्रवृत्त होना, प्रतिहरण—मिथ्यात्व तथा रागादि दोषों का निवारण करना, धारणा—पंच नमस्कार मंत्र आदि मंत्र तथा प्रतिमा आदि बाह्य द्रव्यों के आलम्बन से चित्त को स्थिर करना, निवृत्ति—बहि-रंग विषयकषायादि में जो इच्छायुक्त चित्त होता है उसका निवारण करना, निंदा—अपने आपकी साक्षी से दोषों का प्रकट करना, गर्हा—गुरुकी साक्षी से दोषों को प्रकट करना, शुद्धि—कोई भी प्रकार का दोष होजाने पर प्रायश्चित लेकर उसका शोधन करना। इन आठ शुभ विकल्पों वाला शुभ उपयोग यद्यपि मिथ्यात्वादि विषय कषाय परिणति रूप अशुभ उपयोग की अपेक्षा तो विकल्पसहित सराग चारित्र की अवस्था में तो अमृतकुंभ ही है। तो भी जो अवस्था राग द्वेष और मोहभाव तथा ख्याति, पूजा, लाभ व देखे हुये, सुने हुये और अनुभूति में आये हुये ऐसे भोगों की आकांक्षा रूप निदान बंध इत्यादि समस्त पर द्रव्यों के आलंबन से होने वाले सब ही प्रकार के विभाव परिणामों से शून्य है तथा जो चिदानंदैक स्वभाववाले विशुद्ध आत्मा के आलंबन से भरी रहती है और निर्विकल्परूप शुद्धोपयोग लक्षण वाली है एवं जो "अपडिकमणं इत्यादि" गाथा में कहे हुये क्रम से ज्ञानीजनों के द्वारा आश्रय करने योग्य जो निश्चय प्रतिक्रमणादि रूप जो तीसरी अवस्था है उसकी अपेक्षा लिये हुये जो वीतराग चारित्र में स्थित हो रहे हैं उन लोगों के लिये तो उपर्युक्त द्रव्य प्रतिक्रमणादि विषकुंभ ही हैं। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—अप्रतिक्रमण दो प्रकार है एक तो ज्ञानीजनों के आश्रयरूप दूसरा अज्ञानी लोगों के द्वारा आश्रित। उसमें अज्ञानी जनाश्रित अप्रतिक्रमण तो विषय कषाय की परिणतिरूप होता है किन्तु ज्ञानी जनाश्रित अप्रतिक्रमण तो शुद्धात्मा के समीचीन श्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठान स्वरूप त्रिगुप्तिमय होता है। वह ज्ञानी जनाश्रित अप्रतिक्रमण यद्यपि सराग चारित्र है लक्षण जिसका ऐसे शुभोपयोग की अपेक्षा तो अप्रतिक्रमण कहा जाता है किन्तु वीतराग चारित्र की अपेक्षा उसी का नाम निश्चय प्रतिक्रमण है क्योंकि वही शुभ और अशुभ आस्रवरूप दोष के निराकरण रूप होता है इसलिये यही निश्चय प्रतिक्रमण है। यह व्यवहार प्रतिक्रमण की अपेक्षा अप्रतिक्रमण शब्द के द्वारा कहा जाकर भी ज्ञानीजनों के लिये मोक्ष का कारण होता है। व्यवहार प्रतिक्रमण तो यदि शुद्धात्मा को उपादेय मानकर उसी निश्चय प्रतिक्रमण का साधक होने से विषय कषायों से बचने के लिये करता है तो वह परम्परा मोक्ष का कारण होता है

अन्यथा वह फिर स्वर्गादि के सुख का निमित्तभूत पुण्य का ही कारण होता है। अज्ञानीजन संबंधी अप्रतिक्रमण तो मिथ्यात्व और विषय कषायों को परिणिति रूप होने से नरकादि के दुःख का ही कारण है।

इस प्रकार प्रतिक्रमण आदि अष्ट विकल्प रूप शुभोपयोग यद्यपि सविकल्प अवस्था में अमृत कुंभ होता है तो भी सुख दुःख आदि में समताभाव मय परमोपेक्षारूप संयम की अपेक्षा से तो वह विषकुंभ ही है इस प्रकार के व्याख्यान की मुख्यता से इस चतुर्थ स्थल में आठ गाथायें हुई ॥३२६-३२७॥

इति श्री जयसेनाचार्य की बनाई शुद्धात्मा की अनुभूति रूप लक्षण वाली श्री समयसार की तात्पर्यवृत्ति नाम की टीका के हिन्दी अनुवाद बाईस में गाथाओं द्वारा चार अन्तराधिकारों में यह नवम मोक्ष नाम का अधिकार समाप्त हुआ।

दसवां महाधिकार [१०] सर्व विशुद्ध ज्ञान

(मोक्षतत्व चूलिका)

तात्पर्यवृत्तिः—तत्रैवं सति शृंगाररहितपात्रवद्रागादिरहितशांतरसपरिणतशुद्धात्मरूपेण मोक्षो निष्क्रांतः। **अथ प्रविशति सर्वविशुद्धज्ञानं**-संसारपर्यायमाश्रित्याशुद्धोपादानरूपेणाशुद्धनिश्चयनयेन यद्यपि कर्तृत्वभोक्तृत्वबंधमोक्षादिपरिणामसहितो जीवस्तथापि सर्वविशुद्धपारिणामिकपरमभावग्राहकेण शुद्धोपादानरूपेणशुद्धद्रव्यार्थिकनयेन कर्तृत्वभोक्तृत्वबंधमोक्षादिकरणभूतपरिणामशून्य एवेति। **दवियं जं उप्पज्जदि** इत्यादिगाथामादिं कृत्वा चतुर्दशगाथापर्यंतं मोक्षपदार्थचूलिकाव्याख्यानं करोति। तत्रादौ निश्चयेन कर्मकर्तृत्वाभावमुख्यत्वेन सूत्रचतुष्टयं। तदनंतरं शुद्धस्यापि यद्ज्ञानावरणप्रकृतिबंधो भवति तदज्ञानस्य माहात्म्यमिति कथनार्थं **चेदा दु पयडिअट्ठं** इत्यादि प्राकृतश्लोकचतुष्टयं। अतः परं निश्चयेन भोक्तृत्वा भावज्ञापनार्थं **अण्णाणी कम्मफलं** इत्यादिसूत्रचतुष्टयं। तदनंतरं मोक्षचूलिकोपसंहाररूपेण **विकुणदि** इत्यादि सूत्रद्वयं कथयतीति मोक्षपदार्थचूलिकायां समुदायपातनिका।

अथ निश्चयेन कर्मणा कर्ता न भवति—इत्याख्याति—

टीकाः—वहां इस प्रकार शृंगार रहित पात्र के समान रागादि रहित शान्तरस में परिणत शुद्धात्मा के रूप में मोक्ष भी यहां से चला गया।

अब यहां 'सर्व विशुद्ध ज्ञान' प्रवेश करता है। वहां संसार पर्याय का आश्रय लेकर यह जीव अशुद्ध उपादानरूप अशुद्ध निश्चयनय से यद्यपि कर्तापन, भोक्तापन एवं बन्ध और मोक्षादि परिणाम सहित है तो भी सर्व विशुद्ध पारिणामिक रूप परमभाव का ग्राहक जो शुद्ध द्रव्यार्थिक नय है जो कि शुद्ध उपादान रूप है उससे कर्त्तापन, भोक्तापन, बन्ध या मोक्ष आदि कारण भूत परिणामों से रहित है। इसलिये 'दवियं जं उपज्जदि' इत्यादि गाथा को आदि लेकर १४ गाथाओं पर्यन्त मोक्ष पदार्थकी

चूलिका का व्याख्यान करते हैं। वहां सबसे प्रथम कर्म कर्त्तापन के भाव की मुख्यता से चार गाथायें कही हैं। उसके पश्चात् ऐसा कथन करने के लिये कि शुद्ध के भी जो ज्ञानावरणादि प्रकृतियों का बंध होता है वह अज्ञान का ही माहात्म्य है इसे कहने के लिये 'चेदा दु पयडि अट्ठं' इत्यादि चार प्राकृत श्लोक हैं। तत्पश्चात् निश्चय से भोक्तापन का अभाव बताने के लिये "अण्णाणी कम्मफलं" इत्यादि चार सूत्र हैं। उसके पश्चात् मोक्ष चूलिका का उपसंहार करते हुये 'विकुणदि' इत्यादि दो सूत्र हैं। इस प्रकार मोक्ष पदार्थ की चूलिका की यह समुदाय पातनिका है।

अब यहां कहते हैं कि निश्चय से यह जीव कर्मों का कर्त्ता नहीं है:—

दवियं जं उपज्जदि गुणेहिं तं तेहिं जाणसु अणण्णं।
जह कड़यादीहिं दु पज्जएहिं कणयं अणण्णमिह ॥३२८॥
जीवस्साजीवस्स दु जे परिणामा दु देसिदा सुत्ते।
तं जीवमजीवं वा तेहि मणण्णं वियाणाहि ॥३२९॥
ण कुदोचि वि उप्पण्णो जह्मा कज्जं ण तेण सो आदा।
उप्पादेदि ण किंचिवि कारणमवि तेण ण सो होदि ॥३३०॥
कम्मं पडुच्च कत्ता कत्तारं तह पडुच्च कम्माणि।
उप्पज्जंति य णियमा सिद्धी दु ण दिस्सदे अण्णा ॥३३१॥ (चतुष्कम्)

द्रव्यं यदुत्पद्यते गुणैस्तत्तैर्जानीह्यनन्यत्।
यथा कटकादिभिस्तु पर्यायैः कनकमनन्यदिह ॥३२८॥
जीवस्याजीवस्य तु ये परिणामास्तु दर्शिताः सूत्रे।
ते जीवमजीवं वा तैरनन्यं विजानीहि ॥३२९॥
न कुतश्चिदप्युत्पन्नो यस्मात्कार्यं न तेन स आत्मा।
उत्पादयति न किंचित्कारणमपि तेन न स भवति ॥३३०॥
कर्म प्रतीत्य कर्त्ता कर्त्तारं तथा प्रतीत्य कर्माणि।
उत्पद्यंते च नियमात्सिद्धिस्तु न दृश्यतेऽन्या ॥३३१॥

अर्थ—जो द्रव्य अपने गुणों से उपजता है वह उन गुणों से कभी अन्य अर्थात् भिन्न नहीं होता ऐसा हे भव्य! तू जान। जैसे स्वर्ण अपने कड़े आदि पर्यायों से इस लोक में अन्य नहीं है कड़ा आदि ही है। इसी प्रकार सूत्र में जो जीव और अजीव के परिणाम कहे हैं, उन परिणामों से जीव या अजीव को अनन्य समझो अर्थात् जिस द्रव्य के जो परिणाम हैं वे उस द्रव्य स्वरूप ही हैं। अब जब आत्मा न तो किसी अन्य से उत्पन्न ही हुआ है इसलिये वह किसी

का किया हुआ कार्य नहीं है और न किसी अन्य को उत्पन्न भी करता है इसलिये यह किसी का कारण भी नहीं है। क्योंकि कर्म का आश्रय लेकर तो कर्ता होता है और कर्त्ता का आश्रय लेकर कर्म उत्पन्न होते हैं ऐसा नियम है। अन्य प्रकार से कर्ता कर्म की सिद्धि नहीं देखी जाती है।

तात्पर्यवृत्तिः—यथा कनकमिह कटकादिपर्यायैः सहानन्यदभिन्नं भवति तथा द्रव्यमपि यदुत्पद्यते परिणमति। कैः सह ? स्वकीयस्वकीयगुणैः, तद्द्रव्यं तैर्गुणैः सहानन्यदभिन्नमिति जानीहि इति प्रथमगाथा गता। **जीवस्साजीवस्स य जे परिणामा दु देसिदा सुत्ते** जीवस्य अजीवस्य च ये परिणामाः पर्याया देशिताः कथिताः सूत्रे परमागमे तैःसह तेनैव पूर्वोक्तसुवर्णदृष्टांतेन तमेव जीवाजीवद्रव्यमनन्यदभिन्नं विजानीहीति द्वितीयगाथा गता। यस्माच्छुद्धनिश्चयनयेन नरनारकादिविभावपर्यायरूपेण कदाचिदपि नोत्पन्नः—कर्मणा न जनितः तेन कारणेन कर्मनोकर्मापेक्षयात्मा कार्यं न भवति। न च तत्कर्मनोकर्मोपादानरूपेण किमप्युत्पादयति तेन कारणेन कर्मनोकर्मणां कारणमपि न भवति, यतः कर्मणां कर्ता मोचकश्च न भवति ततः कारणाद्बंधमोक्षयोः शुद्धनिश्चयनयेन कर्ता न भवतीति तृतीयगाथा गता **कम्मं पडुच्च कत्ता कत्तारं तह पडुच्च कम्माणि उप्पज्जंते णियमा** यतः पूर्वं भणितं सुवर्णद्रव्यस्य कुंडलपरिणामेनेव सह जीवपुद्गलयोः स्वपरिणामैः सहैवानन्यत्वमभिन्नत्वं। पुनश्चोक्तं कर्मनोकर्मभ्यां कर्तृभूताभ्यां जीवो नोत्पाद्यते जीवश्च कर्मनोकर्मणी नोत्पादयति ततो ज्ञायते कर्म प्रतीत्योपचारेण जीवः कर्मकर्ता। तथा कर्माणि चोत्पद्यंते जीवकर्तारमाश्रित्योपचारेण नियमान्निश्चयात् संदेहो नास्ति **सिद्धी दु ण दिस्सदे अण्णा** अनेन प्रकारेण, अनेन कोऽर्थः ? परस्परनिमित्तंभावं विहाय शुद्धोपादानरूपेण शुद्धनिश्चयेन जीवस्य कर्मकर्तृत्वविषये। सिद्धिर्निष्पत्तिर्घटना न दृश्यते कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलानां च कर्मत्वं न दृश्यते ततःस्थितं शुद्धनिश्चयनयेनाकर्ता जीव इति चतुर्थगाथा गता। एवं निश्चयेन जीवः कर्मणां कर्ता न भवतीति व्याख्यानमुख्यत्वेन प्रथमस्थले गाथाचतुष्टयं गतं।

अथ शुद्धस्यात्मनो ज्ञानावरणादिप्रकृतिभिर्यद्बंधो भवति तदज्ञानस्य माहात्म्यमिति प्रज्ञापयति—

टीकाः—जैसे स्वर्ण यहां पर अपनी कटकादि पर्यायों से अनन्य अर्थात् भिन्न नहीं है वैसे ही द्रव्य भी जो उत्पन्न होता हैं, परिणमन करता है, वह अपने गुणों के साथ अनन्य अर्थात् अभिन्नरूप से ही उत्पन्न होता है यह पहली गाथा हुई। (जीवस्साजीवस्स दु जे परिणामा दु देसिदा सुत्ते) जीव द्रव्य और अजीव द्रव्य के भी परिणाम या पर्याय जो सूत्ररूप परमागम में बताये हैं, उपर्युक्त दृष्टांत के अनुसार उन परिणामों के साथ यह जीव या अजीव द्रव्य अनन्य अभिन्न ही होता है ऐसा हे भव्य ! तुम समझो यह दूसरी गाथा हुई। क्योंकि शुद्ध निश्चयनय से यह जीव नरनारकादि विभाव पर्यायों के रूप में पैदा नहीं हुआ अर्थात् कर्मों के द्वारा आत्मा पैदा नहीं हुआ है इसलिये आत्मा कर्म नो कर्मों का कार्य नहीं है। वैसे ही आत्मा उपादान के रूप में किसी भी कर्म और नो कर्म को भी उत्पन्न नहीं करता है इसलिये कर्म और नोकर्मो का कारण भी वह नहीं है। क्योंकि आत्मा कर्मों का कर्ता भी नहीं है तो मोचक भी नहीं है इसलिये आत्मा शुद्ध निश्चयनय से बन्ध और मोक्ष दोनों का ही कर्ता नहीं है। यह तीसरी गाथाका अर्थ हुआ। (कम्मं पडुच्च कत्ता कत्तारं तह पडुच्च कम्माणि उप्पज्जंति य णियमा) जैसाकि पहले कहा है कि स्वर्ण का कुण्डलादि रूप परिणाम के साथ में अभिन्न संबंध है वैसे ही जीव और पुद्गल का भी अपने परिणामों के साथ अभिन्नपना है। और कर्तारूप कर्म और नोकर्म के द्वारा जीव पैदा नहीं किया जाता है वैसे ही कर्म और नोकर्म को जीव पैदा नहीं करता हैं। इस पर से यह जाना जाता है कि कर्म को प्रतीतिमें लाकर उपचार से जीव कर्म का कर्त्ता होता है तथा जीव को कर्त्तारूप में आश्रय करके उपचार से कर्म उत्पन्न होते हैं ऐसा नियम है निश्चय है इसमें संदेह नहीं है। (सिद्धी

दु ण दिस्सदे अण्णा) इस प्रकार परस्पर के निमित्त भाव को छोड़कर शुद्ध उपादान रूप से शुद्ध निश्चय-नय से जीव के कर्म कर्तापने के विषय में सिद्धी नहीं होती है अर्थात् बात घटित होती नहीं देखी जाती, तथा कर्म वर्गणा योग्य पुद्गलों को भी कर्मपना और प्रकार से नहीं देखा जाता इसलिये यह बात सिद्ध हुई कि शुद्ध निश्चयनय से जीव कर्मों का कर्ता नहीं है यह चौथी गाथा हुई। इस प्रकार निश्चयनय से जीव कर्मों का कर्ता नहीं है इस प्रकार के व्याख्यान की मुख्यता से प्रथम स्थल में चार गाथायें पूर्ण हुई ।। ३२८-३२९-३३०-३३१ ।।

विशेषार्थ:—निश्चयनय तादात्म्य संबंध को लेकर वर्णन करता है उसकी दृष्टि में संयोग संबंध गौण होता है। ज्ञानावरणादि कर्म और आत्मा का यदि कोई संबंध है तो वह संयोग संबंध है इसलिये निश्चयनय की दृष्टि में वह नहीं है। अंत निश्चयनय की दृष्टि में कर्म नहीं है और आत्मा उनका कर्ता नहीं है अपितु इस दृष्टि में तो आत्मा का स्वयं का परिणाम ही उसका कर्म है और आत्मा उसका कर्ता है क्योंकि उसका उसी के साथ तादात्म्य संबंध है।

ज्ञानावरणादि कर्म प्रकृतियों का आत्मा के साथ बंध है वह अज्ञान का ही माहात्म्य है ऐसा बताते हैं—

चेदा दु पयडियट्ठं उप्पज्जइ विणस्सदि ।
पयडीवि चेययट्ठं उप्पज्जदि विणस्सदि ।।३३२।।
एवं बंधोदु दुण्हंपि अण्णोण्णप्पच्चया हवे ।
अप्पणो पयडीए य संसारो तेण जायदे ।।३३३।।

चेतयिता तु प्रकृत्यर्थमुत्पद्यते विनश्यति ।
प्रकृतिरपि चेतकार्थमुत्पद्यते विनश्यति ।।३३२।।
एवं बंधस्तु द्वयोरपि अन्योन्यप्रत्ययोर्भवेत् ।
आत्मनः प्रकृतेश्च संसारस्तेन जायते ।।३३३।।

अर्थ—चेतयिता आत्मा तो ज्ञानावरणादि कर्म प्रकृतियों के निमित्त से उपजता है और नाश को प्राप्त होता है। प्रकृति भी इस चेतनेवाले आत्मा के लिये उपजती है और नाश को प्राप्त होती है। आत्मा के परिणामों के निमित्त से उसी प्रकार परिणमती है। इस प्रकार दोनों आत्मा और प्रकृति के परस्पर निमित्त से बंध होता हैं और उस बंध से संसार उत्पन्न होता हैं ।।३३२-३३३।।

तात्पर्यवृत्ति:—चेदा आत्मा स्वस्थभावच्युतः सन् प्रकृतिनिमित्तं कर्मोदयनिमित्तमुत्पद्यते। विनश्यति च विभाव-परिणामैः पर्यायैः। प्रकृतिरपि चेतयितृकार्यं जीवसंबंधिरागादिपरिणामनिमित्तं ज्ञानावरणादिकर्मपर्यायैरुत्पद्यते विनश्यति च। एवं पूर्वोक्तप्रकारेण बंधो जायते द्वयोः—स्वस्थभावच्युतस्यात्मनः, कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलपिंडरूपाया ज्ञानावरणादि-प्रकृतेश्च। कथंभूतयोर्द्वयोः ? अन्योऽन्यप्रत्ययोः, परस्परनिमित्तकारणभूतयोः। एवं रागाद्यज्ञानभावेन बंधो भवति तेन बंधेन संसारो जायते, न च स्वस्वरूपत इत्युक्तं भवति।

अथ यावत्कालं शुद्धात्मसंवित्तिच्युतः सन् प्रकृत्यर्थं प्रकृत्युदयरूपं रागादिकं न मुंचति तावत्कालमज्ञानी स्यात् तदभावे ज्ञानी च भवतीत्युपदिशति—

टीका:—स्वस्थभाव से च्युत होता हुआ आत्मा प्रकृति के निमित्त से अर्थात् कर्मोदय का निमित्त पाकर अपने विभाव परिणामों से उत्पन्न भी होता है और नाश को प्राप्त होता है। प्रकृति भी इस चेतयिता के लिये जीव संबंधी रागादि परिणामों का निमित्त पाकर ज्ञानावरणादिरूप कर्म पर्यायों के द्वारा उपजती है और नाश को प्राप्त होती है। इस प्रकार स्वस्थभाव से च्युत आत्मा का और कर्म वर्गणा योग्य पुद्गलपिण्डरूप ज्ञानावरणादि प्रकृति का भी पूर्वोक्त रीति से बंध होता है। उनका बंध कैसे होता है? कि अन्योन्य रूप से एक दूसरे में परस्पर निमित्त कारण रूप वालों का बंध होता है इस प्रकार रागादिरूप अज्ञान भाव से बंध होता है और उस बंध से संसार होता है। तात्पर्य यह है कि अपने स्वरूप से बंध नहीं होता है ।।३३२-३३३।।

विशेषार्थ:—आचार्य देव ने बतलाया है कि परमार्थ से तो आत्मा के और प्रकृति के कर्ता कर्म पने का अभाव है तो भी परस्पर में निमित्त नैमित्तिक रूप से कर्ता कर्मपना भी है जिससे बंध है एवं उसी से संसार है।

आगे यह बताते हैं कि शुद्धात्मा की संवित्ति से च्युत हुआ जीव जब तक प्रकृति के अर्थ को अर्थात् कर्मोदय से होने वाले रागादिभाव को नहीं छोड़ता है तब तक अज्ञानी रहता है किन्तु उन रागादि के अभाव में ज्ञानी होता है।

जा एस पयडीयट्ठं चेया णेव विमुंचए।
अयणाओ हवे ताव मिच्छाइट्ठी असंजओ ।।३३४।।
जया विमुञ्चए चेया कम्मप्फल मणंतयं।
तया विमुत्तो हवइ जाणओ पासओ मुणी ।।३३५।।

यावदेष प्रकृत्यर्थं चेतयिता नैव विमुञ्चति।
अज्ञायको भवेत्तावन्मिथ्यादृष्टिरसंयतः ।।३३४।।
यदा विमुञ्चति चेतयिता कर्मफलमनंतकं।
तदा विमुक्तो भवति ज्ञायको दर्शको मुनिः ।।३३५।।

अर्थ—यह जीव जब तक उपर्युक्त प्रकृति के अर्थ को अर्थात् कर्मोदय से होने वाली रागादिरूप परिणति को नहीं छोड़ता है तब तक अज्ञायक रहता है, मिथ्यादृष्टि तथा असंयत होता है। जब यह आत्मा अनंत भेद वाले कर्म के फल को छोड़ देता है, उसे नहीं भोगता है, उस समय बंध से रहित हुआ ज्ञाता, द्रष्टा और संयमी होता है ।।३३४-३३५।।

तात्पर्यवृत्ति:—यावत्कालमेष चेतयिता जीवः, चिदानंदैकस्वभावपरमात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुभवरूपाणां सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणामभावात्प्रकृत्यर्थं रागादिकर्मोदयरूपं न मुंचति, तावत्कालं रागादिरूपमात्मानं श्रद्दधाति जाना-

त्यनुभवति च ततो मिथ्यादृष्टिर्भवति, अज्ञानी भवति, असंयतश्च भवति, तथा भूतःसन् मोक्षं न लभते। यदा पुनरयमेव चेतयिता मिथ्यात्वरागादिरूपं कर्मफलं शक्तिरूपेणानंतं विशेषेण सर्वप्रकारेण मुंचति तदा शुद्धबुद्धैकस्वभावात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुभवरूपाणां सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणां सद्भावात् लाभान्मिथ्यात्वरागादिभ्यो भिन्नमात्मानं श्रद्दधाति जानात्यनुभवति च। ततः सम्यग्दृष्टिर्भवति, ज्ञानी भवति संयतो मुनिश्च भवति तथाभूतः सन् विशेषेण द्रव्यभावगतमूलोत्तरप्रकृतिविनाशेन मुक्तो भवतीति। एवं यद्यप्यात्मा शुद्धनिश्चयेन कर्ता न भवति तथाप्यनादिकर्मबंधवशान्मिथ्यात्वरागाद्यज्ञानभावेन कर्म बध्नातीति अज्ञानसामर्थ्यज्ञापनार्थं द्वितीयस्थले सूत्रचतुष्टयं गतं—

अथ शुद्धनिश्चयनयेन कर्मफलभोक्तृत्वं जीवस्वभावो न भवति, कस्मात् ? अज्ञानस्वभावत्वात्—इति कथयति—

टीका:—जब तक यह चेतक स्वभाववाला जीव चिदानंद एक स्वभाव है जिसका ऐसे परमात्मा के समीचीन श्रद्धान, ज्ञान और अनुभवरूप सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और साम्यक चारित्र के अभाव से प्रकृति के अर्थ को अर्थात् कर्मोदय रूप रागादिक को नहीं छोड़ता है तब तक वह आत्मा को रागादिरूप ही मानता है, रागादिरूप ही जानता है, और रागादिरूप ही अनुभवता है इसलिये मिथ्यादृष्टि होता है, अज्ञानी होता है और असंयत होता है इस प्रकार होता हुआ वह मोक्ष को नहीं पाता है। किन्तु जब वही चेतयिता शक्ति रूपसे अनन्त विशेष भेदवाले मिथ्यात्व रागादिरूप कर्मफल को सर्व प्रकार से छोड़ देता है उस समय शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव जो आत्म तत्व उसका सम्यक्श्रद्धान, ज्ञान और अनुभव रूप जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान, और चारित्र के सद्भाव होने से मिथ्यात्व और रागादि से भिन्न आत्मा को मानने, जानने और अनुभव करने लगता है तब वह सम्यग्दृष्टि, सम्यग्ज्ञानी, और संयत मुनि होता है। ऐसा होता हुआ विशेष प्रकार से वह द्रव्य और भाव रूप से होनेवाली मूल और उत्तर प्रकृति के नाश से मुक्त हो जाता है। यद्यपि शुद्ध निश्चय नय से देखें तो आत्मा कर्ता नहीं है फ़िर भी अनादि कालीन कर्मबंध के वश से मिथ्यात्व और रागादि रूप अज्ञान भाव के द्वारा कर्म बंध करता ही है। इस प्रकार अज्ञान की सामर्थ्य बतलाने के लिये चार गाथाएं कही गईं ॥ ३३४-३३५ ॥

आगे यह बतलाते हैं कि शुद्ध निश्चयनय से कर्मफल को भोगते रहना जीव का स्वभाव नहीं हैं क्योंकि वह तो अज्ञान भाव है:—

अण्णाणी कम्मफलं पयडिसहावट्ठिदो दु वेदेदि।
णाणी पुण कम्मफलं जाणदि उदिदं ण वेदेदि ॥३३६॥

अज्ञानी कर्मफलं प्रकृतिस्वभावस्थितस्तु वेदयते।
ज्ञानी पुनः कर्मफलं जानाति उदितं न वेदयते ॥३३६॥

अर्थ—अज्ञानी (प्रमादी) जीव कर्म के फल को प्रकृति के स्वभाव में स्थित होता हुआ भोगता है परन्तु ज्ञानी (प्रमाद रहित) जीव उदय में आये हुए कर्म के फल को जानता मात्र है भोगता नहीं है ॥ ३३६ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—**अण्णाणी कम्मफलं पयडिसहावट्ठिदो दु वेदेदि** विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपाभेदरत्नत्रयात्मकभेदज्ञानस्याभावादज्ञानी जीवः उदयागतकर्मप्रकृतिस्वभावे सुखदुःखस्वरूपे स्थित्वा हर्षविषादाभ्यां तन्मयो भूत्वा कर्मफलं वेदयत्यनुभवती। **णाणी पुण कम्मफलं जाणदि उदिदं ण वेदेदि**

ज्ञानी पुनः तन्मयो भूत्वा पूर्वोक्तभेदज्ञानसद्भावात् वीतरागसहजपरमानंदरूपसुखरसास्वादेन परमसमरसीभावेन परिणतः सन् कर्मफलमुदितं वस्तुस्वरूपेण जानात्येव न च हर्षविषादाभ्यां तन्मयो भूत्वा वेदयतीति ।

अथाज्ञानी जीवः सापराधः सशंकितः सन् कर्मफलं तन्मयो भूत्वा वेदयति, यस्तु निरपराधो ज्ञानीस कर्मोदये सति किं करोति ? इति कथयति—

टीका:—(अण्णाणी कम्मफलं पयडिसहावट्ठिदो दु वेदेदि) विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभाव वाले आत्मतत्व के समीचीन श्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठानरूप अभेद रत्नत्रय स्वरूप भेदज्ञान के न होने से (न रहने से) अज्ञानी जीव उदय में आए हुए कर्म प्रकृति के स्वभाव में अर्थात् सुख दुःख रूप में स्थित होकर हर्ष विषादमय होकर उस कर्म के फल को वेदता है, अनुभव करता है। (णाणी पुण कम्मफलं जाणदि उदिदं ण वेददि) और ज्ञानी तो पूर्वोक्त भेदज्ञान के सद्भाव से वीतराग सहज परमानन्दस्वरूप सुखरस के आस्वादन द्वारा परम समरसी भाव रूप में परिणत होता हुआ, उदय में आये हुए फल को वस्तु का जैसा स्वरूप है उसी प्रकार जानता ही है। किन्तु हर्ष विषादमय होकर उसे वेदता अर्थात् भोगता नहीं है ।। ३३६ ।।

विशेषार्थ:—ज्ञानी उदय में आये हुए कर्म फल को जानता है किन्तु अज्ञानी उसे वेदता है। यहां प्रश्न हो सकता है कि जानना और वेदना दोनों का अर्थ यदि एक है तो फिर अन्तर क्या है ? उत्तर यह है कि अमुक वस्तु घडी आदि है, यह तो जानना हुआ पर इसमें अच्छे बुरेपन की मान्यता या विचार आता है वह उसका वेदना या भोगना कहलाता है। अज्ञानी जीव राग द्वेषवान होता है अतः वह जिस वस्तु को भी देखता जानता है उसे अच्छी या बुरी मानकर उसमें हर्ष विषाद कर बैठता है एवं नूतन कर्म बन्ध करता हुआ संसार में फंसा ही रहता है। किन्तु ज्ञानी विरागी जीव प्रसंग प्राप्त वस्तु को देखता जानता मात्र है पर उसमें अच्छा बुरापन न मानकर हर्ष विषाद नहीं करता अतः नूतन कर्म बन्ध नहीं करता यही अन्तर है।

अज्ञानी जीव अपराधी होता है इसलिये वह सशंकित होता हुआ कर्मफल को तन्मय होकर भोगता है किन्तु निरपराध ज्ञानी (समाधि स्थित) होता है वह कर्मोदय होने पर क्या करता है सो बताते हैं:—

जो पुण णिरवराहो चेदा णिस्संकिदो दु सो होदि ।
आराहणाए णिच्चं वट्टदि अहमिदि वियाणंतो ।।३३७।।

यः पुनर्निरपराधश्चेतयिता निःशंकितस्तु स भवति ।
आराधनया नित्यं वर्त्तते अहमिति विजानन् ।।३३७।।

अर्थ—जो अपराध रहित आत्मा होता है वह निश्शंक होता है वह अपने आपको जानता अनुभव करता हुआ निरन्तर आराधना में ही तत्पर होता है ।। ३३७ ।।

तात्पर्यवृत्तिः-**जो पुण णिरवराहो चेदा णिस्संकिदो दु सो होदि** यस्तु चेतयिता ज्ञानी जीवः स निरपराधः सन् परमात्माराधनविषये निश्शंको भवति । निश्शंको भूत्वा किं करोति ? **आराहणाए णिच्चं वट्टदि अहमिदि**

वियाणंतो निर्दोषपरमात्माराधनारूपया निश्चयाराधनया नित्यं सर्वकालं वर्तते । किं कुर्वन् ? अनंतज्ञानादिरूपोऽहमिति निर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा शुद्धात्मानं सम्यग्जानन् परमसमरसी भावेन-चानुभवति इति ।

अज्ञानी कर्मणां नियमेन वेदको भवतीति दर्शयति—

टीका:—(जो पुण णिरवराहो चेदा णिस्संकिदो दु सो होदि) जो चेतयिता ज्ञानी जीव निरपराध होता हुआ परमात्मा के आराधन में निश्शंक होता है। वह निश्शंक होकर क्या करता है ? कि (आराहणाए णिच्चं वट्टदि अहमिदि वियाणंतो) निर्दोष परमात्मा की आराधना तत्स्वरूप जो निश्चय आराधना उससे युक्त होकर निरन्तर सदा काल रहता है। क्या करता हुआ रहता है कि मैं अनन्त ज्ञानादि स्वरूप हूं इस प्रकार विचार करके निर्विकल्प समाधि में स्थित होकर शुद्ध आत्मा को अच्छी प्रकार से जानता हुआ वह परम समरसी भाव के द्वारा उसी का अनुभव करता रहता है ॥३३७॥

अब यहां बताते हैं कि अज्ञानी जीव नियम से कर्मों का वेदक ही होता है:—

ण मुयदि पयडिमभव्वो सुट्ठुवि अज्झाइदूण सत्थाणि ।
गुडदुद्धंपि पिबंता ण पण्णया णिव्विसा हुंति ॥३३८॥

न मुंचति प्रकृतिमभव्यः सुष्ठुवपि अधीत्य शास्त्राणि ।
गुडदुग्धमपि पिबंतो न पन्नगा निर्विषा भवंति ॥३३८॥

अर्थ—शास्त्रों को अच्छी प्रकार पढ़ करके भी अभव्य जीव कर्मोदय के स्वभाव को नहीं छोड़ता अर्थात् उसकी प्रकृति नहीं बदलती जैसे गुड़ सहित दूध को पीते हुये भी सर्प निर्विष नहीं होते हैं ॥३३८॥

तात्पर्यवृत्ति:—यथा पन्नगा सर्पाः शर्करासहितं दुग्धं पिबंतोऽपि निर्विषा न भवंति तथा ज्ञानी जीवो मिथ्यात्वरागादिरूपकर्मप्रकृत्युदयस्वभावं न मुंचति। किं कृत्वापि ? अधीत्यापि । कानि ? शास्त्राणि । कथं सुट्ठुवि सुष्ट्विपि । कस्मान्न मुंचति ? वीतरागस्वसंवेदनज्ञानाभावात् कर्मोदये सति मिथ्यात्वरागादीनां तन्मयो भवति यतः कारणात् इति ।

ज्ञानी कर्मणां नियमेन निश्चयेन वेदको न भवतीति दर्शयति—

टीका:—जैसे पन्नग अर्थात् सांप शक्कर सहित दूध पीकर भी विष रहित नहीं होते हैं उसी प्रकार अज्ञानी जीव मिथ्यात्व रागादिरूप कर्म प्रकृति के उदय स्वभाव को नहीं छोड़ता है। क्या करके नहीं छोड़ता है कि शास्त्रों को अच्छे प्रकार पढ़ करके भी अपने दुष्ठ स्वभाव को नहीं छोड़ता है क्योंकि उसके वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान का अभाव रहता है इसलिये कर्मोदय के होने पर मिथ्यात्व और रागादि में तन्मय होता है ॥ ३३८ ॥

ज्ञानी जीव नियम से निश्चय से कर्मफल का वेदक नहीं होता है यह बतलाते हैं:—

णिव्वेयसमावण्णो णाणी कम्मप्फलं वियाणेइ ।
महुरं कडुयं बहुविहमवेयओ तेण पण्णत्तो ॥३३९॥

निर्वेद समापन्नो ज्ञानी कर्म फलं विजानाति।
मधुरं कटुकं बहुविधमवेदको तेन प्रज्ञप्तः ॥३३९॥

अर्थ—ज्ञानी जीव निर्वेद समापन्न अर्थात् वैराग्य सहित होता है इसलिये वह यद्यपि मीठा या कडुवा आदि अनेक प्रकार वाले कर्मफल को जानता है फिर भी वह उसका भोक्ता अर्थात् अनुभव करने वाला नहीं होता है ॥३३९॥

तात्पर्यवृत्तिः—**णिव्वेदसमावण्णो णाणी कम्मप्फलं वियाणादि** परमतत्त्वज्ञानी जीवः संसारशरीर-भोगरूपत्रिविधवैराग्यसंपन्नो भूत्वा शुभाशुभकर्मफलमुदयागतं वस्तु, वस्तुस्वरूपेण विशेषण निर्विकारस्वशुद्धात्मनो भिन्नत्वेन जानाति। कथं भूतं जानाति ? **महुरं कडुवं बहुविहमवेदको तेण पण्णत्तो** अशुभकर्मफलं निंबकांजीर-विषहलाहलरूपेण कटुकं जानाति। शुभकर्मफलं बहुविधं गुडखंडशर्करामृतरूपेण मधुरं जानाति। न च शुद्धात्मोत्थसहज-परमानन्दरूपमतींद्रियसुखं विहाय पंचेन्द्रियसुखे परिणमति, तेन कारणेन ज्ञानी वेदको भोक्ता न भवतीति नियमः। एवं ज्ञानी शुद्धनिश्चियेन शुभाशुभकर्म फलभोक्ता न भवतीति व्याख्यानमुख्यत्वेन तृतीयस्थले सूत्रचतुष्टयं गतं।

अथ निरुपराग शुद्धात्मानुभूति लक्षण भेद ज्ञानी कर्म न करोति न च वेदयति इति प्रकाशयतिः—

टीका—(णिव्वेद समावण्णो णाणी कम्मप्फलं वियाणादि) परम तत्वज्ञानी जीव संसार शरीर और भोग इन तीनों से वैराग्य सम्पन्न होकर उदय में आये हुए शुभाशुभ कर्म के फल को जैसा जिस वस्तु का स्वरूप है उसी रूप से ठीक प्रकार जानता है किन्तु निर्विकार अपनीं शुद्धात्मा से विशेष रूप से भिन्न जानता है। कैसे जानता है कि (महुरं कडुयं बहुविहमवेदको तेण पण्णत्तो) अशुभ कर्म के फल को नीम, कांजी, विष और हलाहल के रूप में कडुवा जानता है और शुभ कर्म के फल को अनेक प्रकार का गुड़, खाण्ड, शक्कर और अमृत के रूप में मीठा जानता है। फिर भी वह शुद्ध आत्मा से उत्पन्न हुए सहज परमानन्द रूप अतीन्द्रिय सुख को छोड़कर पंचेन्द्रिय के सुख में कभी परिणमन नहीं करता इसलिये ज्ञानी जीव उसका वेदक अर्थात् भोक्ता नहीं होता यह नियम है। इस प्रकार शुद्ध निश्चयनय से (अर्थात् परम समाधि में लगे रहने से) ज्ञानी जीव शुभ या अशुभ कर्म के फल का भोक्ता नहीं होता इस प्रकार के व्याख्यान की मुख्यता से इस तीसरे स्थल में चार सूत्र कहे गये ॥३३९॥

विशेषार्थः-ज्ञानी तो परम समाधि में निरत रहता है तब उसने आत्मानुभव के सिवा और सब कुछ करना छोड़ ही दिया है। रही भोक्तापन की बात सो वह जब शुद्धात्मा के अनुभव में तल्लीन है तब इतर सब बाह्य पदार्थों से अत्यन्त विरक्त है ऐसी दशा में भोक्तापन भी कैसे संभव हो सकता है। इस प्रकार जब कर्त्तापन और भोक्तापन भी नहीं है तब वह तो जानता मात्र है सो वह उसका सहज स्वभाव है एवं वह सब प्रकार की झंझटों से मुक्त होकर आत्मतल्लीन रहता है जैसाकि श्री अमृतचन्द्राचार्य भी अपने कलश में बताते हैं—

ज्ञानी करोति न न वेदयते च कर्म जानाति केवलमयं किल तत्स्वभावं।
जानन्परं करणवेदनयोरभावात् शुद्ध स्वभाव नियतः स हि मुक्त एव ॥१९८॥

भाव इसका ऊपर स्पष्ट है।

राग रहित शुद्धात्मानुभूति है लक्षण जिसका ऐसा भेदज्ञानी जीव न कर्मों को करता हैं और न भोगता है:—

ण वि कुव्वदि णवि वेददि णाणी कम्माइ बहु पयाराइ ।
जाणदि पुण कम्मफलं बंधं पुण्णं च पावं च ।।३४०।।

नापि करोति नापि वेदयते ज्ञानी कर्माणि बहुप्रकाराणि ।
जानाति पुनः कर्मफलं बंधं पुण्यं च पापं च ।।३४०।।

अर्थ—ज्ञानी अनेक प्रकार के कर्मों को न तो करता ही है और न भोगता ही है परन्तु कर्म के बंधको तथा कर्मफल पुण्य और पाप को जानता ही है ।।३४०।।

तात्पर्यवृत्तिः—**णवि कुव्वदि णवि वेददि णाणी कम्माइ बहुपयाराइ** त्रिगुप्तिगुप्तिबलेन ख्यातिपूजालाभदृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षारूपानिदानबंधादिसमस्तपरद्रव्यालंबनशून्येनानंतज्ञानदर्शनसुखवीर्यस्वरूपेण सालंबने भरितावस्थे निर्विकल्पसमाधौ स्थितो ज्ञानी कर्माणि बहुप्रकाराणि ज्ञानावरणादिमूलोत्तरप्रकृतिभेदभिन्नानि निश्चयनयेन करोति न च तन्मयो भूत्वा वेदयत्यनुभवति । तर्हि किं करोति ? **जाणदि पुण कम्मफलं बंधं पुण्णं च पावं च** परमात्मभावनोत्थसुखे तृप्तो भूत्वा वस्तुस्वरूपेण जानात्येव । किं जानाति ? सुखदुःखस्वरूपकर्मफलं प्रकृतिबंधादिभेदभिन्नं पुनः कर्मबंधं, सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्ररूपं पुण्यं, अतोऽन्यदसद्वेद्यादिरूपं पापं चेति ।

तमेव कर्तृत्वभोक्तृत्वाभावं विशेषेण समर्थयति—

टीका:—(णवि कुव्वदि णाणी कम्माइ बहुपयाराइ) ज्ञानी त्रिगुप्ति में गुप्त हो रहने रूप बल के द्वारा ख्याति, पूजा, लाभ, एवं देखे, सुने और अनुभूति में आये ऐसे भोगों की आकांक्षारूप निदानबंध इत्यादिरूप समस्त परद्रव्य के आलम्बन से शून्य ऐसा अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख वीर्यस्वरूप के द्वारा भरे हुये के समान स्वावलंबन ऐसी निर्विकल्प समाधि में जो स्थित है वह नाना प्रकार के ज्ञानावरणादि रूप मूल प्रकृति एवं मतिज्ञानादि रूप उत्तर प्रकृति के भेद से जो विभिन्न प्रकार के हैं उन कर्मों को निश्चय नय के द्वारा न तो करता ही है और न तन्मय होकर उसको वेदता अनुभवता ही है । फिर क्या करता है ? कि (जाणदि पुण कम्मफलं बंधं पुण्णं च पावं च) परमात्मा की भावना से उत्पन्न हुये सुखमें तृप्त होकर जैसा जिस वस्तु का स्वरूप है उस रूप से जानता है । किसको जानता है ? कि सुख दुःख स्वरूप कर्म के फल को, प्रकृति बंधाधि के भेद से अनेक प्रकार होने वाले कर्म के बंध को, तथा साता वेदनीय, शुभायु, शुभनाम, शुभगोत्ररूप पुण्य को व इससे अन्य विपरीत असाता वेदनीय आदि रूप पाप को भी जानता है ।।३४०।।

अब इसी कर्त्तृत्व व भोक्तृत्व के अभाव का दृष्टांत पूर्वक समर्थन करते हैं:—

दिट्ठी सयंपि णाणं अकारयं तह अवेदयं चेव ।
जाणदि य बंधमोक्खं कम्मुदयं णिज्जरं चेव ।।३४१।।

दृष्टिः स्वयमपि ज्ञानमकारकं तथाऽवेदकं चैव ।
जानाति च बंधमोक्षं कर्मोदयं निर्जरां चैव ।।३४१।।

अर्थ—जैसे चक्षु देखने योग्य पदार्थ को देखता ही है उसका कर्ता तथा भोक्ता नहीं होता है उसी प्रकार ज्ञान भी बंध, मोक्ष, कर्मोदय के उदय, तथा कर्मों की निर्जरा को जानता ही है, कर्ता भोक्ता नहीं होता ॥३४१॥

तात्पर्यवृत्तिः—दिट्ठी सयंपि णाणं अकारयं तह अवेदयं चेव यथा दृष्टिः कर्त्री दृश्यमग्नि रूपं वस्तुसंधुक्षणं पुरुषवन्न करोति तथैव च तप्तायःपिंडवदनुभवरूपेण न वेदयति । तथा शुद्धज्ञानमप्यभेदेन शुद्धज्ञानपरिणतजीवो वा स्वयं शुद्धोपादानरूपेण न करोति न च वेदयति । अथवा पाठांतरं **दिट्ठी खयंपि णाणं** तस्य व्याख्यानं—न केवलं दृष्टिः क्षायिकज्ञानमपि निश्चयेन कर्मणामकारकं तथैवा वेदकमपि । तथाभूतः सन् किं करोति ? **जाणदि य बंधमोक्खं** जानाति च कौ ? बंधमोक्षौ न केवलं बंधमोक्षौ **कम्मुदयं णिज्जरं चेव** शुभाशुभरूपं कर्मोदयं सविपाकाविपाकरूपेण सकामाकामरूपेण वा द्विधा निर्जरा चैव जानाति इति । एवं सर्वविशुद्धपारिणामिकपरमभावग्राहकेण शुद्धोपादानभूतेन शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन कर्तृत्व–भोक्तृत्व-बंध-मोक्षादिकारणपरिणामशून्यो जीव इति सूचितं । समुदायपातनिकायां पश्चाद्-गाथाचतुष्टयेन जीवस्याकर्तृत्वगुणव्याख्यानमुख्यत्वेन सामान्यविवरणं कृतं । पुनरपि गाथाचतुष्टयेन शुद्धस्यापि यत्प्रकृतिभिर्बन्धो भवति तदज्ञानस्य माहात्म्यमित्यज्ञानानसामर्थ्यकथनरूपेण विशेषविवरणं कृतं । पुनश्च गाथाचतुष्टयेन जीवस्याभोक्तृत्वगुणव्याख्यानमुख्यत्वेन व्याख्यानं कृतं । तदनंतरं शुद्धनिश्चयेन तस्यैव कर्तृत्वबंधमोक्षादिककारणपरिणामवर्जनरूपस्य द्वादशगाथाव्याख्यानस्योपसंहाररूपेण गाथाद्वयं गतं ।

इति **श्री जयसेनाचार्य कृतायां** समयसारव्याख्यायां शुद्धात्मानुभूतिलक्षणायां **तात्पर्यवृत्तौ मोक्षाधिकारसंबंधिनी** चूलिका समाप्ता । अथवा द्वितीयव्याख्यानेनात्र मोक्षाधिकारः समाप्तः ।

टीकाः—(दिट्ठी सयंपि णाणं अकारयं तह अवेदयं चेव) जैसे चक्षु अग्निरूप दृश्य को देखता है किन्तु जलाने वाले पुरुष के समान वह उसे जलाता नहीं है, तथा तप्तायमान लोहपिंड के समान वह उसे अनुभवरूप से वेदता भोक्ता भी नहीं है । वैसे शुद्ध ज्ञान भी अथवा अभेद विवक्षा से शुद्धज्ञान में परिणत हुआ जीव भी शुद्ध उपादान रूप से (अन्य द्रव्यों को) न करता ही है और न वेदता ही है (अनुभवता ही है) । अथवा दूसरा पाठ यह है (दिट्ठी खयंपि णाणं) इसका अर्थ यह है कि केवल मात्र दृष्टि ही नहीं किन्तु क्षायिक ज्ञान भी निश्चय रूप से कर्मों का नहीं करने वाला और नहीं वेदनेवाला (अनुभवनेवाला) होता है । ऐसा होता हुआ वह क्या करता है ? कि (जाणदि य बंध मोक्खं) बंध और मोक्ष को जानता है । केवल बंध मोक्ष को ही नहीं किन्तु (कम्मुदयं णिज्जरं चेव) शुभाशुभ रूप कर्म के उदय को, तथा सविपाक अविपाक रूप अथवा सकाम और अकाम रूपसे होनेवाली दो प्रकार की निर्जरा को भी जानता है । इस प्रकार शुद्ध पारिणामिकरूप परमभाव का ग्राहक एवं जो उपादान स्वरूप है ऐसे शुद्ध द्रव्यार्थिक नय के द्वारा कर्तापन, भोक्तापन, बंध, मोक्षादि का कारण भूत परिणामसे रहित यह जीव है ऐसा सूचित किया है । इस प्रकार समुदाय पातनिका में पीछे की चार गाथाओं द्वारा जीव के अकर्तापनगुण के व्याख्यान की मुख्यता से सामान्य वर्णन किया है । फिर चार गाथाओं में यह बताया है कि निश्चयसे शुद्ध जीवके भी जो कर्म प्रकृतियों का बंध होता है वह अज्ञानका माहात्म्य है इस प्रकार अज्ञान की सामर्थ्य का विशेषरूप से वर्णन किया है । फिर चार गाथाओं में जीवके अभोक्तापन के गुणका व्याख्यान मुख्यता से है । तत्पश्चात् कर्तापन बंध मोक्षादि का कारणभूत परिणाम का निषेध १२ गाथाओं में हुआ है जो कि शुद्ध निश्चयनयसे किया गया है उसीका उपसंहार दो गाथाओं में हुआ है ॥३४१॥

इस प्रकार श्री जयसेनाचार्य की बनाई हुई शुद्धात्मानुभूति लक्षणवाली तात्पर्य नामकी श्री समयसारजी की व्याख्या के हिन्दी अनुवादमें मोक्षाधिकार से संबंध रखनेवाली यह चूलिका समाप्त हुई। अथवा दूसरे व्याख्यान के द्वारा मोक्ष अधिकार समाप्त हुआ ॥३४१॥

तात्पर्यवृत्ति—किं च विशेषः—औपशमिकादिपंचभावानां मध्ये केन भावेन मोक्षो भवतीति विचार्यते। तत्रौपशमिकक्षायोपशमिकक्षायिकौदयिकभावचतुष्टयं पर्यायरूपं भवति शुद्धपारिणामिकस्तु द्रव्यरूप इति। तच्च परस्पर-सापेक्षं द्रव्यपर्यायद्वयमात्मा पदार्थो भण्यते। तत्र तावज्जीवत्वभव्यत्वाभव्यत्वत्रिविधपारिणामिकभावमध्ये शुद्धजीवत्वं शक्तिलक्षणं। यत्पारिणामिकत्वं तच्छुद्धद्रव्यार्थिकनयाश्रितत्वान्निरावरणं शुद्धपारिणामिकभावसंज्ञं ज्ञातव्यं तत्तु बंधमोक्षपर्यायपरिणतिरहितं। यत्पुनर्दशप्राणरूपं जीवत्वं भव्याभव्यत्वद्वयं तात्पर्यायार्थिकनयाश्रितत्वादशुद्धपारिणामिकभावसंज्ञमिति। कथमशुद्धमिति चेत्? संसारिणां शुद्धनयेन सिद्धानां तु सर्वथैव दशप्राणरूपजीवत्वभव्याभव्यत्वद्वयाभावादिति। तस्य त्रयस्य मध्ये भव्यत्वलक्षणपारिणामिकस्य तु यथासंभवं च सम्यक्त्वादिजीवगुणघातकं देशघातिसर्वघातिसंज्ञं मोहादिकर्मसामान्यं पर्यायार्थिकनयेन प्रच्छादकं भवति इति विज्ञेयं। तत्र च यदा कालादिलब्धिवशेन भव्यत्वशक्तेर्व्यक्तिर्भवति तदायं जीवः सहजशुद्धपारिणामिकभावलक्षणनिजपरमात्मद्रव्यसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणपर्यायरूपेण परिणमति। तच्च परिणमनमागमभाषयौपशमिकक्षायोपशमिकक्षायिकं भावत्रयं भण्यते। अध्यात्मभाषया पुनः शुद्धात्माभिमुखपरिणामः शुद्धोपयोग इत्यादि पर्यायसंज्ञां लभते। स च पर्यायः शुद्धपारिणामिकभावलक्षणशुद्धात्मद्रव्यात्कथंचिद्भिन्नः। कस्मात्? भावनारूपत्वात्। शुद्धपारिणामिकस्तु भावनारूपो न भवति। यद्येकांतेनाशुद्धपारिणामिकादभिन्नो भवति तदास्य भावनारूपस्य मोक्षकारणभूतस्य मोक्षप्रस्तावे विनाशे जाते सति शुद्धपारिणामिकभावस्यापि विनाशः प्राप्नोति, न च तथा। ततः स्थितं—शुद्धपारिणामिकभावविषये या भावना तद्रूपं यदौपशमिकादिभावत्रयं तत्समस्तरागादिरहितत्वेन शुद्धोपादानकारणत्वान्मोक्षकारणं भवति न च शुद्धपारिणामिकः। यस्तु शक्तिरूपो मोक्षः स शुद्धपारिणामिकपूर्वमेव तिष्टति। अयं तु व्यक्तिरूपमोक्षविचारो वर्तते। तथा चोक्तं सिद्धांते—'निष्क्रियशुद्धपारिणामिकः' निष्क्रियइति कोऽर्थः? बंध कारणभूता या क्रिया रागादिपरिणतिः, तद्रूपो न भवति। मोक्षकारणभूता च क्रिया शुद्धभावनापरिणतिस्तद्रूपश्च न भवति। ततो ज्ञायते शुद्धपारिणामिकभावो ध्येयरूपो भवति ध्यानरूपो न भवति। कस्मात्? ध्यानस्य विनश्वरत्वात्। तथा योगींद्रदेवैरप्युक्तं—

णवि उपज्जइ णवि मरइ, बंधण मोक्खु करेइ।
जिउ पुरमत्थे जोइया, जिणवर एउ भणेइ ॥ १ ॥

किं च विवक्षितैकदेशशुद्धनयाश्रितेयं भावना निर्विकारस्वसंवेदनलक्षणक्षायोपशमिकज्ञानत्वेन यद्यप्येकदेशव्यक्तिरूपा भवति तथापि ध्याता पुरुषः यदेव सकलनिरावरणमखंडैकप्रत्यक्षप्रतिभासमयमविनश्वरं शुद्धपारिणामिकपरमभावलक्षणं निजपरमात्मद्रव्यं तदेवाहमिति भावयति न च खंडज्ञानरूपमिति भावार्थः। इदं तु व्याख्यानं परस्परसापेक्षागमाध्यात्मनयद्वयाभिप्रायस्याविरोधेनैव कथितं सिद्धयतीति ज्ञातव्यं विवेकिभिः।

अर्थ—अब यहां पर विचार किया जाता है कि जीव के औपशमिक आदि पांच भावों में से किस भाव के द्वारा मोक्ष होता है। सो वहां औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक और औदयिक ऐसे चार भाव तो पर्यायरूप है और एक शुद्ध पारिणामिक भाव द्रव्यरूप है। पदार्थ परस्पर अपेक्षा लिये द्रव्य पर्याय रूप है। वहां जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व तीन प्रकार का पारिणामिक भाव है। उसमें भी शक्ति

लक्षण शुद्ध जीवत्व पारिणामिक भाव है वही शुद्ध द्रव्यार्थिक नयका आश्रय होने से निरावरण शुद्ध पारणामिक भाव है नाम जिसका ऐसा जानना चाहिये जो कि बंध और मोक्षरूप पर्याय की परिणति से रहित है। और दश प्राण रूप जीवत्व भव्यत्व और अभव्यत्व ये सब पर्यायार्थिक नयके आश्रय होने से अशुद्ध परिणामिक नाम वाला है। यहां प्रश्न होता है कि अशुद्ध पारिणामिक क्यों है? इसका उत्तर यह है कि दश प्राणरूप जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व इन तीनों का सिद्धों में तो सर्वथा अभाव है, किन्तु संसारी जीवों में भी शुद्ध निश्चय नयसे अभाव है वहां इन तीनों में से भव्यत्व लक्षणवाला पारिणामिक भाव है उसका तो पर्यार्थिक नयसे मोहादिक कर्म सामान्य आच्छादक है जो देशघाती और सर्वघाती नाम वाला है एवं सम्यक्त्वादि जीवके गुणोंका घातक है ऐसा समझना चाहिये। वहां जब काल आदि लब्धियों के वश से भव्यत्व शक्ति की अभिव्यक्ति होती है तब यह जीव सहज शुद्ध पारिणामिक भावरूपी लक्षण को रखने वाली ऐसे निज परमात्म द्रव्य के सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और आचरण की पर्याय के रूप में परिणमन करता है उसी ही परिणमन को आगम भाषा में औपशमिक क्षायोपशिक, और क्षायिक भाव इन तीनों नामों से कहा जाता है। वही अध्यात्म भाषामें शुद्ध आत्माके अभिमुख परिणाम कहलाता है जिसको शुद्धोपयोग इत्यादि पर्यायरूप नामसे कहते हैं। वह शुद्धोपयोगरूप पर्याय भी शुद्ध पारिणामिक भाव है लक्षण जिसका ऐसे शुद्धात्म द्रव्य से कथंचित भिन्न रूप होती है क्योंकि वह भावनारूप होती है। किन्तु शुद्ध पारिणामिक भाव भावनारूप नहीं होता है। यदि इस भावनारूप परिणाम को एकान्तरूप से शुद्ध पारमाणिक भावसे अभिन्न ही मान लिया जाय तो मोक्ष का कारणभूत भावना रूप परिणामका तो मोक्ष हो जाने पर नाश हो जाता है तब उसके नाश हो जाने पर शुद्ध पारिणामिक भाव का भी नाश हो जाना चाहिये सो ऐसा है नहीं। इसलिये यह निश्चित है कि शुद्ध पारिणामिक भाव के विषयमें जो भावना है उसरूप जो औपशमादिक तीन भाव हैं सो रागादिक समस्त विकारभावों से रहित होनेसे शुद्ध उपादान के कारणरूप हैं इसलिये मोक्षके कारण होते हैं, किन्तु शुद्ध पारिणामिक भाव मोक्ष का कारण नहीं है। हां, जो शक्तिरूप मोक्ष है वह तो शुद्ध पारिणामिकरूप पहले से ही प्रवर्तमान है किन्तु यहां पर तो व्यक्तिरूप मोक्षका विचार चल रहा है, ऐसा ही सिद्धान्त में लिखा हुआ कि "निष्क्रियः शुद्ध पारिणामिकः" अर्थात् शुद्ध पारिणामिक भाव तो निष्क्रिय होता है। निष्क्रिय कहने का भी क्या अर्थ है कि रागादिमय परिणतिवाली एवं बंधकी कारणभूत क्रियासे रहित है तथा मोक्षके कारणभूत जो क्रिया शुद्ध शुद्ध स्वरूप की भावनारूप परिणति है उससे भी रहित है। इससे यह जाना जाता है कि शुद्ध पारिणामिक भाव ध्येयरूप है परन्तु ध्यानरूप नहीं है क्योंकि विनाशशील है। जैसाकि योगीन्द्र देव ने भी अपने परमात्मप्रकाश में लिखा है:—

"णवि उप्पज्जइ णवि मरइ बंध ण मुक्खु करेइ, जिउ परमत्थे जोइया जिणवर एउ भणेइ।"
अर्थात्—हे योगी। सुन, परमार्थ दृष्टि से देखने पर यह जीव न तो उपजता है, न मरता है, न बंध ही करता है, न मोक्ष ही प्राप्त करता है ऐसा श्री जिनेन्द्र भगवान कहते हैं।

तात्पर्य यह है कि विवक्षा में ली हुई एक देश शुद्ध नय के आश्रित होने वाली भावना निर्विकार स्वसंवेदन ही है लक्षण जिसका ऐसे क्षायोपशमिक ज्ञान से पृथकपने के कारण यद्यपि एक देश व्यक्ति रूप है फिर भी ध्यान करने वाला पुरुष यही भावना करता है कि जो सभी प्रकार के आवरणों से रहित अखंड एक प्रत्यक्ष प्रतिभासमय तथा नाश रहित और शुद्ध पारिणामिक लक्षणवाला निज परमात्मा द्रव्य है वही मैं हूं अपितु खंड ज्ञान रूप मै नहीं हूं, यह सब व्याख्यान यहां परस्पर की अपेक्षा को लिये हुये जो

आगम और अध्यात्मनय इन दोनों का विरोध नहीं करने से ही सिद्ध होता है। इस प्रकार विवेकी ज्ञानियों को समझना चाहिये।

विशेषार्थः—टीकाकारने यहां बतलाया है कि काल आदि लब्धि के बल से इस जीव को भव्यत्व शक्ति की अभिव्यक्ति होती है तभी यह जीव अपने परमात्मद्रव्य का समीचीन श्रद्धान, ज्ञान, अनुष्ठान करने रूप में परिणमन करता है। उस परिणमन को ही आगम भाषा में औपशमिक, क्षायिक व क्षायोपशमिक भाव नाम से कहा जाता है व अध्यात्म भाषा में वही शुद्धात्मा के अभिमुख परिणाम स्वरूप शुद्धोपयोग नाम पाता है। इस टीकाकार के उल्लेखसे चतुर्थगुणस्थान में ही शुद्धोपयोग हो जाना सिद्ध होता है क्योंकि वहां दर्शन मोह का क्षय, क्षयोपशम, या उपशम हो जाता है, तो फिर क्या चतुर्थ गुणस्थान में ही शुद्धोपयोग मान लेना चाहिये क्योंकि तज्जन्य औपशमादिक भाव भी उस गुणस्थान में होते ही हैं? इसका उत्तर यह है कि यहां इस अध्यात्मशास्त्र में दर्शन मोह, व चारित्र मोह को पृथक् २ न लेकर मोह नाम भूलका लिया गया है। फिर वह भूल चाहे दर्शन संबंधी हो, या चारित्र संबंधी हो, भूल तो भूल ही है। इस प्रकार वह भूल जिसके उपयोगमें न हो वही सम्यग्दृष्टि, सम्यग्ज्ञानी यहां पर लिया गया है और जैसा स्वयं टीकाकार श्री जयसेनाचार्यने भी अनेक स्थलों पर बतलाया है कि यहां पर पंचम गुणस्थान से ऊपर वाले को ही सम्यग्दृष्टि शब्द से लिया गया है अर्थात् चारित्र सहित सम्यग्दृष्टि को ही यहां पर सम्यग्दृष्टि माना गया है। अथवा वीतराग सम्यग्दृष्टि को ही यहां सम्यग्दृष्टि लिया है एवं उसका औपशमादिक भाव शुद्धोपयोग है अर्थात् ग्यारहवें गुणस्थानवाले का औपशमिक भाव और बारहवें गुणस्थानवाले का क्षायिक भाव। ग्यारहवें गुणस्थानसे नीचेवाले मुनिका क्षयोपशमिक भाव शुद्धोपयोग है यह कहना भी ठीक ही है। वह शुद्धोपयोग भी दो प्रकार का होता है—एकतो शुद्ध धर्मध्यानात्मक जो कि सप्तम गुणस्थानवर्ती मुनिको होता है और दूसरा शुक्ल ध्यानात्मक शुद्धोपयोग जो कि आठवें आदि गुणस्थानों में होता है। सातवें गुणस्थानसे नीचे वाले मुनिके भी ध्यान को वास्तविक धर्मध्यान न कहकर यहां पर शुभ संकल्प विकल्पात्मक होनेसे औपचारिक धर्मध्यान नामसे या* प्रशस्त आर्त्तध्यान के नाम से लिया गया है जो कि औदयिक भावरूप हुआ करता है और इसीलिये आचार्यदेवने उसे छोड़देने का बार-बार उपदेश किया है।

समयसार चूलिका

तात्पर्यवृत्तिः—अतः परं जीवादिनवाधिकारेयु जीवस्य कर्तृत्वभोक्तृत्वादिस्वरूपं यथास्थानं निश्चयव्यवहार-विभागेन सामान्येन यत्पूर्वं सूचितं, तस्यैव विशेषविवरणार्थं **लोकस्स कुणदि विह्णू** इत्यादि गाथामादिं कृत्वा पाठक्रमेण षडधिकनवतिगाथापर्यंतं चूलिकाव्याख्यानं करोति—

चूलिकाशब्दस्यार्थः कथ्यते तथाहि—विशेषव्याख्यानं, उक्तानुक्तव्याख्यानं, उक्तनुक्तसंकीर्णव्याख्यानं चेति त्रिधा **चूलिकाशब्दस्यार्थो** ज्ञातव्यः। तत्र षण्णवतिगाथासु मध्ये विष्णोर्देवादिपर्यायकर्तृत्वनिराकरणमुख्यत्वेन **लोगस्स**

*१ ज्ञानार्णव अट्ठाविंश प्रकरण

मुख्योपचारभेदेन द्वौ मुनि स्वामिनो मतौ। अप्रमत्तप्रमत्ताख्यो धर्मस्यैतो यथायथम् ॥२५॥

कुणदि विण्हु इत्यादि गाथासप्तकं च भवति। तदनंतरं, अन्यः कर्ता, भुंक्ते चान्यः—इत्येकांतनिषेधरूपेण बौद्धमतानुसारिशिष्यसंबोधनार्थं **केहिंदु पज्जयेहिं** इत्यादिसूत्रचतुष्टयं। अतः परं सांख्यमतानुसारिशिष्यं प्रति, एकांतेन जीवस्य भावमिथ्यात्वकर्तृत्वनिराकरणार्थं **मिच्छत्ता जदि पयडी** इत्यादि सूत्रपंचकं। ततः परं ज्ञानाज्ञानसुखदुःखादिभावान् कर्मैवैकांतेन करोति नचात्मेति पुनरपि सांख्यमतनिराकरणार्थं—**कम्मेहिं अण्णाणी** इत्यादि त्रयोदशसूत्राणि। अथानंतरं कोऽपि प्राथमिकशिष्यः शब्दादिपंचेन्द्रियविषयाणां विनाशं कर्तुं वांछति किंतु मनसि स्थितस्य विषयानुरागस्य घातं करोमीति विशेषविवेकं न जानाति तस्य संबोधनार्थं **दंसणणाणचरित्तं** इत्यादि सूत्रसप्तकं। तदनंतरं यथा सुवर्णकारादिशिल्पी कुंडलादिकर्म हस्तकुट्टकाद्युपकरणैः करोति। तत्फलं मूल्यादिकं भुंक्ते च तथापि तन्मयो न भवति। तथा जीवोऽपि द्रव्यकर्म करोति भुंक्ते च तथापि तन्मयो न भवतीत्यादिप्रतिपादनरूपेण **जह सिप्पियो दु** इत्यादि गाथा सप्तकं। ततः परं यद्यपि श्वेतमृत्तिका व्यवहारेण कुड्यादिकं श्वेतं करोति तथापि निश्चयेन तन्मयो न भवति। तथा जीवोऽपि व्यवहारेण ज्ञेयभूतं च द्रव्यमेव जानाति पश्यति परिहरति श्रद्दधाति च तथापि निश्चयेन तन्मयो न भवति इति ब्रह्माद्वैतमतानुसारिशिष्यसंबोधनार्थं **जहसेडिया** इत्यादि सूत्रदशकं। ततः परं शुद्धात्मभावनारूपनिश्चय-प्रतिक्रमण—निश्चयप्रत्याख्यान—निश्चयालोचना—निश्चयचारित्रव्याख्यानमुख्यत्वेन **कम्मं जं पुव्वकयं** इत्यादिसूत्र चतुष्टयं। तदनंतरं रागद्वेषोत्पत्तिविषयेऽज्ञानरूपस्वकीयबुद्धिरूपदोष एव कारणं नचाचेतनशब्दादिविषया इति कथनार्थं **णिंदिद संथुदि वयणाणि** इत्यादि गाथादशकं। अतः परं उदयागतं कर्म वेदयमानो मदीयमिदं मया कृतं च मन्यते स्वस्थभावशून्यः सुखितो दुखितश्च भवति यः सः पुनरप्यष्टविधं कर्म दुःख बीजं बध्नातीति प्रतिपादनमुख्यत्वेन **वेदंतो कम्मफलं** इत्यादि गाथात्रयं। तदनंतरं आचारसूत्रकृतादि द्रव्यश्रुतेंद्रियविषयद्रव्यकर्म धर्माधर्माकाशकालाः शुद्धनिश्चयेन रागादयोऽपि शुद्धजीवस्वरूपं न भवंतीति व्याख्यानमुख्यत्वेन **सत्थं णाणं ण हवदि** इत्यादि पंचदश सूत्राणि। ततः परं यस्य शुद्धनयस्याभिप्रायेणात्मा मूर्तिरहितस्तस्याभिप्रायेण कर्मनोकर्माहाररहित इति व्याख्यानरूपेण **अप्पा जस्स अमुत्तो** इत्यादि गाथात्रयं। तदनंतरं देहाश्रितद्रव्यलिंगं निर्विकल्पसमाधिलक्षणभावलिंगरहितं यतीनां मुक्तिकारणं न भवति भावलिंगसहितानां पुनः सहकारिकारणं भवतीति व्याख्यानमुख्यत्वेन **पाखंडी लिंगाणिय** इत्यादि सूत्रसप्तकं। पुनश्च समयप्राभृताध्ययनफलकथनरूपेण ग्रंथसमाप्त्यर्थं **जो समय पाहुडमिणं** इत्यादि सूत्रमेकं कथयतीति त्रयोदशभिरंतराधिकारैः समयसारचूलिकाधिकारेसमुदायपातनिका—

इदानीं त्रयोदशाधिकाराणां यथाक्रमेण विशेषव्याख्यानं क्रियते। तद्यथा—एकांतेनात्मानं कर्तारं ये मन्यंते तेषामज्ञानिजनवन्मोक्षो नास्तीत्युपदिशति—

टीका:—इसके आगे जीव आदि नव अधिकारों में जीवका कर्त्तापन और भोक्तापन आदि के विषय से निश्चयनय और व्यवहारनय के विभागद्वारा सामान्यपने जो पूर्व में वर्णन किया है उसी का अब विशेष वर्णन करने के लिये "लोगस्स कुणदि विण्हु" इत्यादि गाथा को आदि लेकर पाठक्रम से ९६ गाथाओं में चूलिका का व्याख्यान करते हैं।

चूलिका शब्द का अर्थ कहते हैं—"विशेष व्याख्यान; कहे हुवे और न कहे हुये का व्याख्यान; तथा कहा हुआ और न कहा हुआ से मिश्रित व्याख्यान इस प्रकार तीन प्रकार से व्याख्यान चूलिका शब्द से कहा जाता है।

वहां इन ९६ गाथाओं में सबसे पहले ७ गाथाओं में यह बतलाया है कि देवादि पर्यायों को करने वाला विष्णु नहीं है इस प्रकार "लोगस्स कुणदि विण्हू" आदि सात गाथायें हैं। इसके बाद अन्य कर्ता है अन्य भोक्ता है इस प्रकार के एकांत का निषेध करते हुए 'केहिंदु पज्जएहिं' इत्यादि ४ गाथायें बौद्धमत-

मत के अनुयायी शिष्य को समझाने के लिये कही हैं। इसके पश्चात् सांख्यमतानुसारी शिष्य को लक्ष्य में लेकर एकान्त से जीव के भाव मिथ्यात्वका कर्त्तापन निवारण करने के लिये "मिच्छत्ता जदि पयड़ि" इत्यादि पांच सूत्र हैं। इसके आगे ज्ञान, अज्ञान तथा सुख, दुख आदि भावों का करने वाला एकान्तसे कर्म है, आत्मा कर्त्ता नहीं ही इस प्रकार सांख्यमत के निराकरण करने के लिये "कम्मेहिं अण्णाणी" इत्यादि तेरह गाथा सूत्र हैं। इसके आगे कोई नवीन शिष्य शब्द आदि पांचों इन्द्रियों के विषयों को नष्ट करना चाहता है किन्तु मन में तिष्ठे हुये विषयों के अनुराग को नाश करना चाहिये ऐसे विवेक से रहित है उसको संबोधन करने के लिये 'दंसण णाण चरित्तं' इत्यादि ७ सूत्र हैं। उसके आगे 'जह सिप्पियो दु' इत्यादि सात गाथायें हैं जिनमें बतलाया है कि जैसे स्वर्णकारादि शिल्पकार हथोड़े आदि उपकरणों के द्वारा कुण्डल आदि वस्तुयें बनाता है और उनसे उसे जो फल मिलता है, मूल्य आदि उसे भोगता है किन्तु उससे तन्मय नहीं होता उसी प्रकार जीव भी द्रव्यकर्म करता है और उसके फलको भोगता है किन्तु उससे तन्मय नहीं हो जाता। इसके बाद दस गाथायें हैं जिसमें ब्रह्म अद्वैत मतानुसारी शिष्य को समझाने के लिये 'जह सेढ़िया' इत्यादि रूपसे बताया है कि जैसे श्वेत मिट्टी भीत आदि को सफेद करती है फिर भी निश्चयसे देखा जाय तो इससे वह तन्मय नहीं होती। इसी प्रकार जीव भी व्यवहार से ज्ञेय भूत द्रव्य को जानता है देखता है, दूर करता है, श्रद्धान करता है तो भी निश्चय से वह उसमें तन्मयी नहीं होता है। इसके आगे 'कम्मं जं पुव्वकयं' इत्यादि चार गाथायें हैं जिसमें शुद्धआत्मा की भावना रूप निश्चय प्रति क्रमण, निश्चय प्रत्याख्यान और निश्चय आलोचनारूप निश्चय चारित्र का व्याख्यान किया गया है। इसके आगे रागद्वेष की उत्पत्ति के विषय में अज्ञानरूप अपनी बुद्धि का दोष ही कारण है अचेतन शब्द आदि विषय रागद्वेष की उत्पत्ति में कारण नहीं हैं ऐसा कथन करने के लिये "णिंदिद संथुद वयणाणि" इत्यादि दश गाथायें हैं। इसके आगे "वेदंतो कम्मफलं" इत्यादि तीन गाथायें हैं जिनमें बतलाया है कि उदय में आये हुये कर्म के फल को भोगता हुआ ऐसा मानता है कि यह मेरा है, यह मुझसे किया गया है एवं स्वस्थ भाव से शून्य होकर सुखी या दुखी होता है ताकि दुःख के बीज आठ प्रकार के कर्म का फिर से बंध कर लेता है। इसके बाद "सच्छं णाणं ण हवदि" इत्यादि पन्दरह गाथाओं में यह बतलाया है कि शुद्ध निश्चय नय से आचारांग, सूत्र कृतांग आदि द्रव्यश्रुत स्पर्शन आदि इन्द्रियों के विषय, तथा द्रव्यकर्म धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश व कालद्रव्य एवं रागादि विभाव ये सब भी जीवका स्वरूप नहीं है। इसके आगे "अप्पा जस्स अमुत्तो" इत्यादि तीन गाथायें हैं जिनमें बताया है कि जिस शुद्धनय के अभिप्राय से आत्मा अमूर्त्त है उसी नय अभिप्राय से कर्म, नोकर्म आहार से भी रहित है। इसके आगे "पाखंडी लिंगाणिय" इत्यादि सात सूत्र हैं इनमें मुख्यतासे यह बतलाया है कि देहाश्रित जितने भी लिंग हैं निर्विकल्प समाधि है लक्षण जिसका ऐसे भाव लिंग से रहित यती लोग हैं उनका द्रव्यलिंग मुक्ति का कारण नहीं किन्तु भावलिंग सहित यतियों का ही द्रव्यलिंग मुक्ति का सहकारी कारण है। इसके पश्चात् इस समय प्राभृत ग्रंथ के अध्ययन का फल बतलाते हुये इस ग्रन्थ को समाप्त करने के लिये 'जो समय पाहुड़ मिणं' इत्यादि एक सूत्र है। इस प्रकार १३ अन्तर अधिकारों से समयसारजी की चूलिकाके अधिकार में यह समुदाय पातनिका हुई।

आगे इन तेरह अधिकारों का क्रमसे व्याख्यान किया जाता है।

अब यहां बताते हैं कि जो एकान्त से आत्माको कर्त्ता मानते है उनका भी मोक्ष अज्ञानी लोगों के समान नहीं समझना चाहिये:—

लोगस्स कुणदि विह्णू सुरणारयतिरियमाणुसे सत्ते ।
समणाणंपि य अप्पा जदि कुव्वदि छव्विहे काए ॥३४२॥
लोगसमणाणमेवं सिद्धंतं पडि ण दिस्सदि विसेसो ।
लोगस्स कुणदि विण्हू समणाणं अप्पओ कुणदि ॥३४३॥
एवं ण कोवि मुक्खो दीसइ दुण्हंपि समण लोयाणं ।
णिच्चं कुव्वंताणं सदेव मणुआसुरे लोगे ॥३४४॥

लोकस्य करोति विष्णुः सुरनारकतिर्यङ्मानुषान् सत्वान् ।
श्रमणानामप्यात्मा यदि करोति षड्विधान् कायान् ॥३४२॥
लोकश्रमणानामेवं सिद्धांतं प्रति न दृश्यते विशेषः ।
लोकस्य करोति विष्णुः श्रमणानामप्यात्मा करोति ॥३४३॥
एवं न कोऽपि मोक्षो दृश्यते लोकश्रमणानां द्वयेषां ।
नित्यं कुर्वतां सदैवमनुजासुरसहितलोके ॥३४४॥ (त्रिकलम्)

अर्थ—आम लोगों का ऐसा मन्तव्य है कि सुर, नारक, तिर्यंच, और मनुष्य नाम के प्राणियों को विष्णु अर्थात् परमात्मा बनाता है। इस प्रकार यदि यतियों का भी यही विश्वास हो कि छह काय के जीवों को आत्मा करता है तो फिर लोगों का तथा श्रमणों का एक ही सिद्धान्त ठहरा इसमें कोई भी विशेषता नहीं है क्योंकि लोगों की मान्यता में जैसे विष्णु करता है उसी प्रकार श्रमणों की मान्यता में आत्मा करता है। इस प्रकार कर्त्ता के मानने में दोनों समान है इसलिये लोक और श्रमण इन दोनों में से किसी का भी मोक्ष नहीं दीखता क्योंकि जो देव, मनुष्य और असुर सहित लोगों को नित्य दोनों ही करते रहेंगे तो मोक्ष कैसी ?

तात्पर्यवृत्तिः—लोगस्स कुणदि विह्णू सुरणारयतिरियमाणुसे सत्ते लोकस्य मते विष्णुः करोति । कान्? सुरनारकतिर्यङ्मानुषान् सत्वान् **समणाणंपि य अप्पा जदि कुव्वदि छव्विये काए** श्रमणानां मते पुनरात्मा करोति यदि चेत् कान् ? षटजीवनिकायानिति **लोगसमणाणमेवं सिद्धंतं पडि ण दिस्सदि विसेसो** एवं पूर्वोक्तप्रकारेण सिद्धांतं प्रति, आगमं प्रति न दृश्यते कोऽपि विशेषः कयोः संबंधी ? लोकश्रमणयोः कस्मात् । इति चेत्—**लोगस्स कुणदि विण्हू समणाणं (वि) अप्पओ कुणदि** लोकमते विष्णुनामा कोऽपि परकल्पितपुरुषविशेषः करोति । श्रमणानां मते पुनरात्मा करोति, तत्र विष्णुसंज्ञा श्रमणमते चात्मसंज्ञा, नास्ति विप्रतिपत्तिर्नचार्थे । **एवं ण कोवि मुक्खो दीसदि दुण्हंपि समणलोयाणं** एवं कर्तृत्वे सति को दोषः ? मोक्षः कोऽपि न दृश्यते कयोर्लोकश्रमणयोः । किं विशिष्टयोः? **णिच्चं कुव्वंताणं सदेव मणुआसुरे लोगे** नित्यं सर्वकालं कर्म कुर्वतोः । क्व ? लोके । कथंभूते ? देवमनुष्यासुरसहिते । किंच—रागद्वेषमोहरूपेण परिणमनमेव कर्तृत्वमुच्यते । तत्र रागद्वेषमोहपरिणमने सति शुद्धस्वभावात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपनिश्चयरत्नत्रयात्मकमोक्षमार्गाच्च्यवनं भवति ततश्च मोक्षो न भवतीति भावार्थः । एवं पूर्वपक्षरूपेण गाथात्रयं गतं ।

अथोत्तर निश्चयेनात्मनः पुद्गलद्रव्येण सह कर्तृकर्मसंबंधो नास्ति कथं कर्ता भविष्यतीति कथयति—

टीका:—(लोगस्स कुणदि विण्हू सुरनारयतिरियमाणुसे सत्ते) लोकों के मत में तो विष्णु देव, नारक, तिर्यंच और मनुष्य नाम के जीवों को करता है। (समणाणंपि य अप्पा जदि कुव्वदि छव्विहे) काए) उसी प्रकार श्रमणों के मत में आत्मा छह काय के जीवों को करता है। (लोग समणाणमेवं सिद्धंतं पडि ण दिस्सदि विसेसो) इस पूर्वोक्त रीति से लोक और श्रमणों में सिद्धान्त के प्रति और आगम के प्रति फिर कोई भेद नहीं दिखता है। (लोगस्स कुणदि विण्हू समणाणं अप्पओ कुणदि) क्योंकि लोगों के मत में तो कल्पित किया हुआ विष्णु नाम का पुरुष विशेष करता है और श्रमणों के मत में आत्मा करता है सो वहां करने वाले का नाम विष्णु है और श्रमणों के मन में उस करने वाले का नाम आत्मा है। नाम भेद है पर अर्थ में कोई भेद नहीं है। (एवं ण कोवि मुक्खो दीसदी दुण्हंपि समणलोयाणं) इस प्रकार के कतृत्व में दोष क्या आता है? कि फिर लोक और श्रमणों में मोक्ष होना नहीं ठहरता है। कब और कहा? कि (णिच्चं कुव्वं ताणं सदेवमणुआसुरे लोगे) निरंतर सब हीं काल मे कर्म करते हुओं को देव मनुष्य और असुर सहित लोक में मोक्ष नहीं ठहरता। भावार्थ यह है कि रागद्वेष और मोह के रूप में परिणमन करने का नाम ही कर्त्तापन है रागद्वेष और मोहरूप परिणमन होने पर शुद्ध स्वभाव आत्मतत्व का समीचीन श्रद्धान ज्ञान और आचरण रूप जो निश्चय रत्नत्रय तद्रूप जो मोक्षमार्ग उससे च्युत होता है तब वहां मोक्ष नहीं होता है ॥ ३४२-३४३-३४४ ॥

इस प्रकार पूर्वपक्ष रूप से तीन गाथाये हुई।

विशेषार्थ:—यहां पर आचार्य ने इस बात पर जोर दिया है कि कोई मुमुक्षु अर्थात् मुनि होकर भी अपने आप को कर्त्ता मानता रहेगा तब फिर वह मुक्त नहीं हो सकता है। क्यों कि जो आपको कर्त्ता मान रहा है वह तो कुछ न कुछ करता ही रहेगा एवं जब कर्त्ता रहेगा तो उसका फल भी भोगता रहेगा, ऐसी दशा में मुक्त होने की बात कैसी? हाँ, इसके साथ यह बात भी समझ लेना चाहिये कि गृहस्थपन में कर्त्तापन से दूर नहीं हो सकता क्योंकि गृहस्थपन का कर्त्तापन के साथ अविनाभाव संबंध है। गृहस्थपन में रहकर बुरा न करे तो भला करे किन्तु कुछ तो करना ही होगा अकर्त्ता नहीं रह सकता। फिर भी अकर्त्ता पन की श्रद्धावाला हो सकता है। किन्तु स्वयं अकर्त्ता बनने के लिये गृहत्याग की एवं मुक्त हो जाने के लिये अकर्त्तापन की आवश्यकता होती है।

अब पूर्वपक्ष के उत्तर में कथन करते हैं कि निश्चयसे आत्मा का पुद्गलद्रव्य के साथमें कर्ताकर्म संबंध नहीं है तब आत्मा कैसे कर्त्ता बनता है? :—

ववहार भासिदेण दु परदव्वं मम भणंति विदिदत्था।
जाणंति णिच्छयेण दु णय इह परमाणुमित्त मम किं चि ॥३४५॥
जह कोवि णरो जंपदि अह्मं गामविसयणयररट्ठं।
णय होंति ताणि तस्स दु भणदि य मोहेण सो अप्पा ॥३४६॥
एमेव मिच्छदिट्ठी णाणी णिस्संसयं हवदि एसो।
जो परदव्वं मम इदि जाणंतो अप्पयं कुणदि ॥३४७॥

तह्मा ण मेत्ति णच्चा दोह्नं वि एयाण कत्त ववसाओ ।
परदव्वे जाणंतो जाणिज्जो दिट्ठी रहिदाणं ।।३४८।।(चतुष्कम्)

व्यवहारभाषितेन तु परद्रव्यं मम भणंति विदितार्थाः ।
जानंति निश्चयेन तु न चेह परमाणुमात्रमपि किंचित् ।।३४५।।
यथा कोऽपि नरो जल्पति अस्माकं ग्रामविषयनगरराष्ट्रं ।
न च भवंति तस्य तानि तु भणति च मोहेन स आत्मा ।।३४६।।
एवमेव मिथ्यादृष्टिर्ज्ञानी निस्संशयं भवत्येषः ।
य परद्रव्यं ममेति जानन्नात्मानं करोति ।।३४७।।
तस्मान्न मे इति ज्ञात्वा द्वयेषामप्येतेषां कर्तृव्यवसायं ।
परद्रव्ये जानन् जानीयाद्दृष्टि रहितानां ।।३४८।।

अर्थ—जिन्होंने पदार्थ का स्वरूप जान लिया है ऐसे लोग भी व्यवहार की भाषा द्वारा यह (पीछी कमण्डलु आदि) पर द्रव्य मेरा है ऐसा कहते हैं परन्तु निश्चयनय के द्वारा वे लोग यह जानते हैं कि इन बाह्य वस्तुओं में परमाणु मात्र भी कुछ मेरा नहीं है । जैसे कोई पुरुष कहे कि अमुक ग्राम, नगर, प्रांत और देश मेरा है तो उसके कहने मात्र से वे सब उसके नहीं होजाते हैं किन्तु जीव मोह के वश से मेरा मेरा कहता है इसी प्रकार पर द्रव्य को परद्रव्य जानता हुआ भी ज्ञानी जीव 'यह मेरा है यह मेरा है' ऐसा कहता है उस परद्रव्य को अपना बनाता है तो उस समय वह अवश्य ही मिथ्यादृष्टि है । इसलिये परद्रव्य मेरा नहीं हो सकता है ऐसा जानकर परद्रव्य के विषय में लौकिक जन और ज्ञानी (मुनि) जन इन दोनों के ही इस कर्तापन के व्यवसाय को जानता हुआ ज्ञानी जीव तो उसे मिथ्यादृष्टियों का ही व्यवसाय जाने ।। ३४५-३४६-३४७-३४८ ।।

तात्पर्यवृत्तिः—**ववहारभासिदेण दु परदव्वं मम भणंति विदिदच्छा** पर द्रव्यं मम भणंति । के ते ? विदितार्थाः-ज्ञातार्थाः तत्त्ववेदिनः । केन कृत्वा भणंति ? व्यवहारभाषितेन व्यवहारनयेन । **जाणंति णिच्छयेण दु णय इह परमाणुमित्त मम किंचि** निश्चयेन पुनर्जानंति । किं ? नचेह परद्रव्यं परमाणुमात्रमपि ममेति । **जह कोवि णरो जंपदि अह्याणं गाम विसयपुररट्ठं** तथा नाम स्फुटमहो वा कश्चित्पुरुषो जल्पति । किं जल्पति ? वृत्त्यावृतो ग्रामः, देशाभिधानो विषयः, नगराभिधानं पुरं, देशैकदेशसंज्ञं राष्ट्रमस्माकमिति । **णय हुंति ताणि तस्स दु भणदिय मोहेण सो अप्पा** नच तानि तस्य भवंति राजकीयनगरादीनि तथाप्यसौ मोहेन ब्रूते मदीयं ग्रामादिकमिति दृष्टांतः । अथ दार्ष्टांतः—एवं पूर्वोक्तदृष्टांतेन ज्ञानी व्यवहारमूढो भूत्वा यदि परद्रव्यमात्मीयं भणति तदा मिथ्यात्व प्राप्तः सन् मिथ्यादृष्टिर्भवति निस्संशयं निश्चितं संदेहो न कर्तव्यः इति । **तह्मा** इत्यादि **तह्मा** तस्मात् परकीयग्रामादिदृष्टांतेन स्वानुभूतिभावनाच्युतः सन् योऽसौ परद्रव्यं व्यवहारेणात्मीयं करोति स मिथ्यादृष्टिर्भवतीति भणितं पूर्वं तस्मात्कारणाज्ज्ञायते **दुह्लं एयाण कत्तिववसाओ** परद्रव्ये तयोः पूर्वोक्तलौकिकजैनयोः आत्मा परद्रव्यं करोतीत्यनेन रूपेण योऽसौ परद्रव्यविषये कर्तृत्वव्यवसायः । किं कृत्वा ? पूर्वं **ण ममेति णच्चा** निर्विकारस्वपरपरिच्छित्तिज्ञानेन परद्रव्यं मम संबंधि न भवति इति ज्ञात्वा **जाणंतो जाणिज्जो विट्ठिरहिदाणं** इमं लौकिकजैनयोः परद्रव्ये कर्तृत्वव्यवसायं-अन्यः कोऽपि तृतीयतटस्थः पुरुषो जानन् सन् जानीयात् । स कथंभूतं जानीयात् ? वीतरागसम्यक्त्वसंज्ञायां

तु निश्चयदृष्टिस्तद्रहितानां व्यवसायोऽयमिति । ज्ञानी भूत्वा व्यवहारेण परद्रव्यमात्मीयंवदन् सन् कथमज्ञानी भवतीति चेत् ? व्यवहारो हि म्लेच्छानां म्लेच्छभाषेव प्राथमिकजनसंबोधनार्थं काल एवानुसर्तव्यः। प्राथमिकजनप्रतिबोधनकालं विहाय कतकफलवदात्मशुद्धिकारकात् शुद्धनयाच्युतोभूत्वा यदि परद्रव्यमात्मीयं करोति तदा मिथ्यादृष्टिर्भवति । किं च विशेषः लोकानां मते विष्णुः करोतीति यदुक्तं पूर्वं तल्लोकव्यवहारापेक्षया भणितं । नचानादिभूतस्य देवमनुष्यादिभूतलोकस्य विष्णुर्वा ब्रह्मावामहेश्वरो वा कोऽपि कर्तास्ति । कथमिति चेत् सर्वोऽपि लोकस्तावदेकेंद्रियादिजीवैर्भृतस्तिष्ठति । तेषां च जीवानां निश्चयनयेन विष्णुपर्यायेण ब्रह्मपर्यायेण महेश्वरपर्यायेण जिनपर्यायेण च परिणमनशक्तिरस्ति तेन कारणेनात्मैव विष्णुः, आत्मैव ब्रह्मा, आत्मैव महेश्वरः, आत्मैव जिनः । तदपि कथमिति चेत् कोऽपि जीवः पूर्वं मनुष्यभवे जिनरूपं गृहीत्वा भोगाकांक्षानिदानबंधेन पापानुबंधिपुण्यं कृत्वा स्वर्गे समुत्पद्य तस्मादागत्य मनुष्यभवे त्रिखंडाधिपतिरर्द्धचक्रवर्त्ती भवति तस्य विष्णुसंज्ञा नचापरः कोऽपि लोकस्य कर्ता विष्णुरस्ति इति । तथा चापरः कोऽपि जीवो जिनदीक्षां गृहीत्वा रत्नत्रयाराधनया पापानुबंधिपुण्योपार्जनं कृत्वा विद्यानुवादसंज्ञं दशमपूर्वं पठित्वा चरित्रमोहोदयेन तपश्चरणच्युतो भूत्वा हुण्डावसर्पिणीकालप्रभावेण विद्याबलेन लोकस्याहं कर्तेत्यादि चमत्कारमुत्पाद्य मूढ़जनानां विस्मयं कृत्वा महेश्वरो भवति न सर्वावसर्पिणीषु । सा च हुण्डावर्पिणी संख्यातीतोत्सर्पिण्यवसर्पिणीषु गतासु समुपयाति तथा चोक्तं—

संखातीदवसप्पिणि गयासु हुंडावसप्पिणी एय ।
परसमयहं उप्पत्ती तहि जिणवर एव पभणेइ ।। १ ।।

नचान्यः कोऽपि जगत्कर्त्ता महेश्वराभिधानः पुरुषविशेषोऽस्ति इति । तथा चापरः कोऽपि पुरुषो विशिष्टतपश्चरणं कृत्वा पश्चात्तपःप्रभावेण स्त्रीविषयनिमित्तं चतुर्मुखो भवति तस्य ब्रह्मा संज्ञा । नचान्यःकोऽपि जगतः कर्ता व्यापकैकरूपो ब्रह्माभिधानोऽस्ति । तथैवापरः कोऽपि दर्शनविशुद्धिविनयसंपन्नतेत्यादि षोडशभावनां कृत्वा देवेंद्रादिविनिर्मितपंचमहाकल्याणपूजायोग्यं तीर्थंकरपुण्यं समुपार्ज्य जिनेश्वराभिधानो वीतरागसर्वज्ञो भवतीति वस्तुस्वरूपं ज्ञातव्यं । एवं यद्येकांतेन कर्त्ता भवति तदा मोक्षाभाव इति विष्णुदृष्टांतेन गाथात्रयेण पूर्वपक्षं कृत्वा गाथाचतुष्टयेन परिहारव्याख्यानमिति प्रथमस्थले सूत्रसप्तकं गतं ।

अथ द्रव्यार्थिकनयेन य एव कर्म करोति स एव भुंक्ते । पर्यायार्थिकनयेन पुनरन्यः करोत्यन्यो भुंक्ते इति च योऽसौ मन्यतेस सम्यग्दृष्टिर्भवतीति प्रतिपादयति—

टीका:—(ववहार भासिदेणदु परदव्वं मम भणंति विदिदच्छा) जो विदितार्थ हैं—तत्व के जानने वाले हैं वे लोग भी परद्रव्य को मेरा है ऐसा व्यवहारनय के द्वारा व्यवहार की भाषा में कहा करते हैं। (जाणंति णिच्छयेण दु ण य इह परमाणु मित्त मम किंचि) किन्तु निश्चयनय से जानते हैं कि यहाँ जो पर द्रव्य हैं उनमें से परमाणुमात्र भी मेरा नहीं है। (जह कोवि णरो जंपदि अह्माणं गामविसयपुर रट्टं) जैसे कोई पुरुष ऐसा स्पष्ट कहे बाड़ी से घिरा हुआ ग्राम, देशनामवाला विषय, नगर है नाम जिसका वह पुर, देश का एक हिस्सा वह राष्ट्र ये सब हमारे हैं। (ण य हुंति ताणि तस्स दु भणदि य मोहेण सो अप्पा) उसके कहने मात्र से वे सब उसके नहीं हो जाते है जो कि ग्रामादिक उस देश के राजा के हैं फिर भी मोहभाव के निमित्त से वह ऐसा कहता है कि अमुक ग्रामादिक मेरे हैं यह तो दृष्टांत हुआ। अब दार्ष्टांत कहते हैं—इसी प्रकार पूर्वोक्त दृष्टांत के द्वारा ज्ञानी जीव भी व्यवहार विमूढ़ होकर यदि परद्रव्य को अपना कहता है तो उस समय मिथ्यात्व को प्राप्त होता हुआ वह अवश्य मिथ्यादृष्टि हो जाता है इसमें संदेह नहीं करना चाहिये। तम्हा इत्यादि चौथी गाथा का अर्थ यह है कि परकीय ग्रामादि दृष्टांत के द्वारा ही स्वात्मानुभूति की भावना पर से च्युत हुआ जीव पर दव्यको व्यवहार से अपना कहता है वह मिथ्यादृष्टि

होता है ऐसा पहले ही कहा जा चुका है। इस कारण से जाना जाता है कि (दुण्हं एदाण कतिववसाम्रो) पर द्रव्य अर्थात् आत्मा से इतर वस्तुओं के बारे में पूर्वोक्त लौकिक जन और जैन जन इन दोनो का ही आत्मा पर द्रव्य को करता है इस रूप से जो कर्त्तापन का व्यवसाय है उसको कोई तीसरा तटवर्ती पुरुष (ण ममेति णच्चा) विकार रहित जो स्व और पर परिच्छित्ती रूप ज्ञान के द्वारा पर द्रव्य मेरा संबंधी नहीं हो सकता इस बात को जानकर (जाणं तो जाणिज्जो दिट्ठीरहिदाणं इमं) लौकिक जन और जैन जन इन दोनों के पर द्रव्य के बारे में होने वाले कर्त्तापन के व्यवसाय को जानता हुआ इस प्रकार जाने कि वीतराग सम्यक्त्व है नाम जिसका ऐसी निश्चय दृष्टि जिनके नहीं है उन लोगों का यह अध्यवसाय है। इस पर शंका होती है कि ज्ञानी होकर भी व्यवहार से जो पर द्रव्य को अपना कहता है वह अज्ञानी कैसे हो सकता है ? उसका उत्तर यह है कि व्यवहार तो प्राथमिक लोगों को संबोधन करने के लिये उस समय ही अनुसरण करने योग्य है जैसे कि म्लेच्छों को समझाने के लिये म्लेच्छ भाषा बोली जाती है। प्राथमिक जनके संबोधन काल को छोड़कर अन्य काल में भी यदि कोई ज्ञानी जीव कतक फल के समान आत्मा का संशोधन करने वाला शुद्धनय उससे च्युत होकर पर द्रव्य को अपना करता है कहता है उस समय वह मिथ्या दृष्टि होता है। अब इसका विस्तार से वर्णन करते हैं—जैसा पहले की तीन गाथाओं में कह आये हैं कि लोगों के मत में विष्णु ही सृष्टि का कर्त्ता है सो वह लोक व्यवहार को लेकर कही हुई बात है किन्तु अनादि स्वरूप इस देव मनुष्यादि प्राणियों से भरे हुये लोक का विष्णु या महेश्वर नाम का कोई भी एक कर्त्ता नहीं है। क्योंकि यह सारा लोक ही एकेन्द्रियादि जीवों से भरा हुआ है उन सभी जीवों में निश्चयनय से विष्णु के रूप से, ब्रह्मा के रूप से, महेश्वर के रूप से और जिनके रूप से परिणमन करने की शक्ति विद्यमान है इसलिये आत्मा ही विष्णु है, आत्मा हो ब्रह्मा है, आत्मा ही महेश्वर है और आत्मा ही जिन भी है। वह कैसे है सो बताते हैं—देखो, कोई जीव अपने पूर्व मनुष्य भवमें जिन दीक्षा लेकर भोगों की आकांक्षा रूप निदान बंधके द्वारा पापानुबंधी पुण्य करके स्वर्ग में जा उत्पन्न हुआ, वहांसे आकर मनुष्य भव में तीन खण्ड का अधिपति अर्द्धचक्री बनता है उसी ही की विष्णु संज्ञा होती है और कोई लोकका कर्त्ता विष्णु नहीं है। इसी प्रकार कोई जिन दीक्षा लेकर रत्नत्रय की आराधना द्वारा पापानुबंधी पुण्य उपार्जन करके विद्यानुवाद नाम के दशवें पूर्व को पढ़कर चारित्र मोह के उदय से तपश्चरण से भ्रष्ट होकर हुंडावसर्पिणी काल के प्रभाव से और अपनी विद्या के बल से मैं इस लोकका कर्त्ता हूँ ऐसा चमत्कार दिखाकर मूढ़ लोगों में आश्चर्य पैदा करके महेश्वर बनता है सो यह सभी अवसर्पिणीयों में नहीं होता किन्तु हुण्डावसर्पिणी में होता है जो कि असंख्यात उत्सर्पिणी और असंख्यात अवसर्पिणी कालों के बीतने पर ही आया करता है। जैसा कि लिखा हुआ है:—

संखातीदव सप्पिणी गयासु हुण्डावसप्पिणी एइ।
पर समयहं उप्पत्ती तहिं जिणवर एव पभणेइ ।।१।।

अर्थात् असंख्यात अवसर्पिणी कालों के बीत जाने पर एक हुण्डावसर्पिणी काल आता है जिसमें जैनेतर मतों की भी उत्पत्ति हो जाती है ऐसा जिनेन्द्र भगवान कहते हैं तो उसी में महेश्वर पैदा होता है इसके सिवाय जगत् का कर्ता महेश्वर नाम का पुरुष नहीं है। इसी प्रकार कोई एक विशिष्ट तपश्चरण करके पश्चात् इस तपश्चरण के प्रभाव से स्त्री विषय का निमित पाकर चारमुख वाला हो जाता है उसी का ब्रह्मानाम है, और कोई व्यापक एक रूप वाला होकर जगत् का कर्ता हो ऐसा ब्रह्मा कोई नहीं है। इसी प्रकार कोई एक दर्शन विशुद्धि विनय सम्पन्नता आदि सोलह भावना को भाकर द्रेवेन्द्रादि द्वारा की

हुई पंच महाकल्याण पूजा के योग्य तीर्थंकर नाम पुण्य को उपार्जनकर जिनेश्वर नाम वाला वीतराग सर्वज्ञ होता है ऐसा वस्तु का स्वरूप है सो जानना चाहिये ।।३४५-३४६-३४७-३४८।।

विशेषार्थः—यहां पर यह बताया है कि जो पर द्रव्य को पर द्रव्य ही नहीं मानते वे तो मिथ्या दृष्टि हैं ही, किन्तु जो पर द्रव्य को पर द्रव्य जानते हुये भी व्यवहार के वश उसे अपना कहते हैं वह भी अज्ञानी एवं मिथ्या दृष्टि हैं। जैसे कोई पुरुष अपना परिचय पूछने पर कहता है कि मैं अमुक नामवाला हूं और अमुक मेरा गांव है। वहां वह यह तो अवश्य जानता है कि वह गांव तो मेरा नहीं है अमुक नाम वाले राजाका है फिर भी वह वहां रहने वाला है इसलिये उसे अपना कहता है किन्तु रहते तो वहां और भी बहुत हैं। एवं वह उसे अपना कहता है तो अज्ञानी है मिथ्या दृष्टि है। वैसे ही जो मुनि यह जानकर कि यह पीछी मोर पंखो की है और यह कमण्डलु काठ का है किन्तु उन्हें अपने पास में रखे हुए है अतः व्यवहार से उन्हें अपने कहता है तो वह अज्ञानी मिथ्यादृष्टि है। अपितु उसे तो चाहिये कि वह अपने उपयोग को उनसे भी हटाकर आत्मोन्मुखी करले आत्मतल्लीन बन रहे तभी वह ज्ञानी सम्यग्दृष्टि है अन्यथा नहीं। अर्थात् यहां पर तो सर्वथा परावलम्ब का त्याग कर स्वावलम्बी बनने की प्रेरणा दी है क्योंकि यहां पर तो एक मात्र मुक्ति का ही लक्ष्य है।

आत्मा को यदि एकान्त से कर्ता मान लिया जाय तो मोक्ष का अभाव ठहरता है इस बात का विष्णु दृष्टांत के द्वारा तीन गाथाओं में पूर्व पक्ष करके चार गाथाओं द्वारा उसका परिहार करने रूप वर्णन वाला सात गाथाओं में पहला स्थल पूर्ण हुआ ।। ३४५-३४६-३४७-३४८ ।।

आगे यह बताते हैं कि द्रव्यार्थिक नयसे जो कर्म करता है वही उस फल को भोगता है और पर्यायार्थिक के नयसे अन्य ही कर्त्ता है और अन्य ही भोगता है इस प्रकार जो कोई मानता है वह सम्यग्दृष्टि होता है—

केहिं चि दु पज्जेयेहिं विणस्सए णेव केहिं चिदु जीवो ।
जह्मा तह्मा कुव्वदि सो वा अण्णो व णेयंतो ।।३४९।।
केहिंचिदु पज्जयेहिं विणस्सए णेव केहिं चिदु जीवो ।
जह्मा तह्मा वेददि सो वा अण्णो व णेयंतो ।।३५०।।
जो चेव कुणइ सो चेव वेदको जस्स एस सिद्धंतो ।
सो जीवो णायव्वो मिच्छादिट्ठी अणारिहदो ।।३५१।।
अण्णो करेदि अण्णो परिभुंजइ जस्स एस सिद्धंतो ।
सो जीवो णादव्वो मिच्छादिट्ठी अणारिहदो ।।३५२।।

कैश्चित्तु पर्यायैर्विनश्यति नैव कैश्चित्तु जीवः ।
यस्मात्तस्मात्करोति स वा अन्यो वा नैकांत ।।३४९।।
कैश्चित्तु पर्यायैर्विनश्यति नैव कैश्चित्तु जीवः ।
यस्मात्तस्माद्वेदयते स वा अन्यो वा नैकांतः ।।३५०।।

यश्चैव करोति स चैव वेदको यस्यैष सिद्धांतः।
स जीवो ज्ञातव्यो मिथ्यादृष्टिरनार्हतः ॥३५१॥
अन्यः करोत्यन्यः परिभुंक्ते यस्य एष सिद्धांतः।
स जीवो ज्ञातव्यो मिथ्यादृष्टिरनार्हतः ॥३५२॥

अर्थ—क्योंकि जीवनामा पदार्थ अपनी कितनी ही पर्यायोंसे विनाश को प्राप्त होता है, किन्तु कितनी ही पर्यायों से वह नष्ट नहीं होता है, इसलिये वह ही कर्त्ता होता है अथवा दूसरा कर्त्ता होता है इस विषय में एकान्त नहीं है किन्तु स्याद्वाद है। इसी प्रकार जब जीव कुछ पर्यायों से तो नष्ट होता है और कुछ पर्यायों से नष्ट नहीं होता है इसलिये वही जीव भोक्ता होता है अथवा दूसरा भोक्ता होता है ऐसा भी एकान्त नहीं है किन्तु स्याद्वाद है। अब जिसका ऐसा मत है कि जो जीव कर्त्ता है वही भोगनेवाला होता है तो वह जीव मिथ्यादृष्टि है, अर्हन्त मत का मानने वाला नहीं है ऐसा जानना चाहिये। इसी प्रकार जिसका ऐसा सिद्धान्त है कि कर्त्ता तो कोई दूसरा है और भोगता कोई दूसरा ही है तो वह जीव भी मिथ्यादृष्टि है अर्हंत मतका मानने वाला नहीं है ऐसा जानना चाहिये।

तात्पर्यवृत्तिः—केहिचिदु पज्जयेहिं विणस्सदे णेव केहिचिदु जीवो कैश्चित्पर्यायैः पर्यायार्थिकनयविभागैर्देवमनुष्यादिरूपैर्विनश्यति जीवः। न नश्यति कैश्चिद्द्रव्यार्थिकनयविभागैः **जह्मा** यस्मादेवं नित्यानित्यस्वभावं जीवरूपं **तह्मा** तस्मात्कारणात् **कुव्वदि सो वा** द्रव्यार्थिकनयेन स एव कर्म करोति। स एव कः? इति चेत्? यो भुंक्ते। **अण्णो वा** पर्यायर्थिकनयेन पुनरन्यो वा। **णियतो** नचैकांतोऽस्ति। एवं कर्तृत्वमुख्यत्वेन प्रथमगाथा गता। **केहिचिदु पज्जयेहिं विणस्सदे णेव केहिचिदु जीवो** कैश्चित् पर्यायैः पर्यायार्थिकनयविभागैः देवमनुष्यादिरूपैर्विनश्चयति जीवः न नश्यति कैश्चिद्द्रव्यार्थि कनयविभागैः। **जह्मा** यस्मादेवं नित्यानित्यस्वभावं जीवस्वरूपं **तह्मा** तस्मात्कारणात् **वेददि सोवा** निजशुद्धात्मभावनोत्थसुखामृतरसास्वादमलभमानः स एव कर्मफलं वेदयत्यनुभवति। स एव कः? इति चेत् येन पूर्वकृतं कर्म। **अण्णोवा** पर्यायर्थिकनयेन पुनरन्यो वा **णेयंतो** नचैकांतोऽस्ति। एवं भोक्तृत्वमुख्यत्वेन द्वितीयगाथा गता। किं च येन मनुष्यभवे शुभाशुभं कर्म कृतं स एव जीवो द्रव्यार्थिकनयेन देव लोके नरके वा भुंक्ते। पर्यायर्थिकनयेन पुनस्तद्भवापेक्षया बालकाले कृतं यौवनादिपर्यायांतरे भुंक्ते। अतिसंक्षेपेण अंतर्मुहूर्त्तानन्तरे च भुंक्ते। भवांतरापेक्षया तु मनुष्यपर्यायेण कृतं देवादिपर्यायेणभुंक्ते इति भावार्थः। एवं गाथाद्वयेनानेकांतव्यवस्थापनारूपेण स्वपक्षसिद्धिः कृता।

अथैकांतेन य एव करोति स एव भुंक्ते। अथवान्यः करोत्यन्यो भुंक्ते इति यो वदति स मिथ्यादृष्टिरित्युपदिशति—

जो चेव कुणदि सोचेव वेदको जस्स एस सिद्धंतो य एव जीवः शुभाशुभं कर्म करोति स एव चैकांतेन भुंक्ते न पुनरन्यः, यस्यैष सिद्धान्तः—आगमः। **सो जीवो णादव्वो मिच्छादिट्ठी अणारिहदो** स जीवो मिथ्यादृष्टिरनार्हतो ज्ञातव्यः। कथं मिथ्यादृष्टिः? इति चेत् यदैकांतेन नित्यकूटस्थोऽपरिणामी टंकोत्कीर्णः सांख्यमतवत् तदा येन मनुष्यभवेन नरकगतियोग्यं पापकर्मकृतं स्वर्गगतियोग्यं पुण्यकर्म कृतं तस्य जीवस्य नरके स्वर्गे वा गमनं न प्राप्नोति। तथा शुद्धात्मानुष्ठानेन मोक्षश्च कुतः? नित्यैकांतत्वादिति। **अण्णो करेदि अण्णो परिभुंजदि जस्स एस सिद्धंतो** अन्यः करोति कर्म भुंक्ते चान्यः, यद्येकांतेन ब्रूते **सो जीवो णादव्वो मिच्छादिट्ठी अणारिहदो** तदा येन मनुष्यवे पुण्यकर्म कृतं पापकर्मकृतं मोक्षार्थं शुद्धात्मभावनानुष्ठानं वा तस्य पुण्यकर्मणां देवलोकेऽन्यः कोऽपि भोक्ता प्राप्नोति न च स जीवः। नरकेऽपि तथैव। केवलज्ञानादिव्यक्तिरूपं मोक्षं चान्यः कोऽपि लभते ततश्च

पुण्यपापमोक्षानुष्ठानं वृथेति बौद्धमतदूषणं, इति गाथाद्वयेन नित्यैकान्तक्षणिकैकांतमतं निराकृतं । एवं द्वितीयस्थले सूत्र चतुष्टयं गतं । अथ यद्यपि शुद्धनयेन शुद्धबुद्धैकस्वभावत्वात् कर्मणामकर्त्ता जीवस्तथाप्यशुद्धनयेन रागादिभावकर्मणां स ऐव कर्ता न च पुद्गल इत्याख्याति— अत्र गाथापंचकेन प्रत्येकं गाथा पूर्वार्धेन सांख्यमतानुसारिशिष्यं प्रति पूर्वपक्षः, उत्तरार्धेन परिहार इति ज्ञातव्यं—

टीका:—(केहिंचिदु पज्जयेहिं विणस्सदे णेव केहिंचिदु जीवो) पर्यायार्थिक नय के द्वारा जिनका विभाग किया जाता है ऐसी देव मनुष्यादि पर्यायों के द्वारा यह जीव नाश को प्राप्त होता है, किन्तु द्रव्यार्थिकनय के द्वारा जिनका विभाग किया जाता है ऐसी कुछ अवस्थाओं के द्वारा नाश को प्राप्त नहीं होता। (जम्हा) क्योंकि जीव का स्वरूप नित्य और अनित्य स्वभाव वाला है (तम्हा) इसलिये (कुव्वदि सो वा) द्रव्यार्थिकनयकी दृष्टि से तो वही जीव काम करने वाला है। वही कौन ? कि जो कि भोगता है वही (अण्णो वा) किन्तु पर्यायार्थिक नयसे दूसरा करने वाला होता है (णेयंतो) इस विषय में एकांत नहीं है। (के हिं चिदु पज्जयेहिं विणस्सए णेव केहिंचिदु जीवो) पर्यायार्थिक नय के द्वारा जिनका ग्रहण होता है उन कुछ देव मनुष्यादि अवस्थाओं के द्वारा तो यह जीव नष्ट होता है किन्तु द्रव्यार्थिकनय के द्वारा जिनका ग्रहण होता है उन अवस्थाओं के द्वारा नष्ट नहीं होता अर्थात् बना रहता है। (जम्हा) जबकि जीवका स्वरूप इस प्रकार नित्यानित्यात्मक है (तम्हा) इस कारण (वेददि सो वा) अपनी शुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न हुआ जो सुखामृत रस उसको नहीं प्राप्त होने वाला जीव है वही जीव कर्मफल को वेदता है अनुभव करता है। वही कौनसा जीव ? जिसने पहले कर्म किया है (अण्णो वा) किन्तु पर्यायार्थिकनय से दूसरा ही जीव कर्म के फलको भोगता है (णेयंतो) इस प्रकार इस विषय में भी एकांत नहीं है। इस प्रकार भोगता की मुख्यता लेकर यह दूसरी गाथा का अर्थ हुआ। भावार्थ-यह है कि जिसने मनुष्य जन्म में जो शुभाशुभ कर्म किया था वही जीव द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा इस लोक में नर्क में जाकर उसके फलको भोगता है और पर्यायार्थिकनय से उसी भव की अपेक्षा से अपने बालकाल में किये हुए कर्मको यौवनादि अवस्थाओं में भोगता है अतिसंक्षेप से कहा जाय तो अन्तर्मुहुर्त के बाद भोगता है किन्तु भवांतर की अपेक्षा देखें तो मनुष्य पर्याय में किये हुए कर्म को देव पर्याय में जाकर भोगता है। इस प्रकार इन दो गाथाओं से अनेकान्त की व्यवस्था करते हुये आचार्य देवने अपने स्याद्वाद की सिद्धि की। अब इसके आगे जो एकान्त से ऐसा मानता है कि जो कर्त्ता है वही भोगता है अथवा जो ऐसा मानता है कि कर्त्ता दूसरा है व भोक्ता दूसरा है इस प्रकार जो एकान्त करता है वह मिथ्यादृष्टि है इस प्रकार कथन आगे कर रहे हैं। (जो चेव कुणदि सो चेव वेदगो जस्स एस सिद्धंतो) जिसका एकांत से ऐसा सिद्धांत है कि जो शुभ या अशुभ कर्म करता है वही उसके फल को भोगता है दूसरा नहीं (सो जीवो णादव्वो मिच्छादिट्ठी अणारिहदो) वह जीव मिथ्यादृष्टि है अर्हंत् मत का मानने वाला नहीं है ऐसा जानना चाहिये। वह मिथ्यादृष्टि क्यों है ? कि यदि जीव एकांत से नित्य कूटस्थ अपरिणामी और टंकोत्कीर्ण ही मान लिया जाय जैसा कि सांख्यमत में माना जाता है तो फिर जिस जीवने मनुष्य भवमें नरक गति के योग्य पापकर्म किया या स्वर्गगति के योग्य पुण्यकर्म किया उस जीवका नरक में या स्वर्ग में गमन नहीं हो सकता तथा शुद्धात्मा के अनुष्ठान के द्वारा फिर उसका मोक्ष भी कहां ? क्योंकि यहां तो एकांत नित्यता है। (अर्थात् जीव जैसा है वैसा सदा रहता है इसमें कुछ भी फेरफार होता ही नहीं) (अण्णो करेइ अण्णो परिभुंजदि जस्स एस सिद्धतो) एकांत से जो ऐसा कहता है कि कर्म तो कोई अन्य ही करता है और फल उसका कोई अन्य ही भोगता है (सो जीवो णादव्वो मिच्छादिट्ठी अणारहिदो)

तो फिर मनुष्य भव में जिसने पुण्य कर्म किया या पापकर्म किया अथवा मोक्ष के लिये शुद्धात्मा की भावना का अनुष्ठान किया तो उसके उस पुण्य कर्म के फल का देवलोक में कोई भी भोगने वाला बन जायगा अपितु वह जीव भोगता नहीं होगा। इसी प्रकार नर्क में भी उसके पापकर्म का भोक्ता वह न होकर दूसरा हो जायगा तथा केवलज्ञानादि व्यक्ति रूप मोक्ष को भी कोई अन्य जीव ही प्राप्त करेगा ऐसी दशा में पुण्य, पाप और मोक्षका अनुष्ठान व्यर्थ ही ठहरेगा। इस प्रकार से बौद्धमत में दूषण बतलाया और इन दो गाथाओं के द्वारा नित्य एकांतवादी के मत का और क्षणिक एकांतवादी के मत का निराकरण किया। ३४९-३५०-३५१-३५२॥

विशेषार्थ—पं. जयचन्दजी का भावार्थ-वस्तु का स्वभाव जिनवाणी में द्रव्य पर्याय स्वरूप कहा है इसलिये पर्याय अपेक्षा तो वस्तु क्षणिक है और द्रव्य अपेक्षा से नित्य है ऐसा अनेकान्त स्याद्वाद से सिद्ध होता है। ऐसा होने पर जीव नामा वस्तु भी ऐसा ही द्रव्य पर्याय स्वरूप है, इसलिये पर्याय अपेक्षा कर देखा जाय तब तो कार्य को करता तो अन्य पर्याय है और भोगता अन्य ही पर्याय है। जैसे मनुष्य पर्याय में शुभाशुभ कर्म किये उनका फल देवादि पर्यायों में भोगा। परन्तु द्रव्य दृष्टि कर देखा जाय तब जो करता है वही भोगता है ऐसा सिद्ध होता है, जैसे कि मनुष्य पर्याय में जो जीव द्रव्य था जिसने शुभ तथा अशुभ कर्म किये थे वही जीव देवादि पर्याय में गया वहां उसी जीव ने अपने किये का फल भोगा। इस प्रकार वस्तु का स्वरूप अनेकान्त रूप सिद्ध होने पर भी शुद्ध नय में तो संशय नहीं और शुद्ध नय के लोभ से वस्तु का पर्याय वर्तमान काल में जो एक अंश था उसी को वस्तु मानकर ऋजुसूत्र नय का एकांत पकड़ कर जो ऐसा मानते हैं कि जो करता है वह भोगता नहीं है अन्य भोगता है। और जो भोगता है वह करता नहीं है अन्य करता है। ऐसे मिथ्या दृष्टि अरहंत के मत के नहीं है। क्योंकि पर्याय के क्षणिकपना होने पर भी द्रव्यरूप चैतन्य चमत्कार तो अनुभव गोचर नित्य है। जैसे प्रत्यभिज्ञान से ऐसा जाने कि जो बालक अवस्था में मैं था वही अब तरुण अवस्था में तथा वृद्ध अवस्था में हूं। इस प्रकार जो अनुभव गोचर स्वसंवेदन में आवे तथा जिनवाणी में भी ऐसा कहे उसको जो न माने वही मिथ्या दृष्टि कहलाता है, ऐसा जानना।

इस प्रकार इस दूसरे स्थल में चार गाथाएं पूर्ण हुई।

आगे कहते हैं कि यद्यपि शुद्धनयसे शुद्ध बुद्ध एक स्वभावरूप होने से यह जीव कर्मों का कर्त्ता नहीं है तो भी अशुद्ध नयसे रागद्वेषादि भाव कर्मों का वह ही कर्त्ता हैं पुद्गल नहीं है। यहां पांच गाथाएं हैं इनमें प्रत्येक गाथा के पूर्वार्द्ध में सांख्यमत के अनुसार चलने वाले शिष्य का पूर्व पक्ष है तथा उत्तरार्द्ध से उसीका परिहार है ऐसा जानना चाहिये:—

मिच्छत्ता जदि पयडी मिच्छादिट्ठी करेदि अप्पाणं।
तह्मा अचेदणा दे पयड़ी णणु कारगो पत्तो ॥३५३॥
सम्मत्ता जदि पयडी सम्मादिट्ठी करेदि अप्पाणं।
तह्मा अचेदणा दे पयडी णणु कारगो पत्तो ॥३५४॥

अहवा एसो जीवो पोग्गलदव्वस्स कुणदि मिच्छत्तं ।
तह्मा पोग्गलदव्वं मिच्छादिट्ठी ण पुण जीवो ।।३५५।।
अह जीवो पयडी विय पोग्गलदव्वं कुणंति मिच्छत्तं ।
तह्मा दोहिकदत्तं दोह्णिवी भुंजंति तस्स फलं ।।३५६।।
अह ण पयडी ण जीवो पोग्गलदव्वं करेदि मिच्छत्तं ।
तह्मा पोग्गलदव्वं मिच्छत्तं तंतु णहु मिच्छा ।।३५७।। (पंचकम्)

मिथ्यात्वं यदि प्रकृति मिथ्यादृष्टिं करोत्यात्मानं ।
तस्मादचेतना ते प्रकृतिर्ननु कारकः प्राप्तः ।।३५३।।
सम्यक्त्वं यदि प्रकृतिः सम्यग्दृष्टिं करोत्यात्मानं ।
तस्मादचेतना ते प्रकृतिर्ननु कारकः प्राप्तः ।।३५४।।
अथवैषः जीवः पुद्गलद्रव्यस्य करोति मिथ्यात्वं ।
तस्मात्पुद्गलद्रव्यं मिथ्यादृष्टिर्न पुनर्जीवः ।।३५५।।
अथ जीवः प्रकृतिरपि पुद्गलद्रव्यं कुरुते मिथ्यात्वं ।
तस्माद्द्वाभ्यां कृतं द्वावपि भुंजाते तस्य फलं ।।३५६।।
अथ न प्रकृतिर्न च जीवः पुद्गलद्रव्यं करोति मिथ्यात्वं ।
तस्मात्पुद्गलद्रव्यं मिथ्यात्वं तत्तु न खलु मिथ्या ।।३५७।।

अर्थ—यहां जीव के जो मिथ्यात्व भाव होता है उसको निश्चय से कौन करता है इस बात का विचार करते हैं—यदि मिथ्यात्व नाम की मोह कर्म की प्रकृति जो कि पुद्गलद्रव्यमय है वही आत्मा को मिथ्यादृष्टि बनाती है (जैसा कि सांख्यमत में माना गया है वैसा मान लिया जाय) तो वहां जो प्रकृति है वह तो स्वयं अचेतन है सो वह अचेतन प्रकृति जीव को मिथ्यात्व भाव को करनेवाली हो जाय इसी प्रकार यदि सम्यक्त नाम की मोह प्रकृति आत्मा को सम्यग्दृष्टि बनाती है तो निश्चयसे अचेतन कर्म प्रकृति को कर्तापन प्राप्त हो जाय पर ऐसा बनता नहीं । और यदि ऐसा माना जावे कि यह जीव ही पुद्गल द्रव्य के मिथ्यात्व को करता है तो फिर पुद्गल द्रव्य ही मिथ्यादृष्टि सिद्ध हुआ, जीव मिथ्यादृष्टि नहीं ठहरा सो भी ठीक नहीं होता । और यदि ऐसा माना जाय कि जीव और प्रकृति ये दोनों ही पुद्गल द्रव्य को मिथ्यात्वरूप करते हैं तो दोनों के द्वारा किये हुये का फल भी फिर दोनों को ही होना चाहिये सो बनता नहीं । और यदि ऐसा मानिये कि पुद्गल द्रव्य को मिथ्यात्वरूप न तो प्रकृति ही करती है और न जीव ही करता है तो फिर पुद्गल द्रव्य स्वयं मिथ्यात्व रूप हुआ कहना होगा सो ऐसा मानना तो भूल भरा है इसलिये यह सिद्ध होता है कि मिथ्यात्व नामा जीव का जो भाव है उसका कर्ता तो अज्ञानी जीव है और उसकेनिमित्त से पुद्गल परमाणु पिण्ड में मिथ्यात्वकर्मरूप बनने की शक्ति आजाती है ।।३५३-३५४-३५५-३५६-३५७।।

तात्पर्यवृत्तिः—मिच्छत्ता जदि पयडी मिच्छादिट्ठी करेदि अप्पाणं द्रव्यमिथ्यात्वप्रकृतिः कर्ता यद्यात्मानं स्वयमपरिणामिनं हठान्मिथ्यादृष्टिं करोति **तह्मा अचेदणादे पयडी णणु कारगो पत्तो** तस्मात्कारणादचेतना तु या

द्रव्यमिथ्यात्वप्रकृतिः सा तव मते नन्वहो भावमिथ्यात्वस्य कर्त्री प्राप्ता जीवस्त्वेकांतेनाकर्ता प्राप्तः । ततश्च कर्मबंधाभावः, कर्मबंधाभावे संसाराभावः । स च प्रत्यक्षविरोधः । **सम्मत्ता जदि पयडी सम्मादिट्ठी करेदि अप्पाणं** सम्यक्त्वप्रकृतिः कर्त्री यद्यात्मानं स्वयमपरिणामिनं सम्यग्दृष्टिं करोति **तह्मा अचेदणादे पयडी णणु कारगो पत्तो** तस्मात्कारणात् अचेतना प्रकृतिः हे तव मते नन्वहो कर्त्री प्राप्ता जीवस्त्वेकांतेन सम्यक्त्वपरिणामस्याकर्तेति ततश्च वेदकसम्यक्त्वाभावो, वेदकसम्यक्त्वाभावे क्षायिकसम्यक्त्वाभावः ततश्च मोक्षाभावः । स च प्रत्यक्षविरोध आगमविरोधश्च । अत्राह शिष्यः—प्रकृतिस्तावत्कर्मविशेषः सच सम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभयरूपस्य त्रिविधदर्शनमोहस्य सम्यक्त्वाख्यः प्रथमविकल्पः सच कर्मविशेषः कथं सम्यक्त्वं भवति ? । सम्यक्त्वं तु निर्विकारसदानंदैकलक्षणपरमात्मतत्त्वादिश्रद्धानरूपो मोक्षबीजहेतुर्भव्यजीवपरिणाम इति । परिहारमाह—सम्यक्त्वप्रकृतिस्तु कर्मविशेषोभवति तथापि यथा निर्विषीकृतं विषं मरणं न करोति तथा शुद्धात्माभिमुखपरिणामेन मंत्रस्थानीयविशुद्धिविशेषमात्रेण विनाशितमिथ्यात्वशक्तिः सन् क्षायोपशमिकादिलब्धिपंचकजनितप्रथमौपशमिकसम्यक्त्वानंतरोत्पन्नवेदकसम्यक्त्वस्वभावं तत्त्वार्थश्रद्धानरूपं जीवपरिणामं न हंति तेन कारणेनोपचारेण सम्यक्त्वहेतुत्वात्कर्मविशेषोऽपि सम्यक्त्वं भण्यते स च तीर्थंकरनामकर्मवत् परंपरया मुक्तिकारणं भवतीति नास्ति दोषः । **अहवा एसो जीवो पुग्गलदव्वस्स कुणदि मिच्छत्तं** अथवा पूर्वदूषणभयादेष प्रत्यक्षीभूतोजीवः, द्रव्यकर्मरूपस्य पुद्गलद्रव्यस्य शुद्धात्मतत्त्वादिषु विपरीताभिनिवेशजनकं भावमिथ्यात्वं करोति, न पुनः स्वयं भावमिथ्यात्वरूपेण परिणमति इति मतं **तह्मा पुग्गलदव्वं मिच्छादिट्ठी ण पुण जीवो** तर्ह्येकांतेन पुद्गलद्रव्यं मिथ्यादृष्टिन पुनर्जीवः । कर्मबंध तस्यैव, संसारोऽपितस्यैव, न च जीवस्य, स च प्रत्यक्ष विरोधं इति । **अह जीवो पयडीविय पुग्गलदव्वं कुणंति मिच्छत्तं** अथ पूर्वदूषणभयाज्जीवः प्रकृतिरपि पुद्गलद्रव्यं कर्मतापन्नं भावमिथ्यात्वं कुरुत—इति मतं **तह्मा दोहिकदत्तं** तस्मात्कारणाज्जीवपुद्गलाभ्यामुपादानकारणभूताभ्यां कृतं तन्मिथ्यात्वं । **दुण्णिवि भुंजंति तस्स फलं** तर्हि द्वौ जीवपुद्गलौ तस्य फलं भुंजाते ततश्चाचेतनायाः प्रकृतेरपि भोक्तृत्वं प्राप्तं स च प्रत्यक्षविरोध इति । **अह ण पयडी ण जीवो पुग्गलदव्वं करेदि मिच्छत्तं** अथ मतं न प्रकृतिः करोति नच जीव एव एकांतेन । किं ? पुद्गलद्रव्यं कर्मतापन्नं । कथंभूतं । न करोति ? मिथ्यात्वं भावमिथ्यात्वरूपं **तह्मा पुग्गलदव्वं मिच्छत्तं तंतु णहु मिच्छा** तर्हि यदुक्तं पूर्वसूत्रे **अहवा एसो जीवो पुग्गल दव्वस्स कुणदि मिच्छत्तं** तद्वचनं तु पुनः **हु** स्फुटं किं मिथ्या न भवति ? अपि तु भवेत्यव । किं च—यद्यपि शुद्धनिश्चयेन शुद्धोजीवस्तथापि पर्यायार्थिकनयेन कथंचित्परिणामित्वे सत्यनादिकर्मोदयवशाद्रागाद्युपाधिपरिणामं गृह्णाति स्फटिकवत् । यदि पुनरेकांतेनपरिणामी भवति तदोपाधिपरिणामो न घटते । जपापुष्पोपाधिपरिणमनशक्तौ सत्यां स्फटिके जपापुष्पमुपाधिं जनयति न च काष्ठादौ, कस्मादिति चेत् तदुपाधिपरिणमनशक्त्यभावात् इति । एवं यदि द्रव्यमिथ्यात्वप्रकृतिः कर्त्री एकांतेन यदि भावमिथ्यात्वं करोति तदा जीवो भावमिथ्यात्वस्य कर्त्ता न भवति । भावमिथ्यात्वाभावे कर्मबंधाभावः ततश्च संसाराभावः सच प्रत्यक्षविरोधः । इत्यादि व्याख्यानरूपेण तृतीयस्थले गाथापंचकं गतं ।

अथ ज्ञानाज्ञानसुखदुःखादिकर्मैकांतेन कर्मैव करोति नचात्मेति सांख्यमतानुसारिणो वदंति तान्प्रति पुनरपि नयविभागेनात्मनः कथंचित्कर्तृत्वं व्यवस्थापयति—

तत्र त्रयोदशगाथासु मध्ये कर्मैवैकांतेन कर्तृ भवति इति कथनमुख्यत्वेन **कम्मेहिं दु अण्णाणी** इत्यादि सूत्रचतुष्टयं । ततः परं सांख्यमतेप्येवं भणितमास्ते—इति संवाददर्शनार्थं ब्रह्मचर्यस्थापनमुख्यत्वेनं **पुरुसित्थियाहिलासी** इत्यादि गाथाद्वयं । अहिंसास्थापनमुख्यत्वेन **जह्मा घावेदि परं** इत्यादि गाथाद्वयं । प्रकृतेरेव कर्तृत्वं नचात्मन इत्येकांतनिराकरणार्थं—अस्यैव गाथाचतुष्टयस्यैव दूषणोपसंहाररूपेण **एवं संखुवदेसं** इत्यादि गाथैका इति सूत्रपंचकसमुदायेन द्वितीयमंतरस्थलं । तदनंतरं—आत्मा कर्म न करोति कर्मजनितभावांश्च किंत्वात्मानं करोतीत्येकगाथायां पूर्वपक्षो गाथात्रयेण परिहार इति समुदायेन **अहवा मण्णसि मज्झं** इत्यादि सूत्रचतुष्टयं । एवं चतुरांतराधिकारे स्थलत्रयेण समुदायपातनिका ।

टीका:—(मिच्छत्ता जदि पयड़ी मिच्छादिट्ठी करेदि अप्पाणं) जो आत्मा स्वयं नहीं परिणमन करने वाला है उसको द्रव्य मिथ्यात्व प्रकृति हटात् मिथ्यादृष्टि बना देती है (तम्हा अचेदणादे पयड़ी णणु कारगो पत्तो) तब हे सांख्यमतिन् ! तेरे मत से तो अचेतनरूप यह द्रव्य मिथ्यात्व नाम की प्रकृति है वही भाव मिथ्यात्व की करने वाली ठहरी, जीव तो फिर सर्वथा अकर्त्ता ही ठहरा। तब फिर उसको तो कर्म बंध नहीं होना चाहिये, और जब कर्म बंध नहीं तो संसार का अभाव आया सो यह प्रत्यक्ष विरुद्ध है। इसी प्रकार (सम्मत्ता जदि पयड़ी सम्मादिट्ठी करेदि अप्पाणं) सम्यक्त्व नाम वाली प्रकृति स्वयं नहीं परिणमन करनेवाले आत्मा को सम्यग्दृष्टि बना देती है (तह्मा अचेदणा दे पयडी णणु कारगो पत्तो) तो फिर चैतन्य शून्य प्रकृति ही तेरे मतमें कर्त्ता ठहरी जीव तो सम्यक्त्व परिणामका कर्त्ता नहीं ठहरा अपितु अकर्त्ता ही रहा तो वेदक सम्यक्त्व का अभाव ही रहा, और वेदक सम्यक्त्व के अभावमें क्षायिक सम्यक्त्व का भी अभाव ठहरा और उससे मोक्ष का भी अभाव हुआ तब यह प्रत्यक्ष विरोध व आगम विरोध हुआ। इस पर प्रश्न होता है कि सम्यक्त्व प्रकृति तो कर्म का भेद है जो कि सम्यक्त्व, मिथ्यात्व, और सम्यक् मिथ्यात्व के भेद से तीन प्रकार के होने वाले दर्शन मोह का प्रथम भेद है वह सम्यग्दर्शन कैसे हो सकता है ? क्योंकि सम्यक्त्व तो भव्य जीव का परिणाम होता है जो कि निर्विकार सदानन्द रूप है लक्षण जिसका ऐसा जो परमात्म तत्व उसे आदि लेकर जीवादि सातों तत्वों के श्रद्धान रूप होकर मोक्ष का बीज भूत होता है। इसका उत्तर यह है कि यद्यपि सम्यक्त्व प्रकृति कर्म विशेष है यह ठीक है किन्तु निर्विष किया हुआ विष जैसे मारने वाला नहीं होता है वैसे ही मन्त्र स्थानीय विशुद्धि विशेष मात्र शुद्धात्मा के अभिमुख परिणाम के द्वारा नष्ट करदी गई है मिथ्यात्व शक्ति जिसकी ऐसा वह सम्यक्त्व नामकर्म विशेष है वह क्षायोपशमिक आदि पांच लब्धियों के द्वारा उत्पन्न हुआ प्रथमोपशम सम्यक्त्व उसके अनन्तर उत्पन्न जो वेदक सम्यक्त्व उसका स्वभाव जो तत्वार्थ श्रद्धानरूप आत्म परिणाम उसको नष्ट नहीं करता है, इसलिये उपचार से सम्यक्त्व का हेतु होने के कारण यह कर्म विशेष भी सम्यक्त्व कहा जाता है, जो कि तीर्थंकर नामकर्म के समान परम्परा से मुक्ति का कारण भी होता हैं। इसमें कोई दोष नहीं है। (अहवा एसो जीवो पुग्गलदव्वस्स कुणदि मिच्छत्तं) अब यदि उपर्युक्त दूषण से बचने के लिये यह कहा जाय कि यह प्रत्यक्षभूत जीव द्रव्य कर्मरूप पुद्गल द्रव्य के शुद्धात्म तत्वादिक के विषय में विपरीत अभिप्राय को पैदा करने वाले भाव मिथ्यात्व को कर देता है किन्तु स्वयं भाव मिथ्यात्व रूप परिणमन नहीं करता है ऐसा तेरा मत है (तह्मा पुग्गलदव्वं मिच्छादिट्ठी ण पुण जीवो) तो फिर एकांत रूप से वह पुद्गल द्रव्य ही मिथ्या दृष्टि होना चाहिये, जीव मिथ्या दृष्टि नहीं होना चाहिये। ऐसी दशा में कर्मबंध भी उसीके होना चाहिये, संसार भी उसी के, अपितु जीव के तो फिर कुछ नहीं होना चाहिये यह प्रत्यक्ष विरोध है। (अह जीवो पयड़ी विय पुग्गल दव्वं कुणंति मिच्छत्तं) फिर इस दूषण से बचने के लिये भी यह कहा जाय कि जीव और प्रकृति दोनों कर्म रूप पुद्गल द्रव्य को भाव मिथ्यात्व रूप कर देते हैं (तम्हा दोवि कदत्तं) तो उपादान कारणभूत उन दोनों के द्वारा किये हुये उस मिथ्यात्व के (दुण्णिवि भुंजंति तस्स फलं) फल को जीव और पुद्गल दोनों ही भोगें ऐसा होना चाहिये सो इसमें अचेतन रूप प्रकृति के भी भोक्तापन का प्रसंग आया यह प्रत्यक्ष में विरोध है। (अह ण पयड़ी ण जीवो पुग्गलदव्वं करेदि मिच्छत्तं) यदि ऐसा कहा जाय कि एकांत से न तो प्रकृति ही करती है और न अकेला जीव ही इस कर्म को भाव मिथ्यात्व रूप करता है (तम्हा पुग्गलदव्वं मिच्छत्तं तं तु ण हु मिच्छा) तब पुद्गल द्रव्य ही मिथ्यात्व ठहरा सो ऐसा कहना क्या मिथ्यापन नहीं है ? किन्तु मिथ्या ही है क्योंकि यह "अहवा एसो जीवो पुग्गलदव्वस्स कुणदि मिच्छत्तं" इस पूर्वोक्त वाक्य से विरुद्ध ही है।

स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि यद्यपि शुद्ध निश्चयनय से जीव शुद्ध ही है फिर भी पर्यायार्थिक नय से कथंचित् परिणामीपना होने पर अनादि काल से धारा प्रवाह रूप से चले आये कर्मों के उदय के वश से यह जीव स्फटिक पाषाण के समान ही रागादिरूप उपाधि परिणाम को ग्रहण करता है। यदि एकांत से यह अपरिणामी ही हो तो फिर इसमें उपाधि रूप परिणाम कभी घटित नहीं हो सकता है। स्फटिक पाषाण में जपा पुष्प की उपाधिके द्वारा परिणमन कर जाने की शक्ति है इसलिये जपापुष्प उस स्फटिक में उपाधि पैदा कर देता है किन्तु वही जपापुष्प काष्टादिक में उपाधि पैदा नहीं करता क्योंकि वहां उपाधि रूप से परिणमन शक्ति का अभाव है। ऐसी ही बात जीव के विषय में है। इस प्रकार एकान्त से यदि ऐसा मान लिया जाय कि द्रव्य रूप मिथ्यात्व प्रकृति ही कर्त्ता बनकर भाव मिथ्यात्व को कर देती है तब फिर जीव भाव मिथ्यात्व का कर्त्ता नहीं ठहरता है, एवं जीव में भाव मिथ्यात्व के न होने पर कर्म का अभाव आ जाता है और कर्म के अभाव से संसार का अभाव आता है सो यह प्रत्यक्ष विरोध है। इत्यादि रूप से व्याख्यान द्वारा तृतीय स्थल में पांच गाथाएं पूर्ण हुई ॥३५३-३५४-३५५-३५६-३५७॥

आगे ज्ञान, अज्ञान, सुख, दुख आदि कर्म एकांत से कर्म ही करता है, आत्मा नहीं करता, ऐसे सांख्यमत के अनुसार चलने वाले कहते हैं। उन्हीं के प्रति नय विभाग से यह सिद्ध करते हैं कि यह जीव कथंचित् कर्त्ता है। इसकी तेरह गाथायें हैं इनमें कर्म ही एकांत से कर्त्ता होता है इसकी मुख्यता से 'कम्मेहिं दु अण्णाणी' इत्यादि चार सूत्र हैं। उसके बाद सांख्य मत में भी ऐसा कहा गया है इस संवाद को बतलाने के लिये ब्रह्मचर्य के स्थापन की मुख्यता से "पुरुसित्थीयाहिलासी" इत्यादि दो गाथायें हैं। अहिंसा की स्थापना की मुख्यता से "जह्मा घादेदि परं" इत्यादि दो गाथायें हैं। प्रकृति के ही कर्त्तापन है आत्मा के नहीं इस एकांत के दूषण को दूर करने के लिये इसी ही चार गाथाओं का ही दिखाया हुआ संकोच रूप "एवं संखुवदेसं" इत्यादि एक गाथा है। ऐसे पांच सूत्रों के समुदाय से दूसरा अंतरस्थल हुआ। उसके बाद आत्मा कर्म व कर्म जनित भाव नहीं करता किन्तु अपने आपको करता है इस प्रकार कहते हुये एक गाथा में पूर्व पक्ष है और तीन गाथाओं में उसका परिहार है इस प्रकार समुदाय रूप से "अहवा मण्णसि मज्झं" इत्यादि चार सूत्र हैं। इस प्रकार चार अन्तर अधिकार में तीसरे स्थल के द्वारा समुदाय पातनिका हुई।

कम्मेहिं दु अण्णाणी किज्जदि णाणी तहेव कम्मेहिं।
कम्मेहिं सुवाविज्जदि जग्गाविज्जदि तहेव कम्मेहिं ॥३५८॥
कम्मेहिं सुहाविज्जदि दुक्खाविज्जदि तहेव कम्मेहिं।
कम्मेहिं य मिच्छत्तं णिज्जदिय असंजयं चेव ॥३५९॥
कम्मेहिं भमाडिज्जदि उड्ढमहं चावि तिरियलोयम्मि।
कम्मेहिं चेव किज्जदि सुहासुहं जेत्तियं किंचि ॥३६०॥
जह्मा कम्मं कुव्वदि कम्मं देदित्ति हरदि जं किंचि।
तह्मा सव्वे जीवा अकारया हुंति आवण्णा ॥३६१॥

पुरुसिच्छियाहिलासी इच्छी कम्मं च पुरिसमहिलसदि ।
एसा आयरियपरंपरागदा एरिसि दु सुदी ॥३६२॥
तह्मा ण कोवि जीवो अबंभचारी दु तुह्ममुवदेसे ।
जह्मा कम्मं चेवहि कम्मं अहिलसदी जं भणियं ॥३६३॥
जह्मा घादेदि परं परेण घादिज्जदेदि सापयडी ।
एदेणच्छेण दु किर भण्णदि परघादणामेत्ति ॥३६४॥
तह्मा ण कोवि जीवो उवघादगो अत्थि तुह्म उवदेसे ।
जह्मा कम्मं चेवहि कम्मं घादेदि जं भणियं ॥३६५॥
एवं संखुवदेसं जेदु परूविंति एरिसं समणा ।
तेसिं पयडी कुव्वदि अप्पा य अकारया सव्वे ॥३६६॥
अहवा मण्णसि मज्झं अप्पा अप्पाण अप्पणो कुणदि ।
एसो मिच्छसहावो तुह्मं एवं भणंतस्स ॥३६७॥
अप्पा णिच्चो असंखिज्जपदेसो देसिदो दु समयम्हि ।
णवि सो सक्कदि तत्तो हीणो अहियोव कादुं जे ॥३६८॥
जीवस्स जीवरूवं विच्छरदो जाण लोग मित्तं हि ।
तत्तो किं सो हीणो अहियोव कदं भणसि दव्वं ॥३६९॥
जह जाणओ दु भावो णाणसहावेण अत्थि देदि मदं ।
तह्मा ण वि अप्पा अप्पयं तु सयमप्पणो कुणदि ॥३७०॥

कर्मभिस्तु अज्ञानी क्रियते ज्ञानी तथैव कर्मभिः ।
कर्मभिः स्वाप्यते जागर्यते तथैव कर्मभिः ॥३५८॥
कर्मभिः सुखीक्रियते दुःखीक्रियते तथैव कर्मभिः ।
कर्मभिश्च मिथ्यात्वं नीयते नीयतेऽसंयमं चैव ॥३५९॥
कर्मभिर्भ्राम्यते उर्द्धमधश्चापि तिर्यग्लोकं च ।
कर्मभिश्चैव क्रियते शुभाशुभं यावत्किंचित् ॥३६०॥

यस्मात् कर्म करोति कर्म ददाति कर्म हरतीति यत्किंचित् ।
तस्मात्तु सर्वजीवा अकारका भवंत्यापन्नाः ॥३६१॥
पुरुषः स्त्र्यभिलाषी स्त्रीकर्म च पुरुषमभिलषति ।
एषाचार्यपरंपरागतेदृशी तु श्रुतिः ॥३६२॥
तस्मान्न कोऽपि जीवोऽब्रह्मचारी युष्माकमुपदेशे ।
यस्मात् कर्म चैव हि कर्माभिलषतीति यद्भणितं ३६३॥
यस्माद्धंति परं परेण हन्यते च सा प्रकृतिः ।
एतेनार्थेन तु किल भण्यते पर घातनामेति ॥३६४॥
तस्मान्नकोऽपि जीव उपघातकोऽस्ति युष्माकमुपदेशे ।
यस्मात् कर्मैव हि कर्म हंतीति भणितं ॥३६५॥
एवं सांख्योपदेशं ये तु प्ररूपयंतीदृशं श्रमणाः ।
तेषां प्रकृतिः करोत्यात्मानश्चाकारकाः सर्वे ॥३६६॥
अथवा मन्यसे ममात्मात्मानमात्मनः करोति ।
एष मिथ्यास्वभावस्तवैतन्मन्यमानस्य ॥३६७॥
आत्मा नित्योऽसंख्येयप्रदेशो दर्शितस्तु समये ।
नापि स शक्यते ततो हीनोऽधिकश्च कर्तुं यत् ॥३६८॥
जीवस्य जीवरूपं विस्तरतो जानीहो लोकमात्रं हि ।
ततः स किं हीनोऽधिको वा कथं करोति द्रव्यं ॥३६९॥
अथ ज्ञायकस्तु भावो ज्ञानस्वभावेन तिष्ठतीति मतं ।
तस्मान्नाप्यात्मात्मानं तु स्वयमात्मनः करोति ॥३७०॥

अर्थ—यह जीव कर्मों के द्वारा ही अज्ञानी किया जाता है, और कर्मों के द्वारा ही ज्ञानी भी होता है, कर्मों के द्वारा ही सुलाया जाता है और कर्मों के द्वारा ही जागरण पाता है । कर्मों के द्वारा ही सुखी और दुःखी भी होता है । कर्मों के द्वारा ही मिथ्यात्व को प्राप्त होता है और कर्मों के द्वारा असंयम को प्राप्त होता है । कर्मों के द्वारा ही उर्द्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यग्लोक में परिभ्रमण करता है । जो कुछ शुभ और अशुभ हो रहा है वह सब कर्मों के द्वारा ही किया हुआ हो रहा है । क्योंकि कर्म ही तो करता है, कर्म ही देता है, कर्म ही हरता है, सब कुछ कर्म ही करता है इसलिये जीव तो सब ही अकारक है कुछ भी करने वाले नहीं हैं । यह आचार्यों की परम्परा से आई हुई बात है कि पुरुषवेद कर्म तो स्त्री का अभिलाषी है और स्त्रीवेद नाम कर्म पुरुष की इच्छा करता है । इसलिये कोई भी जीव आपके मत में अब्रह्मचारी नहीं है क्योंकि कर्म ही कर्म को चाहता है ऐसा शास्त्र में कहा है । क्योंकि दूसरे को मारता है और दूसरे के द्वारा मारा जाता है वह भी कर्म ही है इसलिये उसे

परघात नाम प्रकृति कहते हैं। इसलिये आपके मतमें तो कोई भी जीव उपघात करने वाला नहीं है, क्योंकि कर्म ही कर्म को घातता है ऐसा कहा है। इस प्रकार जो कोई भी श्रमण सांख्यमत के अनुसार उपदेश करते हैं उनके यहां प्रकृति ही सब कुछ करती है, जीव तो सब अकारक ही हैं। (तब फिर उनके विचार से जिनवाणी में जो आत्माको कर्ता बताया है वह कैसे बनेगा?) यदि कहा जाय कि आत्मा तो अपने आपको ही करता है तो ऐसा कहना भी झूठा है क्योंकि आत्मा तो नित्य असंख्यात प्रदेशी सिद्धान्त में बतलाया है सो वह उससे हीन या अधिक नहीं किया जा सकता है। जीव का अपना स्वरूप विस्तार की अपेक्षा से लोकाकाश प्रमाण है उससे हीन या अधिक क्या कभी किया जा सकता हैं? अर्थात् नहीं किया सकता। तथा आत्मा को ज्ञायक भाव है वह ज्ञान स्वभाव ही रह रहा है इसलिये आत्मा अपने आपको करता है यह नहीं बनता है (इसलिये आत्मा अज्ञान दशा में कथंचित् अपने अज्ञान भावरूप कर्मका कर्त्ता होता है) ॥ ३५८ से ३७० तक॥

तात्पर्यवृत्तिः—कर्मभिरज्ञानी क्रियते जीव एकांतेनं तथैव च ज्ञानी क्रियते कर्मभिः। स्वापं निद्रां नीयते जागरणं तथैवेति प्रथमगाथा गता। कर्मभिः सुखीक्रियते दुःखीक्रियते तथैव च कर्मभिः। कर्मभिश्च मिथ्यात्वं नीयते तथैवासंयमं चैवैकांतेन द्वितीयगाथा गता। कर्मभिश्चैवोर्ध्वाधस्तिर्यग्लोकं च भ्राम्यते कर्मभिश्चैव क्रियते शुभाशुभं यदन्यदपि किंचिदिति तृतीयगाथा गता यस्मादेवं भणितः कर्मैव करोति कर्मैव ददाति कर्मैव हरति यत्किंचिच्छुभाशुभं तस्मादेकांतेन सर्वे जीवा अकारका प्राप्ताः, ततश्च कर्माभावः कर्माभावे संसाराभावः स च प्रत्यक्षविरोधः-इति कर्मैकांतकर्तृत्वदूषणमुख्यत्वेन सूत्रचतुष्टयं गतं कर्मैव करोत्येकांतेनेति पूर्वोक्तमर्थं श्रीकुंदकुंदाचार्यदेवाः सांख्यमतसंवादं दर्शयित्वा पुनरपि समर्थयंति। वयं ब्रूमो द्वेषेणैवं न। भवदीयमतेऽपि भणितमास्ते पुंवेदाख्यं कर्म कर्तृ स्त्रीवेदकर्माभिलाषं करोति, स्त्रीवेदाख्यं कर्म पुंवेदकर्माभिलाषत्येकांतेन नच जीवः। एवमाचार्यपरंपरायाः समागता श्रुतिरीदृशी। श्रुतिः कोऽर्थ? आगमो भवतां साख्यानामिति प्रथमगाथा गता। तथा सति किं दूषणं चेति? एवं न कोपि जीवोऽस्त्यब्रह्मचारीयुष्माकमुपदेशे किंतु यथा शुद्धनिश्चयेन सर्वे जीवा ब्रह्मचारिणो भवंति तथैकांतेनाशुद्धनिश्चयेनापि ब्रह्मचारिण एव यस्मात्पुंवेदाख्यं कर्म स्त्रीवेदाख्यं कर्माभिलषति नच जीव इत्युक्तं पूर्वं स च प्रत्यक्षविरोधः। इत्यब्रह्मकथनरूपेण गाथाद्वयं गतं। यस्मात्कारणात् परं कर्मस्वरूपं प्रकृतिः कर्त्री हंति परेण कर्मणा सा प्रकृतिरपि हन्यते न च जीवः। एतनार्थेन किल जैनमते परघातनामकर्मेति भण्यते। परं किंतु जैनमते जीवो हिंस भावेन परिणमति परघातनाम सहकारिकारणं भवति इति नास्ति विरोध इति प्रथमगाथा गता। तस्मात्किं दूषणं? शुद्धपारिणामिकपरमभावग्राहकेण शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन तावदपरिणामी हिंसापरिणामरहितो जीवो जैनागमे कथितः, कथं? इति चेत् **सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया** इति वचनात् व्यवहारेण तु परिणामीति। भवदीयमते पुनर्यथा शुद्धनयेन चाशुद्धनयेनाप्युपघातको हिंसकः कोऽपि नास्ति। कस्मात्? इति चेत्, यस्मादेकांतेन कम चैवहि स्फुटमन्यत् कर्म हंति, नचात्मेति पूर्वसूत्रे भणितमिती। एवं हिंसाविचारमुख्यत्वेन गाथाद्वयं गतं। **एवं संखुवदेसं जे दु परूविंति एरिसंसमणा** एवं पूर्वोक्तं सांख्योपदेशमीदृशमेकातरूपं ये केचन परमागमोक्तं नयविभागमजानंतः **समणा** श्रमणाभासाः द्रव्यलिंगिनः प्ररूपयंति कथयंति। **तेसिं पयडि कुव्वदि अप्पाय अकारया सव्वे** तेषां मतेनैकांतेन प्रकृतिः कर्त्री भवति। आत्मानश्च पुनरकारकाः सर्वे। ततश्च कर्तृत्वाभावे कर्माभावः, कर्माभावे संसाराभावः। ततो मोक्ष प्रसंगः। स च प्रत्यक्षविरोध इति। जैनमते पुनः परस्परसापेक्षनिश्चयव्यवहारनयद्वयेन सर्वं घटत इति नास्ति दोषः। एवं साख्यमतसंवादं दर्शयित्वा जीवस्यैकांतेनाकर्तृत्वदूषणद्वारेण सूत्रपंचकं गतं। **अहवा मण्णसि मज्झं अप्पा अप्पाणमप्पणो कुणदि** हे साख्य! अथवा मन्यसे त्वं पूर्वोक्तकर्तृत्वदूषणभयान्मदीयमते जीवो ज्ञानी, ज्ञानित्वे च कर्मकर्तृत्वं न घटते यतः कारणादज्ञानिनां कर्मबंधो भवति। किंत्वात्मा कर्त्ता आत्मानं कर्मतापन्नं आत्मना करणभूतेन करोति ततः कारणादकर्तृत्वे दूषणं न भवति? इति चेत् **एसो मिच्छसहावो तुम्हं एवं मुणंतस्स** अयमपि मिथ्यास्वभाव एवं मन्यमानस्य तव इति पूर्वपक्षागाथा गता।

अथ सूत्रत्रयेण परिहारमाह कस्मान्मिथ्यात्वभावः ? इति चेत् **जे** यस्मात् कारणात् **अप्पा णिच्चासं खेज्जपदेसो देसिदो दु समयम्मि** आत्मा द्रव्यार्थिकनयेन नित्यस्तथा चासंख्यातप्रदेशो देशितः समये परमागमे तस्यात्मनः शुद्धचैतन्यान्वयलक्षणद्रव्यत्वं तथैवासंख्यातप्रदेशत्वं च पूर्वमेव तिष्ठति **णवि सो सक्कदि तत्तो हीणो अहियो व कादुं जे** तद्द्रव्यं प्रदेशत्वं च तत्प्रमाणादधिकं हीनं वा कर्तुं नायाति इतिहेतोरात्मा आत्मानं करोतीति वचनं मिथ्येति । अथ मतं असंख्यातमानं जघन्यमध्योत्कृष्टभेदेन बहुभेदं तिष्ठति तेन कारणेन जघन्यमध्यमोत्कृष्टरूपेणासंख्यातप्रदेशत्वं जीवः करोति तदपि न घटते यस्मात्कारणात् **जीवस्स जीवरूवं वित्थरदो जाण लोगमित्तं हि** जीवस्य जीवरूपं प्रदेशापेक्षया विस्तरतो महामत्स्यकाले लोकपूरणकाले वा अथवा जघन्यतः सूक्ष्मनिगोदकाले नानाप्रकारमध्यमावगाहशरीरग्रहणकाले वा प्रदीपवद्विस्तारोपसंहारवशेन लोकमात्रप्रदेशमेव जानीहि हि स्फुटं **तत्तो सो किं हीणो अहिओ व कदं भणसि दव्वं** तस्माल्लोकमात्रप्रदेशप्रमाणात्स जीवः किं हीनोऽधिको वा कृतो येन त्वं भणसि आत्मद्रव्यं कृतं किंतु नैवेति । **अह जाणगो दु भावो णाणसहावेण अत्थि देदिमदं** अथ हे शिष्य ! ज्ञायको भावः पदार्थः आत्मा ज्ञानरूपेण पूर्वमेवास्तीति मतं । **सम्मत्तमेव तह्मा णवि अप्पा अप्पयं तु सयमप्पणो कुणदि** यस्मान्निर्मलानंदैकज्ञानस्वभावशुद्धात्मा पूर्वमेवास्ति तस्मादात्मा कर्ता आत्मानं कर्मतापन्नं स्वयमेवात्मना कृत्वा नैव करोतीत्येकं दूषणं । द्वितीयं च निर्विकारपरमतत्त्वज्ञानी तु कर्ता न भवतीति पूर्वमेव भणितमास्ते । एवं पूर्वपक्षपरिहाररूपेण तृतीयांतर स्थले गाथाचतुष्टयं गतं । कश्चिदाह जीवात्प्राणा भिन्ना अभिन्ना वा ? यद्यभिन्नास्तदा यथा जीवस्य विनाशो नास्ति तथा प्राणानामपि विनाशो नास्ति कथं हिंसा ? । अथ भिन्नास्तर्हि जीवस्य प्राणघातेऽपि किमायतं ? तत्रापि हिंसा नास्तीति । तन्न, कायादिप्राणैः सह कथंचिद्भेदाभेदः । कथं ? इति चेत् तप्तायःपिंडवद्वर्तमानकाले पृथक्त्वं कर्तुं नायाति तेन कारणेन व्यवहारेणाभेदः । निश्चयेन पुनर्मरणकाले कायादिप्राणा जीवेन सहैव न गच्छंति तेन कारणेन भेदः । यद्येकांतेन भेदो भवति तर्हि यथा परकीये काये छिद्यमाने भिद्यमानेऽपि दुःखं न भवति । तथा स्वकीयकायेऽपि दुःखं न प्राप्नोति । न च तथा, प्रत्यक्षविरोधात् । ननु तथापि व्यवहारेण हिंसा जाता न तु निश्चयेनेति ? सत्यमुक्तं भवता व्यवहारेण हिंसा तथा पापमपि नारकादिदुःखमपि व्यवहारेणेत्यस्माकं सम्मतमेव । तन्नारकादि दुःखं भवतामिष्टं चेत्तर्हि हिंसां कुरुत । भीतिरस्ति ? इति चेत् तर्हि त्यज्यतामिति । ततः स्थितमेतत् एकांतेन सांख्यमतवदकर्ता न भवति किं तर्हि रागादिविकल्परहितसमाधिलक्षणभेदज्ञानकाले कर्मणः कर्ता न भवति शेषकाले कर्तेति व्याख्यानमुख्यतयान्तरस्थलत्रयेण चतुर्थस्थले त्रयोदश सूत्राणि गतानि ।

अथ यावत्कालं निजशुद्धात्मानमात्मत्वेन न जानाति पंचेंद्रियविषयादिकं परद्रव्यं च परत्वेन न जानात्ययं जीवः तावत्कालं रागद्वेषाभ्यां परिणमतीत्यावेदयति–अथवा बहिरंगपंचेन्द्रियविषयत्यागसहकारित्वेनाविक्षिप्तचित्तभावनोत्पन्ननिर्विकारसुखामृतरसास्वादबलेन विषयकर्मकायानां विघातं करोम्यहमिति—अजानन् स्वसंवित्तिरहितकायक्लेशेनात्मानं दमयति तस्य भेदज्ञानार्थं सिद्धांत प्रयच्छति—

टीका:—यह जीव एकांत रूप से कर्मों के द्वारा अज्ञानी होता है और कर्मों के द्वारा ही ज्ञानी होता है । कर्मों के द्वारा ही निद्रालु बना लिया जाता है और कर्मों के द्वारा ही जागरूक । इस प्रकार पहली गाथा हुई । कर्मों से ही सुखी किया जाता है और कर्मों से ही दुःखी किया जाता है । और एकांत रूप से कर्मों से ही मिथ्यात्व को प्राप्त कराया जाता है और कर्मों के द्वारा हो असंयत को प्राप्त होता है । यह दूसरी गाथा हुई । कर्मों के द्वारा ही उर्द्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यग्लोक में परिभ्रमण करता है, और भी जो कुछ शुभ या अशुभ होता है वह सब कर्मों के द्वारा ही किया गया होता है । यह तीसरी गाथा हुई । जहां एकांत से ऐसा कहा गया है कि जो कुछ शुभ या अशुभ करता है वह कर्म ही करता है, कर्म ही देता है, कर्म ही हर लेता है तो फिर जीव सब अकारकपने को प्राप्त हुये, इसमें जीव के कर्मों का

अभाव आया, कर्म के अभाव होने पर संसार का अभाव आया सो यह प्रत्यक्ष से विरुद्ध हुआ। इस प्रकार एकान्त से कर्म को ही कर्त्ता मान लेने पर दूषण बताने की मुख्यता से चार गाथाएं हुई। कर्म ही करता है इस प्रकार का उपर्युक्त सिद्धान्त सांख्यमतवादियों का है ऐसा बताकर श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव फिर भी उसका समर्थन इस प्रकार करते हैं कि हम यह बात केवल मात्र द्वेष के वश होकर ही नहीं कहते हैं। आपके मत में ऐसा लिखा हुआ है कि पुंवेद नाम का कर्म स्त्रीवेद कर्म की अभिलाषा करता है और स्त्रीवेद नाम का कर्म एकान्त रूप से पुंवेद नाम कर्म की अभिलाषा करता है, जीव ऐसी अभिलाषा नहीं करता है। इस प्रकार यह आचार्य परम्परा से आई हुई श्रुति है। श्रुति है इसका क्या अर्थ है कि आप सांख्य लोगों का यह आगम है। इस प्रकार फिर यह पहली गाथा हुई। अब ऐसा होने पर क्या दूषण आयगा ? कि आपके मत में (सांख्यमत में) कोई भी जीव व्यभिचारी नहीं ठहरेगा किन्तु जैसे शुद्ध निश्चयनय से सभी जीव ब्रह्मचारी हैं वैसे ही एकान्त रूप से अशुद्ध निश्चय नय से भी वे सब ब्रह्मचारी ही ठहरेगें क्योंकि स्त्रीवेद नाम वाले कर्म की अभिलाषा तो पुंवेद नाम का कर्म करता है जीव तो कुछ करता नहीं है यह पूर्व में कहा है सो यह प्रत्यक्ष विरुद्ध पड़ता है। इस प्रकार दो गाथाओं में अब्रह्मचर्य का कथन किया गया है। और क्योंकि किसी दूसरे कर्म के स्वरूप को जो प्रकृति नाश करती है वह प्रकृति भी किसी दूसरे कर्म के द्वारा नष्ट करदी जाती है अपितु जीव नष्ट नहीं किया जाता है। इस ऐसे अर्थ को लिये हुए ही जैन मत में परघात नाम का कर्म कहा गया है किन्तु ऐसा कहकर भी जैन मत में तो वहां पर जीव ही हिंसा के रूप में परिणमन करता है, परघात नाम का कर्म तो उसका सहकारी कारण होता है, इसलिये वहां कोई विरोध नहीं है। यह पहली गाथा हुई। यद्यपि जैन मत में शुद्ध पारिणामिक रूप जो परमभाव का ग्रहण करने वाला शुद्ध द्रव्यार्थिकनय है उसके द्वारा जीव हिंसा परिणाम से रहित अपरिणामी कहा गया है जैसे कि "सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया" इस सूक्त से स्पष्ट होता है, फिर भी व्यवहार से वही जीव परिणामी भी माना गया है।किन्तु आप सांख्यों के मत में तो वह जैसे शुद्धनय से वैसे ही अशुद्धनय से भी उपघातक या हिंसक रूप कभी कोई भी जीव नहीं होता है, क्योंकि आपके यहां तो स्पष्ट एकांत रूप से कर्म ही कर्म को मारता है किन्तु आत्मा नहीं मारता ऐसा पूर्व सूत्र में कहा गया है। इस प्रकार हिंसा के विचार की मुख्यता से दो गाथायें कही गईं। (एवं संखुवदेसं जे दु परूविंति एरिसं समणा) इस प्रकार पूर्वोक्त सांख्यमत के उपदेश को लेकर जो द्रव्य लिंगी श्रमणाभास परमागम में कहे हुए नय विभाग को नहीं जानने वाले हैं वे लोग एकांत पकड़ कर उसका कथन करते हैं। (तेसि पयडी कुव्वदि अप्पाय अकारया सव्वे) तब उनके एकांत मत के द्वारा प्रकृति ही सब कुछ करने वाली होती है, आत्मायें तो कुछ भी करने वाली नहीं ठहरती हैं। इस प्रकार जब आत्मा के कर्तापन का अभाव आता है तो वहां उसके कर्म का भी अभाव आता है और कर्म का अभाव होने पर संसार का भी अभाव हो जाता है। तब मोक्ष का प्रसंग भी नहीं। इन सबका न होना प्रत्यक्ष से विरुद्ध है। किन्तु जैन मत में तो परस्पर सापेक्ष निश्चय और व्यवहार इन दोनों नयों के द्वारा यह सब बातें घट जाती हैं इसमें कोई दोष नहीं आता है। इस प्रकार सांख्यमत के संवाद को दिखला कर जीव को एकांत रूप से अकर्त्ता मानने में जो दूषण आता है उसका कथन पांच गाथाओं में हुआ। (अहवा मण्णसि मज्झं अप्पा अप्पाणमप्पणो कुणदि) आचार्य देव उसी सांख्य मत को लक्ष्य में लेकर फिर कहते हैं कि पूर्वोक्त दूषण के भय से तू ऐसा कहे कि मेरे मत में तो जीव ज्ञानी ही है और जब ज्ञानी ही है तो वहां कर्म के कर्तापन की कोई बात ही नहीं घटती है क्योंकि कर्म बंध तो अज्ञानी के होता है। किन्तु आत्मा कर्ता है वह आत्मा को ही करता है और करणभूत आत्मा के द्वारा ही करता है इसलिये हमारे यहां आत्मा को अकर्त्ता मानने में कोई दोष नहीं आता तो (एसो मिच्छ सहावो तुह्मं एवं मुणंतस्स) इस प्रकार मानने

वाले तेरा यह भी मिथ्यात्व भाव ही है। इस प्रकार यह पूर्वपक्ष गाथा हुई। अब इसके आगे तीन सूत्रों से इसका परिहार करते हैं। अर्थात् उपर्युक्त तेरा मिथ्यात्व भाव क्यों है? कि (अप्पाणिच्चासंखेज्जपदेसो देसिदोदु समयम्मि) द्रव्यार्थिक नय से आत्मा नित्य है और वह असंख्यात प्रदेशी है ऐसा परमागम में कहा गया है सो उस आत्मा का असंख्यात प्रदेशीपना और शुद्ध चैतन्यपने का अन्वय ही है लक्षण जिसका ऐसा द्रव्यपना भी उसमें पहले से ही है (ण वि सो सक्कदि तत्तो हीणो अहियो व कादुं जे) सो उस असंख्यात प्रदेशीपन तथा द्रव्यपन को उस परिमाण से हीनाधिक तो किया नहीं जा सकता इसलिये आत्मा आत्मा को करती है यह वचन मिथ्या ही रहा। इस पर यदि यह कहा जाय कि असंख्यात का परिमाण तो जघन्य, मध्यम व उत्कृष्ट के भेद से बहुत प्रकार का है अतएव यह जीव उस असंख्यात प्रदेशपने को जघन्य मध्यम उत्कृष्ट के रूप में अनेक प्रकार से करता रहता है तो इस प्रकार का कहना भी घटित नहीं होता क्योंकि (जीवस्स जीवरूवं वित्थरदो जाण लोगमित्तं हि) जीव का जो जीव रूप है वह प्रदेशों की अपेक्षा से जब विस्तार को प्राप्त हो तब महामत्स्य के काल में, या लोक पूरण काल में, और जघन्य रूप से सूक्ष्म निगोदिया के शरीर के काल में, अथवा नानाप्रकार के मध्यम अवगाहनावाले शरीरों के ग्रहण के काल में दीपक के प्रकाश के समान विस्तार और उपसंहार के वश में होकर भी लोकमात्र प्रदेशवाला ही रहता है ऐसा जानना चाहिये। (तत्तो सो किं हीणो अहिओ व कदं भणसि दव्वं) ऐसी दशा में जीव लोकमात्र प्रदेश के परिमाण से भी हीन या अधिक किया जा सकता है क्या जिससे कि तू आत्म द्रव्य को किया गया हुआ कह रहा है? किन्तु आत्मा तो कभी हीन या अधिक नहीं होता, लोक प्रमाण प्रदेश वाला होकर रहता है। (जह जाणओ दु भावो णाणसहावेण अत्थिदेदि मदं) और हे भाई! ज्ञायक भाव अर्थात् पदार्थ जो आत्मा है वह तो ज्ञान रूप में पहले से सदा से ही है यह बात भी मानी हुई है। (सम्मत्तमेव तह्मा णवि अप्पा अप्पयं तु सयमप्पणो कुणदि) और जब निर्मल और आनन्द रूप एक ज्ञान ही है स्वभाव जिसका ऐसा शुद्धात्मा तो पहले से है ही तब फिर आत्मा को अपने आप आत्मा के द्वारा करता हैयह नहीं कहा जा सकता एक दोष तो यह हुआ। दूसरा दोष तुम्हारे कहने में यह है कि निर्विकार परमतत्व का जानने वाला जीव कर्ता नहीं होता यह भी पहले कहा जा चुका है। इस प्रकार जो शिष्यने प्रश्न किया था उसका परिहार करते हुये इस तीसरे स्थल में चार गाथायें कही गईं।

अब यहां कोई कहता है कि जीव से प्राण भिन्न हैं या अभिन्न। यदि जीव से प्राण अभिन्न हैं तब तो जैसे जीव का नाश नहीं होता वैसे ही प्राणों का भी नाश नहीं होना चाहिए तो फिर हिंसा कैसे? यदि प्राण जीव से भिन्न हैं ऐसा कहा जाय तो प्राणों के घात होने पर भी आत्मा का क्या बिगाड़ हुआ अतः फिर भी वहां हिंसा नहीं है? अब इसका आचार्य उत्तर देते हैं कि ऐसी बात नहीं है क्योंकि कायादि रूप प्राणों के साथ इस जीव का कथंचित् भेद और कथंचित् अभेद है। कैसे है? सो बताते हैं—जैसे तप्तायमान लोहे के गोले में से उसी समय अग्नि को पृथक् नहीं किया जा सकता उसी प्रकार वर्तमान् काल में कायादि प्राणों को जीव से पृथक् नहीं किया जा सकता इसलियें व्यवहार नय के द्वारा तो कायादि प्राणों का जीव के साथ अभेद है किन्तु निश्चयनय से यह जीव मरणकाल में जब परलोक जाता है तो कायादि प्राण इस जीव के साथ नहीं जाते इसलिये कायादिक प्राणों के साथ जीव का भेद भी है। यदि एकान्त से भेद ही मान लिया जाय तब तो फिर दूसरे के शरीर के छिन्न भिन्न होने पर किसी को दुःख नहीं होता उसी प्रकार अपने शरीर के छिन्न भिन्न होने पर भी दुःख नहीं होना चाहिये। किन्तु ऐसा नहीं है क्योंकि इसमें तो प्रत्यक्ष विरोध आता है। इस पर फिर शंकाकार का कहना है कि फिर जो हिंसा

हुई वह व्यवहार से ही हुई निश्चय से नहीं। आचार्य उत्तर देते हैं कि यह ठीक बात है अर्थात् तुमने ठीक ही कहा है कि व्यवहार से ही हिंसा होती है, और पाप भी व्यवहार से ही होता है, नारकादिकों का दुःख भी व्यवहार से ही होता है यह बात तो हमको मान्य ही है। हाँ, वह नारकादिकों का दुःख तुम्हे इष्ट है तो हिंसा करते रहो और यदि नरकादिक से तुम्हें डर लगता है तो हिंसा करना छोड़दो। बस इस सारे विवेचन से यह बात सिद्ध हुई कि सांख्यमत के समान जैनमत में आत्मा एकांत से अकर्ता नहीं है किन्तु रागादि रूप विकल्प से रहित जो समाधि है लक्षण जिसका ऐसे भेद ज्ञान के समय में तो आत्मा कर्मों का कर्त्ता नहीं होता अवशेष काल में वह कर्मों का कर्ता होता है।

इस प्रकार के व्याख्यान की मुख्यता से इस चौथे स्थल में तीन अन्तर्स्थलों के द्वारा तेरह गाथायें पूर्ण हुई ।। ३५८ से ३७० तक ।।

विशेषार्थः—पं. जयचन्दजी का भावार्थ—सांख्यमती पुरुष को एकान्तकर अकर्त्ता शुद्ध उदासीन चैतन्य मात्र मानते हैं। ऐसा मानने से पुरुष के संसार का अभाव आता है। प्रकृति को संसार माना जाय तो प्रकृति तो जड़ है उसके सुख दुख आदि का संवेदन नहीं है इसलिये किसका संसार? इत्यादि दोष आते हैं क्योंकि सर्वथा एकांत वस्तु का स्वरूप नहीं है इस कारण वे सांख्यमती मिथ्या दृष्टि हैं। उसी प्रकार जो जैनी भी मानते हैं तो वे मिथ्यादृष्टि होते हैं। इसलिये आचार्य उपदेश करते हैं कि सांख्यमतियों की तरह जैनी आत्मा को सर्वथा अकर्त्ता मत मानो। जहां तक आप और परका भेद विज्ञान न हो तब तक तो रागादिक अपने चेतन रूप भाव कर्मों का कर्त्ता मानो, भेद विज्ञान हुये पश्चात् (समाधि काल में) शुद्ध विज्ञान घन समस्त कर्तापन के अभाव कर रहित एक ज्ञाता ही मानो। इस प्रकार एक ही आत्मा में कर्त्ता और अकर्त्ता दोनों भाव विवक्षा के वश से सिद्ध होते हैं। यह स्याद्वाद जैनियों का है तथा वस्तु स्वभाव भी ऐसा ही है, कल्पना नहीं है। ऐसा मानने से पुरुष के संसार मोक्ष आदि की सिद्धि होती है सर्वथा एकांत मानने में सब निश्चय व्यवहार का लोप हो जाता है ऐसा जानना।

आगे कहते हैं कि जब तक अपने शुद्ध आत्मा को आत्मारूप से नहीं जानता है और पाचों इन्द्रियों के विषय आदिक परद्रव्य को अपने से भिन्न पररूप नहीं जानता है तब तक यह जीव रागद्वेषों से परिणमन करता है। अथवा बाहर के पाचों इन्द्रियों के विषय त्याग की सहायता से क्षोभ रहित चित्त की भावना से पैदा हुआ जो विकार रहित सुखमई अमृत रसका स्वाद उसके बल से मैं इन्द्रियों के विषय, कर्म और शरीर का घात करूं इस बात को नहीं जानता हुआ स्वसंवेदन ज्ञान से रहित कायक्लेश के द्वारा जो अपना दमन करता है उस जीवको भेद ज्ञान की प्राप्ति होने के अर्थ सिद्धान्त को कहते हैं—

दंसणणाणचरित्तं किंचिवि णत्थि दु अचेदणे विसए।
तह्मा किं घादयदे चेदयिदा तेसु विसएसु ।।३७१।।
दंसणणाण चरित्तं किंचिवि णत्थि दु अचेदणे कम्मे।
तह्मा किं घादयदे चेदयिदा तेसु कम्मेसु ।।३७२।।
दंसणणाणचरित्तं किंचिवि णत्थि दु अचेदणे काये।
तह्मा किं घादयदे चेदयिता तेसु कायेसु ।।३७३।।

णाणस्स दंसणस्स य भणिदो घादो तहा चरित्तस्स ।
णवि तह्मि कोऽवि पुग्गलदव्वे घादो दु णिद्दिट्ठो ।।३७४।।
जीवस्स जे गुणा केई णत्थि ते खलु परेसु दव्वेसु ।
तह्मा सम्मादिट्ठिस्स णत्थि रागो दु विसएसु ।।३७५।।
रागो दोसो मोहो जीवस्सेवदु अणण्ण परिणामा ।
एदेण कारणेण दु सद्दादिसु णत्थि रागादी ।।३७६।।

दर्शनज्ञानचरित्रं किंचिदपि नास्ति त्वचेतने विषये ।
तस्मात्किं घातयति चेतयिता तेषु विषयेषु ।।३७१।।
दर्शनज्ञानचरित्रं किंचिदपि नास्ति त्वचेतने कर्मणि ।
तस्मात्किं घातयति चेतयिता तेषु कर्मसु ।।३७२।।
दर्शनज्ञानचरित्रं किंचिदपि नास्ति त्वचेतने काये ।
तस्मात्किं घातयति चेतयिता तेषु कायेषु ।।३७३।।
ज्ञानस्य दर्शनस्य भणितो घातस्तथा चरित्रस्य ।
नापि तत्र कोऽपि पुद्गलद्रव्यस्य घातस्तुनिर्दिष्टः ।।३७४।।
जीवस्य ये गुणाः केचिन्न संति खलु ते परेषु द्रव्येषु ।
तस्मात्सम्यग्दृष्टेर्नास्ति रागस्तु विषयेषु ।।३७५।।
रागो द्वेषो मोहो जीवस्यैव चानन्यपरिणामाः ।
एतेन कारणेन तु शब्दादिषु न संति रागादयः ।।३७६।।

अर्थ—आत्माके दर्शन, ज्ञान और चारित्र हैं वे अचेतन विषय में तो कुछ भी नहीं है इसलिये उन विषयों में आत्मा उसका क्या घात करे क्योंकि वहा घातने के लिये कुछ भी नहीं है । इसी प्रकार दर्शन ज्ञान और चारित्र ये अचेतन कर्म में भी कुछ नहीं है इसलिये उन कर्मों में भी आत्मा किसका क्या घात करे क्योंकि वहा घातने के लिए कुछ भी नहीं है । इसी प्रकार ये दर्शन ज्ञान और चारित्र अचेतन काय में भी कुछ नहीं है इसलिये उन कायों में भी आत्मा किसका क्या घात करे क्योंकि वहां भी घातने के लिये कुछ भी नहीं है । घात जो हुआ है वह तो दर्शन ज्ञान और चारित्र का हुआ कहा गया है पुद्गल द्रव्य का घात तो कुछ भी नहीं कहा गया है । क्योंकि जीव के जो कुछ गुण हैं वे निश्चय से परद्रव्य में नहीं है इसीलिये सम्यग्दृष्टि के विषयों में राग नहीं होता है । राग, द्वेष और मोह ये सब भाव तो जीव के ही अनन्य परिणाम हैं, जीव से अभिन्नरूप है और इसलिये रागादिक है वे शब्दादिक में नहीं हैं (अतः सम्यग्दृष्टि तो अपने उन अज्ञान भावरूप उन परिणामों का ही अभाव करता है) ।।३७१-३७२-३७३-३७४ ३७५-३७६।।

तात्पर्यवृत्तिः—दर्शनज्ञानचारित्रं किमपि नास्ति। केषु शब्दादिपंचेंद्रियविषयेषु ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मसु औदारिकादिपंचकायेषु। कथंभूतेषु तेषु? अचेतनेषु। तस्मात्किं घातयते चेतयिता आत्मा तेषु जडस्वरूपविषयकर्मकायेषु? न किमपि। किंच शब्दादिपंचेंद्रियविषयाभिलाषरूपो ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मबंधकारणभूतः कायममत्वरूपश्च योऽसौ मिथ्यात्वरागादिपरिणामो मनसि तिष्ठति तस्य घातः कर्तव्यः ते च शब्दादयो रागादीनां बहिरंगकारणभूतास्त्याज्याः— इति भावार्थः। तस्यैव पूर्वोक्तगाथात्रयस्य विशेषविवरणं करोति—तद्यथा **णाणस्स दंसणस्स य भणिदो घादो तहा चरित्तस्स** शब्दादिपंचेंद्रियाभिलाषरूपेण कायममत्वरूपेण वा ज्ञानावरणादिकर्मबंधनिमित्तमनंतानुबंध्यादिरागद्वेषरूपं यन्मनसि मिथ्याज्ञानं तिष्ठति तस्य मिथ्याज्ञानस्य निर्विकल्पसमाधिप्रहरणेन सर्वज्ञैर्घातो भणितः न केवलं मिथ्याज्ञानस्य मिथ्यादर्शनस्य च। तथैव मिथ्यात्वचारित्रस्य च **णवि तह्मि कोवि पुग्गलदव्वे घादो दु णिद्दिट्ठो** नच चेतने शब्दादिविषयकर्मकायरूपे पुद्गलद्रव्ये कोऽपि घातो निर्दिष्टः। किं च यथा घटाधारभूते हते सति घटो हतो न भवति तथा रागादिनिमित्तभूते शब्दादिपंचेंद्रियहतेऽपि सति मनसि गता रागादयो हता न भवंति नचान्यस्य घाते कृते सत्यन्यस्य घातो भवति। कस्मात्? अतिप्रसंगादिति भावः। **जीवस्स जे गुणा केई णत्थि ते खलु परेसु दव्वेसु** यस्माज्जीवस्य ये केचन सम्यक्त्वादयो गुणास्ते परेषु परद्रव्येषु शब्दादिविषयेषु न संति खलु स्फुटं **तह्मा सम्मादिट्ठिस्स णत्थि रागो दु दोसो विसयेसु** तस्मात्कारणान्निर्विषयस्वशुद्धात्मभावनोत्थसुखतृप्तस्य सम्यग्दृष्टेर्विषयेषु रागो नास्तीति **रागो दोसो मोहो जीवस्स दु जे अणण्णपरिणामा** रागद्वेषमोहा यस्मादज्ञानिजीवस्याशुद्धनिश्चयेनाभिन्न परिणामाः। **एदेण कारणेण दु सद्दादिसु णत्थि रागादी** तेन कारणेन शब्दादिमनोज्ञामनोज्ञपंचेंद्रियविषयेष्वचेतनेषु यद्यप्यज्ञानी जीवो भ्रांतिज्ञानेन शब्दादिषु रागादीन् कल्पयत्यारोपयति तथापि शब्दादिषु रागादयो न संति। कस्मात्? शब्दादीनामचेतनत्वात्। ततःस्थितं तावदेव रागद्वेषद्वयमुदयते बहिरात्मनो यावन्मनसि त्रिगुप्तिरूपं स्वसंवेदनज्ञानं नास्ति। इति गाथाषट्कं गतं।

एवमेतदायाति शब्दादींद्रियविषया अचेतनाश्चेतना रागाद्युत्पत्तौ निश्चयेन कारणं न भवंति—

टीका:—दर्शन ज्ञान, चारित्र इन तीनों में से कुछ भी नहीं है। कहां नहीं हैं? शब्दादि रूप पचेन्द्रियों के विषय में, ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मों में, औदारिक आदि पाँच शरीरों में नहीं हैं क्योंकि शब्दादिक विषय, ज्ञानावरणादि कर्म और औदारिकादि शरीर अचेतन हैं। इसलिये चेतन आत्मा इन जड़ स्वरूप विषय, कर्म और शरीरों में से किसी का क्यों घात करे? किन्तु शब्दादिक पंचइन्द्रिय विषयों के अभिलाष रूप जो भाव हैं जो कि शरीर के ममत्व रूप हैं और ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म के बन्ध के कारण भूत हैं एवं जो मिथ्यात्व व रागादि स्वरूप है ऐसे विभाव परिणाम इस आत्मा के मन में स्थान किये हुये हैं उनका घात करना चाहिये। हां, यह शब्दादिक भी उन्हीं रागादि विभावों के पैदा होने के बहिरग कारणभूत हैं। इसलिये इनका भी त्याग करना चाहिये ऐसा आचार्य के कथन का तात्पर्य है। अब इससे आगे उपर्युक्त गाथा में कहे हुये विषय का ही और विशेष विवरण किया जाता है वह ऐसे है (णाणस्स दंसणस्स य भणिओ घादो तहा चरित्तस्स) शब्दादि पंचेन्द्रियों के विषयों की अभिलाषा रूप और शरीर के साथ ममत्व रूप से होने वाला अनंतानुबंध्यादि राग द्वेष रूप मिथ्या ज्ञान है वह ज्ञानावरणादि कर्मों के बन्धका निमित्त कारण है और इस आत्मा के मन में निवास करता है। उस मिथ्या ज्ञान का घात निर्विकल्प समाधि रूप हथियार से घात करना चाहिये ऐसा सर्वज्ञ भगवान ने कहा है। हां, केवल मिथ्या ज्ञान का ही नहीं, किन्तु उसके साथ मिथ्या दर्शन और मिथ्याचारित्र का भी घात करना चाहिये। (ण बि तह्मि कोऽवि पुग्गलदव्वे घादो दु णिद्दिट्ठो) क्योंकि उस अचेतन शब्द आदि विषय रूप, व द्रव्य कर्म और शरीर रूप पुद्गल द्रव्य में कुछ भी घात नहीं कहा गया है। देखो, घड़ेका आधार भूत

जो कुछ भी है उसको नष्ट कर देने पर भी घड़ा नष्ट नहीं होता है वैसे ही रागादिभावों का निमित्तभूत जो पंचेन्द्रियों के विषय शब्दादिक हैं उसके नष्ट कर देने पर भी मन में होने वाले जो रागादिक हैं उनका नाश नहीं होता है। क्योंकि अन्य के घात कर देने पर भी अन्य का घात नहीं होता ऐसा न्याय है; अन्यथा फिर अति प्रसंग दोष आता है कोई भी व्यवस्था नहीं बनती। (जीवस्स जे गुणा केई णत्थि ते खलु परेसु दव्वेसु) क्योंकि जीव के जो सम्यक्त्वादि गुण हैं वे शब्दादिक पर द्रव्यों में नहीं हैं अर्थात् उनका उनके साथ वास्तविक कोई संबंध नहीं है यह बात स्पष्ट है। (तम्हा सम्मादिट्ठिस्स णत्थि रागो दु विसएसु) इसलिये विषयों से रहित अपने शुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न जो सुख उसी में तृप्त होने वाला जो सम्यग्दृष्टि है उसका विषयों में राग नहीं होता। (रागो दोसो मोहो जीवस्सेव दु अणण्णपरिणामा) क्योंकि राग, द्वेष, और मोह अज्ञानी जीव के परिणाम हैं जो कि अशुद्ध निश्चय से उससे अभिन्न हैं अर्थात् अशुद्ध अवस्था में जीव के साथ तन्मय होते हैं। (एएण कारणेण दु सद्दादिसु णत्थि रागादी) इसलिये यद्यपि अज्ञानी जीव भ्रांत ज्ञान के वश होकर अचेतन रूप शब्दादिमय मनोज्ञ और अमनोज्ञ पांचों इन्द्रियों के विषय हैं उन्हीं में रागादिक की कल्पना करता है उन्हीं में रागादिक का आरोप करता है (कि अमुक वस्तु में मेरा राग है) तो भी शब्दादिक में रागादिक नहीं होते हैं क्योंकि शब्दादिक तो स्वयं अचेतन हैं। इसलिये इस विवेचन से यह बात निश्चित हुई कि रागद्वेष ये दोनों तभी तक उत्पन्न होते हैं जब तक यह आत्मा बहिर्दृष्टि वाला रहता है और इसके मनमें त्रिगुप्तिरूप स्वसंवेदन ज्ञान उत्पन्न नहीं हो पाता। यह छह गाथाओं का अर्थ हुआ ॥३७१-३७२-३७३-३७४-३७५-३७६॥

विशेषार्थ:—ज्ञान, दर्शन और चारित्र ये आत्मा के गुण हैं। ये जहां स्वस्थ भाव में रहते हैं वहां आत्मा शुद्ध है किन्तु जहां ये विकृत हों वहां आत्मा ही विकृत होता है यह बात तो ठीक है। किन्तु ये आत्मा के गुण होने के कारण इनका आत्मा से ही संबंध है बाह्य शब्दादि विषयों से नहीं, क्योंकि इनके नष्ट होने पर भी इनका नाश नहीं होता और इनके बढ़ जाने पर इनकी वृद्धि नहीं होती। अतः जो सम्यग्दृष्टि जीव है वह इनके लिये शब्दादि बाह्य विषयों को क्यों स्मरण करे? वह तो अपने उपयोग को इनकी ओर जाने भी नहीं देता। हां, छद्मस्थ आत्मा के मन में इन बाह्य वस्तुओं को लेकर जो राग द्वेष मोह उत्पन्न होता है अर्थात् उस रूप उसका जो ज्ञान परिणत होता है उसी से उसके ज्ञान दर्शन और चारित्र गुण का घात होता है। अतः सम्यग्दृष्टि जीव तो इन राग द्वेष और मोह भावों को पैदा नहीं होने देता जिसके लिये वह त्रिगुप्ति रूप निर्विकल्प समाधि में तल्लीन रहता है यही उसका प्रयास है और इसी में उसका भला है।

आचार्य देव इसका निष्कर्ष निकालकर यह बतलाते हैं कि शब्दादि जो इन्द्रियों के विषय हैं वे तो स्वयं अचेतन हैं वे रागादिक की उत्पत्ति में वास्तव में नियमितरूप से कारण नहीं हो सकते:—

अण्णदवियेण अण्णदव्वियस्स णो कीरदे गुणविधादो।
तह्मा दु सव्वदव्वा उप्पज्जंते सहावेण ॥३७७॥

अन्यद्रव्येणान्यद्रव्यस्य न क्रियते गुणविघातः।
तस्मात्तु सर्वद्रव्याण्युत्पद्यंते स्वभावेन ॥३७७॥

अर्थ—अन्य द्रव्य के द्वारा अन्य द्रव्य के गुणों का विघात नहीं किया जा सकता इसलिये सर्व द्रव्य अपने अपने स्वभाव से ही उपजते हैं ।। ३७७ ।।

तात्पर्यवृत्तिः—अण्णदविएण अण्णदवियस्स णो कीरदे गुणविघादो अन्यद्रव्येण बहिरंगनिमित्तभूतेन कुंभकारादिनाऽन्यद्रव्यस्योपादानरूपस्य मृत्तिकादेर्न क्रियते स कः ? चेतनस्याचेतनरूपेण, अचेतनस्य चेतनरूपेण वा चेतनाचेतनगुणघातो विनाशो न क्रियते यस्मात् । **तह्मा दु सव्वदव्वा उपज्जंते सहावेण** तस्मात्कारणन्मृत्तिकादिसर्वद्रव्याणि कर्तृ णि घटादिरूपेण जायमानानि स्वकीयोपादानकारणेन मृत्तिकादिरूपेण जायंते न च कुंभकारादिबहिरंगनिमित्तरूपेण । कस्मात् ? इति चेत् उपादानकारणसदृशं कार्यं भवतीति यस्मात् । तेन किं सिद्धं ? यद्यपि पंचेन्द्रियविषयरूपेण शब्दादीनां बहिरंगनिमित्तभूतेनाज्ञानिजीवस्य रागादयो जायंते तथापि जीवस्वरूपा एव चेतना न पुनः शब्दादिरूपा अचेतना भवंतीति भावार्थः । एवं कोऽपि प्राथमिकशिष्यचित्तस्थानुरागादीन्न जानाति बहिरंगशब्दादिविषयाणां रागादिनिमित्तानां घातं करोमीति निर्विकल्पसमाधिलक्षणभेदज्ञानाभावाच्चिंतयति तस्य संबोधनार्थं पूर्वं गाथाषट्केन सह सूत्रसप्तकं गतं ।

अथ व्यवहारेण कर्तृकर्मणोर्भेदः, निश्चयेन पुनर्यदेव कर्तृ तदेव कर्मेत्युपदिशति—

टीका:—(अण्णदविएण अण्णदवियस्स णो कीरदे गुण विघादो) बहिरंग निमित्त जो कुंभकार आदि अन्य द्रव्य हैं उसके द्वारा उपादानरूप जो मिट्टी आदि अन्य द्रव्य हैं उसका चेतन का अचेतनरूप से और अचेतन का चेतनरूपसे इस प्रकार चेतन या अचेतन गुण का घात अर्थात् विनाश नहीं किया जा सकता (तम्हा दु सव्वदव्वा उपज्जंते सहावेण) इसलिये मिट्टी आदिक सब द्रव्य जो घटादि के रूप में उपजते हैं वे सब मृत्तिकादिरूप अपने अपने उपादान कारण के रूप में उपजते हैं बहिरंग निमित्त कारण कुंभकारादिके रूप में नहीं उपजते क्योंकि उपादान कारण के सदृश ही कार्य होता है ऐसा अटल नियम है । इस कथन से यह बात सिद्ध हुई कि यद्यपि अज्ञानी जीव के जो रागादि उत्पन्न होते हैं वे सब बहिरंगमें निमित्त भूत से होनेवाले पंचेन्द्रिय के विषय रूप जो शब्दादि हैं उन्हीं के द्वारा उपजते हैं फिर भी वे (रागादि) शब्दादिरूप अचेतन नहीं होते किन्तु चेतनतामय जीवस्वरूप होते हैं ऐसा तात्पर्य है ।

इस प्रकार कोई नया शिष्य अपने चित्त में ठहरे हुये रागद्वेषादि भावों को तो जानता नहीं है किन्तु उन रागादिकों में निमित्त पड़नेवाले बहिरंगभूत शब्दादि विषयों का घात करने की चेष्टा करता है (क्योंकि वह मानता है कि इन शब्दादिकों ने ही मेरे रागादि पैदा किया है अतः इनको नष्ट करदूं ऐसा सोचता है) क्योंकि उसके निर्विकल्प समाधि ही है लक्षण जिसका ऐसा जो भेदज्ञान है उसका अभाव है । उस शिष्य को संबोधन करने के लिये ही आचार्य देवने इससे पूर्ववाली ६ गाथाओं के साथ साथ यह सातवीं गाथा कही है ।

विशेषार्थ:—अज्ञानी जीव रागद्वेष की उत्पत्ति को पर द्रव्य से मानकर परद्रव्य के ऊपर कोप करता है कि इस परद्रव्य ने मेरे रागद्वेष उपजा दिये अतः उस रागद्वेष को नष्ट करने के लिये इस परद्रव्य को ही नष्ट करूं इस प्रकार व्यर्थ उलझन में पड़ जाता है । उसे समझाने के लिये ही आचार्यश्री ने यह बात कही है कि हे भाई! रागद्वेष की उत्पत्ति तो अपने अज्ञान भाव से अपने में ही होती है । यह सब रागद्वेष तेरे ही अशुद्ध परिणाम हैं, सो यह अज्ञान नाश को प्राप्त हो और सम्यग्ज्ञान प्रगट हो ऐसा प्रयत्न कर । इन शब्दादि को भला बुरा मानकर इनके पीछे क्यों पड़ा है अपितु इन्हें भुलाकर अपने आत्मस्वरूप के अनुभव करने में तल्लीन हो रह ।

आगे कहते हैं कि व्यवहार से कर्ता और कर्म का भेद है परन्तु निश्चय से तो जो कर्ता है सो ही कर्म है ऐसा उपदेश करते हैं

जह सिप्पिओ दु कम्मं कुव्वदि ण य सो दु तम्मओ होदि ।
तह जीवोवि य कम्मं कुव्वदि ण य तम्मओ होदि ।।३७८।।
जह सिप्पिओ दु करणेहिं कुव्वदि ण य सो दु तम्मओ होदि ।
तह जीवो करणेहिं कुव्वदि ण य तम्मओ होदि ।।३७९।।
जह सिप्पिउ करणाणिय गिह्लदि ण य सो दु तम्मओ होदि ।
तह जीवो करणाणिय गिह्लदि ण य तम्मओ होदि ।।३८०।।
जह सिप्पिउ कम्मफलं भुंजदि ण य सो दु तम्मओ होदि ।
तह जीवो कम्मफलं भुंजदि ण य सो दु तम्मओ होदि ।।३८१।।
एवं ववहारस्स दु वत्तव्वं दंसणं समासेण ।
सुणु णिच्छयस्स वयणं परिणामकदं तु जं होदि ।।३८२।।
जह सिप्पओ दु चिट्ठं कुव्वदि हवदि य तहा अणण्णो सो ।
तह जीवोवि य कम्मं कुव्वदि हवदि य अणण्णो सो ।।३८३।।
जह चिट्ठं कुव्वंतो दु सिप्पिओ णिच्च दुक्खिदो होदि ।
तत्तोसेय अणण्णो तह चेट्ठंतो दुही जीवो ।।३८४।।

यथा शिल्पिकस्तु कर्म करोति न च स तु तन्मयो भवति ।
तथा जीवोऽपि च कर्म करोति न च तन्मयो भवति ।।३७८।।
यथा शिल्पिकः करणैः करोति न च तन्मयो भवति ।
तथा जीवः करणैः करोति न च तन्मयो भवति ।।३७९।।
यथा शिल्पिकस्तु करणानि गृह्णाति न स तु तन्मयो भवति ।
तथा जीवः करणानि च गृह्णाति न च तन्मयो भवति ।।३८०।।
यथा शिल्पिकः कर्मफलं भुंक्ते न च स तु तन्मयो भवति ।
तथा जीवः कर्मफलं भुंक्ते न च तन्मयो भवति ।।३८१।।
एवं व्यवहारस्य तु वक्तव्यं दर्शनं समासेन ।
शृणु निश्चयस्य वचनं परिणामकृतं तु यद्भवति ।।३८२।।

यथा शिल्पिकस्तु चेष्टां करोति भवति च तथानन्य स्तस्याः ।
तथा जीवोऽपि च कर्म करोति भवति चानन्यस्तस्मात् ।।३८३।।
यथा चेष्टां कुर्वाणस्तु शिल्पिको नित्यदुःखितो भवति ।
तस्माच्च स्यादनन्यस्तथा चेष्टमानो दुःखी जीवः ।।३८४।।

अर्थ—जैसे सुनार आदि कारीगर कुण्डलादि आभूषण कर्म को करता है किन्तु वह आभूषण आदि के साथ तन्मय नहीं होता, उसी प्रकार जीव भी पौद्गलिक कर्म को करता है फिर भी उससे तन्मय नहीं होता। और जैसे कारीगर हतोड़ा आदि उपकरणों के द्वारा कुण्डलादि कर्म करता है फिर भी उसके साथ तन्मय नहीं होता, उसी प्रकार जीव भी मन, वचन कायादि करणों के द्वारा कर्म करता है तो भी उसके साथ तन्मय नहीं होता। जैसे शिल्पी उन उपकरणों को ग्रहण करता है तो भी वह उनसे तन्मय नहीं होता उसी प्रकार जीव भी कायादि रूप करणों को ग्रहण करता है तो भी उनसे तन्मय नही होता। तथा जैसे शिल्पी कुण्डलादि कर्मों के फल को भोगता है तो भी वह उनसे तन्मय नहीं होता उसी प्रकार जीव भी कर्म के फल सुख दुःखादि को भोगता है परन्तु उनसे तन्मय नहीं होता। इस प्रकार यह व्यवहारनय का मत है जो कि संक्षेप से कहने योग्य है। अब आगे निश्चय का वचन है उसे सुनो—जो कि अपने परिणामों के द्वारा किया हुआ होता है अर्थात् अपने रागादि विकल्पों के द्वारा सम्पादित होता है। जैसे कि शिल्पी अपने परिणामों की जैसी चेष्टा करता है तब वह उस चेष्टा से पृथक् नहीं होता तन्मय रहता है, उसी प्रकार जीव भी अपने परिणाम स्वरूप कर्म को करता है तो उस चेष्टा रूप कर्म से वह पृथक् नहीं रहता किन्तु तन्मय रहता है। तथा जैसे शिल्पी चेष्टा करता हुआ निरंतर दुःखी होता है तो वह उस दुःख से भिन्न नहीं रहता किन्तु तन्मय रहता है उसी प्रकार चेष्टा करता हुआ जीव भी दुःखी रहता है।। ३७८ से ३८४ तक ।।

तात्पर्यवृत्तिः—यथा लोके शिल्पी तु सुवर्णकारादिः सुवर्णकुंडलादिकर्म करोति, कैः कृत्वा ? हस्तकुट्टकाद्युपकरणैः। हस्तकुट्टकाद्युपकरणानि च हस्तेन गृह्णाति, तथापि तैः सुवर्णकुंडलादिकर्महस्तकुट्टकादिकरणैरुपकरणैः सह तन्मयो न भवति। तथैव ज्ञानी जीवोऽपि निष्क्रियवीतरागस्वसंवेदन ज्ञानच्युतः सन् ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्माणि करोति। कैः कृत्वा ? मनोवचनकायव्यापाररूपैः कर्मोत्पादकरणैरुपकरणैः तथैव च कर्मोदयवशान्मनोवचनकायव्यापाररूपाणि कर्मोत्पादकरन्युपकरणानि संश्लेषरूपेण व्यवहारनयेन गृह्णातितथापि ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्ममनोवचनकायव्यापाररूपकर्मोत्पादकोपकरणैः सह टंकोत्कीर्णज्ञायकत्वेन भिन्नत्वात्तन्मयो न भवति। तथैव च स एव शिल्पी सुवर्णकारादिः सुवर्ण कुंडलादिकर्मणि कृते सति यत्किमप्यशनपानादिकं मूल्यं लभते भुंक्ते च तथापि तेनाशनपानादिना तन्मयो न भवति। तथा जीवोऽपि शुभाशुभकर्मफलं बहिरंगेष्टाशनपानादिरूपं निजशुद्धात्मभावनोत्थमनोहरानंदसुखास्वादमलभमानो भुंक्ते न च तन्मयो भवति। **एवं ववहारस्स दु वत्तव्वं दंसणं समासेण** एवं पूर्वोक्तप्रकारेण गाथाचतुष्टयेन द्रव्यकर्मकर्तृत्वभोक्तृत्वस्वरूपस्य व्यवहारनयस्य दर्शनं निदर्शनं दृष्टांत उदाहरणं हे शिष्य ! वक्तव्यं व्याख्येयं कथनीयं समासेन संक्षेपेण **सुणु णिच्छयस्स वयणं परिणाम कदं तु जं हवदि** इदं त्वग्रे वक्ष्यमाणं निश्चयस्य वचनं व्याख्यानं शृणु, कथंभूतं ? परिणामकृतं रागादिविकल्पेन निष्पादितमिति। **जह सिप्पिओ दु चेट्ठं कुव्वदि हवदि य तहा अणण्णोसो** यथा सुवर्णकारादिशिल्पी कुंडलादिकमेवमेवं करोमीति मनसि चेष्टां करोति इति तया चेष्टया सह भवति चानन्यस्तन्मयः **तह जीवोविय कम्मं कुव्वदि हवदि य अणण्णो सो** तथैवाज्ञानी जीवः केवलज्ञानादिव्यक्तिरूपस्य कार्यसमयसारस्य यो ऽसौ साधको निर्विकल्पसमाधिरूपः कारणसमयसारस्तस्याभावे सत्यशुद्धनिश्चयनयेन अशुद्धोपादानरूपेण मिथ्यात्वरागादिरूपं भावकर्म करोति तेन भावकर्मणा सह भवति चानन्यः इति भावकर्मकर्तृत्वगाथा गता। **जह चेट्ठं कुव्वंतो दु सिप्पिओ णिच्च दुःखिदो होदि** यथा स एव शिल्पी कुंडलादिकमेवमेवं करोमीति

मनसि चेष्टां कुर्वाणः सन् चित्तखेदेन नित्यं दुःखितो भवति। न केवलं दुःखितः। **तत्तोसेय अणण्णो** तस्माद् दुःखविकल्पादनुभवरूपेणानन्यश्च स स्यात् **तह चेट्ठंतो दुही जीवो** तथैवाज्ञानिजीवोऽपि विशुद्धज्ञानदर्शनादिव्यक्तिरूपस्य कार्यसमयसारस्य साधको योऽसौ निश्चयरत्नत्रयात्मककारणसमयसारः, तस्यालाभे सुखदुःखभोक्तृत्वकाले हर्षविषादरूपां चेष्टां कुर्वाणः सन्मनसि दुःखितो भवति इति। तया हर्षविषादचेष्टया सह अशुद्धनिश्चयेनाशुद्धोपादानरूपेणानन्यश्च भवति इति। एवं पूर्वोक्तप्रकारेणाज्ञानिजीवो निर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानात् च्युतो भूत्वा सुवर्णकारादिदृष्टांतेन व्यवहारनयेन द्रव्यकर्म करोति भुंक्ते च। तथैवाशुद्धनिश्चयेन भावकर्म चेति व्याख्यानमुख्यत्वेन षष्ठस्थले गाथासप्तकं गतं।

अथ ज्ञानं ज्ञेयं वस्तु जानाति तथापि धवलकुड्ये श्वेतन्मृत्तिकावन्निश्चयेन तन्मयं न भवति इति निश्चयमुख्यत्वेन गाथापंचकं। यथैष ज श्वेतमृत्तिका कुडयं श्वेतं करोतीति व्यविह्नयते तथैव च ज्ञानं ज्ञेयं वस्तु जानात्येवं व्यवहारोऽस्तीति व्यवहारमुख्यत्वेन गाथापंचकं। एवं समुदायेन दशकं। तद्यथा—

टीका:—जैसे भूतलपर हम देखते हैं कि सुनार आदि कारीगर स्वर्ण के कुण्डलादि आभूषण को बनाता है। किन से बनाता है? कि हतोड़े आदि उपकरणों के द्वारा बनाता है। उन हतोड़े आदि उपकरणों को अपने हाथ में ग्रहण करता है तो फिर उन सोने के कुण्डलादि आभूषणों से और हतोड़े आदि उपकरणों से वह तन्मय नहीं हो जाता। वैसे ही * ज्ञानी जीव भी निष्क्रिय वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान से च्युत होता हुआ द्रव्य कर्मों को करता है। किन के द्वारा करता है? कि कर्मों के उत्पादन करने वाले मन वचन काय के उपकरणों द्वारा करता है। वैसे ही यह जीव भी कर्मोदय के वश होकर कर्मों के उत्पादन करनेवाले मन वचन काय के व्यापार रूप कर्मों के उत्पादन करने वाले उपकरणों के साथ तन्मय नहीं होता किन्तु अपने टंकोत्कीर्ण ज्ञायकपने से यह जीव उनसे भिन्न ही रहता है। जैसे सुनारादि कारीगर सोने के कुण्डलादि बन जाने पर उनका आहारपानादिरूप जो कुछ मूल्य प्राप्त करता है और उसे भोगता भी है, फिर भी वह उस अशनपानादि से तन्मय नहीं होता है वैसे ही जोव भी अपनी शुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न हुये मनोहर आनंदमई सुख के स्वाद को नहीं पाता हुआ बाह्य में दीखनेवाले अशनपानादिरूप शुभ और अशुभ कर्म के फल को भोगता है फिर भी वह अशनपानादि रूप नहीं बन जाता। (एवं ववहारस्स उ वत्तव्वं दंसणं समासेण) इस पूर्वोक्त रीति से चार गाथाओं द्वारा हे भाई द्रव्य कर्म के कर्तापन और भोक्तापन रूप जो व्यवहारनय है उसका मत या दृष्टांत या उदाहरण संक्षेप में बताया गया है। (सुणु णिच्छयस्स वयणं परिणामकदं तु जं हवदि) अब इसके आगे निश्चयनय का वचन रूप व्याख्यान कहा जाता है उसको सुनो—जो कि रागादि विकल्प के द्वारा सम्पादित एवं आत्माके परिणाम द्वारा किया होता है। (जह सिप्पिओ दु चेट्ठं कुव्वदि हवदि य तहा अणण्णो सो) जैसे सुनारादि कारीगर अपने मन में जब इस प्रकार का विचार करता है कि मैं इस इस प्रकार के कुण्डलादि बनाऊं तब वह उस विचार रूप चेष्टासे अभिन्न अर्थात् तन्मय होता है, (तह जीवोवि य कम्मं कुव्वदि हवदि य अणण्णो सो) वैसे ही केवलज्ञानादि की अभिव्यक्ति होना है स्वरूप जिसका ऐसा जो कार्य समयसार उसका जो साधक निर्विकल्प समाधि रूप कारण समयसार उसका अभाव हो जाने पर यह अज्ञानी जीव अशुद्ध उपादानरूप अशुद्ध निश्चयनय के द्वारा मिथ्यात्व रागादिरूप भावकर्म को करने वाला होता है तब उस समय उस भाव कर्म के साथ अभिन्न होता है। यह भावकर्म के कर्तापन

* सनातन जैन ग्रंथमाला से सम्पादित श्री वीर निर्वाण संवत्सर २४४० में ज्ञानी पाठ है और अहिंसा मन्दिर प्रकाशन दिल्ली से प्रकाशित में अज्ञानी पाठ है—अर्थ की दृष्टि से दोनों ही पाठ ठीक बैठ जाते हैं

की गाथा हुई। (जह चेट्ठं कुव्वंतो दु सिप्पम्रो णिच्च दुःखितो होदि) जैसे कि कारीगर अपने मनमें यह विचार करता है कि मैं अमुक अमुक प्रकार के कुण्डलादि बनाऊं ऐसा विचार करता हुआ वह नियम से अपने चित्त में आकुल व्याकुलतारूप दुःख को प्राप्त होता है उस विचार से वह केवल दुःखी ही नहीं होता किन्तु (तत्तो सेय अणण्णो) उसके अनुभव में आनेवाले दुःख रूप विकल्पसे अभिन्न ही रहता है। (तह चेट्ठन्तो दुही जीवो) उसी प्रकार अज्ञानी जीव भी विशुद्ध ज्ञान दर्शनादि की अभिव्यक्ति रूप जो कार्य समयसार व उस कार्य समयसारका साधक जो निश्चय रत्नत्रयात्मक कारण समयसार है उसके लाभ में अर्थात् अभाव में सुख दुःखादि के भोक्तापन के काल में हर्ष विषादादि रूप चेष्टा को करता हुआ वह अपने मन में दुःखी होता है तब वह उस हर्ष विषादादि रूप चेष्टा के साथ अशुद्ध उपादान रूप अशुद्ध निश्चयनय के द्वारा अभिन्न अर्थात् तन्मय होकर रहता है।

इस प्रकार पूर्व कथित रीति से सुनार आदि के दृष्टांत द्वारा जैसे बताया गया है वैसे यह अज्ञानी जीव निर्विकल्परूप स्वसंवेदन ज्ञान से च्युत होकर व्यवहारनय के द्वारा तो द्रव्य कर्म को करता है व उसे भोगता है उसी प्रकार अशुद्ध निश्चयनय के द्वारा वह भावकर्म को करता है और भोगता है इस प्रकार के व्याख्यान को लेकर इस छट्ठे स्थल में ये सात गाथायें पूर्ण हुईं ॥३७८ से ३८४॥

विशेषार्थः—यहां आचार्य देव ने बतलाया है कि व्याकरण के द्वारा बोलने में कर्ता कर्म आदि की पद्धति भिन्न और अभिन्न रूप से होती है। जैसे बढ़ई बसोले से रथ बनाता है यह तो भिन्न कर्त्ता कर्म का उदाहरण है। और दीपक अपने द्वारा अपने आपको प्रकाशित करता है यह अभिन्न कर्त्ता कर्म का उदाहरण है। सो छद्मस्थ आत्मा जब तक समाधिस्थ रहता है तब तक अपने आपका अनुभव करते हुये सहजानन्द का भोगने वाला रहता है किन्तु जब समाधि से च्युत होकर बाह्य दृष्टि पर आता है तो शुभाशुभ रूप करने लगता है और उनके फल स्वरूप सुख दुख को भोगने वाला होता है।

इस प्रकार आत्मा के भिन्न कर्तृत्व और अभिन्न कर्तृत्व को बताकर आगे यह बतलाते हैं कि ज्ञान ज्ञेय वस्तु को जानता है फिर भी निश्चयनय से उससे तन्मय नहीं होता। जैसे कि सफेद मिट्टी दीवाल को सफेद करती है फिर भी वह मिट्टी दीवाल से भिन्न रहती है। इस प्रकार निश्चय की मुख्यता से पांच गाथाओं में कह कर आगे की पांच गाथाओं में यह बतलाते हैं कि खड़िया दीवाल को सफेद कर देती है यह व्यवहार है वैसे ही ज्ञान भी ज्ञेय वस्तु को जानता है यह व्यवहार है। इस प्रकार दोनों मिलाकर दश गाथायें हैं:—

जह सेटिया दु ण परस्स सेटिया सेटिया य सा होदि।
तह जाणगो दु ण परस्स जाणगो जाणगो सो दु ॥३८५॥
जह सेटिया दु ण परस्स सेटिया सेटिया य सा होदि।
तह पस्सगो दु ण परस्स पस्सगो पस्सगो सो दु ॥३८६॥
जह सेटिया दु ण परस्स सेटिया सेटिया दु सा होदि।
तह संजदो दु ण परस्स संजदो संजदो सोदु ॥३८७॥

जह सेटिया दु ण परस्स सेटिया सेटिया दु सा होदि ।
तह दंसणं दु ण परस्स दंसणं दंसणं तं तु ॥३८८॥
एवं तु णिच्छयणयस्स भासियं णाणदंसण चरित्ते ।
सुणु ववहारणयस्सय वत्तव्वं से समासेण ॥३८९॥
जह परदव्वं सेटदि हु सेटिया अप्पणो सहावेण ।
तह परदव्वं जाणदि णादा विसएण भावेण ॥३९०॥
जह परदव्वं सेटदि हु सेटिया अप्पणो सहावेण ।
तह परदव्वं पस्सदि जीवोवि सएण भावेण ॥३९१॥
जह परदव्वं सेटदि हु सेटिया अप्पणो सहावेण ।
तह परदव्वं विरमदि णादावि सएण भावेण ॥३९२॥
जह परदव्वं सेटदि हु सेटिया अप्पणो सहावेण ।
तह परदव्वं सद्दहदि सम्मादिट्ठी सहावेण ॥३९३॥
एसो ववहारस्स दु विणिच्छओ णाणदंसणचरित्ते ।
भणिदो अण्णेसु वि पज्जएसु एमेव णादव्वो ॥३९४॥ (दशकम्)

यथा सेटिका तु न परस्य सेटिका सेटिका च सा भवति ।
तथा ज्ञायकस्तु न परस्य ज्ञायको ज्ञायकः स तु ॥३८५॥
यथा सेटिका तु न परस्य सेटिका सेटिका च सा भवति ।
तथा दर्शकस्तु न परस्य दर्शको दर्शकः स तु ॥३८६॥
यथा सेटिका तु न परस्य सेटिका सेटिका च सा भवति ।
तथा संयतस्तु न परस्य संयतः संयतः स तु ॥३८७॥
यथा सेटिका तु न परस्य सेटिका सेटिका च सा भवति ।
तथा दर्शनं तु न परस्य दर्शनं दर्शनं तत्तु ॥३८८॥
एवं तु निश्चयनयस्य भाषितं ज्ञानदर्शनचरित्रे ।
शृणु व्यवहारनयस्य च वक्तव्यं तस्य समासेन ॥३८९॥
यथा परद्रव्यं सेटयति खलु सेटिकात्मनः स्वभावेन ।
तथा परद्रव्यं जानाति ज्ञातापि स्वकेन भावेन ॥३९०॥

यथा परद्रव्यं सेटयति सेटिकात्मनः स्वभावेन ।
तथा परद्रव्यं पश्यति ज्ञातापि स्वकेन भावेन ॥३६१॥
यथा परद्रव्यं सेटयति सेटिकात्मनः स्वभावेन ।
तथा परद्रव्यं विजहाति ज्ञातापि स्वकेन भावेन ॥३६२॥
यथा परद्रव्यं सेटयति सेटिकात्मनः स्वभावेन ।
तथा परद्रव्यं श्रद्धत्ते ज्ञातापि स्वकेन भावेन ॥३६३॥
एवं व्यवहारस्य तु विनिश्चयो ज्ञानदर्शनचरित्रे ।
भणितोऽन्येष्वपि पर्यायेषु एवमेव ज्ञातव्यः ॥३६४॥

अर्थ—अब यहां अभिन्न कर्ता कर्म रूप निश्चय कथन को और भिन्न कर्ता कर्म रूप व्यवहार कथन को दृष्टांत द्वारा समझाते हैं—जैसे सफेदी करने वाली खडिया मिट्टी अन्य भीत आदि वस्तु को सफेद करने वाली है इसलिये खडिया है ऐसी बात नहीं किन्तु वह तो अपने आप ही खडिया मिट्टी है भीत से भिन्न वस्तु है। इसी प्रकार जो ज्ञायक हैं जानने वाला है वह परद्रव्य को जानने वाला है इसलिये ज्ञायक है ऐसा नहीं है किन्तु वह तो सहज ज्ञायक रूप ही है। इसी प्रकार उपरोक्त उदाहरण के समान जो दर्शक है वह भी पर द्रव्य को देखने वाला होने से दर्शक नहीं है किन्तु वह तो अपने सहज स्वभाव से ही दर्शक है। इसी प्रकार संयत भी पर को त्याग ने से संयत नहीं हुआ है किन्तु अपने भाव से संयत है। इसी प्रकार दर्शन भी अर्थात् श्रद्धान भी पर वस्तु के यथार्थ श्रद्धान करने से दर्शन नहीं हुआ है किन्तु वह तो सहज स्वभाव से ही दर्शन अर्थात् श्रद्धान है। ऐसा यह दर्शन, ज्ञान और चारित्र के विषय में निश्चयनय का कहा हुआ वचन है। अब जो व्यवहारनय का वचन है उसे संक्षेप से कहते हैं उसे सुनो। जैसे खडिया अपने स्वभाव के द्वारा भींत आदि परद्रव्यों को सफेद करती है उसी प्रकार जानने वाला भी अपने स्वभाव के द्वारा पर द्रव्य को जानता है, उसी प्रकार दर्शक अपने स्वभाव के द्वारा पर द्रव्य को देखता है, तथा संयतः अपने स्वभाव के द्वारा पर द्रव्य को छोड़ता है और श्रद्धान करने वाला अपने स्वभाव के द्वारा ही पर द्रव्य का श्रद्धान करता है। यह ज्ञान दर्शन और चारित्र के विषय में व्यवहारनय का जो निर्णय हैं वह कहा गया है। इसी प्रकार और बातों में भी लगा लेना चाहिये।

तात्पर्यवृत्तिः—यथा लोके श्वेतिका श्वेतमृत्तिका खटिका परद्रव्यस्य कुड्यादेर्निश्चयेन श्वेतमृत्तिका न भवति तन्मयो न भवति बहिर्भागे तिष्ठतीत्यर्थः। तर्हि किं भवति? श्वेतिका श्वेतिकैव स्वस्वरूपे तिष्ठती त्यर्थः। तथा श्वेतमृत्तिकादृष्टांतेन ज्ञानात्मा घटपटादिज्ञेयपदार्थस्य निश्चयेन ज्ञायको न भवति तन्मयो न भवतीत्यर्थः। तर्हि किं भवति? ज्ञायको ज्ञायक एव स्वस्वरूपे तिष्ठतीत्यर्थः। एवं ब्रह्माद्वैतवादिवत्—ज्ञानं ज्ञेयरूपेण न परिणमति—इति कथनमुख्यत्वेन गाथा गता। तथा तेनैव च श्वेतमृत्तिकादृष्टांतेन दर्शकआत्मा दृश्यस्य घटादिपदार्थस्य निश्चयेन दर्शको न भवति, तन्मयो न भवतीत्यर्थः। तर्हि किं भवति? दर्शको दर्शक एव स्वस्वरूपेण तिष्ठतीत्यर्थः। एवं सत्तावलोकनदर्शनं दृश्यपदार्थरूपेण न परिणमतीति कथनमुख्यत्वेन गाथा गता। तथा तेनैव श्वेतमृत्तिकादृष्टांतेन संयत आत्मा त्याज्यस्य परिग्रहादेः परद्रव्यस्य निश्चयेन त्याजको न भवति, तन्मयो न भवतीत्यर्थः। तर्हि किं भवति? संयतः संयत एव निर्विकारनिजमनोहरानंदलक्षणस्वस्वरूपे तिष्ठतीत्यर्थः। एवं वीतरागचारित्रमुख्यत्वेन गाथा गता। तथैव च तेनैव श्वेतमृत्तिकादृष्टांतेन तत्त्वार्थश्रद्धानरूपं सम्यग्दर्शनं श्रद्धेयस्य बहिर्भूतजीवादिपदार्थस्य निश्चयनयेन श्रद्धानकारकं न भवति, तन्मयं न भवती-

त्यर्थः। तर्हि किं भवति ? सम्यग्दर्शनं सम्यग्दर्शनमेव स्वस्वरूपे तिष्ठतीत्यर्थः। एवं तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणसम्यग्दर्शन-मुख्यत्वेन गाथा गता।

एवं तु णिच्छयणयस्स भासिदं णाणदंसणचरित्ते एवं पूर्वोक्तगाथाचतुष्टयेन भाषितं व्याख्यानं कृतं। कस्य संबंधित्वेन ? निश्चयनयस्य। क्व ? विषये ज्ञानदर्शनचारित्रे। **सुणु ववहारणयस्सय वत्तव्वं** इदानीं हे शिष्य ! शृणु समाकर्णय किं ? वक्तव्यं व्याख्यानं। कस्य संबंधित्वेन ? व्यवहारनयस्य। कस्य संबंधिव्यवहारः ? **से** तस्य पूर्वोक्तज्ञानदर्शनचारित्रत्रयस्य केन ? **समासेण** संक्षेपेण। इति निश्चयनयव्याख्यानमुख्यत्वेन सूत्रपंचकं गतं।

अथ व्यवहारः कथ्यते—यथा येन प्रकारेण लोके परद्रव्यं कुडयादिकं व्यवहारनयेन श्वेतयते श्वेतं करोति नच कुडयादिपरद्रव्येण सह तन्मयी भवति। का ? कर्त्री श्वेतिका श्वेतमृत्तिका खटिका। केन कृत्वा श्वेतं करोति ? स्वकीयश्वेतभावेन। तथा तेन श्वेतमृत्तिकादृष्टांतेन परद्रव्यं घटादिकं ज्ञेयं वस्तु व्यवहारेण जानाति नच परद्रव्येण सह तन्मयो भवति। कोऽसौ ? कर्ता ज्ञातात्मा[1]। केन जानाति ? स्वकीय ज्ञानभावेनेति, प्रथमगाथा गता। तथैव च तेनैव श्वेतमृत्तिकादृष्टांतेन घटादिकं दृश्यं परद्रव्यं व्यवहारेण पश्यति न च परद्रव्येण सह तन्मयो भवति। कोऽसौ ज्ञातात्मा[2]। केन पश्यति ? स्वकीयदर्शनभावेनेति द्वितीयगाथा गता। तथैव च तेनैव श्वेतमृत्तिकादृष्टांतेन परिग्रहादिकं परद्रव्यं व्यवहारेण विरमति त्यजति न च परद्रव्येण सह तन्मयो भवति स कः। कर्ता ज्ञातात्मा। केन कृत्वा त्यजति ? स्वकीयनिर्विकल्प समाधिपरिणामेनेति तृतीयगाथा गता। तथैव च तेनैव श्वेतमृत्तिकादृष्टांतेन जीवादिकं परद्रव्यं व्यवहारेण श्रद्धधाति न च परद्रव्येण सह तन्मयो भवति। स कः ? कर्ता सम्यग्दृष्टिः केन कृत्वा ? स्वकीय श्रद्धान-परिणामेनेति चतुर्थगाथा गता। **एसो ववहारस्स दु विणिच्छियो णाणदंसणचरित्ते भणिदो** भणितः कथितः कोऽसौ ? कर्मतापन्नः, एष प्रत्यक्षीभूतः, पूर्वोक्तगाथाचतुष्टयेन[3] निर्दिष्टो विनिश्चयः, व्यवहारानुयायी निश्चय इत्यर्थः कस्य संबंधी ? व्यवहारनयस्य। क्व ! विषये ज्ञानदर्शनचारित्रत्रये। **अण्णेसु वि पज्जएसु एमेव णादव्वो** इदमोद-नादिकं मया भुक्तं, इदमहिविषकंटकादिकं त्यक्तं, इदं गृहादिकं कृतं, तत्सर्वं व्यवहारेण। निश्चयेन पुनः स्वकीयरागा-दिपरिणाम एव कृतो भुक्तश्च। एवमित्याद्यन्येष्वपि पर्यायेषु निश्चयव्यवहारनयविभागो ज्ञातव्य इति। किंच यदि व्यवहारेण परद्रव्यं जानाति तर्हि निश्चयेन सर्वज्ञो न भवतीति पूर्वपक्षे परिहारमाह—यथा स्वकीयसुखादिकं तन्मयो भूत्वा जानाति तथा बहिर्द्रव्यं न जानाति तेन कारणेन व्यवहारः यदि पुनः परकीय सुखादिकमात्मसुखादित्तन्म यो भूत्वा जानातितर्हि तथा स्वकीयसुखसंवेदने सुखी भवति तथा परकीयसुखदुःखसंवेदनकाले सुखी दुःखी च प्राप्नोति न च तथा। यद्यपि स्वकीयसुखसंवेदनापेक्षया निश्चयः, परकीयसुखसंवेदनापेक्षया व्यवहारस्तथापि छद्मस्थ-जनापेक्षया सोऽपि निश्चय एवेति। ननु सौगतोऽपि ब्रूते व्यवहारेण सर्वज्ञः तस्य किमिति दूषणं दीयते भवद्भिरिति ! तत्र परिहारमाह—सौगतादिमते यथा निश्चयापेक्षया व्यवहारो मृषा, तथा व्यवहाररूपेणापि व्यवहारो न सत्य इति। जैनमते पुनर्व्यवहारनयो यद्यपि निश्चयापेक्षया मृषा तथापि व्यवहाररूपेण सत्य इति। यदि पुनर्लोकव्यवहाररूपेणापि सत्यो न भवति तर्हि सर्वोऽपि लोकव्यवहारो मिथ्या भवति, तथा सत्यतिप्रसंगः। एवमात्मा व्यवहारेण परद्रव्यं जानाति पश्यति निश्चयेन पुनः स्वद्रव्यमेवेति। ततएतदायाति ग्रामारामादि सर्वं खल्विदंब्रह्म ज्ञेयवस्तु किमपि नास्तियद् ब्रह्माद्वै-तवादिनो वदंति तन्निषिद्धं। यदपि सौगतो[1] वदति ज्ञानमेव घटपटादिज्ञेयाकारेण परिणमति नच ज्ञानाद्भिन्नं ज्ञेयं किमप्यस्ति तदपि निराकृतं। कथं ! इति चेत्, यदि ज्ञानं ज्ञेयरूपेण परिणमति तदा ज्ञानाभावः प्राप्नोति यदि वा ज्ञेयं ज्ञानरूपेण परिणमति तदा ज्ञेयाभावस्तथा सत्युभयशून्यत्वं, स च प्रत्यक्षविरोधः। एवं निश्चयव्यवहारव्याख्यायान-मुख्यतया समुदायेन सप्तमस्थले सूत्रदशकं गतं।

---

१ अत्र क. पुस्तकं ज्ञानात्मेति पाठः। २ अत्रापि क. ज्ञानात्मेत्येव पाठः। ३ चतुष्टये पाठोयं ख. पुस्तके।

१ सौगता वदंति इति ख. पुस्तके पाठः। २ सूत्रसप्तकं पाठोऽयं क. पुस्तके। ३ श्वैत्यस्य पाठोऽयं क. आत्मख्यातौ।

अथ निश्चयप्रतिक्रमणनिश्चयप्रत्याख्याननिश्चयालोचनपरिणतस्तपोधन एवाभेदेन निश्चयचारित्रं भवतीत्युपदिशति—

टीका:—जैसे संसार में हम देखते हैं कि श्वेटिका अर्थात् सफेद खडिया मिट्टी निश्चय से परद्रव्यरूप भींत आदि की नहीं होजाती अर्थात् उससे लगकर भी भिन्न रहती है तन्मय नहीं होती किन्तु बाहर में ही रहती है अर्थात् श्वेटिका तो श्वेटिका ही है और अपने आपके स्वरूप में ही रहती है। इसी श्वेत मिट्टी के दृष्टांत द्वारा ज्ञानात्मा भी निश्चय के द्वारा घटपटादि ज्ञेय पदार्थों का ज्ञायक नहीं होता है अर्थात् उन्हें जानते हुए भी उनसे तन्मय नहीं होता। फिर क्या होता है? कि ज्ञायक तो ज्ञायक ही होता है अपने स्वभाव में रहता है। इस प्रकार यहां पर आचार्यदेव ने यह बतलाया है कि ज्ञान ज्ञेयके रूप में परिणमन नहीं करता जैसा कि ब्रह्म अद्वैतवादियों के यहां ज्ञान ज्ञेयरूप में परिणमन कर जाता है। इस प्रकार की कथन करने वाली गाथा हुई। इसी प्रकार श्वेत मिट्टी के दृष्टांत को लेकर दर्शक आत्मा भी निश्चय से दृश्यरूप जो घटपटादि पदार्थ हैं उनका दर्शक नहीं होता अर्थात् उनके साथ में तन्मय नहीं होता। तो क्या होता है? कि दर्शक तो दर्शक ही होता है अपने स्वरूप में रहता है। इस प्रकार सत्तावलोकनरूप दर्शन दृश्यमान पदार्थों के द्वारा पररूप में परिणमन नहीं कर जाता, इस प्रकार के कथन की मुख्यता से दूसरी गाथा हुई। उसी श्वेत मिट्टी के दृष्टांत को लेकर संयत आत्मा त्याज्य जो परिग्रहादि पर द्रव्य हैं उनका निश्चय से त्यागनेवाला नहीं होता अर्थात् उनके साथ में तन्मय नहीं होता। तो क्या होता है! कि संयत तो संयत ही रहता है अर्थात् निर्विकार अपना मनोहर आनन्द है लक्षण जिसका ऐसे अपने स्वरूप में ही रहता है। इस प्रकार वीतराग चारित्र की मुख्यता से तीसरी गाथा हुई। उसी श्वेत मिट्टी के दृष्टांत द्वारा जो तत्वार्थ श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन है, वह श्रद्धान करने योग्य जो बहिर्भूत जीवादि पदार्थ हैं उनका श्रद्धान करने वाला निश्चय से नहीं होता अर्थात् उनके साथ तन्मय नहीं होता। तो क्या होता है! सम्यग्दर्शन तो सम्यग्दर्शन ही है अपने स्वरूप में रहता है। इस प्रकार तत्त्वार्थ श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन ही मुख्यता से यह चौथी गाथा हुई।

(एवं तु णिच्छयणयस्स भासिदं णाण दंसण चरित्ते) इस प्रकार पूर्व की चार गाथाओं द्वारा ज्ञान दर्शन चारित्र के विषय में निश्चय संबंधी कथन का व्याख्यान हुआ। (सुणु ववहारनयस्स य वत्तव्वं से) अब हे शिष्य! तुम व्यवहार के व्याख्यान को सुनो। जो कि व्यवहारनय का व्याख्यान पूर्वोक्त ज्ञान दर्शन चारित्र के विषयमें है। (समासेण) जिसको मैं संक्षेप में कहता हूं। इस प्रकार निश्चयनय के व्याख्यान की मुख्यतासे पांच सूत्र कहे अब व्यवहार का कथन किया जाता है—जैसे लौकिक में परद्रव्य भींत आदि है उनको श्वेत खडिया मिट्टी अपने श्वेत भाव के द्वारा सफेद करती है फिर भी उन भींत आदि परद्रव्य के साथ तन्मय नहीं हो जाती। उसी श्वेत मिट्टी के दृष्टांत से समझना चाहिये कि ज्ञाता आत्मा परद्रव्य घटपटादि जो ज्ञेय द्रव्य हैं उनको व्यवहार से जानता है फिर भी परद्रव्यों के साथ तन्मय नहीं हो जाता केवल मात्र अपने ज्ञान भाव के द्वारा उन्हें जानता ही है। यह पहली गाथा का अर्थ हुआ। उसी प्रकार उसी श्वेत मिट्टी के दृष्टांत को लेकर ज्ञान स्वरूप आत्मा दृश्यमान घटपटादि परद्रव्य को व्यवहार से देखता है किन्तु उस परद्रव्य के साथ तन्मय नहीं होता अपितु केवलमात्र अपने दर्शन गुण के द्वारा उसे देखता है। यह दूसरी गाथा हुई। उसी प्रकार उसी श्वेत मिट्टी के दृष्टांत को लेकर ज्ञाता आत्मा परिग्रहादिक जो परद्रव्य हैं उनको व्यवहार से त्यागता है किन्तु वह परद्रव्यों के साथ तन्मय नहीं होता। तो फिर वह छोड़ता कैसे है? कि अपने निर्विकल्प रूप समाधि

परिणाम के द्वारा उनसे उदासीन हो जाता है। यह तीसरी गाथा हुई। उसी प्रकार उस श्वेत मिट्टी के दृष्टांत को लेकर यह सम्यग्दृष्टि जीव जीवादिक पर द्रव्यों के व्यवहार से अर्थात् भेदरूप से श्रद्धान करता है किन्तु वह उनके साथ तन्मय नहीं हो जाता है। किसके द्वारा नहीं होता है? कि अपने श्रद्धान परिणाम के द्वारा वह सम्यग्दृष्टि जीव पर द्रव्य को पर द्रव्य समझते हुये अपने श्रद्धान में अपने से भिन्न मानता है इस प्रकार यह चौथी गाथा का अर्थ हुआ। (एसो ववहारस्स दु विणिच्छिओ णाणदंसण चरित्ते भणिदो) यह प्रसंग प्राप्त जो कि पूर्वोक्त चार गाथाओं से कहा गया है वह विनिश्चय अर्थात व्यवहार अनुयायी निर्णय कहा गया है। किसके विषय में? ज्ञान दर्शन और चारित्र के विषय में अर्थात् व्यवहारनय के द्वारा उपर्युक्त प्रकार ज्ञान, दर्शन और चारित्र का निर्णय किया जाता है। (अण्णेसु वि पज्जएसु एमेव णादव्वो) जैसा व्यवहार ऊपर ज्ञान दर्शन चारित्र के विषय में बतलाया गया है वैसा और भी अवस्थाओं में लगा लेना कि जैसे यह मातादि मेरे द्वारा खाया गया, यह सांप का विष व कंटकादि मेरे द्वारा छोड़ दिया गया, यह घर मेरे द्वारा बनाया गया यह सब तो व्यवहार है यदि निश्चय से कहें तो इस प्रकार कहना चाहिये कि इन ओदनादिक को खाने का मैंने अपना रागरूप परिणाम किया और उसी को भोगा। इसी प्रकार और सब स्थानों में भी निश्चयनय और व्यवहारनय के विभाग को समझ लेना चाहिये।

इस पर फिर भी प्रश्न होता है कि यदि पर द्रव्य का जानना व्यवहार से ही होता है तब फिर सर्वज्ञ भी व्यवहार से ही कहे जायंगे, निश्चय से नहीं। ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य उत्तर देते हैं कि हे भाई! जिस प्रकार आत्मा अपने सुखादि को तन्मय होकर जानता है वैसे बाह्य द्रव्यों को तन्मय होकर नहीं जानता इसलिये उस जानने को व्यवहार से जानना कहा है। यदि दूसरे के सुखादि को भी यह आत्मा अपने सुखादि के समान तन्मय होकर जाने तब तो जैसे अपने संवेदन में सुखी होता है उसी प्रकार पर के सुख दु:ख के संवेदन काल में भी सुखी दु:खी होना चाहिये सो वह होता नहीं है। यद्यपि सर्वज्ञ का ज्ञान स्वकीय सुख संवेदन की अपेक्षा तो निश्चय रूप है किन्तु परकीय सुख के संवेदन की अपेक्षा से वही सर्वज्ञ का ज्ञान व्यवहार रूप है अर्थात् परकीय सुख को जानता है फिर भी उससे भिन्न है इसलिये उसे व्यवहाररूप कहा गया है, किन्तु छद्मस्थ की अपेक्षा तो दूसरे के सुख को जानने वाला सर्वज्ञ का ज्ञान भी वास्तविक है—निश्चय है (काल्पनिक नहीं है)।

यहां पर शंकाकार फिर शंका करता हैं कि बौद्धमती भी ऐसा कहते हैं कि हमारे सौगत बुद्ध भगवान् व्यवहार से सर्वज्ञ होते हैं, फिर आप उनको दूषण क्यों देते हो? इसका परिहार करते हैं कि सौगत आदि के मत में जैसे निश्चय की अपेक्षा व्यवहार सत्य नहीं है वैसे ही व्यवहार से भी व्यवहार इनके यहां झूठा ही है, किन्तु जैन मत में तो व्यवहारनय यद्यपि निश्चयनय की अपेक्षा मिथ्या है किन्तु व्यवहार रूप में तो सत्य ही है। यदि लोक व्यवहार रूप में भी सत्य न हो तो फिर सारा लोक व्यवहार मिथ्या हो जाय ऐसा होने पर कोई भी व्यवस्था नहीं बने। इसलिये जैसा ऊपर कहा गया है वह ठीक ही है कि पर द्रव्य को तो आत्मा व्यवहार से जानता है देखता है किन्तु निश्चय से अपने आपको देखता जानता है। इससे यह निष्कर्ष निकला कि ब्रह्म अद्वैतवादी जो कहा करते हैं कि ग्राम, बगीचा आदि जो वस्तुयें हैं वे सब ब्रह्मस्वरूप ही हैं ब्रह्म के सिवाय कोई भी ज्ञेय वस्तु नहीं है इस बात का यहां पर निषेध किया गया है। सौगत लोग जो कहते हैं कि ज्ञान ही घटपटादि रूप परिणमन कर जाता है, ज्ञान से भिन्न कोई भी ज्ञेय वस्तु नहीं है इस कहने का भी निराकरण हो जाता है क्योंकि ज्ञान यदि ज्ञेय रूप में

परिणमन करता है तो ज्ञान के अभाव का प्रसंग आता है और ज्ञेय रूप से परिणमन करता है तो ज्ञेय के अभाव का प्रसंग आता है एवं दोनों का अभाव ठहरता है सो प्रत्यक्ष विरोध है। इस प्रकार निश्चय और व्यवहार की मुख्यता से समुदाय रूप से इस सातवें स्थल में दश सूत्र हुए ।। ३८५ से ३९४ तक ।।

विशेषार्थ:—आत्मा का निश्चयनय से एक चेतना भाव स्वभाव है, उसी को देखना, जानना, श्रद्धान करना, एवं पर द्रव्य से निवृत्त होना यह उसी के रूपान्तर हैं। निश्चयनय से जब सोचें तो आत्मा परद्रव्य का ज्ञायक नहीं कहा जा सकता, न दर्शक कहा जा सकता और न श्रद्धाता (श्रद्धा करने वाला) और न त्याग करने वाला भी कहा जाता है क्योंकि निश्चयनयमें आत्मा का परद्रव्यके साथ कोई भी संबंध ही नहीं है, अतः परद्रव्य का ज्ञाता, दृष्टा, श्रद्धाता, एवं त्यागकरनेवाला तो यह आत्मा व्यवहार से ही कहा जाता है, क्योंकि परद्रव्य के साथ में निमित्त नैमित्तिकादि संबंध होता है वह व्यवहार का ही विषय होता है। यही बात आचार्यदेव ने ऊपर बताई है सो यह निश्चयनय का और व्यवहारनय का अपना अपना विषय है सो अपने अपने स्थान ठीक है। इसे भले प्रकार समझकर यथार्थ श्रद्धान करना यही पाठकों का कर्त्तव्य है।

अब इसके आगे निश्चय प्रतिक्रमण, निश्चय प्रत्याख्यान और निश्चय आलोचना के रूप में परिणत हुआ स्वयं तपोधन ही अभेदनय से निश्चय चारित्र होता है ऐसा व्याख्यान आगे की गाथामें करते हैं:—

कम्मं जं पुव्वकयं सुहासुहमणेयवित्थरविसेसं ।
तत्तो णियत्तदे अप्पयं तु जो सो पडिक्कमणं ।।३९५।।
कम्मं जं सुहमसुहं जह्मि य भावेण बज्झदि भविस्सं ।
तत्तो णियत्तदे जो सो पच्चक्खाणं हवे चेदा ।।३९६।।
जं सुहमसुहमुदिण्णं संपडिय अणेय वित्थरविसेसं ।
तं दोसं जो चेददि स खलु आलोयणं चेदा ।।३९७।।
णिच्चं पच्चक्खाणं कुव्वदि णिच्चंपि जो पडिक्कमदि ।
णिच्चं आलोचेयदि सो हु चरित्तं हवदि चेदा ।।३९८।। (चतुष्कम्)

कर्म यत्पूर्वकृतं शुभाशुभमनेक विस्तरविशेषं ।
तस्मान्निवर्तयत्यात्मनं तु यः प्रतिक्रमणं ।।३९५।।
कर्म यच्छुभमशुभं यस्मिंश्च भावे बध्यते भविष्यत् ।
तस्मान्निवर्त्तते यः स प्रत्याख्यानं भवति चेतयिता ।।३९६।।
यच्छुभमशुभमुदीर्णं संप्रति चानेकविस्तरविशेषं ।
तं दोषं यश्चेतयते स खल्वालोचनं चेतयिता ।।३९७।।

**नित्यं प्रत्याख्यानं करोति नित्यमपि यः प्रतिक्रामति ।
नित्यमालोचयति स खलु चरित्रं भवति चेतयिता ।।३९८।।**

अर्थ—पहले के किये हुए कार्यों से ममत्व रहित होना प्रतिक्रमण है. आगे न करने का दृढ़ संकल्प करना सो प्रत्याख्यान है किन्तु वर्तमान के कार्यों से भी दूर रहना आलोचना कहलाती है । यही चारित्र का विधान है सो ही बता रहे हैं कि अनेक प्रकार के विस्तार से विस्तृत पूर्वकाल में किये हुये जो शुभाशुभ कर्म हैं उनसे जो जीव अपने आपको छुड़ालेता है वह आत्मा ही प्रतिक्रमण स्वरूप होता है । आगामी काल में शुभ या अशुभ कर्म जिस भावके होने पर बन्धे उस अपने भाव से जो ज्ञानी दूर रहता है वह ज्ञानी ही प्रत्याख्यान होता है । अनेक प्रकार के विस्तार से विस्तृत शुभ या अशुभ कर्म वर्तमान में उदयमें आ रहा है उसे भी जो ज्ञानी दोष मानता है अर्थात् उससे भी बचना चाहता है, मिटा देने योग्य भावना करता है वह आत्मा निश्चय से आलोचना स्वरूप होता है । एवं जो इस प्रकार के प्रतिक्रमण को, प्रत्याख्यान को और आलोचना को निरन्तर करता रहता है वह ज्ञानी जीव निश्चयसे चारित्रवान होता है ।। ३९५-३९६-३९७-३९८ ।।

तात्पर्यवृत्तिः—णियत्तदे अप्पयंतु जो इहलोकपरलोकाकांक्षारूपख्यातिपूजालाभदृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षा-लक्षणनिदानबंधादिसमस्तपरद्रव्यालंबनोत्पन्नशुभाशुभसंकल्पविकल्परहिते शून्ये विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावात्मतत्त्वसम्यक्-श्रद्धानज्ञानानुभवनरूपाभेदरत्नत्रयात्मकेनिर्विकल्पपरमसमाधिसमुत्पन्नवीतरागसहजपरमानंदस्वभावसुखरसास्वादसमरसी-भावपरिणामेन सालंबने भरितावस्थे केवलज्ञानाद्यनंतचतुष्टयव्यक्तिरूपस्य कार्यसमयसारस्योत्पादके कारणसमयसारे स्थित्वा यः कर्ता, आत्मानं कर्मतापन्नं निवर्तयति । कस्मात्सकाशात् ? **कम्मं जं पुव्वकयं सुहासुहमणेयवित्थर-विसेसं तत्तो** शुभाशुभमूलोत्तरप्रकृतिभेदेनानेकविस्तरविस्तीर्णं पूर्वकृतं यत्कर्म तस्मात् **सो पडिक्कमणं** स पुरुष एवा-भेदनयेन निश्चयप्रतिकमणं भवतीत्यर्थः । **णियत्तदे जो** अनंतज्ञानादिस्वरूपात्मद्रव्यसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुभूति स्वरूपाभेद-रत्नत्रयलक्षणे परमसामायिके स्थित्वा यः कर्ता आत्मानं निवर्तयति । कस्मात्सकाशात् ? **कम्मं जं सुहमसुहं-जह्मियभावेह्मि बज्झदि भविस्सं तत्तो** शुभाशुभानेकविस्तरविस्तीर्णं भविष्यत्कर्म यस्मिन्मिथ्यात्वादिरागादिपरिणामे सति बध्यते तस्मात् **सो पच्चक्खाणं हवे चेदा** स एवंगुणविशिष्टस्तपोधन एवाभेदनयेन निश्चयप्रत्याख्यानं भवतीति विज्ञेयं **जो वेददि** नित्यानंदैकस्वभावशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपाभेदरत्नत्रयात्मके सुखदुःखजीवितमरणादि-विषय सर्वोपेक्षासंयमे स्थित्वा यः कर्ता वेदयत्यनुभवति जानाति । **जं** यत्कर्म **तं** तत् । केन रूपेण ? **दोसं** दोषोयं मम स्वरूपं न भवति । कथं भूतं कर्म ? **उदिण्णं** उदयागतं । पुनरपि कथंभूतं ? **सुहमसुहं** शुभाशुभं । पुनश्च किंरूपं **अणेयवित्थरविसेसं** मूलोत्तरप्रकृतिभेदेनानेकविस्तरविस्तीर्णं । **संपडिय** संप्रति काले खलु स्फुटं । **सो आलोयणं चेदा** स चेतयिता पुरुष एवाभेदनयेन निश्चयालोचनं भवतीति ज्ञातव्यं । **णिच्चं पच्चक्खाणं कुव्वदि णिच्चंपि जो पडिक्कमदि णिच्चं आलोचेदिय** निश्चयरत्नत्रयलक्षणे शुद्धात्मस्वरूपे स्थित्वा यः कर्ता पूर्वोक्तनिश्चयप्रत्याख्यान-प्रतिक्रमणालोचनानुष्ठानानि नित्यं सर्वकालं करोति **सोहु चरित्तं हवदि चेदा** स चेतयिता पुरुष एवाभेदनयेन निश्चयचारित्रं भवति । कस्मात् ? इति चेत् शुद्धात्मस्वरूपे चरणं चारित्रमिति वचनात् । एवं निश्चयप्रतिक्रमण-प्रत्याख्यानालोचनाचारित्रव्याख्यानरूपेणाष्टमस्थले गाथाचतुष्टयं गतं ।

अर्थेंद्रियमनोविषयेषु रागद्वेषौ मिथ्याज्ञानपरिणत एव जीवः करोतीत्याख्याति—

टीका:—(णियत्तदे अप्पयं तु जो) जो कारण समयसार इस लोक और परलोक की आकांक्षामय ख्याति पूजा और लाभ तथा दृष्ट श्रुत और अनुभूत जो भोग उनकी आकांक्षा रूप निदान बंध इत्यादि

समस्त परद्रव्यों का जो आलम्बन उससे उत्पन्न जो शुभाशुभ संकल्प विकल्प से रहित तथा विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभाव जो आत्मतत्व उसके समीचीन श्रद्धान, ज्ञान और अनुभवरूप जो अभेद रत्नत्रय सो ही है आत्मा अर्थात् स्वरूप जिसका ऐसी जो निर्विकल्प रूप परम समाधि उससे उत्पन्न हुआ जो वीतराग सहज परमानन्द स्वभावरूप सुखरस का आस्वाद वही हुआ समरसीभाव परिणाम इसके आलम्बन से भरा पूरा है और जो केवल ज्ञानादि अनन्त चतुष्टय की अभिव्यक्ति रूप कार्य समयसार का समुत्पादक है ऐसे उस कारण समयसार में स्थित होकर अपने आपको दूर कर लेता है। किससे दूर करता है ? कि (कम्मं जं पुव्वकयं सुहासुहमणेय वित्थर विसेसं ततो) अनेक प्रकार के विस्तार से विस्तीर्ण जो पूर्वकाल के किये शुभाशुभ कर्म हैं उनसे दूर कर लेता है (सो पडिक्कमणं) वह पुरुष ही अभेदनय से निश्चय प्रतिक्रमण होता है। तथा (णियत्तो जो) अनन्त ज्ञानादि स्वरूप जो आत्मद्रव्य, उसका समीचीन श्रद्धान, ज्ञान और अनुभव स्वरूप जो अभेद रत्नत्रय, वह अभेद रत्नत्रय ही है लक्षण जिसका ऐसे परम सामायिक में स्थित होकर आत्मा को बचा लेता है। किससे बचा लेता है ? (कम्मं जं सुहमसुहं जह्मि य भावह्मि वज्झदि भविस्सं तत्तो) शुभ और अशुभरूप अनेक प्रकार के फैलाव में फैला हुआ भविष्यतकालीन कर्म जिस मिथ्यात्व या रागादिरूप परिणाम के होने पर बन्धता है उस परिणाम से बचा लेता है दूर कर रखता है (सो पच्चक्खाणं हवे चेदा) वह इस प्रकार के गुणवाला तपोधन ही अभेद नय से निश्चयरूप प्रत्याख्यान होता है ऐसा जानना चाहिये। तथा (जो वेददि) सदा बना रहने वाला जो आनन्द वही है एक स्वभाव जिसका ऐसे शुद्धात्मा के समीचीन श्रद्धान ज्ञान और अनुष्ठान रूप जो अभेद रत्नत्रयवाले एवं सुख और दुःख तथा जीवन और मरण आदि के विषय में समभाव रखने वाले सब और उपेक्षा रखने वाले संयम में स्थित होकर वेदता है, अनुभव करता है जानता है। क्या जानता है ? कि (जं तं) जो कोई कर्म है वह (दोसं) मेरा किया हुआ दोष है किन्तु वह मेरा स्वरूप नहीं है। वह कौनसा कर्म ? (उद्दीण्णं) जो कि उदय में आ रहा है। फिर वह कैसा है ? कि (सुहमसुहं) शुभ और अशुभरूप है। फिर कैसा है कि (अणेयवित्थर विसेसं) मूल और उत्तर प्रकृति के भेद से अनेक प्रकार के फैलाव में फैला हुआ है (सम्पडि य) जो कि वर्तमान काल में स्पष्ट हो रहा है (सो आलोयणं चेदा) सो वह उपर्युक्त प्रकार से जानने वाला आत्मा ही अभेदनय से आलोचना रूप होता है ऐसा जानना चाहिये। (णिच्चं पच्चक्खाणं कुव्वदि णिच्चंपि जो दु पडिक्कमदि णिच्चं आलोचेदिय) निश्चय रत्नत्रय है लक्षण जिसका ऐसा जो शुद्धात्मा का स्वरूप है उसमें स्थित होकर जो जीव उपर्युक्त निश्चय प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण और आलोचना रूप अनुष्ठान नित्य ही सदा काल करता रहता है (सो दु चरित्तं हवदि चेदा) वह सचेतन पुरुष ही अभेद नय से निश्चय चारित्र होता है क्योंकि शुद्धात्मा के स्वरूप में चरण करना तल्लीन होना सो चारित्र है इस प्रकार का आर्ष वचन है।

इस प्रकार निश्चय प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान आलोचना और चारित्र के व्याख्यान रूप से इस आठवें स्थल में चार गाथायें पूर्ण हुईं ॥ ३९५-३९६-३९७-३९८ ॥

विशेषार्थः—यहां इन चार गाथाओं में निश्चय चारित्र का कथन किया गया है। चारित्र में प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचना का विवरण आवश्यक है। वहां अपने चारित्रमें लगे हुये दोषों से आत्मा को निर्वर्तन करना तो प्रतिक्रमण है। आगे को दोष लगाने का त्याग करना प्रत्याख्यान है। और वर्तमान कालीन दोष से दूर रहना सो आलोचना है। वे तीनों चारित्रवान् आत्मा के गुण हैं जो कि उस आत्मा से अभिन्न हैं, उनको आत्मा से पृथक् रूप में वर्णन करना सो व्यवहार होता है। किन्तु

निश्चय से विचारा जावे तब तो तीनों कालों संबंधी दोषों से सदा बचते रहने वाला आत्मा तो प्रतिक्रमण है, वही प्रत्याख्यान है और वही आलोचनारूप है और तीनों स्वरूप आत्मा का निरन्तर अनुभव करना ही चारित्र है जैसा कि यहां बताया गया है इस। निश्चय चारित्र अर्थात् स्वरूपाचरणमय होने का नाम ही ज्ञान चेतना है जिससे कि आत्मा शुद्ध हो जाती है किन्तु इसके विरुद्ध अज्ञान चेतना अर्थात् कर्मचेतना और कर्मफल चेतना है वह बन्धकारक होती है जैसा कि श्री अमृचन्द्राचार्य ने निम्न वृत्त में स्पष्ट कर बताया है :—

ज्ञानस्य संचेतनयैव नित्यं प्रकाशते ज्ञानमतीव शुद्धं।
अज्ञान संचेतनया तु धावन् बोधस्य शुद्धिं निरुणद्धि बंधः ॥२२४॥

अर्थात्—ज्ञान में रागद्वेष भावकी अर्थात् आर्त्तरौद्र भावकी पुट न होना, ज्ञान का ज्ञान मात्र होना सो ज्ञानकी संचेतना कहलाती है इसी का दूसरा नाम निर्विकल्प समाधि दशा है। इसके द्वारा नित्य शाश्वत बना रहने वाला शुद्ध ज्ञान अर्थात् केवल ज्ञान प्रगट होता है। यदि वह अविच्छिन्न ज्ञान धारा प्रवाह रूप से एक सम्पन्न मुहूर्त्त मात्र काल तक बनी रह जाय तो केवलज्ञान हुए बिना न रहे। किन्तु छद्मस्थ का उपयोग तो मुहूर्त्त के भीतर ही या तो छद्मपने को दूरकर बताता है और नहीं तो फिर निर्विकल्प दशा से हटकर सविकल्पदशा पर आना ही पड़ता है जिसका नाम अज्ञान चेतना है जिससे ज्ञान अशुद्ध बनकर बन्ध होने लगता है।

आगे कहते हैं कि मिथ्याज्ञान में परिणमन करता हुआ यह जीव पांच इन्द्रिय और मनके विषयोंमें राग और द्वेष करता है:—

णिंदिद संथुदवयणाणि पोग्गला परिणमंति बहुगाणि।
ताणि सुणिदूण रूसदि तूसदिय अहं पुणो भणिदो ॥३९९॥
पोग्गलदव्वं सदुत्तह परिणदं तस्स जदि गुणो अण्णो।
तह्मा ण तुमं भणिदो किंचिवि किं रूससे अवुहो ॥४००॥
असुहो सुहोव सद्दो ण तं भणदि सुणसु मंति सो चैव।
ण य एदि विणिग्गहिदुं सोदु विसयमागदं सद्दं ॥४०१॥
असुहं सुहं च रूवं ण तं भणदि पेच्छ मंति सो चेव।
ण य एदि विणिग्गहिदुं चक्खुविसयमागदं रूवं ॥४०२॥
असुहो सुहो य गंधो ण तं भणदि जिग्घ मंति सो चेव।
ण य एदि विणिग्गहिदुं घाणविसयमागदं गंधं ॥४०३॥
असुहो सुहो य रसो ण तं भणदि रसय मंति सो चेव।
ण यदि ए विणिग्गहिदुं रसणविसयमागदं तु रसं ॥४०४॥

असुहो सुहो य फासो ण तं भणदि फासमंति सो चेव ।
ण य एदि विणिग्गहिदुं कायविसयमागदं फासं ।।४०५।।
असुहो सुहो व गुणो ण तं भणदि वुज्झ मंति सो चेव ।
ण य एदि विणिग्गहिदुं बुद्धिविसयमागदं तु गुणं ।।४०६।।
असुहं सुहं च दव्वं ण तं भणदि वुज्झमंति सो चेव ।
ण य यदि विणिग्गहिदुं बुद्धिविसयमागदं दव्वं ।।४०७।।
एवं तु जणि दव्वस्स उवसमं णेव गच्छदे मूढो ।
णिग्गहमणा परस्स य सयं च बुद्धिं सिवमपत्तो ।।४०८।।

निंदितसंस्तुतवचनानि पुद्गलाः परिणमंति बहुकानि ।
तानि श्रुत्वा रूष्यति तुष्यति च पुनरहं भणितः ।।३९९।।
पुद्गलद्रव्यं शब्दत्वपरिणतं तस्य यदि गुणोऽन्यः ।
तस्मान्न त्वां भणितः किंचिदपि किं रुष्यस्यबुद्धः ।।४००।।
अशुभः शुभो वा शब्दः न त्वां भणति श्रृणु मामिति स एव ।
नचैति विनिगृंहीतुं श्रोत्रविषयमागतं शब्दं ।।४०१।।
अशुभं शुभं वा रूपं न त्वां भणति पश्य मामिति स एव ।
नचैति विनिगृहीतुं चक्षुर्विषयमागंत रूपं ।।४०२।।
अशुभः शुभो वा गंधो न त्वां भणति जिघ्र मामिति स एव ।
नचैति विनिगृंहीतुं घ्राणविषयमागतं गंधं ।।४०३।।
अशुभः शुभो वा रसो न त्वां भणति रसय मामिति स एव ।
नचैति विनिगृंहीतुं रसनविषयमागतं तु रसं ।।४०४।।
अशुभः शुभो वा स्पर्शो न त्वां भणति स्पृश मामिति स एव ।
नचैति विनिगृंहीतुं कायविषयमागतं तु स्पर्शं ।।४०५।।
अशुभः शुभो वा गुणो न त्वां भंणति बुध्यस्व मामिति स एव ।
नचैति विनिगृंहीतुं बुद्धिविषयमागतं तु गुणं ।।४०६।।
अशुभं शुभं वा द्रव्यं न त्वां भणति बुध्यस्व मामिति स एव ।
नचैति विनिगृंहीतुं बुद्धिविषयमागतं द्रव्यं ।।४०७।।

एवं तु ज्ञातद्रव्यस्य उपशमं नैव गच्छति मूढः।
विनिर्ग्रहमनाः परस्य च स्वयं च बुद्धिं शिवामप्राप्तः ॥४०८॥

अर्थ.–बहुत प्रकार के निन्दा और स्तुति के वचन रूप में पुद्गल वर्गणाएं परिणमती हैं उसको सुनकर अज्ञानी जीव ऐसा मानता है कि मुझे भला बुरा कहा गया है ऐसा जानकर या तो क्रोध करता है अथवा संतुष्ट होता है। इस पर आचार्य महाराज कहते हैं कि शब्द रूप में परिणत हुआ पुद्गल द्रव्य है उसका गुण तो पुद्गलमय है तेरे से अन्य है इसलिये हे भोले ! तुझे तो उसने कुछ भी नहीं कहा है तू अज्ञानी हुआ क्यों रोष करता है आदि। देख-अशुभ या शुभ शब्द हैं वह तुझे ऐसा कहता है क्या ? कि तू मुझे सुन अपितु नहीं कहता और श्रोत्र इन्द्रिय के विषय में आये हुए शब्द को ग्रहण करने के लिये आत्मा भी नहीं दौड़ता। इसी प्रकार अशुभ तथा शुभ रूप भी तुझे ऐसा नहीं कहता है कि मुझे देख और चक्षु के विषय में आये हुये रूप को ग्रहण करने के लिये आत्मा भी नहीं दौड़ता इसी प्रकार अशुभ या शुभ गंध भी तुझे ऐसा नहीं कहता कि मुझे सूंघ और घ्राण इन्द्रिय के विषय में आये हुये गंध को ग्रहण करने के लिये आत्मा भी नहीं दौड़ता। इसी प्रकार अशुभ या शुभ रस भी तुझे नहीं कहता कि तू मुझे चख और रसना के विषय में आए हुए रस के ग्रहण करने के लिए आत्मा वहां नहीं जाता। वैसे ही अशुभ तथा शुभ स्पर्श भी तुझे ऐसा नहीं कहता कि तू मुझे छूले और स्पर्शन इन्द्रिय के विषय में आए हुए स्पर्श के ग्रहण करने को आत्मा भी नहीं जाता। इसी प्रकार किसी भी वाह्य द्रव्य का गुण जो अशुभ तथा शुभ है वह तुझे ऐसा नहीं कहता कि तू मुझे जान, बुद्धि के विषय में आये हुए गुण को ग्रहण करने के लिए आत्मा भी नहीं दौडता। इसी प्रकार अशुभ तथा शुभ द्रव्य हैं वह भी तुझे ऐसा नहीं कहता कि तू मुझे जान और बुद्धि के विषय में आये हुए द्रव्य के ग्रहण करने को आत्मा दौड़ नहीं लगाता। ऐसा जानकर भी यह मूढ़ जीव उपशम भाव को प्राप्त नहीं होता प्रत्युत पर के ग्रहण करने का ही मन करता है क्योंकि कल्याणकारी बुद्धि अर्थात् समुचित समीचीन ज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई है ॥३९९ से ४०८ तक॥

तात्पर्यवृत्तिः—रूसवि तूसदिय एकेंद्रियविकलेंद्रियादिदुर्लभपरंपराक्रमेणातीतानंतकाले दृष्टश्रुतानुभूतमिथ्यात्वविषयकषायादिविभावपरिणामाधानतया अत्यंतदुर्लभेन कथंचित्कालादिलब्धिवशेन मिथ्यात्वादिसप्तप्रकृतीनां तथैव चारित्रमोहनीयस्य चोपशमक्षयोपशमक्षये सति षड्द्रव्यपंचास्तिकायसप्ततत्त्वनवपदार्थादिश्रद्धानज्ञानरागद्वेषपरिहाररूपेण भेदरत्नत्रयात्मकव्यवहारमोक्षमार्गसंज्ञेन व्यवहारकारणसमयसारेण साध्येन विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावशुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपाभेदरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिरूपेणानंतकेवलज्ञानादिचतुष्टयाभिव्यक्तिरूपस्य कार्यसमयसारस्योत्पादकेन निश्चयकारणसमयसारेण विना खल्वज्ञानिजीवो रुष्यति तुष्यति च। किं कृत्वा ? **सुणिऊण** श्रुत्वा। पुनः पश्चात् केन रूपेण ? **अहं भणिदो** अनेनाहं भणित इति। कानि श्रुत्वा ? **णिंदिदसंथुदवयणाणि** निंदितसंस्तुतवचनानि **ताणि** तानि। किं विशिष्टानि ? **पोग्गलापरिणमंति बहुगाणि** भाषावर्गणायोग्यपुद्गलाः कर्तारो यानि कर्मतापन्नानि बहुविधानि परिणमंति। ज्ञानी पुनर्व्यवहारमोक्षमार्गं निश्चयमोक्षमार्गभूतं पूर्वोक्तद्विविधकारणसमयसारं ज्ञात्वा बहिरंगेष्टानिष्टविषये रागद्वेषौ न करोतीति भावार्थः। **पुग्गलदव्वं सद्दत्तहपरिणवं** भाषावर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्यं कर्तृ भ्रियस्वेति जीवत्वमिति रूपेण निंदितसंस्तुतशब्दरूपत्वपरिणतं **तस्स जदि गुणो अण्णो** तस्य पुद्गलद्रव्यस्य शुद्धात्मस्वरूपाद्यदि गुणोऽन्यो भिन्नो जडरूपः, तर्हि जीवस्य किमायातं ? न किमपि। तस्यैवाज्ञानिजीवस्य पूर्वोक्तव्यवहारकारणसमयसारनिश्चयसमयसारकारणरहितस्य संबोधनं क्रियते। कथं ? इति चेत् यस्मान्निंदितसंस्तुतवचनेन पुद्गलाः परिणमंति **तह्मा ण तुमं भणिदो किंचिवि** तस्मात्कारणात्त्वं न भणितः किंचिदपि **किं रूससे अबुहो** किं रुष्यसे अबुध ! बहिरात्मान्निति। स चैवाज्ञानिजीवो व्यवहारनिश्चयकारणसमयसाराभ्यां रहितः पुनरपि संबोध्यते। हे अज्ञानिन् ! शब्दरूपवगंधरसस्पर्शरूपा मनोज्ञामनोज्ञपंचेंद्रियविषयाः कर्तारः, त्वां कर्मतापन्नं किमपि न भणंति। किं न

भणंति ? हे देवदत्त ! मां कर्मतापन्नं शृणु, मां पश्य, मां जिघ्र, मां स्वादय, मां स्पृशेति । पुनरप्यज्ञानी ब्रूते एते शब्दादय: कर्तारो मां किमपि न भणंति, परं किंतु मदीयश्रोत्रादिविषयस्थानेषु समागच्छंति ? आचार्या उत्तरमाहु:—हे मूढ ! नचायांति विनिर्ग्रहीतुं—एते शब्दादिपंचेंद्रियविषया: । कथंभूता: संत: ? श्रोत्रेंद्रियादिस्वकीयस्वकीयविषयभावमागच्छंत: । कस्मात् ? इति चेत् वस्तुस्वभावादिति । यस्तु परमतत्त्वज्ञानी जीव: स पूर्वोक्तव्यवहारनिश्चयकारणसमयसाराभ्यां बाह्याभ्यंतररत्नत्रयलक्षणाभ्यां सहित: सन् मनोज्ञामनोज्ञशब्दादिविषयेषु समागतेषु रागद्वेषौ न करोति, किंतु स्वस्थभावेन शुद्धात्मस्वरूपमनुभवतीति भावार्थ: । यथा पंचेंद्रियविषये मनोज्ञामनोज्ञेंद्रियसंकल्पवशेन रागद्वेषौ करोत्यज्ञानी जीव: । तथा परकीयगुणपरिच्छेदरूपे परद्रव्यपरिच्छेदरूपे मनोविषयेऽपि रागद्वेषौ करोति तस्याज्ञानिजीवस्य पुनरपि संबोधनं क्रियते तद्यथा—परकीयगुण: शुभोऽशुभो वा चेतनोऽचेतनो वा । द्रव्यमपि परकीयं कर्तृत्वं कर्मतापन्नं न भणति हे मनोबुद्धे ! हे अज्ञानिजनचित्त ! मां कर्मतापन्नं बुध्यस्व जानीहि । अज्ञानी वदति—एवं न ब्रूते किंतु मदीयमनसि परकीयगुणो द्रव्यं वा परिच्छित्तिसंकल्परूपेण स्फुरति प्रतिभाति । तत्रोत्तरं दीयते—स चैव परकीयगुण: परकीयद्रव्यं वामनोबुद्धिविषयमागतं विविग्रहीतुं नायाति । कस्मात् ? ज्ञेयज्ञायकसंबंधस्य निषेधयितुमशक्यत्वात् इति हेतो:—यद्रागद्वेषकरणं तदज्ञानं । यस्तु ज्ञानी स पुन: पूर्वोक्तव्यवहारनिश्चयकारणं समयसारं जानन् हर्षविषादौ न करोतीति भावार्थ: **एवं तु** एवं पूर्वोक्तप्रकारेण मनोज्ञामनोज्ञशब्दादिपंचेंद्रियविषयस्य परकीयगुणद्रव्यरूपस्य मनोविषयस्य वा । कथंभूतस्य ? **जाणिदव्वस्स** ज्ञातद्रव्यस्य पंचेंद्रियमनोविषयभूतस्येत्यर्थ: । तस्य पूर्वोक्तप्रकारेण स्वरूपं ज्ञात्वापि **उवसमेणेव गच्छदे मूढो** उपशमेनैव गच्छति मूढो बहिरात्मा स्वयं । कथंभूत: ? **णिग्गहमणा** निग्रहमना: निवारणबुद्धि: । कस्य संबंधित्वेन ? **परस्सय** परस्य पंचेंद्रियमनोविषयस्य । कथंभूतस्य ? परकीमशब्दादिगुणद्रव्यरूपस्य । पुनरपि कथंभूतस्य ? स्वकीयविषयमागतस्य प्राप्तस्य । पुनरपि किं रूपश्चाज्ञानी जीव: । **सयं च बुद्धि सिवमपत्तो** स्वयं च शुद्धात्मसंवित्तिरूपां बुद्धिमप्राप्त: । वीतरागसहजपरमानंदरूपं शिवशब्दवाच्यं सुखं चाप्राप्त इति । किंच यथायस्कांतोपलाकृष्टा सूची स्वस्थानात्प्रच्युत्यायस्कांतोपलपाषाणसमीपं गच्छति तथा शब्दादयश्चित्तक्षोभरूपविकृतिकरणार्थं जीवसमीपं न गच्छंति । जीवोऽपि तत्समीपं न गच्छति निश्चयत: किंतु स्वस्थाने स्वस्वरूपेणैव तिष्ठति । एवं वस्तुस्वभावे सत्यपि यदज्ञानी जीव उदासीनभावं मुक्त्वा रागद्वेषौ करोति तदज्ञानमिति ।

हे भगवन् पूर्वं बंधाधिकारे भणितं—

एवं णाणी सुद्धो ण सयं परिणमदि रायमादीहिं ।
राइज्जदि अण्णेहिं दु सो रत्तादिएहिं भावेहिं ।। १ ।।

इत्यादि रागादीनामकर्ता ज्ञानी, परद्रव्यजनिता रागादय: इत्युक्तं । अत्र तु स्वकीयबुद्धिदोषजनिता रागादय: परेषां शब्दादिपंचेन्द्रियविषयाणां दूषणं नास्तीति पूर्वापरविरोध: ? अत्रोत्तर—माहतत्र बंधाधिकारव्याख्याने ज्ञानिजीवस्य मुख्यत्वात् ज्ञानी तु रागादिभिर्न परिणमिति तेन कारणेन परद्रव्यजनिता भणिता: । अत्र चाज्ञानिजीवस्य मुख्यता स चाज्ञानी जीव: स्वकीयबुद्धिदोषेण परद्रव्यनिमित्तमात्रमाश्रित्य रागादिभि: परिणमति, तेन कारणेन परेषां शब्दादिपंचेंद्रियविषयाणां दूषणं नास्तीति भणितं । तत: कारणात् पूर्वापरविरोधो नास्ति इति । एवं निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गभूतं निश्चयकारणसमयसारव्यवहारकारणसमयसारद्वयमजानन् सन्नज्ञानी जीव: स्वकीयबुद्धिदोषेण रागादिभि: परिणमिति । परेषां शब्दादीनां दूषणं नास्तीति व्याख्यानमुख्यत्वेन नवमस्थले गाथादशकं गतं ।

अथ मिथ्यात्वरागादिपरिणतजीवस्याज्ञानचेतना केवलज्ञानादिगुणप्रच्छादकं कर्मबंध जनयतीति प्रतिपादयति—

टीका:—'रूसदि तूसदि य' इत्यादि- एकेन्द्रिय विकलेन्द्रिय आदि की उत्तरोत्तर दुर्लभ परम्परा उसके क्रम से भूतकालीन अर्थात् बीते हुए अनन्त काल में देखे, सुने और अनुभव किये मिथ्यात्व और

कषायादि रूप विभाव परिणाम उनके वशवर्तीपने से जो अत्यन्त दुर्लभ है, और जो कथंचित् कालादि लब्धि के वश से मिथ्यात्व आदि सात प्रकृतियों का और चारित्र मोहनीय कर्मका उपशम, क्षयोपशम या क्षय होने से होने वाला षट्द्रव्य, पंचास्तिकाय, सप्त तत्व, नव पदार्थ आदि के श्रद्धान और ज्ञान के साथ साथ रागद्वेष के त्याग रूप ऐसा भेद रत्नत्रय तदात्मक व्यवहार मोक्षमार्ग ही है नाम जिसका ऐसे व्यवहार कारण समयसार के द्वारा जो साध्य है और विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभाव जो शुद्धात्म तत्व उसका समीचीन श्रद्धान, ज्ञान और आचरण रूप ऐसा जो अभेद रत्नत्रय तदात्मक जो निर्विकल्प समाधी स्वरूप है तथा जो अनन्त केवल ज्ञानादि चतुष्टय की अभिव्यक्ति रूप कार्य समयसार का उत्पादक है ऐसे निश्चय कारण समयसार के हुए बिना यह अज्ञानी जीव रोष करता है और संतुष्ट होता है। क्या करके? सुनकर, किनको सुनकर? (अहं भणिदो) इसने मुझे कहा इस प्रकार सुनकर (णिंदिय संथुय वयणाणि) निंदा और स्तुति के वचनों को सुनकर। कैसे हैं वचन! (पोग्गला परिणमंति बहुयाणि) नाना प्रकार भाषा वर्गणा योग्य पुग्दल द्रव्य से बने हुये नाना प्रकार के निन्दा और स्तुति के वचन रूप परिणमन करते हैं। परन्तु ज्ञानी तो व्यवहार मोक्ष मार्ग और निश्चय मोक्ष मार्ग जो पहले कह आये हैं उन दोनों स्वरूप जो दो प्रकार का कारण समयसार है उसको जानकर इन बहिरंग इष्ट अनिष्ट विषयों में राग द्वेष नहीं करता है यह यहां पर इस कथन का भावार्थ है। (पुग्गल दव्वं सद्दत्तपरिणदं) मर जावो या जीते रहो इत्यादि रूप निन्दा और स्तुति को लिए हुए जो भाषा वर्गणा योग्य पुद्गल द्रव्य हैं, (तस्स जदि गुणो अण्णो) उस पुद्गल द्रव्य का गुण धर्म यदि शुद्धात्मा के स्वरूप से पृथक रूप है जड़ता लिये हुए है तो फिर उससे जीव को क्या हानि लाभ है? कुछ भी नहीं। इस प्रकार कहकर फिर भी पूर्वोक्त व्यवहार कारण समयसार और निश्चय कारण समयसार इन दोनों से रहित जो जीव है उसे सम्बोधन कर कहते हैं कि हे भाई! जो निन्दा और स्तुति रूप में परिणत हुए शब्द वर्गणा रूप पुद्गल स्कन्ध हैं (तह्मा ण तुमं भणिदो किंचिवि) उन्होंने तुमसे कुछ भी नहीं कहा है कि (किं रूससे अवुहो) हे अबुध, बहिरात्मन्! तू क्यों रोष करता है इत्यादि। तथा फिर भी व्यवहार कारण समयसार और निश्चय कारण समयसार इन दोनों से रहित जो अज्ञानी जीव है उसी को सम्बोधन कर कहते हैं कि हे अज्ञानिन्! शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्शात्मक मनोज्ञ या अमनोज्ञ ऐसे जो पांचों इन्द्रियों के विषय हैं वे सब तो तुम्हें कुछ भी नहीं कहते हैं कि हे देवदत्त! तू मुझे सुन, तू मुझे देख, तू मुझे सूंघ, तू मुझे चख, तू मुझे छूले। इस पर अज्ञानी जीव बोलता है कि यद्यपि ये शब्दादि तो मुझे कुछ नहीं कहते हैं किन्तु ये शब्दादि मेरे श्रोत्रादि इन्द्रियों के विषय बनने को आया करते हैं तो आचार्य इस पर उत्तर देते हैं कि हे मूढ़! ये पांचों इन्द्रियों के विषय भोग शब्दादि है सो तेरे पास चलाकर आते भी नहीं है किन्तु इनका तो ऐसा स्वभाव ही है कि अपनी २ श्रोत्रादि इन्द्रियों के विषय हुआ करते हैं (फिर भी तू इनको अच्छा बुरा मानकर इनमें राग द्वेष करता है यह अज्ञान है) बाह्य रत्नत्रय और अभ्यन्तर रत्नत्रय है क्रम से लक्षण जिसका ऐसे पूर्वोक्त व्यवहार कारण समयसार और निश्चय कारण समयसार इन दोनों से युक्त होता हुआ जो परम तत्वज्ञानी जीव है, वह तो आप्राप्त (आये) हुये इन अच्छे या बुरे शब्दादि रूप पांचो इन्द्रियों के विषयों में रागद्वेष नहीं करता है अपितु वह तो स्वस्थ भाव के द्वारा शुद्धात्मा के स्वरूप का ही अनुभव करता रहता है ऐसा भावार्थ है। जैसे अज्ञानी जीव पंचेन्द्रियों के विषय में भले और बुरे का संकल्प करके रागद्वेष करता है वैसे ही अज्ञानी जीव दूसरे के गुण के बारे में विचार करने रूप और दूसरे द्रव्य का विचार करने रूप मन के विषय में भी रागद्वेष करता रहता है। उस अज्ञानी जीवको यहां संबोधन किया जा रहा है कि हे भाई! देख, दूसरे का शुभ या अशुभ तथा चेतन और अचेतन रूप गुण

है वह तथा पर का जो द्रव्य है वह तेरे मनको कभी ऐसा नहीं कहता है कि हे मनोबुद्धे ! हे अज्ञानिजन चित्त ! तू मुझे जानले, मानले। इस पर अज्ञानी प्राणी बोलता है कि ऐसा तो वह नहीं कहता है किन्तु मेरे मन में पर का गुण या द्रव्य जानकारी के रूप में प्रस्फुरित होता है प्रतिभासता है। तो इसका उत्तर यह है कि पर का गुण या द्रव्य जो तेरे मन के विचार का विषय हुआ है वह तुझे ग्रहण करने के लिये तो कुछ कहता ही नहीं है, हां, उसके साथ में तेरे मन का जो ज्ञेय ज्ञायक संबंध है वह तो दूर किया नहीं जा सकता है सो उसके जानलेने में तो कोई हानि नहीं है, किन्तु तू या तेरा मन वहां पर रागद्वेष क्यों कर लेता है ? यह रागद्वेष करना या उसे अच्छा बुरा मान लेना ही तेरा अज्ञान भाव है। हां, पूर्वोक्त व्यवहार कारण समयसार और निश्चय कारण समयसार को जानने वाला ज्ञानी होता है, वह वहां हर्ष विषाद नहीं करता है यही तात्पर्य है। (एवंतु) इस प्रकार जानने योग्य पंचेन्द्रियों के विषय भले और बुरे शब्दादि तथा मन के विषय जो पर के गुण और द्रव्य उन (जाणिदव्वस्स) मन और इन्द्रियों के विषय को जानकर भी मूढ़ अज्ञानी जीव (उवसमंणेव गच्छदे) उपशम भाव को प्राप्त नहीं होता है, शान्त नहीं रहता है किन्तु (णिग्गहमणा) वह तो अपने जानने में आये हुए (परस्सय) दूसरे के शब्दादि गुण या द्रव्य रूप उन पंचेन्द्रिय और मन के विषय भूत वस्तु का निग्रह करना चाहता है क्योंकि (सयं च बुद्धि सिवमपत्तो) स्वयं शुद्धात्मा के संवदेन स्वरूप निर्दोष बुद्धि को प्राप्त नहीं हो रहा है अर्थात् शिव शब्द के द्वारा कहे जाने योग्य वीतराग और सहज परमानन्द स्वरूप सुख को नहीं पा रहा है।

सारांश यह है कि चुम्बक पाषण से खेंची हुई लोह शलाका अपने स्थान से च्युत होकर चुम्बक पाषाण के पास पहुँच जाती है वैसे ही शब्दादिक इस जीव के चित्त को विकृत बनाने के लिए जीव के पास नहीं जाया करते हैं तथा जीव भी उनके पास नहीं जाता है अपितु अपने स्थानमें अपने ही रूप रहता है ऐसा वस्तुका का स्वभाव है। फिर भी यह अज्ञानी जीव अपने उदासीन भाव को छोड़ कर रागद्वेष करने लगता है यह इसका अज्ञान भाव है। इस पर कोई शंका करता है कि हे भगवन् ! आपने बंधाधिकार में तो यह बताया था कि "एवं णाणी सुद्धो ण सयं परिणमदि रायमादीहिं। राइज्जदि अण्णेहिं दु सो रत्तादि एहिं भावेहिं॥" अर्थात् ज्ञानी जोव रागादिकों का करने वाला नहीं किन्तु रागादि भाव तो पर द्रव्य जनित होते हैं किन्तु आप ही यहां कह रहे हैं कि रागादि भाव इस आत्मा की अपनी ही बुद्धि के दोष से पैदा हुए हैं, इसमें दूसरों का किन्हीं का भी कोई दोष नहीं है, सो यह बात तो पूर्वापर विरुद्ध है। आचार्य देव इसका उत्तर देते हैं कि हे भाई ! वहां बन्धाधिकार के व्याख्यान में ज्ञानी जीव की मुख्यता है सो ज्ञानी जीव तो रागादिरूप में परिणमन करता नहीं है, इसलिये वहां पर उनको परद्रव्य जनित बता आये हैं। किन्तु यहां पर तो अज्ञानी की मुख्यता है जो कि अज्ञानी जीव अपनी बुद्धिके दोष से परद्रव्य को निमित्तमात्र लेकर रागादि के रूप में परिणमन करता है इसलिये पर वस्तु जो शब्दादिरूप पंचेन्द्रियों के विषय हैं उनका कोई दोष नहीं है ऐसा कहा है, इसमें पूर्वापर विरोध नहीं है।

इस प्रकार निश्चय और व्यवहार मोक्षमार्ग स्वरूप जो निश्चय कारण समयसार और व्यवहार कारण समयसार है उन दोनों को नहीं जानता हुआ अज्ञानी जीव अपनी ही बुद्धि के दोषसे रागादिके रूप में परिणमन करता है। पर पदार्थरूप जो शब्दादि हैं उनका इसमें कोई दोष नहीं है इस प्रकार के व्याख्यान की मुख्यतासे नवमें स्थलमें दश गाथाएं पूर्ण हुईं ॥ ३९९ से ४०८ तक ॥

विशेषार्थ:—यहां कार्य समयसार और कारण समयसार तथा व्यवहार मोक्षमार्ग तथा निश्चय मोक्षमार्ग के विषय में कहा गया है। समयसार नाम तो परमात्मा का है, जिसके विषय में यह संसार का अज्ञानी

प्राणी भूला हुआ विषय कषायों में उलझा रहता है। वह किसी भी प्रकार से इन विषय कषायों को भुलाकर तथा परमात्मा को जान पहचानकर आप आत्मा से परमात्मा बन जाय यहां यह कर्त्तव्य है। परमात्मा बन जाने का नाम तो कार्य समयसार है, और परमात्मा से पूर्व की सन्निकट संबंधित अवस्था का नाम कारण समयसार है, जिसको स्पष्ट अन्तरात्मा कहा जाता है। यह कारण समयसार ही मोक्षमार्ग है जो कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रत्नत्रय स्वरूप है। यह व्यवहार और निश्चय के भेद से दो प्रकार का है। जब अनादिकाल का भूला भटका शरीर और आत्मा को एक समझने वाला अज्ञानी जीव भाग्योदय वश सद्गुरुओं के निकट पहुँचता है और सुनता है कि शरीर भिन्न है और आत्मा भिन्न है क्योंकि शरीर तो जड़ और नाशवान है और आत्मा सच्चिदानन्द स्वरूप है। ऐसी दशामें शरीर को पुष्ट बनाये रखने के लिए पाप पाखण्ड करने की क्या आवश्यकता है ? तब इस गुरु की वाणी पर विश्वास लाते हुए वह शरीर और आत्मा को भिन्न भिन्न सोच समझकर पापों से दूर हो जाता है। यह भिन्न रत्नत्रयात्मक व्यवहार मोक्षमार्ग हुआ। इसके अनन्तर-फिर इस आत्मा का संसार की इन बाह्य बातों से वास्तविक संबंध न होने के कारण आत्मा आत्मतल्लीन हो जाता है, आत्मा को जानने, मानने और पहिचानने में लग रहता है अर्थात् निर्विकल्प समाधि में तल्लीन हो जाता है यह अभिन्न रत्नत्रयात्मक निश्चय मोक्षमार्ग है। इस प्रकार व्यवहार मोक्षमार्ग और निश्चय मोक्षमार्ग में पूर्वोत्तर काल का भेद होकर परस्पर में साधन और साध्यपना पाया जाता है। व्यवहार मोक्षमार्ग निश्चय मोक्षमार्ग का साधन है जो पूर्व में होता है किन्तु निश्चय मोक्षमार्ग उस व्यवहार मोक्षमार्ग के द्वारा साध्य होता है प्राप्त करने योग्य होता है एवं दोनों ही मोक्षमार्ग मुमुक्षु के लिए उपयोगी होते है किन्तु जो इन दोनों ही प्रकार के मोक्षमार्गों से रहित होता है वह मोही जीव तो इन वाह्य के विषय कषायों में उलझा हुआ रहकर निरन्तर कर्मबन्ध करता रहता है।

आगे कहते हैं कि मिथ्यात्व व रागादि परिणत जीव के अज्ञान चेतना होती है वह केवल ज्ञानादि गुणों को प्रच्छादन करने वाली कर्म बंध को पैदा करती है।—

वेदंतो कम्मफलं अप्पाणं जो दु कुणदि कम्मफलं।
सो तं पुणोवि बंधदि वीयं दुक्खस्स अट्ठविहं ॥४०९॥
वेदंतो कम्मफलं मयेकदं जो दु मुणदि कम्मफलं।
सो तं पुणोवि बंधदि वीयं दुक्खस्स अट्ठविहं ॥४१०॥
वेदंतो कम्मफलं सुहिदो दुहिदो दु हवदि जो चेदा।
सो तं पुणोवि बंधदि वीयं दुक्खस्स अट्ठविहं ॥४११॥

वेदयमानः कर्मफलमात्मानं यस्तु करोति कर्मफलं।
स तत्पुनरपि बध्नाति बीजं दुःखस्याष्टविधं ॥४०९॥
वेदयमानः कर्मफलं मया कृतं यस्तु जानाति कर्मफलं।
स तत्पुनरपि बध्नाति बीजं दुःखस्याष्टविधं ॥४१०॥

वेदयमानः कर्मफलं सुखितो दुःखितश्च भवति चेतयिता।
स तत्पुनरपि बध्नाति बीजं दुःखस्याष्टविधं ।।४११।।

अर्थ—उदय में आये हुए कर्म को भोगता हुआ जो जीव उस कर्म को या कर्म के उदय को अपना लेता है वह दुःख के बीज रूप आठ प्रकार के कर्म बन्ध को फिर से करने लगता है। वह अपनाना दो प्रकार से है एक तो यह है कि कर्म मेरा है मैंने किया है इत्यादि यह तो कर्म चेतना है, और दूसरा यह—कि मैं इस कर्म के उदय से सुखी हो रहा हूँ या दुःखी हो रहा हूं ऐसा संवेदन करना सो कर्म फल चेतना है। यह दोनों प्रकार की चेतना अज्ञान चेतनामें गर्भित होती हैं जिसके होने से यह जीव संसार के बीज रूप आठ प्रकार के कर्म को फिर से बांधने लगता है ।।४०९-४१०-४११।।

तात्पर्यवृत्तिः—ज्ञानाज्ञानभेदेन चेतना तावद्द्विविधा भवति। इयं तावदज्ञानचेतना गाथात्रयेण कथ्यते—उदयागतं शुभाशुभं कर्म वेदयन्ननुभवन् सन्नज्ञानिजीवः स्वस्थभावाद् भ्रष्टो भूत्वा मदीयं कर्मेति भणति। मया कृतं कर्मेति च ये भणति। स जीवः पुनरपि तदष्टविधं कर्म बध्नाति। कथंभूतं ? बीजं कारणं। कस्य ? दुःखस्य। इति गाथाद्वयेनाज्ञानरूपा कर्म चेतना व्याख्याता। कर्मचेतना कोऽर्थः ? इति चेत् मदीयं कर्म मया कृतं कर्मेत्याद्यज्ञानभावेन—ईहापूर्वकमिष्टानिष्टरूपेण निरुपरागशुद्धात्मानुभूतिच्युतस्य मनोवचनकायव्यापारकरणं यत्, साबंधकारणभूता कर्मचेतना भण्यते। उदयागतं कर्मफलं वेदयन् शुद्धात्मस्वरूपमचेतयमानो मनोज्ञामनोज्ञेंद्रियविषयनिमित्तेन यः सुखितो दुःखितो वा भवति स जीवः पुनरपि तदष्टविधं कर्म बध्नाति। कथंभूतं ? बीजं कारणं। कस्य ? दुःखस्य। इत्येकगाथया कर्मफलचेतना व्याख्याता। कर्मफलचेतना कोऽर्थः ? इति चेत् स्वस्थभावरहितेनाज्ञानभावेन यथासंभवं व्यक्ताव्यक्तस्वभावेनेहापूर्वकमिष्टानिष्टविकल्परूपेण हर्षविषादमयं सुखदुःखानुभवनं यत्, सा बंधकारणभूता कर्मफलचेतना भण्यते। इयं कर्मचेतना कर्मफलचेतना च द्विरूपापि त्याज्या बंधकारणत्वादिति। तत्र तयोर्द्वयोः कर्मचेतनाकर्मफलचेतनयोर्मध्ये पूर्वं तावन्निश्चयप्रतिक्रमण—निश्चयप्रत्याख्यान—निश्चयालोचनास्वरूपं यत्पूर्वं व्याख्यातं तत्र स्थित्वा शुद्धज्ञानचेतनाबलेन कर्मचेतनासंन्यासभावनां नाटयति। कर्मचेतनात्यागभावनां कर्मबंधविनाशार्थं करोतीत्यर्थः। तद्यथा—

यदहमकार्षं यदहमचीकरं यदहं कुर्वंतमप्यन्यं प्राणिनं समन्वज्ञासिषं। केन ? मनसा वाचा कायेन तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति षड्संयोगेनैकभंगः। यदहमकार्षं यदहमचीकरं यदहं कुर्वंतमप्यन्यं प्राणिनं समन्वज्ञासिषं। केन ? मनसा वाचा तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति पंचसंयोगेन, एकैकापनयनेन भंगत्रयं भवति। संयोगेनेत्याद्यक्षसंचारेणैकोनपंचाशद्भंगा भवंतीति टीकाभिप्रायः। अथवा त एव सुखोपायेन कथ्यंते। कथं ? इति चेत् कृतं कारितमनुमतमिति प्रत्येकं भंगत्रयं भवति। कृतकारितद्वयं कृतानुमतद्वयं कारितानुमतद्वयमिति द्विसंयोगेन च भंगत्रयं जातं। कृतकारितानुमतत्रयमिति त्रिसंयोगेनैको भंग इति सप्तभंगी। तथैव च मनसा वाचा कायेनेति प्रत्येकभंगत्रयं भवति। मनोवचनद्वयं मनःकायद्वयं वचनकायद्वयमिति द्विसंयोगेन भंगत्रयं जातं। मनोवचनकायत्रयमिति च त्रिसंयोगेनैको भंग इयमपि सप्तभंगी। कृतं मनसा सह, कृतं वाचा सह, कृतं कायेन सह, कृतं मनोवचनद्वयेन सह, कृतं मनःकायद्वयेन सह, कृतं वचनकायद्वयेन सह, कृतं मनोवचनकायत्रयेण सहेति कृते निरुद्धे विवक्षिते सप्तभंगी जाता यथा। तथा कारितेऽपि तथाऽनुमतेऽपि, तथा कृतकारितद्वयेऽपि, तथा कृतानुमद्वतयेऽपि, तथा कारितानुमतद्वयेऽपि, तथा कृतकारितानुमतत्रये चेति प्रत्येकमनेन क्रमेण सप्तभंगी योजनीया। एवं-एकोनपंचाशद्भंगा भवंतीति प्रतिक्रमणकल्पः समाप्तः।

इदानीं प्रत्याख्यानकल्पः कथ्यते—तथाहि—यदहं करिष्यामि यदहं कारयिष्यामि यदहं कुर्वंतमप्यन्यं प्राणिनं समनुज्ञास्यामि। केन ? मनसा वाचा कायेन तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति पूर्ववत् षट्संयोगेनैको भंगः। यथा यदहं करिष्यामि

यदहं कारयिष्यामि यदहं कुर्वंतमप्यन्यं प्राणिनं समनुज्ञास्यामि । केन ? मनसा वाचा चेति तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति पूर्ववदेकैकापनयनेन पंचसंयोगेन भंगत्रयं भवति । एवं पूर्वोक्तक्रमेणएकोनपंचाशद्भंगा ज्ञातव्याः । इति प्रत्याख्यानकल्पः समाप्तः ।

इदानीमालोचनाकल्पः कथ्यते तद्यथा—यदहं करोमि यदहं कारयामि यदहं कुर्वंतमप्यन्यं प्राणिनं समनुजानामि । केन ? मनसा वाचा कायेनेति तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति पूर्ववत् षट्संयोगेनैकभंगः । तथा यदहं करोमि यदहं कारयामि यदहं कुर्वंतमप्यन्यं प्राणिनं समनुजानामि केन ? मनसा वाचेति तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति-एकैकापनयनेन पंचसंयोगेन भंगत्रयं भवति । एवं पूर्वोक्तप्रकारेण एकोनपंचाशद्भंगा ज्ञातव्याः । इत्यालोचनाकल्पः समाप्तः । कल्पः पर्व परिच्छेदोऽधिकारोऽध्याय: प्रकरणमित्याद्येकार्था ज्ञातव्याः । एवं निश्चयतिक्रमण-निश्चयप्रत्याख्यान-निश्चयालोचनाप्रकारेण शुद्धज्ञानचेतनाभावनारूपेण गाथाद्वयव्याख्यानेन कर्मचेतनासंन्यासभावना समाप्ता । इदानीं शुद्धज्ञानचेतनाभावनाबलेन कर्मफलचेतनासंन्यासभावना नाटयति करोतीत्यर्थः ।

तद्यथा—नाहं मतिज्ञानावरणीयकर्मफलं भुंजे । तर्हि किं करोमि ? शुद्धचैतन्यस्वभावमात्मानमेव संचेतये सम्यगनुभवे इत्यर्थः । नाहं श्रुतज्ञानावरणीयकर्मफलं भुंजे । तर्हि किं करोमि ? शुद्धचैतन्यस्वभावमात्मानमेव संचेतये । नाहमवधिज्ञानावरणीयकर्मफलं भुंजे । तर्हि किं करोमि ? शुद्धचैतन्यस्वभावमात्मानमेव संचेतये । नाहं मनःपर्ययज्ञानावरणीयफलं भुंजे । तर्हि किं करोमि ? शुद्धचैतन्यस्वभावमात्मानमेव संचेतये । नाहं केवलज्ञानावरणीयफलं भुंजे । किं तर्हि करोमि ? शुद्धचैतन्यस्वभावमात्मानमेव संचेतये इति पंचप्रकारज्ञानावरणीयरूपेण कर्मफलचेतनासंन्यासभावना व्याख्याता । नाहं चक्षुर्दर्शनावरणीयफलं भुंजे । तर्हि किं करोमि ? शुद्धचैतन्यस्वभावमात्मानमेव संचेतये । एवं टीकाकथितक्रमेण—

पण णव दु अट्ठवीसा चउ तिय णउ दीय दुण्णि पंचेव ।
बावण्णहीण वियसय पयडिविणासेण होंति ते सिद्धा ॥१॥

इमां गाथामाश्रित्य अष्टचत्वारिंशदधिकशतप्रमितोत्तरप्रकृतीनां कर्मफलसंन्यासभावना नाटयितव्या, कर्तव्येत्यर्थः । किंच जगत्त्रयकालत्रयसंबंधिमनोवचनकायकृतकारितानुमतख्यातिपूजालाभदृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षारूपनिदानबंधादिसमस्तपरद्रव्यालंबनोत्पन्नशुभाशुभसंकल्पविकल्परहितेन शून्येन चिदानंदैकस्वभावशुद्धात्मतत्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपाभेदरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिसंजातवीतरागसहजपरमानंदरूपसुखरसास्वादपरमसमरसीभावानुभवमालंबने भरितावस्थेन केवलज्ञानाद्यनंतचतुष्टयव्यक्तिरूपस्य साक्षादुपादेयभूतस्य कार्यसमयसारस्योत्पादकेन निश्चयकारणसमयसाररूपेण शुद्धज्ञानचेतनाभावनावष्टंभेन कृत्वा कर्मचेतनासंन्यासभावना कर्मफलचेतनासंन्यासभावना च मोक्षार्थिना पुरुषेण कर्तव्येति भावार्थः । एवं गाथाद्वयं कर्मचेतनासंन्यासभावनामुख्यत्वेन, गाथैका कर्मफलचेतनासंन्यासभावनामुख्यत्वेनेति दशमस्थले गाथात्रयं गतं ।

अथेदानीं व्यावहारिकजीवादिनवपदार्थेभ्यो भिन्नमपि टंकोत्कीर्णज्ञायकैकपपारमार्थिकपदार्थसंज्ञं गद्यपद्यादिविचित्ररचनारचितशास्त्रैः शब्दादिपंचेन्द्रियविषयप्रभृतिपरद्रव्यैश्च शून्यमपि रागादिविकल्पोपाधिरहितं सदानंदैकलक्षणसुखामृतरसास्वादेन भरितावस्थंपरमात्मतत्वं प्रकाशयति ।

टीका:—ज्ञान और अज्ञानके भेद से चेतना दो प्रकार की होती है एक ज्ञान चेतना और दूसरी अज्ञान चेतना । अब यहां पर तीन गाथाओं से अज्ञान चेतना का वर्णन किया जाता है–उदय में आये हुए शुभ या अशुभ कर्म को भोगता हुआ यह अज्ञानी जीव अपने स्वस्थ भावसे भ्रष्ट होकर इस प्रकार कहता जानता है कि यह मेरा कर्म है तथा इसको मैंने ही किया है ऐसा सोचने वाला जीव फिर से आठ प्रकार

के ज्ञानावरणादि कर्म को बांधता है। कैसा है वह कर्म ? बीज है, कारण है, किसका ? कि दुःख का। इस प्रकार दो गाथाओं में कर्म चेतना का व्याख्यान हुआ। कर्म चेतना का क्या अर्थ है ? कि यह मेरा है, मैंने ही इसे किया है इस प्रकार अज्ञान भाव के द्वारा वीतरागमय जो शुद्धात्मानुभूति है उससे च्युत हुए जीव का जो इष्ट अनिष्ट रूप से इच्छापूर्वक मन, वचन और काय की चेष्टा करना है वह कर्म चेतना कहलाती है जो नवीन बंध का कारण होती है। इसी प्रकार उदय में आये हुए कर्म के फल को भोगता हुआ अतएव शुद्धात्मा के स्वरूप को नहीं अनुभव करता हुआ जो जीव मनोहर अथवा अमनोहर रूप इन्द्रियों के विषयों के निमित्त से सुखी अथवा दुःखी होता है वह जीव दुःखके बीज या कारण भूत ज्ञानावरणदि आठ कर्मों को फिर से बांधने लग जाता है। इस प्रकार एक गाथा से कर्म फल चेतनाका व्याख्यान हुआ। कर्मफल चेतना का यह अर्थ है कि स्वस्थ भाव से रहित अज्ञान भाव के द्वारा यथा संभव व्यक्त अथवा अव्यक्त (अप्रकट) रूप से इच्छा पूर्वक इष्ट और अनिष्ट विकल्प के रूप में हर्ष विषादमय सुख या दुःख का अनुभव होना सो कर्म फल चेतना कहलाती है जो बंध का कारण है। इस प्रकार कर्म चेतना और कर्मफल चेतना ये दोनों प्रकार की चेतना बंध का कारण होने से त्यागने योग्य है वही कर्म चेतना और कर्मफल चेतना इन दोनों में पहले कर्म चेतना के संन्यास की भावना को नचाते है अर्थात् कर्मबंध को निवारण करने के लिये कर्म चेतना के त्याग की भावना करते हैं सो निश्चय प्रतिक्रमण, निश्चय प्रत्याख्यान और निश्चय आलोचना जिनका स्वरूप पहले बताया जा चुका है उसमें स्थित होकर शुद्ध ज्ञान चेतनाके बल के द्वारा उस कर्म चेतना के त्याग की भावना करते हैं (क्योंकि बिना ज्ञान चेतना के बल के कर्म चेतना के त्याग की भावना होना असंभव है—संभव नहीं है) इसका स्पष्टी करण करते हैं:—

जो मैने पहले किया, मैंने पहले किसी से करवाया अथवा करते हुये को भला माना, मन से वचन से अथवा काय से किसी भी प्रकार वह सब मेरा दुष्कृत्य मिथ्या हो जाय इस प्रकार यह छहों के संयोगरूप पहला भंग हुआ। मैंने किया, अथवा किसी से करवाया और किसी भी करते हुए को भला माना, मनसे और वचन से वह सब मेरा दुष्कृत्य मिथ्या हो जाय इस प्रकार यह पांच संयोग का एक भंग हुआ। एक एक को हटा देने से तीन भंग पांच संयोगी होंगे। इस प्रकार संयोगकरने पर अक्ष संचार के द्वारा सारे उनचास (४९) भंग हो जाते हैं यही टीकाकार के कहने का अभिप्राय है। जैसा कि श्री अमृतचन्द्राचार्य ने अपनी टीकामें बताया है। अब यहां और भी सरल रूप से बताया जा रहा है। देखो-कृत, कारित और अनुमत इस प्रकार प्रत्येक तीन तीन भंग हुए; फिर कृत, कारित ये दोनों; कृत अनुमत ये दोनों, कारित अनुमत ये दोनों; इस प्रकार दो दो के संयोगसे तीन भंग हुए। और कृत कारित और अनुमत इन तीनों के संयोग से एक भंग हुआ। इस प्रकार सब मिलकर एक सप्तभंगी हुई। उसी प्रकार मनसे, वचन से, कायसे प्रत्येक को लेकर तीन भंग हुए। फिर मन वचन ये दो; मन और काय ये दो; वचन व काय दो; इस प्रकार दो के संयोग से तीन भंग हुए। मन वचन और काय इन तीनों के संयोगसे एक भंग हुआ। इस प्रकार यह दूसरी सप्त भंगी हुई। मन के साथ करना, वचन के साथ करना, और काय के साथ करना, मन और वचन दोनों के साथ करना, मन और काय दोनों के साथ करना, वचन और काय दोनों के साथ करना, और मन, वचन, काय इन तीनों के द्वारा करना इस प्रकार कृत का निरुद्ध अर्थात् निषेध होने पर तीसरी सप्तभंगी हुई। जिस प्रकार कृत की सप्त भंगी बतलाई उसी प्रकार कारित पर, अनुमत पर, तथा कृत कारित इन दोनों पर, कृत और अनुमति इन दोनों पर, और कारित

अनुमति इन दोनों पर, तथा कृत, कारित और अनुमति इन तीनों पर भी प्रत्येक से इस क्रम से सप्तभंगी लगा लेना चाहिए इस प्रकार ये सब मिलकर उनचास (४९) भंग होते हैं यह प्रतिक्रमण कल्प समाप्त हुआ।

अब प्रत्याख्यान कल्प का वर्णन करते हैं—जो मैं करूंगा, जो मै कराऊंगा, करते हुए किसी अन्य को भला मानूंगा, मन से, वचन से, काय से, किसी भी प्रकार से यह मेरा दुष्कृत्य मिथ्या हो जाय यह यह छहों के संयोग रूप पहले के अनुसार एक पहला भंग हुआ। इसी प्रकार मैं करूंगा, मै कराऊंगा और मैं करते हुए किसी अन्य को भला मानूंगा—मन से और वचन से सो सब मेरा दुष्कृत्य मिथ्या होवे यह पंच संयोगी भंग भी पूर्व कहे अनुसार एक एक को हटा देने पर तीन प्रकार का होता है। इसी प्रकार पहले कहे अनुसार इसको फला लेने से उनचास (४९) भंग हो जाते हैं। यह प्रत्याख्यान कल्प समाप्त हुआ।

अब आलोचन कल्प को कहते है वह इस प्रकार है—जैसे कि जो मैं करता हूं, कराता हूं अथवा करते हुए अन्य को अच्छा मानता हूँ मन से वचन से काय ये ये सब मेरा दुष्कृत्य मिथ्या हो जाय यह पहले के के समान छहों के संयोग रूप पहला भंग हुआ। इसी प्रकार जो मैं करता हूं, कराता हूँ, और करते हुये अन्य प्राणी को भला मानता हूं मन से वचन से, सो सब मेरा दुष्कृत्य मिथ्या हो जाय इस प्रकार क्रम से एक एक को कम करने पर पंच संयोगात्मक तीन भंग होते है। इस प्रकार पूर्वोक्त कहे अनुसार सारे मिलकर उनचास (४९) भंग हो जाते हैं यह आलोचना कल्प समाप्त हुआ। कल्प कहो, पर्व कहो, अधिकार कहो, अध्याय कहो, परिच्छेद कहो इत्यादि सब एकार्थ नाम हैं।

इस प्रकार निश्चय प्रतिक्रमण, निश्चय प्रत्याख्यान, और निश्चय आलोचना रूप जो शुद्ध ज्ञान चेतना की भावना उस शुद्ध ज्ञान चेतना भावात्मक इन दो गाथाओं के व्याख्यान से कर्म चेतना के त्याग को भावना समाप्त हुई। अब इसके आगे शुद्ध ज्ञान चेतना की भावना के बल से ही कर्मफल चेतना के सन्यास अर्थात् त्याग की भावना को करते हैं:—

जैसे कि मतिज्ञानावरण कर्म के फल को नहीं भोगता हूं। तब फिर क्या करता हूं? कि मैं तो शुद्ध चैतन्य स्वभावमय आत्मा को ही भले प्रकार अनुभव करता हूं। मैं श्रुतज्ञानावरण कर्म के फल को नहीं भोगता। तब फिर क्या करता हूँ? कि शुद्ध चैतन्य स्वभाववाली अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ। में अवधिज्ञानावरण कर्म के फल को नहीं भोगता। तब फिर क्या करता हूँ? कि शुद्ध चैतन्य स्वभाववाली अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूं। मैं मनःपर्यय ज्ञानावरण कर्म के फल को भी नहीं भोगता। तब फिर क्या करता हूँ? कि शुद्ध चैतन्य स्वभाववाली अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ। इस प्रकार पांच प्रकार के ज्ञानावरणी कर्म के रूप में कर्मफल संज्ञा वाली भावना का वर्णन हुआ। मैं चक्षु दर्शनावरण कर्म के फल को भी नहीं भोगता। तब फिर क्या करता हूँ? कि शुद्ध चैतन्य स्वभाववाली अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूं। इस प्रकार टीका में बताये हुए क्रम के अनुसार—

पणणवदुअट्ठवीसा चउतिय णउदीय दुण्णि पंचेव।
बावण्णहीन वियसय पयडिविणासेण होंति ते सिद्धा ॥१॥

पांच ज्ञानावरण कर्म की, नव दर्शनावरण की, दो वेदनीय की, अट्ठाइस मोहनीय की, चार आयु की, तराणव (६३) नाम की, दो गोत्र की, व पांच अंतराय की इस प्रकार सब मिलाकर बावन (५२) कम दोसो (२००) अर्थात् एक सौ अडतालीस (१४८) कर्म प्रकृतियें हुईं इन सब प्रकृतियों का नाशकर सिद्ध होते हैं। इस गाथा का आशय लेकर १४८ संख्या वाली उत्तर कर्मकी प्रकृतियों के फल के त्याग की भावना करने योग्य है।

भावार्थ यह है कि तीन लोक और तीनकाल से संबंध रखनेवाले ऐसे जो मन, वचन, काय तथा कृत कारित और अनुमत तथा ख्याति, पूजा और लाभ एवं देखे सुने और अनुभव किये हुए भोगों की आकांक्षारूप निदानबंध उसको आदि लेकर जो समस्त परद्रव्य हैं उनके आलम्बन से उत्पन्न जो शुभाशुभ संकल्प विकल्प हैं उनसे जो रहित हैं और चिदानंद एक स्वभाव वाले शुद्धात्मा तत्व के समीचीन श्रद्धान ज्ञान और आचरण रूप जो अभेद रत्नत्रय उस अभेद रत्नत्रयात्मक निर्विकल्प समाधि से उत्पन्न हुआ जो वीतराग सहज परमानंद सुख उसके रसका आस्वाद वही हुआ परम समरसीभाव उसके अनुभव के आलम्बन से जो भरापूरा है और जो केवलज्ञानादि अनंत चतुष्टय के अभिव्यक्तिरूप साक्षात उपादेयभूत कार्य समयसार का उत्पादक है और जिसमें शुद्ध ज्ञानचेतनाकी भावना का बल है ऐसे निश्चय कारण समयसार के द्वारा मोक्षार्थी जीव को कर्मचेतना के त्याग की भावना और कर्मफल चेतना के त्याग की भावना करनी योग्य है।

इस प्रकार इस दसवें स्थल में दो गाथाएं कर्म चेतना के त्याग की भावना को प्रधान लेकर और एक गाथा कर्मफल चेतना के त्याग की भावना को प्रधान लेकर इस प्रकार तीन गाथाएं पूर्ण हुईं ।।४०९ ४१० ४११।।

विशेषार्थः—यहां यह है कि कर्म चेतना और कर्मफल चेतना पर से जब तक यह आत्मा दूर नहीं होता, तब तक ज्ञान चेतना पर नही पहुँच पाता है। क्योंकि कर्मचेतना और कर्मफल चेतना ये दोनों अज्ञानरूप हैं, किन्तु ज्ञान चेतना शुद्ध ज्ञानरूप है एवं ज्ञान और अज्ञान के परस्पर में दिन और रात सरीखा विरोध है। तथा ज्ञान चेतना जब तक तक प्राप्त नहीं हो पाती तब तक नवीन कर्मों का उपार्जन होता ही रहता है। अतः मुमुक्षु को नूतन कर्म बंध से बचने के लिए कर्म चेतना और कर्मफल चेतना से दूर हटकर ज्ञान चेतना को प्राप्त करने का अर्थात् परम समाधि में लगे रहने का यत्न करना चाहिये।

अब यहां आगे उस परमात्म तत्व का प्रकाश करते हैं जो व्यवहारनय से कहे हुए जीव आदि नव पदार्थों से पृथक् रहने वाला है तो भी टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक भावरूप जो पारमार्थिक पदार्थ ऐसा नामवाला है। तथा गद्य पद्य आदि विचित्र रचना से रचे हुए शास्त्रों से व शब्द आदि पांचों इन्द्रियों के विषय को लेकर जो समस्त परद्रव्य हैं उनसे भी शून्य है तो भी रागद्वेषादि विकल्पों की उपाधि से रहित सदा आनंदमई एक लक्षण को रखने वाले सुखामृत रस के आस्वाद से भरा पूरा है ऐसे उस परमात्म तत्व का व्याख्यान करते हैं—

सत्थं णाणं ण हवदि जह्मा सत्थं ण याणदे किंचि।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं सत्थं जिणा विंति ।।४१२।।
सद्दो णाणं ण हवदि जह्मा सद्दो ण याणदे किंचि।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं सद्दं जिणा विंति ।।४१३।।

रूवं णाणं ण हवदि जह्मा रूवं ण याणदे किंचि ।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं रूवं जिणा विंति ॥४१४॥
वण्णो णाणं ण हवदि जह्मा वण्णो ण याणदे किंचि ।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं वण्णं जिणा विंति ॥४१५॥
गंधो णाणं ण हवदि जह्मा गंधो ण याणदे किंचि ।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं गंधं जिणा विंति ॥४१६॥
ण रसो दु होदि णाणं जह्मा दु रसो अचेदणो णिच्चं ।
तह्मा अण्णं णाणं रसं च अण्णं जिणा विंति ॥४१७॥
फासो णाणं ण हवदि जह्मा फासो ण याणदे किंचि ।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं फासं जिणा विंति ॥४१८॥
कम्मं णाणं ण हवदि जह्मा कम्मं ण याणदे किंचि ।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं कम्मं जिणा विंति ॥४१९॥
धम्मच्छिओ ण णाणं जह्मा धम्मो ण याणदे किंचि ।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं धम्मं जिणा विंति ॥४२०॥
णहवदि णाणमधम्मच्छिओ जं ण याणदे किंचि ।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णमधम्मं जिणा विंति ॥४२१॥
कालोदि णत्थि णाणं जह्मा कालो ण याणदे किंचि ।
तह्मा ण होदि णाणं जह्मा कालो अचेदणो णिच्चं ॥४२२॥
आयासंपि य णाणं ण हवदि जह्मा ण याणदे किंचि ।
तह्मा अण्णायासं अण्णं णाणं जिणा विंति ॥४२३॥
अज्झवसाणं णाणं ण हवदि जह्मा अचेदणं णिच्चं ।
तह्मा अण्णं णाणं अज्झवसाणं तहा अण्णं ॥४२४॥
जह्मा जाणदि णिच्चं तह्मा जीवो दु जाणगो णाणी ।
णाणं च जाणयादो अव्वदिरित्तं मुणेयव्वं ॥४२५॥
णाणं सम्मादिट्ठी दु संजमं सुत्तमंगपुव्वगयं ।
धम्माधम्मं च तहा पव्वजं अज्झवंति वुहा ॥४२६॥ (पंचदशकम्)

शास्त्रं ज्ञानं न भवति यस्माच्छास्त्रं न जानाति किंचित् ।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यच्छास्त्रं जिना वदंति ॥४१२॥
शब्दो ज्ञानं न भवति यस्माच्छब्दो न जानाति किंचित् ।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यं शब्दं जिना वदंति ॥४१३॥
रूपं ज्ञानं न भवति यस्माद्रूपं न जानाति किंचित् ।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यद्रूपं जिना वदंति ॥४१४॥
वर्णो ज्ञानं न भवति यस्माद्वर्णो न जानाति किंचित् ।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यं वर्णं जिना वदंति ॥४१५॥
गंधो ज्ञानं न भवति यस्माद्गंधो न जानाति किंचित् ।
तस्माज्ज्ञानमन्यदन्यं गंधं जिना वदंति ॥४१६॥
न रसस्तु भवति ज्ञानं यस्मात्तु रसो अचेतनो नित्यं ।
तस्मादन्यज्ज्ञानं रसं चान्यं जिना वदंति ॥४१७॥
स्पर्शो ज्ञानं न भवति यस्मात्स्पर्शो न जानाति किंचित् ।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यं स्पर्शं जिना वदंति ॥४१८॥
कर्म ज्ञानं न भवति यस्मात्कर्म न जानाति किंचित् ।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यत्कर्म जिना वदंति ॥४१९॥
धर्मास्तिकायो न ज्ञानं यस्माद्धर्मो न जानाति किंचित् ।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यं धर्मं जिना वदंति ॥४२०॥
न भवति ज्ञानमधर्मास्तिकायो यस्मान्न जानाति किंचित् ।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यम धर्मं जिना वदंति ॥४२१॥
कालोऽपि नास्ति ज्ञानं यस्मात्कालो न जानाति किंचित् ।
तस्मान्न भवति ज्ञानं यस्मात्कालोऽचेतनो नित्यं ॥४२२॥
आकाशमपि ज्ञानं न भवति यस्मान्न जानाति किंचित् ।
तस्मादन्याकाशमन्यज्ज्ञानं जिना वदंति ॥४२३॥
अध्यवसानं ज्ञानं न भवति यस्मादचेतनं नित्यं ।
तस्मादन्यज्ज्ञानमध्यवसानं तथान्यत् ॥४२४॥
यस्माज्जानाति नित्यं तस्माज्जीवस्तु ज्ञायको ज्ञानी ।
ज्ञानं च ज्ञायकादव्यतिरिक्तं ज्ञातव्यं ॥४२५॥

ज्ञानं सम्यग्दृष्टिं तु संयमं सूत्रमंगपूर्वगतं ।
धर्माधर्मं च तथा प्रव्रज्यामभ्युपयांति बुधाः ॥४२६॥ (पंचदशकम्)

अर्थ—शास्त्र और ज्ञान एक नहीं है क्योंकि शास्त्र कुछ भी नहीं जानता (वह तो जड़ है) इसलिये ज्ञान अन्य भिन्न वस्तु है और शास्त्र उससे भिन्न वस्तु है ऐसा जिन भगवान कहते हैं। शब्द भी ज्ञान नहीं है क्योंकि शब्द भी कुछ नहीं जानता इसलिये ज्ञान अन्य है और शब्द उससे भिन्न वस्तु है ऐसा जिन भगवानने कहा है। रूप भी ज्ञान नही है क्योंकि रूप भी कुछ नहीं जानता इसलिये ज्ञान भिन्न है रूप उससे भिन्न वस्तु है ऐसा जिन भगवान ने कहा है। वर्ण भी ज्ञान नहीं है क्योंकि वर्ण कुछ नहीं जानता इसलिये ज्ञान भिन्न है और वर्ण उससे भिन्न वस्तु है ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है। गंध भी ज्ञान नहीं है क्योंकि गंध भी कुछ नहीं जानता इसलिए ज्ञान भिन्न वस्तु है गंध उससे भिन्न है ऐसा जिन भगवान ने कहा है। रस भी ज्ञान नहीं है क्योंकि रस तो नित्य अचेतन जड़ है इसलिये ज्ञान उससे अन्य है रस उससे भिन्न वस्तु है ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है। स्पर्श भी ज्ञान नहीं है क्योंकि स्पर्श भी कुछ नहीं जानता इसलिये ज्ञान भिन्न वस्तु है स्पर्श उससे भिन्न है ऐसा जिन भगवान ने कहा है। कर्म भी ज्ञान नहीं है क्योंकि कर्म भी कुछ नहीं जानता इसलिये ज्ञान भिन्न है कर्म उससे भिन्न है ऐसा जिन भगवान ने कहा है। धर्म द्रव्य भी ज्ञान नहीं है क्योंकि धर्म द्रव्य कुछ नहीं जानता है, इसलिये ज्ञान अन्य है धर्म द्रव्य उससे अन्य है ऐसा जिन भगवानने कहा है। अधर्म द्रव्य भी ज्ञान नहीं है क्योंकि अधर्म द्रव्य भी कुछ नहीं जानता है इसलिये ज्ञान अन्य है अधर्म द्रव्य उससे भिन्न है ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है। काल द्रव्य भी ज्ञान नहीं है क्योंकि काल द्रव्य भी कुछ नहीं जानता है, इसलिये काल ज्ञान नहीं होता क्योंकि काल नित्य अचेतन है जड़ है। आकाश भी ज्ञान नहीं है क्योंकि आकाश भी कुछ नहीं जानता है इसलिये ज्ञान अन्य वस्तु है ऐसा जिन भगवान ने कहा है। उसी प्रकार अध्यवसान भी ज्ञान नहीं है क्योंकि अध्यवसान अचेतन है इसलिए ज्ञान अन्य वस्तु है और अध्यवसान उससे भिन्न वस्तु है ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है। जीव जबकि सदा जानता है इसलिये जीव ज्ञायक है वह ज्ञानी है और ज्ञान उस ज्ञायक से अभिन्न है ऐसा जानना चाहिये। इसलिये ज्ञान ही सम्यग्दृष्टि है, ज्ञान ही संयम है, ज्ञान ही अंगपूर्वगत सूत्र है और धर्म और अधर्म ज्ञान ही है और दीक्षा भी ज्ञान ही है ऐसा ज्ञानीजन अंगीकार करते हैं ॥४१२ से ४२६ तक ॥

तात्पर्यवृत्तिः—न श्रुतं ज्ञानं—अचेतनत्वात् ततो ज्ञानश्रुतयोर्व्यतिरेकः। न शब्दो ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानशब्दयोर्व्यतिरेकः। न रूपं ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानरूपयोर्व्यतिरेकः। न वर्णो ज्ञानमचेनत्वात् ततो ज्ञानवर्णयोर्व्यतिरेकः। न गंधो ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानगंधयोर्व्यतिरेकः। न रसो ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानरसयोर्व्यतिरेकः। न स्पर्शो ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानस्पर्शयोर्व्यतिरेकः। न कर्म ज्ञानं अचेतनत्वात् ततो ज्ञानकर्मणोर्व्यतिरेकः। न धर्मो ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानधर्मयोर्व्यतिरेकः। नाधर्मो ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानाधर्मयोर्व्यतिरेकः। न कालो ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानकालयोर्व्यतिरेकः। नाकाशं ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानाकाशयोर्व्यतिरेकः। नाध्यवसानं ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानाध्यवसानयोर्व्यतिरेकः। इत्येवं ज्ञानस्य सर्वैरेव परद्रव्यैः सह व्यतिरेकः निश्चयसाधितो द्रष्टव्यः। अथ जीव एवैको ज्ञानं चेतनत्वात् ततो ज्ञानजीवयोरेवाव्यतिरेकः। नच जीवस्य स्वयं ज्ञानत्वात् ततो व्यतिरेकः कश्चनापि शंकनीयः। एवं सति ज्ञानमेव सम्यग्दृष्टिः, ज्ञानमेव संयमः, ज्ञानमेवांगपूर्वरूपं सूत्रं, ज्ञानमेव धर्माधर्मौ, ज्ञानमेव प्रव्रज्येति ज्ञानस्य जीवपर्यायैरपि सहाव्यतिरेकोनिश्चयसाधितो द्रष्टव्यः।

अथैवं सर्वपरद्रव्यव्यतिरेकेण सर्वदर्शनादिजीवस्वभावाव्यतिरेकेण चातिव्याप्तिमव्याप्तिं च परिहरमाणमनादिविभ्रममूलं धर्माधर्मरूपं परसमयमुद्वम्य स्वयमेव प्रव्रज्यारूपमासाद्य दर्शनज्ञानचारित्रस्थितिस्वरूपं स्वसमयमवाप्य मोक्ष-

मार्गमात्मन्येव परिणतं कृत्वा समवाप्तसंपूर्णविज्ञानघनभावं हानोपादानशून्यं साक्षात्समयसारभूतं परमार्थरूपं शुद्धज्ञानमेकमेवावस्थितं द्रष्टव्यं ।

अन्येभ्यो व्यतिरिक्तमात्मनियतं बिभ्रत्पृथग्वस्तुतामादानोज्झनशून्यमेतदमलं ज्ञानं तथावस्थितं ।
मध्याद्यंतविभागमुक्तसहजस्फारप्रभाभास्वरः, शुद्धज्ञानघनो यथास्य महिमा नित्योदितस्तिष्ठति ।।१।।
उन्मुक्तमुन्मोच्यमशेषतस्तत्तथात्तमादेयमशेषतस्तत् यदात्मनः संहृतसर्वशक्तेः पूर्णस्य संधारणमात्मनीह ।।२।।

तपश्चरणं च यत् केन नयेन एतत्सर्वं ज्ञानं मन्यते ? इति चेत् मिथ्यादृष्ट्यादिक्षीणकषायपर्यंतस्वकीयस्वकीयगुणस्थानयोग्यशुभाशुभशुद्धोपयोगाविनाभूतविवाक्षिताशुद्धनिश्चयनयेनाशुद्धोपादानरूपेणेति । ततः स्थितं शुद्धपारिणामिकपरमभावग्राहकेण शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन शुद्धोपादानरूपेण जीवादिव्यावहारिक नवपदार्थेभ्योभिन्नमादिमध्यांतमुक्तमेकमखंडप्रतिभासमयं निजनिरंजनसहजशुद्धपरमसमयसाराभिधानं सर्वप्रारोपादेयभूतं शुद्धज्ञानस्वभावं शुद्धात्मतत्वमेवश्रद्धेयं ज्ञेयं ध्यातव्यमिति । एवं व्यावहारिकनवपदार्थमध्ये भूतार्थनयेन शुद्धजीव एक एव वास्तवःस्थित इति व्याख्यानमुख्यत्वेन एकादशमस्थले पंचदश गाथा गताः ।

किंच—मत्यादिसंज्ञानपंचकं पर्यायरूपं तिष्ठति शुद्धपारिणामिकभावस्तु द्रव्यरूपः । जीवपदार्थो हि न च केवलं द्रव्यं, न च पर्यायः, किंतु परस्परसापेक्षद्रव्यपर्यायधर्माधर्मभूतो धर्मी । तत्रेदानीं केन ज्ञानेन मोक्षो भवतीति विचार्यते—केवलज्ञानं तावत्फलभूतमग्रे भविष्यति । अवधिमनःपर्ययज्ञानद्वयंच **रूपिश्ववधेः । तदनंतभागे मनः पर्ययस्य** इति वचनात्-मूर्तविषयत्वादेव मूर्तः मोक्षकारणं न भवति । ततःसामर्थ्यादेव बहिर्विषयमतिज्ञानश्रुतानसंज्ञंविकल्परहितत्वेन स्वशुद्धात्माभिमुखपरिच्छित्तिलक्षणं निश्चयनिर्विकल्पभावरूपमानमतिज्ञानश्रुतज्ञान संज्ञं पंचेद्रियाविषयत्वेनातींद्रियं शुद्धपारिणामिकभावविषये तु या भावनातद्रूपंनिर्विकारस्वसंवेदनशब्दवाच्यं संसारिणां क्षायिकज्ञानाभावात् । क्षायोपशमिकमपि विशिष्टभेदज्ञानं मुक्तिकारणं भवति कस्मात् ? इति चेत् समस्तमिथ्यात्वरागादिविकल्पोपाधिरहितस्वशुद्धात्मभावनोत्थपरमाह्लादैकलक्षणसुखामृतरसास्वादैकाकारपरमसमरसीभावपरिणामेन कार्यभूतस्यानंतज्ञानसुखादिरूपस्य मोक्षफलस्य विवक्षितैकशुद्धनिश्चयेन शुद्धोपादानकारणत्वादिति । तथा—चोक्तं

भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन ।
तस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन ।।१।।

अतः परमेवं सति शुद्धबुद्धैकस्वभावपरमात्मतत्वस्य देह एव नास्ति कथमाहारो भविष्यत्युपदिशति—

टीका:—शास्त्र भी ज्ञान नहीं है क्योंकि शास्त्र तो अचेतन है, इसलिये ज्ञानमें और शास्त्र में भेद है भिन्नता है । शब्द भी ज्ञान नहीं है क्योंकि वह भी अचेतन है इसलिये ज्ञान और शब्द में भिन्नता है पृथकपना है । रूप भी ज्ञान नहीं है क्योंकि रूप भी अचेतन है इसलिये ज्ञान में और रूपमें परस्पर भेद है । रूप भी ज्ञान नहीं है क्योंकि रूप भी अचेतन है इसलिये ज्ञानमें और वर्ण में परस्पर भेद है । गंध भी ज्ञान नहीं है क्योंकि गंध भी अचेतन है इसलिये ज्ञान और गंध में परस्पर भेद है रस भी ज्ञान नहीं है क्योंकि रस भी अचेतन है इसलिये ज्ञान और गंध में परस्पर भेद है । स्पर्श भी ज्ञान नहीं है क्योंकि स्पर्श अचेतन है इसलिये ज्ञान में और स्पर्शमें भेद है । कर्म भी ज्ञान नहीं है क्योंकि कर्म भी अचेतन है इसलिये ज्ञानमें और कर्म में पृथकता है । धर्मद्रव्य भी ज्ञान नहीं है क्योंकि धर्मद्रव्य भी अचेतन है इसलिये ज्ञानमें और धर्मद्रव्य में भिन्नता है अधर्मद्रव्य भी ज्ञान नहीं है क्योंकि अधर्मद्रव्य भी अचेतन है इसलिये ज्ञानमें

और अधर्मद्रव्य में भिन्नता है। कालद्रव्य भी ज्ञान नहीं है क्योंकि काल भी अचेतन है इसलिये ज्ञानमें और काल में भिन्नता है आकाश भी ज्ञान नहीं है क्योंकि आकाश भी अचेतन है इसलिये ज्ञानमें और और आकाश में पृथकपना है। अध्यवसान भी ज्ञान नहीं है क्योंकि अध्यवसान भी अचेतन हैं इसलिये ज्ञान और अध्यवसान में भिन्नता है। इस प्रकार ज्ञान का सब ही द्रव्यों के साथ व्यतिरेक है। यह निश्चय के द्वारा सिद्ध किया हुआ है ऐसा मान लेना चाहिए। अब जो एक जीव है वह ज्ञान है क्योंकि वह चेतना है इसलिये ज्ञानमें और जीव में अभेद है। जीव का स्वभाव ही ज्ञानमय है इससे जीव की और ज्ञान की भिन्नता है ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये। जब यह बात निश्चित् है तब फिर ज्ञान ही सम्यग्दृष्टि है, ज्ञान ही संयम है, ज्ञान ही अंगपूर्वरूप सूत्र है, ज्ञान ही धर्म और अधर्म है, ज्ञान ही दीक्षा है, इस प्रकार ज्ञान का जीव की प्रत्येक पर्याय के साथ अभेद है यह निश्चयसे सिद्ध किया हुआ है ऐसा समझना चाहिये।

अब इस प्रकार सब परद्रव्यके साथ भेद होने से और जीव के जो दर्शनादि स्वभाव है उनके साथ अभेद होने से अतिव्याप्ति और अव्याप्ति को दूर करता हुआ जो परसमय है जो कि अनादिसे होनेवाले विभ्रमका मूल कारण है और धर्म अधर्म स्वरूप है उसको दूर हटाकर और अपने आप प्रव्रज्यारूप प्राप्त होकर अपने आत्मा में ही मोक्षमार्ग को प्राप्त करने और प्राप्त करली है संपूर्ण विज्ञान की सघनता को जिसने और जो छोड़ने और ग्रहण करनेसे रहित हो चुका है, और जो साक्षात समयसार भूत है और परमार्थस्वरूप है ऐसा एक शुद्ध ज्ञान अवास्थित हुआ प्राप्त हुआ समझना चाहिये, यही बात दोनों कलशों में अमृतचन्द्राचार्य कहते है:—

अन्येभ्यो व्यतिरिक्तमात्मनियतं विभृत्पृथग्वस्तुता-
मादानोज्झनशून्यमे तदमलं ज्ञानं तदावस्थितं ।
मध्याद्यंतविभागमुक्तसहज स्फार प्रभाभास्वरः,
शुद्धज्ञानघनो यथास्य महिमा नित्योदित स्तिष्ठति ॥२३५॥

उन्मुक्तमुन्मोच्यमशेषतस्तत्तथात्तमादेयमशेषतस्तत् ।
यदात्मनः संहृतसर्वशक्तेः पूर्णस्य संधारणमात्मनीह ॥२३६॥

अर्थात्—यह शुद्ध ज्ञान उस तरह अवस्थित हुआ है जैसा कि उसकी महिमा निरन्तर बनी रहे, प्रतिपक्षी जो कर्म हैं वे उसे दबा नहीं सकते। ऐसा वह सदा उदयमान ज्ञान अन्य सभी द्रव्यों से भिन्न अवस्थित हुआ है जो अपने आपमें ही निश्चित है, संसार की अन्य सभी वस्तुओं से पृथकरूप है क्योंकि संसार की सब वस्तुएं अचेतन है यह चेतन है और जो ग्रहण त्याग से रहित है अर्थात् शुद्ध ज्ञान होने पर उसमें कुछ भी त्याग और ग्रहण नहीं होता है जो रागादि मल से रहित है ऐसे उस शुद्ध ज्ञान की महिमा नित्य उदयरूप है जो महिमा आदि मध्य अन्तपनेसे रहित स्वाभाविक विस्ताररूप हुए प्रकाश के द्वारा दैदीप्यमान है ॥२३५॥

जिस ज्ञानने जो कुछ छोड़नाथा वह सब कुछ छोड़ दिया है और जो कुछ लेने योग्य था वह सब कुछ लेलिया है और जिसने अपनी सम्पूर्ण शक्ति समेटली है ऐसी आत्मा को आत्मा में ही लगा लिया है ऐसा वह शुद्ध ज्ञान अवस्थित हो ॥२३६॥

यहां कोई प्रश्न करता है कि यह सब तो तपश्चरण है सो इसे ज्ञान किस नयके द्वारा कहा जाता है ? इसका उत्तर यह है कि मिथ्यादृष्टि को आदि लेकर क्षीण कषाय बारहवें गुणस्थान पर्यंत अपने अपने गुणस्थान के योग्य शुभ, अशुभ अथवा शुद्धोपयोग के साथ अविनाभाव रखनेवाला जो विवक्षित अशुद्ध निश्चयनय है जो कि अशुद्ध उपादानरूप है उस अशुद्धनय के द्वारा यह सब ज्ञान माना जाता है। इस सब कथन से यह बात निश्चित हुई कि शुद्ध पारिणामिक रूप जो परमभाव उसका ग्रहण करनेवाला जो शुद्धद्रव्यार्थिक नय है वह शुद्ध उपादान स्वरूप है। उस शुद्ध द्रव्यार्थिकनय के द्वारा शुद्ध ज्ञान है स्वभाव जिसका ऐसा शुद्धात्म तत्व ही श्रद्धान करने योग्य, जानने योग्य और ध्यान करने योग्य होता है। यह शुद्धात्मतत्व जीवादिक व्यवहारिक नव पदार्थों से भिन्न है और आदि मध्य अंत इन कल्पनाओं से रहित है। एक अखंड प्रतिभास रूप है, अपने निरंजन सहज शुद्ध परम समयसार इस प्रकार के नाम वाला है। जो सब प्रकार से उपादेयभूत है उस शुद्धात्म तत्व का श्रद्धान,ज्ञान तथा ध्यान करना चाहिये। इस प्रकार व्यवहारिक नव पदार्थों में भूतार्थनयसे वास्तवमें एक शुद्ध जीव ही स्थित है इस प्रकार के व्याख्यान की मुख्यता से इस ग्यारहवें स्थल में इन पन्द्रह गाथाओं का कथन किया गया।

पं० जयचन्दजी का भावार्थ—सब परद्रव्यों से तो जुदा और अपने पर्यायों से अभेदरूप ऐसा ज्ञान एक दिखलाया। इसलिये अति व्याप्ति और अव्याप्ति नाम वाले लक्षण के दोष दूर होगये। क्योंकि आत्मा का लक्षण उपयोग है, उपयोग में ज्ञान प्रधान है वह अन्य अचेतन द्रव्यों में नहीं है इस कारण तो अतिव्याप्ति स्वरूप नहीं, और अपनी सब अवस्थाओं में है इसलिये अव्याप्ति स्वरूप नहीं है। यहां पर ज्ञान कहने से आत्मा ही जानना क्योंकि अभेद विवक्षा में गुण और गुणी का आपस में अभेद है इसलिए विरोध नहीं। यहाँ ज्ञान को ही प्रधान कर आत्मा का अधिकार है इसी लक्षण से सब पर द्रव्यों से भिन्न अनुभव गोचर होता है। यद्यपि आत्मा में अनन्त धर्म हैं तो भी उनमें कोई तो छद्मस्थ के अनुभव गोचर ही नहीं कि उसको कहे। (फिर) छद्मस्थ ज्ञानी आत्मा को कैसे पहचाने ? नहीं पहचान सकता। कोई धर्म अनुभव गोचर हैं उनमें कोई अस्तित्व वस्तुत्व प्रमेयादि हैं वे अन्य द्रव्यों से साधारण(समान)हैं उनके कहने से जुदा आत्मा नहीं जाना जाता। कोई परद्रव्य के निमित्त से हुए हैं उनको कहने से परमार्थ आत्मा का शुद्ध स्वरूप कैसे जाना जाय ? इसलिये ज्ञान ही कहने से छद्मस्थ ज्ञानी आत्मा को पहचान सकता है। इसलिये ज्ञान को ही आत्मा कहकर इस ज्ञान में अनादि अज्ञान से शुभ अशुभ उपयोगरूप परसमय की प्रवृत्ति को दूर कर सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र में प्रवृत्ति रूप स्वसमयरूप परिणमनस्वरूप मोक्षमार्ग में आत्मा को परिणमा के संपूर्ण ज्ञान को जब प्राप्त होता है तब फिर त्याग ग्रहण के लिए कुछ नहीं रहता। ऐसा साक्षात समयसार स्वरूप पूर्ण ज्ञान परमार्थ भूतशुद्ध ठहरे उसको देखना। यहां पर देखना भी तीन प्रकार जानना। एक तो शुद्ध नय के ज्ञान द्वारा इसका श्रद्धान करना—यह तो अविरत आदि अवस्था में भी मिथ्यात्व के अभाव से होता है। दूसरा-ज्ञान श्रद्धान हुए बाद बाह्य सब परिग्रह का त्याग करना इसका अभ्यास करना। उपयोग को ज्ञान में ही ठहराना। जैसा शुद्धनय से अपने स्वरूप को सिद्ध समान जाना श्रद्धान किया वैसा ही ध्यान में लेकर एकाग्र चित्तको ठहराना बारबार इसीका अभ्यास करना। सो यह देखना अप्रमत्त दशा में होता है। सो जहां तक ऐसे अभ्यास से केवल ज्ञान प्राप्त हो वहां तक यह अभ्यास निरंतर करना—यह देखना दूसरा प्रकार है। यहां तक तो पूर्ण ज्ञानका शुद्ध नयके आश्रय परोक्ष देखना है। और तीसरा यह है कि केवलज्ञान प्राप्त हो तब साक्षात देखना होता है। उस समय सब विभावों से रहित हुआ सबको देखने जाननेवाला ज्ञान होता है। यह पूर्ण ज्ञानका प्रत्यक्ष देखना है। यह ज्ञान है वही आत्मा है अभेद विवक्षा में ज्ञान कहो या आत्मा कहो कुछ विरोध नहीं जानना।

अब (तात्पर्यवृत्तिकार के शब्दों में) विचार करते हैं—जीव में मत्यादि पांच प्रकार के ज्ञान होते हैं वे तो पर्यायरूप हैं, किन्तु शुद्ध पारिणामिक भाव द्रव्यरूप है, जीव पदार्थ न केवल द्रव्यरूप है और न केवल पर्यायरूप ही किन्तु परस्पर सापेक्ष द्रव्य पर्यायरूप धर्मों का आधारभूत धर्मी है, वहां अब मोक्ष कौनसे धर्म से होता है यह विचार किया जाता है—सो केवल ज्ञान तो फलस्वरूप होता है जो कि आगे जाकर होगा। अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान ये दो ज्ञान **"रूपिष्ववधे और तदनंतभागे मनःपर्ययस्य"** इन सूत्रों के अनुसार मूर्त्त पदार्थ को ही विषय करने वाले हैं इसलिये मूर्त्त हैं। अतः ये दोनों ज्ञान भी मोक्ष के कारण नहीं हो सकते। इसलिये सामर्थ्य से यह बात सिद्ध हुई कि बहिर्विषयक मतिज्ञान श्रुतज्ञान के विकल्पों से रहित होने के कारण जो ज्ञान अपने शुद्धात्मा के अभिमुखरूप परिच्छित्ती (जानकारी) ही है लक्षण जिसका ऐसा तथा निश्चितरूप से निर्विकल्प भावनारूप मानस मतिज्ञान श्रुतज्ञान है नाम जिसका तथा पंचेन्द्रिय का विषय न होने से अतीन्द्रिय है ऐसा और जो शुद्ध पारिणामिक भाव के विषय में जो भावनारूप होता है तथा निर्विकार स्वसंवेदन शब्द के द्वारा जिसको कहा जाता है, एवं सांसारिक जीवों को क्षायिक ज्ञान होता नहीं है इसलिये क्षायोपशमिकरूप है, ऐसा जो विशिष्ट भेदज्ञान होता हैं वही मुक्ति का कारण होता है। क्योंकि वह विशिष्ट भेदज्ञान ही सब प्रकार के मिथ्यात्व और रागादिरूप विकल्पों की उपाधि से रहित ऐसी जो अपनी शुद्धात्मा उसकी भावना से उत्पन्न हुआ परम आह्लाद वही है लक्षण जिसका ऐसा जो सुखामृत रस उसके आस्वादन के साथ एकाकाररूप जो परम समरसी भाव परिणाम उस परिणाम के कार्यभूत जो अनंतज्ञानादि सुखादि स्वरूप मोक्ष का फल है उसका विवक्षित एक (प्रधान) शुद्धनय के द्वारा शुद्धोपादान कारणरूप है। यही बात अमृताचन्द्राचार्य स्वामी ने कही है—

भेद विज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन, तस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन ॥१३१॥

अर्थ—जो कोई भी सिद्ध होते हैं वे सब नियमपूर्वक भेद विज्ञान के द्वारा ही अर्थात् निर्विकल्प शुद्ध आत्मध्यान के द्वारा ही होते हैं जब वह शुद्ध आत्मध्यान नहीं रह पाता उस समय फिर से कर्मबंध करने लगते हैं अर्थात् कर्मबंधन से छूटने का उपाय एक निर्विकल्प शुद्धात्मा का ध्यान स्वरूप भेद विज्ञान ही है ॥ ४१२ से ४२६ तक ॥

जब कि परमात्मा शुद्ध बुद्ध रूप एक स्वभाववाला है ऐसीं हालत में जब परमात्मा के देह ही नहीं है तो उसके आहार कैसे होगा ? यह बतलाते हैं—

अत्ता जस्स अमुत्तो णहु सो आहारओ हवदि एवं।
आहारो खलु मुत्तो जह्मा सो पुग्गलमओ दु ॥४२७॥
णवि सक्कदि घित्तुं जे ण मुंचदे चेव जं परं दव्वं।
सो कोवि य तस्स गुणो पाउग्गिय विस्ससोवापि ॥४२८॥
तह्मा दु जो विसुद्धो चेदा सो णेव गिह्लदे किंचि।
णेव विमुंचदि किंचिवि जीवाजीवाणं दव्वाणं ॥४२९॥

आत्मा यस्यामूर्तो न खलु स आहारको भवत्येवं ।
आहारः खलु मूर्तो यस्मात्स पुगद्लमयस्तु ।।४२७।।
नापि शक्यते ग्रहीतुं यन्न मुंचति चैव यत्परं द्रव्यं ।
स कोऽपि च तस्य गुणो प्रायोगिको वैस्रसो वापि ।।४२८।।
तस्मात्तु यो विशुद्धश्चेतयिता स नैव गृह्णाति किंचित् ।
नैव विमुंचति किंचिदपि जीवाजीवयोर्द्रव्ययोः ।।४२९।।

अर्थ—जैसा कि ऊपर बता आये हैं कि ज्ञान या आत्मा संपूर्ण पर द्रव्योंसे भिन्न है और अमूर्त्त है। उन गाथाओं के उल्लेखानुसार जिसके विचार में आत्मा अमूर्त्त है, वह नियम से आहार को ग्रहण नहीं कर सकता। क्योंकि आहार तो मूर्तिक है जो कि पुगलमय है, पर द्रव्य स्वरूप है, वह अमूर्तिक आत्मा के द्वारा ग्रहण भी नहीं किया जा सकता और छोड़ा भी नही जा सकता। यह कोई ऐसा ही आत्मा का गुण है चाहे उसे वैस्रसिक कहा जाय या प्रायोगिक किन्तु यह उस आत्मा का अटल गुण है कि जो विशुद्ध आत्मा है वह जीव और अजीव जो पर द्रव्य हैं उनमें से किसी को न तो कभी ग्रहण करता है और न कभी किसी को छोड़ता है ।।४२७-४२८-४२९।।

तात्पर्यवृत्तिः—अत्ता जस्स अमुत्तो आत्मा यस्य शुद्धनयस्याभिप्रायेण मूर्तो न भवति **णहु सो आहारगो हवदि एवं** स एवममूर्तत्वे सति हु स्फुटं तस्य शुद्धनयस्याभिप्रायेणाहारको न भवति। **आहारो खलु मुत्तो** आहारः कथंभूतः ? खलु स्फुटं मूर्तः। **जह्मा सो पुग्गलमओ दु** यस्मात् स नोकर्माद्याहारः पुद्गलमयः।

सो कोवि य तस्स गुणो स कोपि तस्य गुणोऽस्त्यात्मनः। **कथं ? पाउग्गिय विस्ससो वापि** प्रायोगिको वैस्रसिकश्चेति। प्रायोगिकः कर्मसंयोगजनितः। वैस्रसिकः स्वभावजः। येन गुणेन किं करोति ? **णवि सक्कदि घित्तुं जे ण मुंचिदुं चेव जं परं दव्वं** परद्रव्यमाहारादिकं ग्रहीतुं मोक्तुं च न शक्नोति। अहो भगवन् ! कर्मजनितप्रायोगिकगुणेन आहारं गृह्णंतस्ते कथमनाहारका भवंति इति ? हे शिष्य ! भद्रमुक्तं त्वया परं किंतु निश्चयेन तन्मयो न भवति स व्यवहारनयः। इदं तु निश्चयव्याख्यानमिति।

तह्मादु जो विसुद्धो चेदा यस्मान्निश्चयनयेनानाहारकः तस्मात्कारणात् यस्तु विशेषेण शुद्धो रागादिरहितश्चेतयितात्मा **सो णेव गिह्लदे किंचि णेव विमुंचदि किंचिवि जीवाजीवाणदव्वाणं** कर्माहार-नोकर्माहार-कवलाहार-लेप्याहार-ओजआहार-मानसाहाररूपेण जीवाजीवद्रव्याणां मध्ये सचित्ताचित्ताहारं नैव किंचिद्गृह्णाति न मुंचति। ततः कारणान्नोकर्माहारमयशरीरं जीवस्वरूपं न भवति। शरीराभावे शरीरमयद्रव्यलिंगमपि जीवस्वरूपं न भवति इति। एवं निश्चयेन जीवस्याहारो नास्ति, इति व्याख्यानमुख्यत्वेन द्वादशस्थले गाथात्रयं गतं।

अथैवं विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावस्य परमात्मनो नोकर्माहाराद्यभावे सत्याहारमयदेहो नास्ति। देहाभावे देहमयंद्रव्यलिंगं निश्चयेन मुक्तिकारणं न भवतीति प्रतिपादयति—

टीका:—(अत्ता जस्स अमुत्तो) शुद्धनय के अभिप्राय से जहां आत्मा अमूर्त्त होती है—मूर्त्त नहीं होती (ण हु सो आहारगो हवदि एव) अमूर्त्तपना होने पर वह जीव स्पष्टरूप से शुद्धनय का अभिप्राय होने से आहारक नहीं हो सकता—आहार ग्रहण नहीं कर सकता। (आहारो खलु मुत्तो) क्योंकि आहार तो स्पष्टरूप से मूर्तिक होता है (जह्मा सो पुग्गलमओ दु) क्योंकि वह नोकर्मादि आहार पुद्गल-

मय होता है (इसलिये आत्मा को अमूर्तिक मानने वाला पुरुष उस आहार को ग्रहण नहीं कर सकता)। (सो को वि य तस्स गुणो) क्योंकि वह कोई उस आत्मा का गुण ही अर्थात् स्वभाव ही होता है। कैसा होता है ? कि (पाउग्गिय विस्ससोवापि) वह या तो प्रायोगिक या वैस्रसिक है अर्थात् कर्म संयोग जनित को प्रायोगिक कहते हैं और स्वभावजन्य को वैस्रसिक कहते हैं। उस गुणसे वह आत्मा क्या करता है ? (णवि सक्कदि घित्तुं जे ण मुञ्चिदुं चेव जं परं दव्वं) परद्रव्य रूप आहारादि को वह न तो ग्रहण ही कर सकता है और न छोड़ ही सकता है। यहां पर शंका करता है कि हे भगवन् ! कर्मोंके निमित्त से जो उत्पन्न हुआ प्रायोगिक गुण है उससे जो आहार भी ग्रहण करते हैं ये सब अनाहारक कैसे माने जा सकते हैं ? इसका आचार्य समाधान करते हैं कि हे भाई ! तुमने जो कहा है सो ठीकही है किन्तु निश्चय के साथ जो तन्मय नहीं होता वहाँ व्यवहार नय है किन्तु यहां पर निश्चय का व्याख्यान किया जा रहा है। (तम्हा दु जो सो विसुद्धो चेदा) क्योंकि निश्चयनय के द्वारा जो आत्मा रागादि रहित विशुद्ध हो जाता है वह अनाहारक होता है। (सो णेव गिह्णदे किंचि णेव विमुंचदि किंचिवि जीवाजीवाण दव्वाणं) वह कर्म आहार, नोकर्म आहार, कवलाहार, लेप आहार, ओज आहार, और मानस आहार के रूपमें जीव अजीव के भेदसे जितने भी द्रव्य हैं उनमें से सचित्त आहार तथा अचित्त आहार किसी भी प्रकार के आहारको न तो ग्रहण ही करता है और न छोड़ता है। क्योंकि नोकर्म आहाररूप जो शरीर है वह जीव का स्वरूप नहीं है और जब शरीर का अभाव है तो शरीरमय जो द्रव्य लिंग है वह भी जीव का स्वरूप नहीं है।

इस प्रकार निश्चयनय की अपेक्षा से जीव के आहार ही नहीं है इस प्रकार व्याख्यान की मुख्यता से बारहवें स्थलमें तीन गाथाएं हुईं ॥ ४२७-४२८-४२९ ॥

विशेषार्थ:—निश्चयनयसे देखाजाय तो आत्मा के साथ शरीर का कोई संबंध नहीं है क्योंकि संसारी आत्मा के साथ भी शरीर का संयोग संबंध है जो कि व्यवहारनय का विषय है। निश्चयनय तादात्म्य संबंध को लेकर चलता है सो शरीर का तादात्म्य संबंध आत्मा के साथ में किसी भी दशामें नहीं है। आत्मा निश्चयनय की दृष्टि में तो सदा शरीर रहित है। अब जो मुनि निश्चयनयपर आरुढ़ होते हैं अर्थात् आत्म समाधि में लगकर अपने शुद्धात्मा का अनुभव करने लगते हैं तो वहां तो आत्मा अमूर्त्त है शरीर रहित है। और जब शरीर ही नहीं है तो फिर किसी भी प्रकार के आहार ग्रहण की आवश्यकता ही क्या है। इसलिये आहार ग्रहण करना तो दूर रहा वहां इसकी बात भी नहीं है जिसका यहां वर्णन किया गया है। हां जब वे व्यवहार दृष्टि में आते हैं तब उन्हें शरीर के संयोग को लक्ष्यमें लेकर आहार ग्रहण करने की आवश्यकता होती है तो वहां आचार शास्त्र विधानानुसार समुचित आहार ग्रहण करते हैं, जिसका कथन यहां पर गौण है। हां, इस निश्चय और व्यवहार को ठीक नहीं समझने वाले कुछ भाई यहां ऐसा कह दिया करते हैं कि आहार करते हुये भी आत्मा आहार नहीं करता क्योंकि आत्मा अमूर्तिक है, आहार तो शरीर ग्रहण करता है। सो शरीर तो जड़ है उसकी ओर से तो चाहे कैसा भी हो कोई बात नहीं है। ऐसा कहने वालों को यह सोचना चाहिये कि निश्चयनय में शरीर वस्तु ही क्या है जो कि आहार को ग्रहण करता है। शरीर तो पुद्गल परमाणुओं का पिण्ड है जोकि संयोगात्मक होने से व्यवहारनय का विषय है। अतः निश्चयनय में तो आहार ग्रहण करने की बात ही नहीं बनती हैं। जब आत्मा व्यवहारनय पर आता है अर्थात् समाधि से च्युत होता है तो शरीर के साथ संयोग होने से शरीर की स्थिती रखने के लिये शरीर के द्वारा समुचित आहार ग्रहण करता है। ऐसा यहां

तात्पर्य है। किंच कर्माहार की अपेक्षा से देखें तो स्पष्ट शुद्धात्मा सिद्ध भगवान ही अनाहारक हैं और सभी संसारी आत्मा सदा आहारक ही हैं। नोकर्म आहार की अपेक्षा विग्रहगती समापन्न जीव भी अनाहारक होता है, कवलाहार की अपेक्षा से संयत आत्मा जब अप्रमत्त दशामें होता है तब तक अनाहारक होता है किन्तु जब आहार ग्रहण करता है तब भी वह इन्द्रिय संपोषण के लिये नहीं करता किन्तु धर्म्य-ध्यान में लगे रहने के लिये करता है इसलिये उपचार से अनाहारक ही कहा जाता है।

उपर्युक्त लिखे अनुसार विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभाव वाले परमात्मा के नोकर्म आदि आहार के अभाव होने पर आहारमय देह नहीं है। देह के अभाव में देह मई द्रव्य लिंग भी नहीं होता जो कि निश्चय से मुक्ति का कारण नहीं है:—

पाखंडिय लिंगाणि य गिहलिंगाणिय बहुप्पयाराणी।
घित्तुं वंदति मूढा लिंगमिणं मोक्खमग्गोति ॥४३०॥
ण य होदि मोक्खमग्गो लिंगं जं देहणिम्ममा अरिहा।
लिंगं मुइत्तु दंसणणाणचरित्ताणि से वंति ॥४३१॥

पाखंडिलिंगानि च गृहलिंगानि च बहुप्रकाराणि।
गृहीत्वा वदंति मूढा लिंगमिदं मोक्षमार्ग इति ॥४३०॥
न तु भवति मोक्षमार्गो लिंगं यद्देहनिर्ममा अर्हंतः।
लिंगं मुक्त्वा दर्शनज्ञानचारित्राणि सेवंते ॥४३१॥

अर्थ—पाखंडी (बनावटी) साधुओं के और गृहस्थों के जो लिंग हैं—शरीर पर बनाये हुए जो भेष हैं—वे अनेक प्रकार के होते हैं उन्हीं को ग्रहण करके मूढ़ लोग ऐसा मानने लगते हैं कि यह भेष ही मुझे मोक्ष देने वाला है। इसको लक्ष्य में लेकर आचार्य महाराज कहते हैं कि हे भाई ! यह धारण किया हुआ बाह्य भेष ही मोक्ष का कारण नहीं हो सकता क्योंकि ये अर्हंत देव तो देह से निर्ममत्व होते हुए—इस बाह्य लिंग की उपेक्षा करके—दर्शन ज्ञान और चारित्र की सेवा करते हैं। (रत्नत्रय को ही अपनी आत्मा में प्रगट करते हैं क्योंकि वस्तुतः रत्नत्रय ही मोक्ष का मार्ग है)।

तात्पर्यवृत्तिः—पाखंडिलिंगानि गृहस्थलिंगानि च बहुप्रकाराणि गृहीत्वा वदंति मूढाः। किं वदंति ? इदं द्रव्यमयलिंगमेव मुक्तिकारणं। कथंभूताः संतः ? रागादिविकल्पोपाधिरहितं परमसमाधिरूपं भावलिंगमजानंतः **णय होदि मोक्खमग्गो लिंग** भावलिंगरहितं द्रव्यलिंगं केवलं मोक्षमार्गो न भवति कस्मात् ? इति चेत् **जं** यस्मात्कारणात् **देहणिम्ममा अरिहा** अर्हंतो भगवंतो देहनिर्ममाः संतः किं कुर्वंति ? **लिंगं मुइत्तु** लिंगाधारं यच्छरीरं तस्य शरीरस्य मन्ममत्वं तन्मनोवचनकायैर्मुक्त्वा। पश्चात् **दंसणणाणचरित्ताणि सेवंते** चिदानंदैकस्वभावशुद्धात्म-तत्वविषये यानि श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपानि सम्यग्दर्शनज्ञानचरित्राणि तानि सेवंते भावयंतीत्यर्थः।

अर्थंतदेव व्याख्यानं विशेषेण दृढयति।

टीकाः—जो मोही हैं अर्थात् रागादि विकल्प की उपाधि से रहित परम समाधिरूप भावलिंग के विषय के जानकार नहीं हैं, वे नाना प्रकार के बनावटी साधुओं के भेष अथवा गृहस्थों के भेष लेकर मान

बैठते हैं कि यह द्रव्यमय मेरा भेष मुझे मुक्ति प्राप्त करा देगा। उसके लिये आचार्य कहते हैं कि (ण य होदि मोक्खमग्गो लिंगं) भावलिंग से रहित अर्थात् अंतरंग शुद्धि से रहित केवलमात्र शरीर पर स्वीकार किया हुआ द्रव्य लिंग ही मोक्ष का मार्ग नहीं हो सकता क्योंकि (जं देह णिम्ममा अरिहा) अर्हंत भगवान देह से निर्ममत्व होते हुए और (लिंग मुइत्तु) लिंग का आधार जो शरीर उसके ममत्व को मन वचन काय से छोड़कर (दंसणणाणचरित्ताणि सेवंति) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की सेवा करते हैं। अर्थात् चिदानंद ही है एक स्वभाव जिसका ऐसा जो शुद्धात्म तत्व उसके विषय में जो श्रद्धान ज्ञान और आचरणरूप सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र हैं उनको बार बार उपार्जन करते हैं ।।४३०-४३१।।

विशेषार्थः—यहां पर आचार्यदेव ने बतलाया है कि वास्तव में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र ही रत्नत्रय है उसी को मोक्षमार्ग बताकर बाह्य लिंग मोक्षमार्ग नहीं होता। किंतु बाह्य लिंग मोक्ष मार्ग नहीं होता ऐसा बताते हुए उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि अनेक प्रकार के गृहस्थों के और पाखंडी बनावटी साधुओं के लिंग उन सबका निषेध किया है, न कि यथाजात दिगम्बर साधु के भेष को क्योंकि इन्हीं कुन्द कुंदाचार्य देवने अपने अष्ट पाहुड़ ग्रन्थ में 'णग्गो वि मोक्खमग्गो सेसा उम्मगया सव्वे' बताया हैं कि छलरहित नग्नपना ही मोक्ष मार्ग है इसके सिवाय सब उन्मार्ग हैं, ऐसी दशा में ये स्वयं ही यथाजात दिगम्बर भेष का निषेध कैसे कर सकते थे। अतः गृहस्थों के लिंग के साथ इन्होंने बनावटी पाखंडी छली साधुओं के लिंगों को लिया है न कि यथाजात नग्न दिगम्बर लिंगों को। क्योंकि पाखंडी शब्द का अर्थ बनावटी छली साधु ही होता है जैसा कि रत्नकरण्ड श्रावकाचार में लिखा है :—

"सग्रंथारंभ हिंसानां संसारावर्त्त वर्तिनां, पाखण्डिनां पुरस्कारो ज्ञेयं पाखण्डि मोहनम् ।।

अर्थात् हिंसा आरंभ और परिग्रह से सहित एवं सांसारिक उलझनों में ही फंसे रहने वाले पाखंडी अर्थात् साधुपन से दूर होकर भी अपने आपको साधु कहने वाले लोगों का आदर सत्कार करना पाखंडी मूढ़ता कहलाती है जिससे सम्यग्दृष्टि जीव दूर रहता है। इससे स्पष्ट है कि आचार्य ने यहां पर पाखंडी शब्द से बनावटी साधुओं को ही लिया है, वास्तविक साधुभेष को नहीं क्योंकि रत्नत्रय ही वास्तविक मोक्षमार्ग माना गया है वह भी किसी आधार विशेष में ही होगा। इस पनपते हुए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का आधार छलरहित यथाजात भेष ही है जिसको कि प्रत्येक ऋषभादि तीर्थंकरने स्वीकार किया है। उसके बिना निराधार रूप से न तो किसी तीर्थंकर ने रत्नत्रय का सेवन ही किया और न हो सकता है। अतः प्रत्येक मुमुक्षु को अपने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय को पनपाकर सम्पन्न करने के लिए यह निश्छल निर्ग्रन्थ दिगम्बर भेष धारण करना ही चाहिये, ऐसा किये बिना रत्नत्रय सम्पन्न नहीं हो सकता, किन्तु निश्छल यथाजात दिगम्बर बनकर भी सम्यग्दर्शनादि रूप रत्नत्रय को भूल नहीं जाना चाहिये।

इसी बात को आचार्यदेव फिर विशेषरूप से और भी दृढ़ करते हैं:—

ण वि एस मोक्खमग्गो पाखंडी गिहमयाणि लिंगाणि।
दंसणणाणचरित्ताणि मोक्खमग्गं जिणा विंति ।।४३२।।

नाप्येष मोक्षमार्गः पाखंडिगृहमयानि लिंगानि।
दर्शनज्ञानचरित्राणि मोक्षमार्गं जिना वदंति ।।४३२।।

अर्थ:—बनावटी छली साधु के द्वारा स्वीकार किये हुये और गृहस्थ के द्वारा स्वीकार किये गये जो नाना भेष हैं वे मोक्षमार्ग नहीं है किन्तु मोक्षमार्ग तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है (जो कि निर्ग्रन्थ दिगम्बर भेष में ही आधार आधेय मात्र से पाया जाता है) ऐसा जिन भगवानने कहा है ।। ४३२ ।।

तात्पर्यवृत्तिः—**णवि एस मोक्खमग्गो** नचैष मोक्षमार्गः एष कः ? **पाखंडिगिहमयाणि लिंगाणि** निर्विकल्पसमाधिरूपभावलिंगनिरपेक्षाणि रहितानि यानि पाखंडिगृहिमयानि द्रव्यलिंगानि । कथंभूतानि निर्ग्रंथकौपीनग्रहणरूपाणि बहिरंगारचिह्नानि । तर्हि को मोक्षमार्गः ? इति चेत् **दंसणणाणचरित्ताणि मोक्खमग्गं जिणा विंति** शुद्धबुद्धैकस्वभाव एव परमात्मतत्त्वश्रद्धानज्ञानानुभूतिरूपाणि सम्यग्दर्शनज्ञानचरित्राणि मोक्षमार्गं जिना वदंति कथयंति । यत एवं—

टीका:—(ण वि एस मोक्खमग्गो) यह मोक्ष का मार्ग नहीं है । कौन मोक्षका मार्ग नहीं हैं ? कि (पाखंडिगिहिमयाणि लिंगाणि) निर्विकल्प समाधिरूप भावलिंग से सर्वथा रहित जो पाखंडी व अथवा गृहस्थों के द्वारा स्वीकार किये जो नाना भेष हैं वे मोक्षमार्ग नहीं हैं । ये भेष कौनसे कौनसे हैं ? कि (अंतरंग शुद्धि के बिना) बाह्यमें सर्वथा निर्ग्रन्थ होकर रहना अथवा कोपीन धारण करना आदिरूप बहिरंग आकारके चिह्नरूप हैं ये सब मोक्षमार्ग नहीं है । मोक्षमार्ग क्या हैं ? कि (दंसणणाण चरित्ताणि मोक्ख मग्गं जिणा विंति) शुद्ध बुद्ध रूप एक स्वभाव वाला जो परमात्मतत्व उसका श्रद्धान ज्ञान और अनुभव ही है स्वरूप जिनका ऐसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र हो मोक्षका मार्ग है ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है ।।४३२।।

विशेषार्थ:—आत्मा सब कर्मों से रहित हो रहे इस प्रकार के आत्मा के परिणाम का नाम ही मोक्ष है इसलिये उसका कारण भी आत्मा का परिणाम ही होना चाहिये क्योंकि कारण कार्य में परस्पर पूर्वोत्तर भाव होता है । एवं सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र आत्मा के परिणाम हैं जिनका कि फल मोक्ष होता है । बाह्य लिंग तो देहमय है जो कि पुद्गल द्रव्य रूप है इसलिये उसके साथ आत्मा के मोक्ष का कोई वास्तविक संबंध नहीं है । हां, यह बात दूसरी है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र में जो चारित्र है वह विश्वभर के सम्पूर्ण पदार्थों से दूर हट कर आत्म तल्लीन होने का नाम है और बाह्य समस्त पदार्थों से स्पष्ट रूपसे पृथक रहना ही नग्न दिगम्बर भेष है जिसके होने पर ही आत्म तल्लीनतारूप वास्तविक चारित्र सम्पन्न हो पाता है । अतः आत्म तल्लीनतारूप निश्चय चारित्र का आधार होने से निश्छल दिगम्बर भेष भी कारण का कारण होने से उपादेय है किन्तु कोई केवल मात्र नग्नता को ही मोक्षमार्ग मानले उसका यहां निषेध किया गया है और बताया गया है कि भाई ! मुक्ति की प्राप्ति तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र होने से ही होगी केवलमात्र बाह्य नग्न आदि भेष से नहीं । इसलिये आचार्य देव कहते हैं:—

तह्मा दुहित्तु लिंगे सागारणगारिएहिं वा गहिदे ।
दंसणणाणचरित्ते अप्पाणं जुंज मोक्खपहे ।।४३३।।
तस्मात्तु हित्वा लिंगानि सागारैरनगारैर्वा गृहीतानि ।
दर्शनज्ञानचारित्रे आत्मानं युंक्ष्व मोक्षपथे ।।४३३।।

अर्थ:—जबकि केवल द्रव्यलिंग मोक्षमार्ग नहीं है इसलिये आचार्य कहते हैं कि गृहस्थों के अथवा घरहीनों के द्वारा ग्रहण किये गये लिंगों को छोड़कर अपने आपको दर्शन ज्ञान चारित्र स्वरूप मोक्षमार्ग में लगाओ ।।४३३।।

तात्पर्यवृत्ति—तह्मा जहित्तु लिंगे सागारणगारिएहिं वा गहिदे यस्मात्कारणात्पूर्वोक्तप्रकारेण सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गं जिनाः प्रतिपादयंति तस्मात्त्यक्त्वा कानि निर्विकारस्वसंवेदनरूपभावलिंगरहितानि सागारानगारवर्गैः समूहैः—गृहीतानि बहिरंगाकारद्रव्यलिंगानि । पश्चात् किं कुरु ? **दंसणणाणचरित्ते अप्पाणं जुंज मोक्खपहे** हे भव्य ! आत्मानं योजय संबंधं कुरुष्वक्व ? केवलज्ञानाद्यनं तचतुष्टयस्वरूपशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपाभेदरत्नत्रयलक्षणे मोक्षपथे मोक्षमार्गे ।

अथ निश्चयरत्नत्रयात्मकः शुद्धात्मानुभूतिलक्षणो मोक्षमार्गो मोक्षार्थिना पुरुषेण सेवितव्य इत्युपदिशति—

टीका:—(तम्हा जहित्तु लिंगे सागारणगारएहिं वा गहिदे) जब कि ऊपर लिखे अनुसार सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र ही मोक्ष का मार्ग है ऐसा जिनेन्द्र भगवान प्रतिपादान करते है तो निर्विकार स्वसंवेदनज्ञानरूप जो भाव लिंग है उससे रहित होने वाले सागार गृहस्थ और अनगार त्यागी मुनियों के द्वारा केवलमात्र बाह्यमें ग्रहण किये हुए द्रव्य लिंगों को छोड़कर फिर क्या करो ? कि (दंसणणाणचरित्ते अप्पाणं जुंज मोक्खपहे) हे भव्य ! केवलज्ञानादि अनंतचतुष्टय स्वरूप जो शुद्ध आत्मा उसका समीचीन श्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठान रूप जो अभेद रत्नत्रय ही है लक्षण जिसका ऐसे मोक्षमार्ग में अर्थात् मोक्ष मोक्ष के उपाय में अपने आपको युक्त करो अर्थात् तल्लीन बन जावो ।। ४३३ ।।

पं० जयचन्दजी का भावार्थ—यहां द्रव्यलिंग को छुड़ाकर दर्शन ज्ञान चारित्र में लगने का वचन है सो यह सामान्य परमार्थ वचन है । कोई समझेगा कि मुनि श्रावक के व्रत छुड़ाने का उपदेश है ऐसा नहीं है । जो केवल द्रव्यलिंग को ही मोक्षमार्ग जान भेष रक्खे उसको उसका पक्ष छुडाया है कि भेषमात्र मोक्षमार्ग नहीं है, परमार्थरूप मोक्षमार्ग आत्मा के दर्शन ज्ञान चारित्ररूप परिणाम हैं वे ही हैं । व्यवहार आचार सूत्र में कहे अनुसार जो मुनि श्रावक के बाह्य व्रत हैं वे व्यवहार कर निश्चय मोक्षमार्ग के साधक हैं । उनको छुड़ाते नहीं परन्तु ऐसा कहते हैं कि उनका भी ममत्व छोड़ परमार्थ मोक्षमार्ग में लगने से ही मोक्ष होता है, केवल भेषमात्र से मोक्ष नहीं है ऐसा जानना ।

अब आचार्य यह उपदेश करते हैं कि मोक्षार्थी जीव को शुद्धात्मानुभूति रूप लक्षणवाले निश्चय रत्नत्रयात्कमक मोक्षमार्ग का सेवन करना चाहिये—

मोक्खपहे अप्पाणं ठवेहि चेदयहि झायहि तं चेव ।
तत्थेव विहर णिच्चं मा विहरसु अण्णदव्वेसु ।।४३४।।

मोक्षपथे आत्मानं स्थापय चेतयस्व ध्याय हि तं चैव ।
तत्रैव विहर नित्यं मा विहार्षीरन्यद्रव्येषु ।।४३४।।

अर्थ—हे भव्य ! तू अपने आपको मोक्षमार्ग में स्थापन कर, उसी का ध्यान कर, उसी का अनुभव कर और उस आत्मा में ही निरन्तर बिहार कर और अन्य द्रव्यों में बिहार मत कर ।।४३४।।

तात्पर्यवृत्तिः—मोक्खपहे अप्पाणं ठवेहि हे भव्य ! आत्मानं स्थापय क्व ? शुद्धज्ञानदर्शनस्वभावात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपाभेदरत्नत्रयस्वरूपे मोक्षपथे । **चेदयहि** तमेव मोक्षपथं चेतयस्व परमसमरसीभावेन अनुभवस्व **झायहि तं चेव** तमेव ध्याय निर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा भावय । **तत्थेव विहर णिच्चं** तत्रैव विहर वर्तनापरिणतिं कुरु ।

नित्यं सर्वकालं । **मा विहरसु अण्णदव्वेसु** दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षारूपनिदानबंधादिपरद्रव्यालंबनोत्पन्नशुभाशुभ-संकल्पेषु मा विहार्षीः, मा गच्छ मा परिणतिं कुर्विति ।

अथ सहजशुद्धपरमात्मानुभूतिलक्षणभावलिंगरहिता ये द्रव्यलिंगे ममतां कुर्वंति तेऽद्यापि समयसारं न जानंतीति प्रकाशयति—

टीका:—(मोक्खपहे अप्पाणं ठवेहि) हे भव्य ! शुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभाववाले आत्मतत्वका समीचीन श्रद्धान ज्ञान और आचरणरूप जो अभेद रत्नत्रय वही है स्वरूप जिसका ऐसे मोक्षमार्ग में अपने आपको स्थापन कर । (चेदयहि) उसी मोक्षमार्गका अनुचिंतन कर अर्थात् परमसमरसी भाव के द्वारा उसी का अनुभव कर । (झायहि तं चेव) उसीका ध्यान कर अर्थात् निर्विकल्प समाधि में लगकर उसकी बार बार भावना कर । (तत्थेव विहर णिच्चं) उसी में नित्य पर्यटन कर (मा विहरसु अण्णदव्वेसु) देखे हुये, सुने हुए, अनुभव किये हुये भोगों की आकांक्षारूप निदान बंधादि पर द्रव्यों के आलम्बन से उत्पन्न होने वाले शुभाशुभ संकल्प विकल्पों में मत जा, उन्हें स्मरण मतकर, उनरूप अपनी परिणति मत होने दे ।।४३४।।

विशेषार्थ:—आचार्य महाराज कहते हैं कि निश्चयनय से आत्मा के परिणाम सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र हैं, उनमें आत्मा का स्थित रहना ही मोक्षका मार्ग है । अतः मुमुक्षु को चाहिये कि उस मोक्षमार्ग में ही अपने आपको स्थिर करे, उसीका ध्यान करे, उसी का अनुभव करे, और संसार के सब द्रव्यों को छोड़कर इसी में प्रवृत्त रहे तभी मोक्ष प्राप्त होगा अन्यथा नहीं ।

आगे कहते हैं कि जो सहज शुद्ध परमात्मानुभूति लक्षण वाले भाव लिंग से तो रहित हैं । किन्तु द्रव्यलिंग में (बाहरी वेषभूषा में) ही ममता करते हैं वे आज भी समयसार को नहीं जानते:—

पाखंडियलिंगेसु व गिहलिंगेसु व बहुप्पयारेसु ।
कुव्वंति जे ममत्तिं तेहिं ण णादं समयसारं ।।४३५।।

पाखंडिलिंगेषु वा गृहिलिंगेषु वा बहुप्रकाररेषु ।
कुर्वंति ये ममतां तैर्न ज्ञातः समयसारः ।।४३५।।

अर्थ—जो लोग नाना प्रकार के पाखंडी लिंगों में और गृहस्थ लिंगों में ही ममत्व किये हुए हैं (कि हम्हें यही भेष मोक्ष दिलादेगा) वे लोग समयसार को नहीं जानते ।। ४३५ ।।

तात्पर्यवृत्तिः—पाखंडियलिंगेसु व गिहलिंगेसु व बहुप्पयारेसु कुव्वंति जे ममत्तिं वीतरागस्वसवेदन-ज्ञानलक्षणभावलिंगरहितेषु निर्ग्रन्थरूपपाखंडिद्रव्यलिंगेषु कौपीनचिह्नादिगृहस्थद्रव्यलिंगेषु बहुप्रकारेषु ये ममतां कुर्वंति **तेहिं ण णादं समयसारं** जगत्त्रयकालत्रयख्यातिपूजालाभमिथ्यात्वकामक्रोधादिसमस्तपरद्रव्यालंबनसमुत्पन्नशुभाशुभासंकल्पविकल्परहितः शून्यः चिदानंदैकस्वभावशुद्धात्मतत्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपाभेदरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्प-समाधिसंजातवीतरागसहजापूर्वपरमाह्लादरूपसुखरसानुभवपरमसमरसीभावपरिणामेन सालंबनः पूर्णकलशवद्भरितावस्थः केवलज्ञानाद्यनंतचतुष्टयव्यक्तिरूपस्य साक्षादुपादेयभूतस्य कार्यसमयसारस्योत्पादको योऽसौ निश्चयकारणसमयसारः स खलु तैर्न ज्ञात इति ।

अथ निर्विकारशुद्धात्मसंवित्तिलक्षणभावलिंगसहितं निर्ग्रन्थयतिलिंगं कौपीनकरणादिबहुभेदसहितं गृहिलिंगं चेति

द्वयमपि मोक्षमार्गो व्यवहारनयो मन्यते। निश्चयनयस्तु सर्वद्रव्यलिंगानि न मन्यत इत्याख्याति—

टीका:—(पाखंडियलिंगेसु व गिहलिंगेसु व बहुप्पयारेसु कुव्वंति जे ममत्तिं) वीतरागस्वरूप स्वसंवेदन ज्ञान लक्षण वाले ऐसे भाव लिंग से जो रहित हैं ऐसे निर्ग्रन्थरूप पाखण्डियों के द्रव्य लिगों में और कोपीन आदि चिह्नवाले गृहस्थ के द्रव्य लिगों में जो कि अनेक प्रकार के हैं उनमें जो ममता किये बैठे हैं (तेहि ण णादं समयसारं) वे लोग निश्चय समयसार को नहीं जानते। वह निश्चय कारण समयसार कैसा है? कि जो तीन लोक और तीन काल में होने वाले ख्याति, पूजा, लाभ, मिथ्यात्व, काम और क्रोधादि समस्त परद्रव्यों के आलम्बन से उत्पन्न होने वाले शुभ तथा अशुभ संकल्प विकल्पों से रहित है और चिदानंदमई एक स्वभावरूप शुद्धात्म तत्व का समीचीन श्रद्धान, ज्ञान और आचरण तद्रूप जो अभेद रत्नत्रयमई निर्विकल्प समाधि उससे उत्पन्न हुआ वीतराग सहज अपूर्व परम आह्लाद रूप सुखरसका अनुभवन करना वही हुआ परम समरसीभाव रूप परिणाम उसके आलम्बनसे पूर्ण कलश के समान भरा पूरा है और केवलज्ञानादि अनंत चतुष्टय की प्रकटतारूप साक्षात् उपादेयभूत कार्यसययसार का उत्पादक है ऐसा जो निश्चय कारण समयसार है, उसको नहीं जानते ॥४३५॥

अब इसके आगे आचार्य बतलाते हैं कि विकार रहित शुद्धात्मा का संवेदन ही है लक्षण जिसका ऐसे भावलिंग से युक्त जो निर्ग्रन्थ यति लिंग होता है और कोपीन आदि से युक्त जो बहुत प्रकार का गृहस्थ लिंग होता है उन दोनों को व्यवहारनय मोक्षमार्ग मानता है किन्तु निश्चयनय तो सब ही द्रव्य लिंगों को मोक्षमार्ग नहीं मानता—

ववहारिओ पुन णओ दोण्णिवि लिंगाणि भणदि मोक्खपहे।
णिच्छयणओ दु णिच्छदि मोक्खपहे सव्वलिंगाणि ॥४३६॥

व्यावहारिकाः पुनर्नयो द्वे अपि लिंगे भणति मोक्षपथे।
निश्चयनयस्तु नेच्छति मोक्षपथे सर्वलिंगानि ॥४३६॥

अर्थ—व्यवहारनय तो मुनि और श्रावक के भेद से दोनों प्रकार के ही लिंगों को मोक्षमार्ग मानता है किन्तु निश्चयनय सब ही बाह्यलिंगों में किसी को भी मोक्षमार्ग नहीं मानता ॥४३६॥

तात्पर्यवृत्तिः—ववहारिओ पुण णओ दोण्णिवि लिंगाणि भणदि मोक्खपहे व्यावहारिकनयो द्वे लिंगे मोक्षपथे मन्यते। केन कृत्वा? निर्विकारस्वसंवित्तिलक्षणभावलिंगस्य बहिरंग सहकारिकारणत्वेनेति। **णिच्छयणओ दु णेच्छदि मुक्खपहे सव्वलिंगाणि** निश्चयनयस्तु निर्विकल्पसमाधिरूपत्रिगुप्तिगुप्तबलेन अहं निर्ग्रंथलिंगी, कोपीनधारकोऽहमित्यादि मनसि सर्वद्रव्यलिंगविकल्पं रागादिविकल्पवन्नेच्छति। कस्मात्? स्वयमेव निर्विकल्पसमाधिस्वभावत्वात् इति।

किंच—अहो शिष्य! **पाखंडीलिंगाणि** य इत्यादि गाथा सप्तकेन द्रव्यलिंगं निषिद्धमेवेति त्वं मा जानाहि किं तु निश्चयरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिरूपं भावलिंगरहितानां यतीनां संबोधनं कृतं। कथं? इति चेत् अहो तपोधनाः! द्रव्यलिंगमात्रेण संतोषं मा कुरुत, किं तु द्रव्यलिंगाधारेण निश्चयरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिरूपभावनां कुरुत।

ननु भवदीयकल्पनेयं, द्रव्यलिंगनिषेधो न कृत इति ग्रंथे लिखितमास्ते **णय होदि मोक्खमग्गो लिंगमित्यादि?**

नैव जयहोदि मोक्खमग्गो लिंग मित्यादिवचनेन भावलिंगरहितं द्रव्यलिंगं निषिद्धं न च भावलिंगसहितं। कथं? इति चेत् द्रव्यलिंगाधारभूतो योऽसौ देहस्तस्य ममत्वं निषिद्धं। नच द्रव्यलिंग निषिद्धं। केन रूपेण? इति चेत् पूर्वं दीक्षाकाले सर्वसंगपरित्याग एव कृतो न च देहत्यागः। कस्मात्? देहधारणध्यानज्ञानानुष्ठानं भवति इति हेतोः। नच देहस्य पृथक्त्वं कर्तुमायाति शेषपरिग्रहवदिति। वीतरागध्यानकाले पुनर्मदीयो देहोऽहं लिंगीत्यादिविकल्पो व्यवहारेणापि न कर्तव्यः। देह निर्ममत्वं कृतं कथं ज्ञायते? इति चेत् **जं देहणिम्ममा अरिहा दंसणणाणचरित्ताणि सेवंते** इत्यादि वचनेनेति। न हि शालितंदुलस्य बहिरंगतुषे विद्यमाने सत्यभ्यंतरतुषस्य त्यागः कर्तुमायाति। अभ्यंतर तुषत्यागे सति बहिरंगतुषत्यागो नियमेन भवत्येव। अनेन न्यायेन सर्वसंगपरित्यागरूपे बहिरंग द्रव्यलिंगे सति भावलिंगं भवति न भवति वा नियमो नास्ति। अभ्यंतरे तु भावलिंगे सति सर्वसंगपरित्यागरूपं द्रव्यलिंगं भवत्येवेति।

हे भगवन्! भावलिंगे सति बहिरंगं द्रव्यलिंगं भवतीति नियमो नास्ति **साहारणासाहारणे**त्यादि वचनादिति? परिहारमाह-कोऽपि तपोधनो ध्यानारूढस्तिष्ठति तस्य केनापि दुष्टभावेन वस्त्रवेष्टनं कृतं। आभरणादिकं वा कृतं तथाप्यसौ निर्ग्रंथ एव। कस्मात्? इति चेत् बुद्धिपूर्वकममत्वाभावात् पांडवादिवत्। येऽपि घटिकाद्वयेन मोक्षं गता भरतचक्रवर्त्यादयस्तेऽपि निर्ग्रंथरूपेणैव। परं किंतु तेषां परिग्रह त्यागं लोका न जानंति स्तोककालत्वादिति भावार्थः। एवं भावलिंगरहितानां द्रव्यलिंगमात्रं मोक्षकारणं न भवति। भावलिंगसहितानां पुनः सहकारिकारणं भवतीति व्याख्यानमुख्यत्वेन त्रयोदशस्थले गाथासप्तकं गतं।

अत्राह शिष्यः—केवलज्ञानं शुद्धं छद्मस्थज्ञानं पुनरशुद्धं शुद्धस्य केवलज्ञानस्य कारणं न भवति। कस्मात्? इति चेत्—

सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धमेवप्पयं लहदि जीवो इति वचनात् इति? नैवं छद्मस्थज्ञानस्य कथंचिच्छुद्धाशुद्धत्वं। तद्यथा यद्यपि केवलज्ञानापेक्षया शुद्धं न भवति तथापि मिथ्यात्वरागादिरहितत्वेन वीतरागसम्यक्त्वचारित्रसहितत्वेन च शुद्धं। अभेदनयेन पुनः छद्मस्थानां संबंधि भेदज्ञानमात्मस्वरूपमेव ततः कारणात्तेनैकदेशव्यक्तिरूपेणापि सकलव्यक्तिरूपं केवलज्ञानं जायते नास्ति दोषः।

अथ मतं सावरणत्वात्क्षायोपशमिकत्वाद्वा शुद्धं न भवति तर्हि मोक्षोऽपि नास्ति। कस्मात्? छद्मस्थानां ज्ञानं यद्यप्येकदेशेन निरावरणं तथापि केवलज्ञानापेक्षया नियमेन सावरणमेव क्षायोपशमिकमेवेति। अथाभिप्रायः पारिणामिकभाव शुद्धः तेन मोक्षो भविष्यति तदपि न घटते। कस्मात्? इति चेत् केवलज्ञानात्पूर्वं परिणामिकभावस्य शक्तिमात्रेण शुद्धत्वं न व्यक्तिरूपेणेति—

तथाहि जीवत्वभव्यत्वाभव्यत्वरूपेण त्रिविधोहि पारिणामिकः। तत्र तावदभव्यत्वं मुक्तिकारणं न भवति यत्पुनर्जीवत्वभव्यत्वद्वयं तस्य द्वयस्य तु यदायं जीवो दर्शनचारित्रमोहनीयोपशमक्षयोपशमक्षयलाभेन वीतरागसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रयेण परिणमति तदा शुद्धत्वं। तच्च शुद्धत्वं- औपशमिकक्षायोपशमिकक्षायिकभावत्रयस्य संबंधि मुख्यवृत्या, पारिणामिकस्य पुनर्गौणत्वेनेति। तत्र शुद्धपरिणामिकस्य बंधमोक्षस्य कारणरहितत्वं पंचास्तिकायेऽनेन श्लोकेन भणितमास्ते—

मोक्षं कुर्वंति मिश्रौपशमिकक्षायिकाभिधाः।
बंधमौदयिको भावो निष्क्रियः पारिणामिकः॥१॥

तत एव स्थितं निर्विकल्पशुद्धात्मपरिच्छित्तिलक्षणं वीतरागसम्यक्त्वचारित्राविनाभूतमभेदनयेन तदेव शुद्धात्मशब्दवाच्यक्षायोपशमिकमपि भावश्रुतज्ञानं मोक्षकारणं भवतीति। शुद्धपरिणामिकभावः पुनरेकदेशव्यक्तिलक्षणायां

कथंचिद्भेदाभेदरूपस्य द्रव्यपर्यायात्मकस्य जीवपदार्थस्य शुद्धभावनावस्थायां ध्येयभूतद्रव्यरूपेण तिष्ठति नच ध्यानपर्याय-रूपेण, कस्मात् ? ध्यानस्य विनश्वरत्वात् इति ।

अथेदं शुद्धात्मतत्त्वं निर्विकारस्वसंवेदनप्रत्यक्षेण भावयन्नात्मा परमाक्षयसुखं प्राप्नोतीत्युपदिशति—

टीका:—(ववहारिओ पुण णओ दोण्णिवि लिंगाणि भणदि मोक्खपहे) व्यवहारिक नय मोक्षमार्ग में निर्ग्रन्थ दिगम्बर लिंग और उत्तम श्रावकका लिंग इन दोनों लिंगों को मोक्षमार्ग में उपयोगी मानता है क्योंकि वह निर्विकार स्वसंवेदन लक्षणवाले भावलिंग का बहिरंग सहकारी कारण है किन्तु (णिच्छयणओ दु णेच्छदि मुक्खपहे सव्वलिंगाणि) निश्चयनय तो स्वयं निर्विकल्प समाधिरूप है इसलिये निर्विकल्प समाधिरूप होने से वह—मैं निर्ग्रन्थ लिंगी हूँ अथवा कोपीन धारक हूँ—इस प्रकार के मन में पैदा होने वाले सभी द्रव्य लिंगों के विकल्प को सर्वथा नहीं चाहता जैसे कि वह रागादि विकल्प को नहीं चाहता ।।४३६।।

अब यहां आचार्य शिष्य को संबोधन कर कहते हैं कि हे शिष्य ! यहां पर "पाखंडी लिंगाणि य" इत्यादि सात गाथाओं के द्वारा जो द्रव्यलिंग का निषेध किया है उसे सर्वथा निषिद्ध ही मत मानलेना, किन्तु निश्चय रत्नत्रयात्मक निर्विकल्प समाधिरूप भावलिंग है उससे रहित होनेवाले यतियोंको संबोधन किया है कि हे तपोधन लोगों ! तुम अपने इस द्रव्य लिंग मात्र से ही संतोष मत कर बैठना किन्तु द्रव्य लिंग के आधार से निश्चय रत्नत्रयात्मक निर्विकल्प समाधिरूप भावना को प्राप्त करने की चेष्टा करना ।

इस पर शिष्य फिर कहता है कि यह आपका कहना है 'यहां द्रव्यलिंग का निषेध नहीं किया है' किन्तु यहां तो स्पष्ट रूप से "ण य होदि मोक्खमग्गो लिंगमित्यादि" लिखा हुआ है जिसका अर्थ होता है कि द्रव्यलिंग मोक्ष मार्ग नहीं है इत्यादि । आचार्य कहते हैं कि तुम कहते हो सो बात नहीं है किंतु "ण य होदि मोक्खमग्गो लिंगमित्यादि"इस वचनसे भावलिंग रहित द्रव्यलिंग का निषेध किया है न कि भावसहित द्रव्य लिंग का क्योंकि द्रव्यलिंग का आधार भूत जो देह है उसके ममत्व का यहां निषेध किया है न कि द्रव्य लिंग का । क्योंकि पहले जब दीक्षा ली गई उस समय सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग किया गया था तब वहां देहका त्याग नहीं किया गया, क्योंकि देहके आधार से ध्यान और अनुष्ठान होता है । और शेष परिग्रह के समान देह को पृथक् भी नहीं किया जा सकता, अतः फिर वीतराग रूप ध्यानके कालमें ही यह मेरा देह है मैं लिंगी हूं इत्यादि विकल्प व्यवहार के द्वारा भी नहीं करना योग्य है । इस कथन से देह का ममत्व छुडाया है यह कैसे जाना जाय ? इसका उत्तर यह है कि "जं देह णिम्ममा अरिहा दंसणणाण चरित्ताणि सेवंते" इत्यादि मूलग्रन्थकारका वचन, है इससे स्पष्ट जाना जाता है कि यहां देह का ममत्व छुडाया है और वह ठीक भी है। क्योंकि शाली तंदुल के ऊपर बाहर में जब तक तुष लगा रहे तब तक अंतरंग के तुसको नहीं छुड़ाया जा सकता । जहां अंतरंग तुसका त्याग होता है वहाँ उसके बहिरंग तुसका त्याग अवश्य होता हो है । इस न्यायसे जहां सर्वसंग अर्थात् परिग्रह के त्याग स्वरूप बहिरंग द्रव्यलिंग होता है वहां भाव लिंग होता भी है और नहीं भी होता कोई एक नियम नहीं है, किन्तु अन्तरंग भाव लिंग जहाँ होता है वहां सर्व परिग्रह त्यागरूप द्रव्यलिंग अवश्य होता ही है ऐसा नियम है ।

यहां पर शिष्य फिर प्रश्न करता है कि हे भगवन् ! जहां भावलिंग होता है वहां बहिरंग (सर्व-संग त्यागरूप) द्रव्य लिंग भी होता ही है ऐसा भी नियम नहीं है क्योंकि "साहारणासाहारणे" इत्यादि

आगम वचन मिलता है। आचार्य इसका परिहार करते हैं कि बात ऐसी है कि कोई तपस्वी ध्यान लगाये बैठा है वहां कोई दुष्ट आकर दुष्ट भाव से उस ध्यान में बैठे हुए तपस्वी के कपड़ा लपेट जाय या उसे कोई आभूषण आदि पहना दे तो भी वह तो निर्ग्रन्थ ही रहता है क्योंकि उसके बुद्धिपूर्वक ममत्व का अभाव है जिसके लिए पाण्डवादिक उदाहरण स्पष्ट है। तथा भरत चक्रवर्ती आदि भी दो घडी काल में ही मुक्त होगये हैं वे भी निर्ग्रन्थ रूप धारण करके ही मुक्त हुये हैं परन्तु उनके परिग्रह के त्यागरूप अवस्था का काल स्वल्प होने से साधारण लोग उनके परिग्रह के त्यागको नहीं जानते हैं ऐसा यहाँ आशय है।

इस प्रकार भाव लिंग से रहित केवल मात्र द्रव्यलिंग से मोक्ष नहीं होता किन्तु जो भावलिंग सहित हैं उनका वहां द्रव्य लिंग सहकारी कारण है (उसके बिना भाव लिंग नहीं होता) इस प्रकार के व्याख्यान की मुख्यता से यहां तेरहवें स्थल में सात गाथायें कही गईं ।।

यहां पर शिष्य फिर प्रश्न करता है कि केवलज्ञान तो शुद्ध होता है और छद्मस्थों का ज्ञान अशुद्ध, वह छद्मस्थों का ज्ञान शुद्धरूप केवलज्ञान का कारण नहीं हो सकता क्योंकि "सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धमेवप्पयं लहदि जीवो" इस प्रकार इसी समयसारमें वचन आया है अर्थात् शुद्धको जानने वाला ही आत्मा शुद्ध बनता है ऐसा इस समयसार में लिखा है।

इसका आचार्य महाराज समाधान करते हैं कि हे भाई! तुम जैसा कहते हो ऐसा नहीं है। अपितु छद्मस्थ का ज्ञान कथंचित् शुद्ध भी होता है तो कथंचित् अशुद्ध भी। केवलज्ञान की अपेक्षा तो छद्मस्थ का ज्ञान अशुद्ध ही होता है किन्तु मिथ्यात्व और रागादि से रहित हो जाने के कारण और वीतराग सम्यक्त्व और चारित्रसे सहित होने के कारण वह शुद्ध भी होता है। अभेदनय से वह छद्मस्थ सबंधित भेद विज्ञान आत्म स्वरूप ही होता है, इसलिये एक देश व्यक्तिरूप उस ज्ञान के द्वारा सकलदेश व्यक्तिरूप केवलज्ञान उत्पन्न हो जाता है इसमें कोई दोष नहीं है। इस पर भी यदि तुम्हारा ऐसा अभिप्राय हो कि छद्मस्थों का ज्ञान तो सावरण और क्षायोपशमिक होता है इसलिये वह शुद्ध नहीं होता। ऐसा आशय लेनेपर तो फिर मोक्ष ही नहीं हो सकता क्योंकि छद्मस्थों का ज्ञान एक देश निरावरण तो होता है किन्तु केवलज्ञान की अपेक्षा वह नियमपूर्वक आवरण सहित और क्षायोपशमिक ही होता है। इस पर यदि तुम ऐसा कहो कि परिणामिक भाव शुद्ध हैं उससे मोक्ष हो सकेगा। तो यह भी तुम्हारा कहना ठीक नहीं बैठता क्योंकि केवलज्ञान होने के पहले तो पारिणामिक भाव भी व्यक्ति रूप से नहीं किन्तु शक्तिरूप से ही शुद्ध होता है। देखो, पारिणामिक भाव जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व के भेद से तीन प्रकार का है। उसमें अभव्यत्व भाव तो मुक्ति का कारण नहीं हो सकता है। शेष दो जीवत्व और भव्यत्व, इन दोनों में शुद्धता तब होती है जबकि यह जीव दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय के उपशम, क्षय और क्षयोपशम को प्राप्त कर लेने से वीतराग सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र के रूप में परिणत होता है। वह शुद्धता वहां पर मुख्य रूप से औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक भाव संबंधी होती है। पारिणामिक भाव की तो वहां गौणता रहती है। दूसरी बात यह है कि शुद्ध पारिणामिक भाव तो बंध मोक्ष का कारण ही नहीं होता ऐसा श्री पंचास्तिकाय के निम्न श्लोक में कहा है—

मोक्षं कुर्वंति मिश्रौपशमिकक्षायिकाभिधाः।
बंधमौदयिको भावो निष्क्रियः पारिणामिकः ।।

अर्थात् जीव के भाव औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक, औदयिक और पारिणामिक के भेदसे पांच प्रकार के हैं। उसमें से औदयिक भाव तो बंध करने वाला है, और औपशमिक भाव, क्षायोपशमिक भाव और क्षायिक भाव मुक्ति देने वाले हैं। पारिणामिक भाव निष्क्रिय होता है।

अतएव यह बात निश्चित होती कि मोक्ष का कारण तो क्षायोपशमिक रूप भाव श्रुतज्ञान ही है जो कि वीतराग सम्यक्त्व और चारित्र के साथ में नियमसे होता है और जो निर्विकल्प रूप शुद्धात्मा की परिच्छित्तीरूप लक्षणवाला है। अतएव अभेदनय से वही शुद्धात्मा शब्द से कहा जाता है। ऐसा वह भाव श्रुतज्ञान जो कि क्षायोपशमिक होता है वही मोक्ष का कारण होता है शुद्ध पारिणामिक भाव कथंचित् भेदाभेदात्मक द्रव्य पर्याय स्वरूप जो जीव पदार्थ है उसकी एक देश अभिव्यक्ति वाला शुद्ध भावना रूप अवस्था में ध्येयरूप द्रव्यके रूपमें रहता है न कि ध्यान पर्याय के रूपमें क्योंकि ध्यान तो विनश्वर हुआ करता है।

अब इस शुद्ध आत्मतत्व को निर्विकार स्वसंवेदन प्रत्यक्ष के द्वारा भाता हुआ आत्मा परमोत्तम अक्षय सुख को प्राप्त हो जाता है ऐसा आगे की गाथामें कहते हैं या **श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव इस समयसार ग्रन्थ को समाप्त करते हुए इसका** जो फल होता है उसे बतलाते हैं—

जो समयपाहुडमिणं पडिहूणं अत्थतच्चदो णाउं।
अत्थे ठाही चेया सो पावदि उत्तमं सोक्खं ॥४३७॥

यः समयप्राभृतमिदं पठित्वा अर्थतत्वतो ज्ञात्वा।
अर्थे स्थास्यति चेतयिता स प्राप्नोत्युत्तमं सौख्यं ॥४३७॥

अर्थः—जो ज्ञानी जीव इस समयसार ग्रन्थ को पढ़कर अर्थ और तत्व से जानकर उसके अर्थ में ठहरेगा अर्थात् इस ग्रन्थ के कहे अनुसार अपना परिणमन करलेगा वह स्वयं उत्तम सुख को प्राप्त करलेगा ॥४३७॥

तात्पर्यवृत्तिः—श्री कुंदकुंदाचार्यदेवा समयसारग्रंथसमाप्तिं कुर्वंतः फलं दर्शयंति–तद्यथा–**जो समयपाहुडमिणं पठिदूणय** यः कर्ता समयप्राभृताख्यमिदं शास्त्रं पूर्वं पठित्वा न केवलं पठित्वा **अत्थ तच्चदो णादुं** ज्ञात्वा च कस्मात्? ग्रंथार्थतः न केवलं ग्रंथार्थतः? तत्त्वतो भावपूर्वेण **अत्थे ठाहिदि** पश्चादुपादेयरूपे शुद्धात्मलक्षणेऽर्थे निर्विकल्पसमाधौ स्थास्यति **चेदा सो पावदि उत्तमं सोक्खं** स चेतयितात्मा माविकाले प्राप्नोति लभते। किं लभते? वीतरागसहजापूर्वपरमाह्लादरूपं आत्मोपादानसिद्धं स्वयमतिशयवद्वीतबाधं विशालवृद्धिह्रासव्यपेतं विषयविरहितं निःप्रतिद्वंद्वभावं अन्यद्रव्यानपेक्षं निरुपमं, अमितं, शाश्वतं सर्वकालमुत्कृष्टानंतसारं परमसुखं सिद्धस्य जातमिति।

अत्राह शिष्यः—हे भगवन्! अतींद्रियसुखं निरंतरं व्याख्यातं भवद्भिस्तच्च जनैर्न ज्ञायते? भगवानाह कोऽपि देवदत्तः स्त्रीसेवनाप्रभृतिपंचेंद्रियविषयव्यापाररहितप्रस्तावे निर्व्याकुलचित्तः, तिष्ठति स केनापि पृष्टः भो देवदत्त! सुखेन तिष्ठसि त्वमिति? तेनोक्तं सुखमस्तीति तत्सुखमतींद्रियं कस्मात? इति चेत् सांसारिकसुखं पंचेंद्रियप्रभवं। यत्पुनरतींद्रियसुखं तत्पंचेंद्रियविषयव्यापाराभावेऽपि दृष्टं यत इदं तावत्सामान्येनातींद्रियसुखमुपलभ्यते। यत्पुनः पंचेंद्रियमनोभवसमस्तविकल्पजालरहितानां समाधिस्थपरमयोगिनां स्वसंवेदनगम्यमतीन्द्रियसुखं तद्विशेषेणेति। यच्च

मुक्तात्मनामतींद्रियसुखं तदनुमानगम्यमगम्यं च। तथाहि—मुक्तानामिंद्रियविषयव्यापाराभावेऽपि अतींद्रियसुखमस्तीति पक्षः। कस्मात्? इति चेत् इदानीं तेन विषयव्यापारातीतनिर्विकल्पसमाधिरतपरममुनींद्राणां स्वसंवेद्यात्मसुखोपलब्धिरिति हेतुः। एवं पक्षहेतुरूपेण द्व्यंगमनुमानं ज्ञातव्यं। आगमे तु प्रसिद्धमेवात्मोपादानसिद्धमित्यादि वचनेन। अतः कारणात् अतींद्रियसुखे संदेहो न कर्तव्य इति। उक्तं च—

यद्देवमनुजाः सर्वे सौख्यमक्षार्थसंभवं।
निर्विशंति निराबाधं सर्वाक्षप्रीणनक्षमं ॥१॥

सर्वेणातीतकालेन यच्च भुक्तं महर्द्धिकं।
भाविनो ये च भोक्ष्यंति स्वादिष्टं स्वांतरंजकं ॥२॥

अनंतगुणिनं तस्मादत्यक्ष स्वस्वभावजं।
एकस्मिन् समये भुक्तं तत्सुखं परमेश्वरः ॥३॥

एवं पूर्वोक्तप्रकारेण विष्णुकर्तृत्वनिराकरणमुख्यत्वेन गाथासप्तकं। तदनंतरमन्यः करोति अन्योभुंक्ते—इति बौद्धमतैकांतनिराकरणमुख्यत्वेन गाथाचतुष्टयं। ततः परमात्मा रागादिभावकर्म न करोति इति सांख्यमतनिराकरणरूपेण सूत्रपंचकं। ततः परं कर्मैव सुखादिकं करोति न चात्मेति पुनरपि सांख्यमतैकांतनिराकरणमुख्यत्वेन गाथात्रयोदश। तदनंतरं चित्तस्थरागस्य घातः कर्तव्य-इत्यजानन्बहिरंग शब्दादिविषयाणां घातं करोमीति योऽसौ चिंतयति तत्संबोधनार्थं गाथासप्तकं। तदनंतरं द्रव्यकर्म व्यवहारेण करोति भावकर्म निश्चयेन करोतीति मुख्यत्वेन गाथासप्तकं। ततः परं ज्ञानं ज्ञेयरूपेण न परिणमति इति कथनरूपेण सूत्रदशकं। तदनंतरं शुद्धात्मोपलब्धिरूपनिश्चयप्रतिक्रमणप्रत्याख्यानालोचनाचारित्र व्याख्यानमुख्यत्वेन सूत्रचतुष्टयं। तदनंतरं पंचेन्द्रियमनोविषयनिरोधकथनरूपेण सूत्रदशकं। तदनंतरं कर्मचेतनाकर्मफलचेतनाविनाशनिरूपण मुख्यत्वेन गाथात्रयं। ततः परं शास्त्रेंद्रियविषयादिकं ज्ञानं न भवतीति प्रतिपादन रूपेण गाथापंचदश। ततः परं शुद्धात्मा कर्मनोकर्माहारादिकं निश्चयेन न गृह्णाति इति व्याख्यानमुख्यत्वेन गाथात्रयं। तदनंतरं शुद्धात्मभावनारूपं भावलिंगनिरपेक्षं द्रव्यलिंगं मुक्तिकारणं न भवतीति प्रतिपादनमुख्यत्वेन गाथासप्तकं। तदनंतरं सुखरूपफलदर्शनमुख्यत्वेन सूत्रमेकं।

इति श्री **जयसेनाचार्यकृतायां** समयसारव्याख्यायां शुद्धात्मानुभूतिलक्षणायां तात्पर्यवृत्तौ समुदायेन षडधिकनवतिगाथाभिस्त्रयोदशाधिकारैः समयसार—

चूलिकामिदानीं सर्वविशुद्धज्ञाननामा दशमोऽधिकारः समाप्तः—

टीका:—(जो समयपाहुडमिणं पठिदूणय) श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव इस समयसार ग्रन्थ को समाप्त करते हुये इसका फल दर्शाते हैं कि कोई भी जीव इस समय प्राभृत नाम के ग्रन्थ को पढ़कर, केवल पढ़कर ही नहीं (अत्थ तच्चदो णादुं) अर्थ और तत्व से भी जानकर अर्थात् उसके भाव को भी समझकर (अत्थे ठाहिदि) पश्चात् शुद्धात्म लक्षण वाले उपादेय पदार्थ में अर्थात् निर्विकल्प समाधि में लग रहेगा (चेदा सो पावदि उत्तमं सोक्खं) वह आत्मा आगामीकाल में वीतरागरूप सहज अपूर्व परम आह्लाद रूप सुख को प्राप्त करेगा। वह सुख कैसा है:—

आत्मोपादानसिद्धं स्वयमतिशयवद्वीतबाधं विशालं,
वृद्धिह्रासव्यपेतं विषयविरहितं निःप्रतिद्वंद्वभावं।

अन्यद्रव्यानपेक्षं निरुपममभितं शाश्वतं सर्वकाल-
मुत्कृष्टांनतसारं परमसुखमतस्तस्य सिद्धस्य जातम् ।।

अर्थात्—(इस समयसार के पढ़ने और अपने जीवन में उतारने से) जो सिद्ध होता है उसको वह परमसुख होता है जिसका कि आत्मा ही उपादान है अर्थात् आत्मा से ही उत्पन्न होता है, अपने आप अतिशय सहित है, सभी प्रकार की बाधाओं से रहित है, विशाल है, अर्थात् उससे अच्छा सुख दूसरा कोई नहीं है, हानि और वृद्धि से रहित है, विषयों की वासना से रहित है, जिसमें दुःख का लेश भी नहीं है, जो अन्य द्रव्यों की अपेक्षा रखने वाला नहीं है, निरुपम है अर्थात् जिसकी तुलना करने वाला दूसरा सुख नहीं है, अमित है अर्थात् सीमातीत है, सर्वकाल रहने वाला है, उत्कृष्ट है और अनंतसार वाला है।

यहां शिष्य प्रश्न करता है कि हे प्रभो ! आपने अनेक बार अतीन्द्रिय सुख की बात कही है किंतु वह अतीन्द्रिय सुख कैसा है ऐसा लोग नहीं जानते ? भगवान आचार्यदेव उसका उत्तर देते हैं– देखो, कोई व्यक्ति स्त्री प्रसंग आदि पंचेन्द्रिय के विषय सुख व्यापार से रहित अवस्था में सभी प्रकार की आकुल व्याकुलता से दूर होकर बैठा हुआ है उसको किसी ने आकर पूंछा कि कहो भाई देवदत्त ! सुख से तो हो ? इस पर वह उत्तर देता है कि सुख से हूँ, तो यह सुख अतीन्द्रिय है क्योंकि सांसारिक सुख विषयों के सेवन से पैदा होता है और यहां पंचेन्द्रियों के विषय के व्यापार का अभाव होते हुये भी सुख दीख रहा है वह अतीन्द्रिय है। किन्तु यह जो सुख हो रहा है वह सामान्यात्मक साधारण सा अतीन्द्रिय सुख है। किंतु जो पांचो इन्द्रियों से और मन से होने वाले सभी प्रकार के विकल्प जालों से रहित ऐसे जो समाधिस्थ परम योगीराज को स्वसंवेदनात्मक अतीन्द्रिय सुख होता है वह विशेष रूप से होता है (अर्थात् इससे भी और अपूर्व विशेषता लिये हुये होता है)। जो मुक्तात्माओं को अतीन्द्रिय सुख है, वह हम तुम सरीखे लोगों के या तो अनुमान गम्य है या आगम गम्य है। देखो, मुक्तात्माओं को इन्द्रिय विषयों के व्यापार के न होने पर भी अतीन्द्रिय सुख होता है, यह पक्ष हुआ। क्योंकि वर्तमान में होने वाला विषय व्यापार से रहित निर्विकल्प समाधि में रत होकर रहने वाले परम मुनीश्वरों को स्वसंवेद्यात्मक सुख की उपलब्धि होती है, यह हेतु हुआ। यह पक्ष और हेतु रूप दो अंगवाला अनुमान हुआ ऐसा जानना चाहिये। आगम में तो जैसा ऊपर "आत्मोपादान सिद्ध" इत्यादि वचन से ऊपर कह आये हैं वह वचन अतीन्द्रिय सुखका वर्णन करने वाला प्रसिद्ध ही है। इसलिये अतीन्द्रिय सुख के विषय में संदेह नहीं करना चाहिये—यही बात और स्थान भी कही है—

यद्देव मनुजाः सर्वे सौख्यमक्षार्थ संभवं, निर्विशंति निराबाधं सर्वाक्षप्रीणनक्षमं ।।१।।
सर्वेणातीतकालेन यच्च भुक्तं महर्द्धिकं, भाविनो ये च भोक्ष्यंति स्वादिष्टं स्वांतरंजकं।।२।।
अनंतगुणितं तस्मादत्यक्षं स्वस्वभावजं, एकस्मिन समये भुंक्ते तत्सुखं परमेश्वरः।।३।।

अर्थात्—वर्तमान् मेंजो पुण्याधिकारी देव और मनुष्य हैं वे सब निरंगल रूप से अपने सभी इन्द्रियों को प्रसन्न करने वाला इन्द्रिय जन्य और ऋद्धि आदि से प्राप्त हुए सुख भोग रहे हैं। और जो सुख पहले भूतकाल में पुण्याधिकारी देव और मनुष्यों ने महर्द्धिक सुख भोगा है तथा आगे होने वाले पुण्याधिकारी देव और मनुष्य इन्द्रियजन्य स्वादिष्ट और मनोरंजक सुखको भोगेगें उस समस्त सुख से भी अनन्तगुणा सुख अतीन्द्रिय जन्य अपने स्वभाव से उत्पन्न होने वाला सुख परमेश्वर सिद्ध भगवान को एक समय में होता है।

जैसा कि पूर्व में वर्णन कर आये हैं सात गाथाओं में विष्णु के कर्तापन का निराकरण किया है, उसके बाद चार गाथाओं में बौद्धोंकी इस मान्यता का निराकरण है कि कर्त्ता कोई दूसरा ही है और भोक्ता कोई दूसरा ही है। उसके आगे पांच गाथाएं आई हैं जिनमें परमात्मा रागादि भावों का कर्त्ता नहीं है इस प्रकार की सांख्यमतवालों की जो मान्यता है उसका निराकरण है। उसके आगे तेरह गाथाएं ऐसी हैं जिनमें इन्हीं सांख्यमतवालों की "कर्म ही सुखादि करता है आत्मा कुछ नहीं करता" इस मान्यता का निराकरण है। इसके पश्चात् सात गाथाएं ऐसी हैं जिनमें जो पुरुष, चित्त में होने वाले रागभाव का घात करना चाहिये, इस बात को नहीं जानकर बहिरंग शब्दादि विषयों का ही घात करने के लिए सोचता रहता है, उसको समझाया है। इसके बाद सात गाथाएं है, जिनमें यह बताया गया है कि आत्मा व्यवहार से द्रव्य कर्म का कर्त्ता है और निश्चय नय से भाव कर्म का कर्त्ता है। उसके भी आगे दस सूत्र ऐसे हैं, जिनमे बताया गया है कि ज्ञान गुण ज्ञेय रूप से परिणमन नहीं करता। उसके बाद चार गाथाओं में शुद्धात्मा की उपलब्धि रूप निश्चय प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचना रूप चारित्र का व्याख्यान किया गया है। उसके बाद दस सूत्र हैं, जिनमें पांचो इन्द्रियां और मनके विषयों के निरोध का कथन है। उसके बाद तीन गाथायें हैं, जिनमें यह बताया गया है कि कर्म चेतना और कर्मफल चेतना का नाश करना चाहिये। इसके पश्चात् पन्दरह गाथाएं आई हैं, जिनमें बताया गया है कि शास्त्र और इन्द्रियों के विषय शब्दादिक ये सब ज्ञान नहीं, ज्ञान इन सबसे भिन्न वस्तु है। इसके बाद तीन गाथाऐं हैं, जिनमें बताया गया है कि शुद्धात्मा निश्चय से कर्म और नोकर्म आदि आहार को ग्रहण नहीं करता। इसके बाद सात गाथाएं हैं, जिनमें मुख्यता से यह बताया गया है कि शुद्धात्मा की भावना रूप जो भावलिंग है उस भावलिंग से शून्य जो द्रव्यलिंग है, वह मुक्ति का कारण नहीं होता, और इन सबके अन्त मे एक गाथा है, जिसमें मुख्यता से यह बतलाया गया है कि इस ग्रन्थ के पढ़ने का फल सुख प्राप्ति है

इस प्रकार इस समयसार ग्रन्थ की **श्री जयसेनाचार्य कृत** शुद्धात्मानुभूति लक्षण वाली तात्पर्य नाम की व्याख्या के हिन्दी अनुवाद में सब मिलाकर छिनवे (९६) गाथाओं के द्वारा तेरह अन्तर अधिकारों में यह समय सार चूलिका है दूसरा नाम जिसका, ऐसा **सर्वविशुद्धिज्ञान** नामका दसवां अधिकार समाप्त हुआ।

अथ स्याद्वादाधिकार

तात्पर्यवृत्तिः—

अत्र स्याद्वादसिद्धयर्थं वस्तुतत्त्वव्यवस्थितिः।
उपायोपेयभावश्च मनाग्भूयोऽपि चिन्त्यते ॥

चिन्त्यते विचार्यते कथ्यते मनाक् संक्षेपेण भूयः पुनरपि काऽसौ ? वस्तुतत्त्वव्यवस्थितिः ? वस्तुतत्त्वस्य वस्तुतत्त्वस्वरूपस्य व्यवस्थितिर्व्याख्या। किमर्थं ? स्याद्वादशुद्धयर्थं स्याद्वादनिश्चयार्थं। अत्र समयसार व्याख्याने समाप्तिप्रस्तावेन केवलं वस्तुतत्त्वव्यवस्थितिश्चिन्त्यते। उपायोपेयभावश्च। उपायो मोक्षमार्गः उपेयो मोक्ष इति।

अतः परं स्याद्वादशब्दार्थः कः ?—इति प्रश्ने सत्याचार्या उत्तरमाहुः—**स्यात्कथंचित् विवक्षितप्रकारेणाने-कांतरूपेण वदनं वादो जल्पः कथनं प्रतिपादनमिति स्याद्वादः** सच स्याद्वादो भगवतोऽर्हतः शासनमित्यर्थः। तच्च भगवतः शासनं किं करोति ? सर्वं वस्तु, अनेकांतात्मकमित्यनुशास्ति। अनेकांत इति कोऽर्थः ? इति चेत् एकवस्तुनि वस्तुत्वनिष्पादकं—अस्तित्वनास्तित्वद्वयादिस्वरूपं परस्परविरुद्धसापेक्षशक्तिद्वयं यत्तस्य प्रतिपादने स्यादनेकांतो भण्यते। सचानेकांतो किं करोति ? ज्ञानमात्रो योऽसौ भावो जीवपदार्थः शुद्धात्मा स तदतद्रूप एकानेकात्मकः सदसदात्मको नित्यानित्यादि स्वभावात्मको भवतीति कथयति। तथाहि ज्ञानरूपेण तद्रूपो भवति। ज्ञेयरूपेणातद्रूपो भवति। द्रव्यार्थिकनयेनैकः। पर्यायार्थिकनयेनानेकः। स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावचतुष्टयेन सद्रूपः। परद्रव्यक्षेत्रकालभावचतुष्टयेनासद्रूपः। द्रव्यार्थिकनयेन नित्यः। पर्यायार्थिकनयेनाऽनित्यः। पर्यायार्थिकनयेन भेदात्मकः द्रव्यार्थिकनयेनाभेदात्मको भवतीत्याद्यनेक-धर्मात्मक इति।

तदेव स्याद्वादस्वरूपं तु समंतभद्राचार्यदेवैरपि भणितमास्ते—

सदेकनित्यवक्तव्यास्तद्विपक्षाश्च ये नयाः।
सर्वथेति प्रदुष्यंति पुष्यंति स्यादितीह ते ॥१॥

सर्वथानियमत्यागी यथादृष्टमपेक्षकः।
स्याच्छब्दस्तावके न्याये नान्येषामात्मविद्विषां ॥ २ ॥

अनेकांतोप्यनेकान्तः प्रमाणनयसाधनः।
अनेकांतः प्रमाणात्ते तदेकांतोऽर्पितान्नयात् ॥३॥

धर्मिणोऽनंतरूपत्वं धर्माणां न कथंचन।
अनेकांतोप्यनेकांत इति जैनमतं ततः ॥४॥

एवं कथंचिच्छब्देन वाचकस्यानेकांतात्मकवस्तुप्रतिपादकस्य स्याच्छब्दस्यार्थः संक्षेपेण ज्ञातव्यः। तत्रैवमनेकांत-व्याख्यानेन ज्ञानमात्रभावो जीवपदार्थः एकानेकात्मको जातः। तस्मिन्नेकानेकात्मके जाते सति ज्ञानमात्रभावस्य जीव-पदार्थस्य नयविभागेन भेदाभेदरत्नत्रयात्मकं निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गद्वयरूपेणोपायभूतं साधकरूपं घटते। मोक्षरूपेण पुनरुपेयभूतं साध्यरूपं च घटत इति ज्ञातव्यं। अथ प्राभृताध्यात्मशब्दयोरर्थः कथ्यते। तद्यथा—यथा कोऽपि देवदत्तो राजदर्शनार्थं किंचित्सारभूतं वस्तु राज्ञे ददाति तत्प्राभृतं भण्यते। तथा परमात्माराधकपुरुषस्य निर्दोषिपरमात्मराजदर्श-नार्थमिदमपि शास्त्रं प्राभृतं। कस्मात् ? सारभूतत्वात् इति प्राभृतशब्दस्यार्थः। रागादिपरद्रव्यनिरालंबनत्वेन निजशुद्धा-त्मनिविशुद्धाधारभूतेऽनुष्ठानमध्यात्मं। इदं प्राभृतशास्त्रं ज्ञात्वा किं कर्तव्यं ? सहजशुद्धज्ञानानंदैकस्वभावोऽहं निर्विकल्पो-ऽहं, उदासीनोऽहं निजनिरंजनशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपनिश्चयरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिसंजातवीतराग-सहजानंदरूपसुखानुभूतिमात्रलक्षणेन स्वसंवेदनेन संवेद्यो गम्यः प्राप्यो भरितावस्थोऽहं। राग-द्वेष-मोह, क्रोध-मान-माया-लोभ-पंचेंद्रियविषयव्यापार-मनोवचनकायव्यापार-भावकर्म-द्रव्यकर्म-नोकर्म-ख्याति-पूजा-लाभ- दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षा-रूपनिदानमाया-मिथ्याशल्यत्रयादिसर्वविभावपरिणामरहितःशून्योऽहं। जगत्त्रयेऽपि कालत्रयेऽपि मनोवचनकायैः कृतका-रितानुमतैश्च शुद्धनिश्चयेन तथा सर्वजीवाः। इति निरन्तरं भावना कर्तव्या। **इति स्याद्वादोऽधिकारः।**

अत्र ग्रंथे प्रचुरेण पदानां संधिर्न कृता वाक्यानि च भिन्नाभिन्नानि कृतानि सुखबोधार्थं। तेन कारणेन लिंग वचन-क्रिया-कारक-संधि-समास विशेष्य-विशेषण वाक्यसमाप्त्यादिकं दूषणं न ग्राह्यं विवेकेभिः। शुद्धात्मादितत्त्वप्रति-पादनविषये यदज्ञानात् किंचिद्विस्मृतं तदपि क्षमितव्यमिति।

जय उरसि पउमणंदी जेण महातच्च पाहुडस्सेलो ।
बुद्धिसिरेणुद्धरिग्रो समप्पिग्रो भव्वलोयस्स ।। १ ।।
जं सेलीणा जीवा तरंति संसार सायरमणंतं ।
तं सव्वजीवसरणं णंदउ जिण सासणं सुइरं ।। २ ।।

यश्चाभ्यस्यति संश्रृणोति पठति प्रख्यापयत्यादरात् ।
तात्पर्याख्यमिदं स्वरूपरसिकैः संवर्णितं प्राभृतं ।
शश्वद्रूपमलं विचित्रसकलं ज्ञानात्मकं केवलं ।
संप्राप्याग्रपदेऽपि मुक्तिललनारक्तः सदा वर्तते ।।

इति श्रीकुंदकुंददेवाचार्यविरचितसमयसारप्राभृताभिधानग्रंथस्यसंबंधिनी श्री जयसेनाचार्य कृता दशाधिकारैरेकोनचत्वारिंशदधिकगाथा शतचतुष्टयेन तात्पर्यवृत्तिः समाप्ता ।।

।। इति सतात्पर्यवृत्तिसमयसारप्राभृतं समाप्तं ।।

टीका:—अब थोड़ा फिर भी इस बात का विचार किया जाता है कि वस्तु तत्त्व की व्यवस्थिती (व्याख्या) किस प्रकार की है ? यह विचार भी स्याद्वाद की सिद्धि के लिए अर्थात् उसके निर्णय के लिए किया जा रहा है। यहां इस समयसार के व्याख्यान में समाप्ति के अवसर पर केवल वस्तुतत्व की व्यवस्था का ही विचार नहीं किया जा रहा है किन्तु इसके साथ में उपाय उपेय भाव का भी विचार किया जा रहा है। यहां उपेय तो मोक्ष है और उपाय उस मोक्ष का मार्ग है। अब यहां प्रश्न होता है कि स्याद्वाद शब्द का क्या अर्थ है ? आचार्य इसका उत्तर देते हैं—कि 'स्यात्' अर्थात् कथंचित् विवक्षित प्रकार से (अपनी विवक्षा को लिए हुए) अनेकांत रूप से बोलना (कथन करना) सो स्याद्वाद है। यह स्याद्वाद भगवान अरहंत देवका शासन है। यह भगवान का शासन सम्पूर्ण वस्तुओं को अनेकान्तात्मक बतलाता है। अब अनेकान्त का क्या अर्थ है ? सो स्पष्ट बतलाते हैं— एक ही वस्तु में वस्तुत्व को निष्पन्न करने वाली अस्तित्व नास्तित्व सरीखी दो परस्पर विरुद्ध सापेक्ष शक्तियों का जो प्रतिपादन किया जाता है उसका नाम अनेकान्त है। वह अनेकान्त यह बताता है कि "ज्ञानमात्र जो भाव है अर्थात् जीव पदार्थ है शुद्धात्मा है वह तद्रूप या अतद्रूप या एकानेकात्मक अथवा सदसदात्मक किंवा नित्यानित्यादि स्वभावात्मक है।" इसका स्पष्टीकरण यह है कि आत्मा ज्ञानरूप से तद्रूप है, तो ज्ञेयरूप से वही अतद्रूप भी है। द्रव्यार्थिकनय से एक है तो पर्यायार्थिक नय से वही अनेक भी है। अपने द्रव्य क्षेत्र काल भावरूप चतुष्टय के द्वारा जो सद्रूप है वही पर द्रव्य क्षेत्र काल भावरूप चतुष्टय के द्वारा असद्रूप भी है। द्रव्यार्थिक नय से नित्य है तो पर्यायार्थिक नय से अनित्य भी है। पर्यायार्थिक नय के द्वारा भेदात्मक है तो द्रव्यार्थिक नय के द्वारा वही अभेदात्मक भी है इत्यादि अनेक धर्मवाला आत्मा है। श्री संमतभद्राचार्य ने भी स्याद्वाद का स्वरूप ऐसा ही बतलाया है:—

सदेकनित्यवक्तव्यास्तद्विपक्षाश्च ये नयाः ।
सर्वथेति प्रदुष्यंति पुष्यंति स्यादितीह ते ।।१।।

सत् - असत्, नित्य - अनित्य, एक - अनेक, और वक्तव्य - अवक्तव्य ये परस्पय विरुद्ध आठ नयों के चार जोड़े हैं। इनको यदि सर्वथा एकान्त दृष्टि से मानें तो ये एक दूसरे के विरुद्ध हो जाते हैं किन्तु

यदि स्यात् अर्थात् कथंचित् रूप से इन्हें स्वीकार करने पर ये एक दूसरे के पोषक बने रहते हैं।

सर्वथा नियमत्यागी यथा दृष्टमपेक्षकः।
स्याच्छब्दस्तावके न्याये नान्येषामात्मविद्विषाम् ॥२॥

हे भगवन्! 'स्यात्' शब्द आपके ही न्याय में है जो कि सर्वथा एकान्त का त्यागी है, जैसा प्रत्यक्ष देखने में आता है। एकानेकात्मक तत्व उस तत्व को लेकर चलने वाला है सो यह 'स्यात्' शब्द अपने आपका भी बिगाड़ करने वाले ऐसे अन्य लोगों के यहां नहीं है।

अनेकांतोप्यनेकांतः प्रमाणनयसाधनः।
अनेकांतः प्रमाणात्ते तदेकांतोऽर्पितान्नयात् ॥३॥

हे भगवन्! यद्यपि आपका मत अनेकांतात्मक है तो भी वह अनेकांत भी एकांत से नहीं है, किन्तु वहां भी कथंचित् एकांत और कथंचित् अनेकांत है जोकि प्रमाण और नय के द्वारा सिद्ध कर लिया जाता है अर्थात् आपके यहां प्रमाण के द्वारा तो प्रत्येक वस्तु अनेकान्त रूप है किन्तु अपेक्षित नय के द्वारा देखी गई जो वस्तु नित्य है वह उस नय से नित्य ही है और अनित्य है सो अनित्य ही है।

धर्मिणोऽनंतरूपत्वं धर्माणां न कथंचन।
अनेकांतोप्यनेकांत इति जैनमतं ततः ॥

जैसे कि धर्मी में अनन्तरूपता है किन्तु प्रत्येक धर्म पृथक् पृथक् एक एक है। इसीलिये अनेकांत में भी अनेकांतपना है यह जैनमत कहता है।

इस प्रकार कथंचित् शब्द का वाचक व अनेकान्तात्मक वस्तुका प्रतिपादन करने वाले 'स्यात्' शब्द का अर्थ संक्षेप से कहा गया समझ लेना चाहिये। इस प्रकार अनेकांत के व्याख्यान से ज्ञानमात्र स्वभाववाला जीव पदार्थ भी अनेकान्तात्मक सिद्ध हुआ। उसके एकानेकात्मक रूप सिद्ध हो जाने पर ज्ञानमात्र स्वभाव वाले उस जीव पदार्थ का नयों के विभागद्वारा निश्चय और व्यवहार मोक्षमार्ग के भेद से जो दो प्रकार वाला है, जो भेदाभेद रत्नत्रयात्मक है, ऐसा उपायभूत साधकरूप घटित हो जाता है और मोक्षरूप से उपेयभूत साध्यरूप भी घटित हो जाता है ऐसा समझना चाहिए। अब इसके आगे प्राभृत शब्द का और अध्यात्म शब्द का अर्थ कहा जाता है, वह ऐसे है—जैसे कोई देवदत्त नाम का मनुष्य राजा को देखने के लिये जब जाता है तो उस राजा को भली वस्तु देता है, उसी को प्राभृत कहा जाता है वैसे ही परमात्मा का आराधक जो पुरुष है उसके पास निर्दोष परमात्मा के दर्शन करने के लिये यह शास्त्र प्राभृत है क्योंकि यह सारभूत है। इस प्रकार यह प्राभृत शब्द का अर्थ है। रागादि परद्रव्यों के आलंबन से रहित जिसका आधार भी विशुद्ध है ऐसे अपने शुद्धात्मा में स्थित हो जाना सो अध्यात्म शब्द का अर्थ है।

अब इस प्राभृत शास्त्र को जानकर क्या करना चाहिए? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्य महाराज कहते हैं कि इस प्रकार की भावना करनी चाहिये कि "मै तो शहज शुद्ध एक ज्ञानानन्द स्वभावमय हूँ, निर्विकल्प हूँ, अर्थात् किसी प्रकार के रागद्वेष से अथवा आर्त्तरौद्रभाव से रहित हूं, उदासीन हूँ अर्थात्

दूसरे द्रव्यों से अब मेरा कोई संबंध नहीं है, अपनी निरंजन जो शुद्धात्मा उसी के समीचीन श्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठान (आचरण) रूप जो निश्चय रत्नत्रयात्मक निर्विकल्प समाधि उससे उत्पन्न हुआ जो वीतराग सहजानन्द रूप सुख उसका अनुभव करना ही है लक्षण जिसका ऐसे स्वसंवेदन ज्ञान के द्वारा मैं संवेद्य हूँ, गम्य हूँ, प्राप्य हूँ, अर्थात् उसी अनुभव से भरा पूरा हूं। रागद्वेष मोह क्रोध मान माया लोभ और पंचेन्द्रियों के विषयों का व्यापार तथा मन वचन काय का व्यापार और भाव कर्म द्रव्यकर्म नोकर्म एवं ख्याति पूजा लाभ तथा देखे हुये, सुने हुये, और अनुभव में लाये हुये ऐसे भोगों की आकांक्षा रूप निदान तथा माया मिथ्या शल्य आदि और भी जो विभाव परिणाम है इन सबसे मैं रहित हूँ। मैं तो शुद्ध निश्चयनय के द्वारा तीनों लोकों में और तीनों कालों में मन वचन काय के द्वारा और कृत कारित और अनुमोदना के द्वारा पूर्वोक्त विभाव परिणामों से सर्वथा शून्य हूं वैसे ही निश्चयनय से और भी सब जीव हैं। यह स्याद्वाद अधिकार समाप्त हुआ।

यहाँ इस ग्रन्थमें लोगों को सरलता से ज्ञान प्राप्त हो जाय इसलिये प्रायः पदोंकी सन्धि नहीं की गई है और वाक्य भी भिन्न भिन्न रक्खे गये हैं, इसलिए विवेकियों को यहां पर लिंग वचन क्रिया कारक सन्धि समास विशेष्य विशेषण और वाक्य परिसमाप्ति आदि विषय की कहीं कमी दीख पड़े तो ध्यान नहीं देना चाहिये, तथा शुद्ध आत्मादि तत्वों के प्रतिपादन के विषय में अज्ञान के कारण से कहीं कोई भूल रह गई हो तो क्षमा कर देने योग्य है।

(अब टीकाकर अन्तिम मंगलाचरण करते हैं) जिन महर्षि पद्मनन्दी ने अपनी बुद्धिरूपी सिर से महातत्व पाहुड अर्थात् समयसार पाहुड रूप पर्वत को उठाकर भव्य जीवों के लिये अर्पण कर दिया वे पद्मनन्दी महर्षि जयवंत रहो ॥१॥ जिसका आश्रय लेकर भव्य लोग अनंत संसार सागर को पार कर जाते हैं, वह सब जीवों के लिये शरणभूत हो रहने वाला जिन शासन चिरकाल तक जयवन्त रहे ॥२॥ (यहां वृत्तिकार आशीर्वाद सूचक मंगलाचरण करते हैं) आत्म रस के रसिकों के द्वारा वर्णन किया हुआ यह तात्पर्य नाम का प्राभृत शास्त्र है इसको जो कोई आदरपूर्वक सुनेगा, पढ़ेगा, अभ्यास करेगा और इसे फैलावेगा वह जीव सदा रहने वाला अद्भुत सकल ज्ञानस्वरूप समर्थ केवलज्ञान को प्राप्त करके उसके आगे सदा के लिये मुक्तिरूपी स्त्री में आसक्त हो रहेगा।

इस प्रकार **श्री कुन्दकुन्दाचार्य के द्वारा** रचे गये समयसार प्राभृत नाम के ग्रन्थ की **श्री जयसेनाचार्य के द्वारा** बनाई हुई चारसो उनतालीस गाथाओं द्वारा दश अधिकार वाली इस तात्पर्यवृत्ति टीका का हिन्दी अर्थ **श्री १०८ श्री आचार्य ज्ञानमूर्त्ति चारित्रभूषण ज्ञानसागरजी महाराज** द्वारा समाप्त हुआ।

आचार्य श्री की ओर से लाघव प्रदर्शन

अक्षरमात्रापदस्वरहीनम् यदिहोदितमस्त्यपराचीनम्।
क्षन्तव्यं साधुभिरक्षुद्रै को न विमुह्यति शास्त्रसमुद्रे ॥१॥

卐 समाप्तम् 卐

टीकाकार श्री जयसेनाचार्य की प्रशस्ति

अज्ञान तमसा लिप्तो मार्गो रत्नत्रयात्मकः ।
तत्प्रकाश समर्थाय नमोस्तु कुमुदेन्दवे ॥१॥
सूरिः श्री वीरसेनाख्यो मूलसंघेपि सत्तपाः ।
नैर्ग्रन्थ्यं पदवीं भेजे जातरूपधरोपि यः ॥२॥
ततः श्री सोमसेनोऽभूद्गणी गुणगणाश्रयः ।
तद्विनेयोस्ति यस्तस्मै जयसेनतपोभृते ॥३॥
शीघ्रं बभूव मालु साधुः सदा धर्मरतो वदान्यः ।
सूनुस्ततः साधुमहीपतिर्यस्तस्मादयं चारुभटस्तनूजः ॥४॥
यः संततं सर्वविदः सपर्यामार्यक्रमाराधनया करोति ।
स श्रेयसे प्राभृतनामग्रन्थ पुष्टात् पितुर्भक्तिविलोपभीरुः ॥५॥
श्रीमन्त्रिभुवनचंद्रं निजमतवाराशितायना चन्द्रम् ।
प्रणमामि कामनामप्रबलमहापर्वतैकशतधराम् ॥६॥
जगत्समस्तसंसारिजीवाकारण बन्धवे ।
सिंधवे गुणरत्नानां नमस्त्रिभुवनेन्दवे ॥७॥
त्रिभुवनचंद्रं चंद्रं नौमि महासंयमोत्तमं शिरसा ।
यस्योदयेन जगतां स्वान्ततमोराशिकृन्तनं कुरुते ॥८॥

अर्थ—अज्ञान रूपीअन्धकार से यह रत्नत्रयमय मोक्षमार्ग लिप्त हो रहा है उसके प्रकाश करने को समर्थ श्री कुमुदचन्द या पद्मचन्द्र मुनि को नमस्कार हो। इस मूलसंघ में परम तपस्वी निर्ग्रन्थ पदधारी नग्न मुद्रा से सुशोभित श्री वीरसेन नाम के आचार्य हो गये हैं। उनके शिष्य अनेक गुणों के धारी आचार्य श्री सोमसेन हुए। उनका शिष्य यह जयसेन तपस्वी हुआ। सदा धर्म में रत प्रसिद्ध मालु साधु नाम के हुए हैं उनका पुत्र साधु महीपति हुआ है। उनसे चारुभट नाम का पुत्र उपजा है, उसे सर्व ज्ञान प्राप्त कर सदा आचार्यों के चरणों की आराधना पूर्वक सेवा करता है। उस चारुभट अर्थात् जससेनाचार्य ने जो अपने पिता की भक्ति की विलोप करने से भयभीत था इस प्राभृत नाम ग्रन्थ की टीका की है। मैं श्रीमान त्रिभुवनचन्द्र को नमस्कार करता हूं, जो जगत के सब संसारी जीवों के निष्कारण बन्धु हैं और गुणरूपी रत्नों के समुद्र हैं। फिर मै महा संयम के पालने में श्रेष्ठ चन्द्रमातुल्य श्री त्रिभुवनचन्द्र को नमस्कार करता हूं जिसके उदय से जगत के प्राणियों के अन्तरंग का अन्धकार समूह नष्ट हो जाता है।

नोट—यह श्री जयसेनाचार्य की प्रशस्ति प्रवचनसार में छपी है वहां से ली गई है।

।। समयसार आकारदि क्रमेण गाथा सूची ।।

॥ संस्कृत टीका में उद्धृत पद्य ॥

। इति ।

।। भाषा टीका में उद्धृत पद्य ।।

।। विशेष शब्द अणुक्रमिका ।।

।। समयसार शुद्धि पत्र ।।

पृ० संख्या	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२	२६	संबंधामिधेय	संबंधाभिधेय
३	४	रहित हैं।	रहित अचल हैं।
३	१७	रूप जो	अथवा
६	६	पूर्वमनंशो	पूर्वमनंतशो
६	१०	स्वसंवेदद्य	स्वसंवेद्य
७	२४	प्रमत:	प्रमत्तश्च
१२	३	गतं। अथ	गतं ॥१२॥ अथ
१२	४	॥ १२ ॥	×
१५	१६	अभेद	भेद
१३२	१४	बनाते हैं	बताते हैं
	२	द्वादशांगवम	द्वादशांगवगम
१६६	८	अहम्मं	अधम्मं
२१५	१२	सम्यग्दृइष्टे	सम्यग्दृष्टे
२४६	१४-१५	में पहुचकर व्यवहार	×
२७०	२८	वव्ये	वक्ष्ये
२७१	७	विभावरिणाम	विभावपरिणाम
२७२	१४	अर्थ–	×
२८०	२६	तत्म	तत्त्व
२८१	१	मायेन	भावेन
२८५	२	के उदय	×
२८५	६	तथैवा वेदकमपि	तथैवावेदकमपि
२८८	३१	सुख्यो	मुख्यो
३१३	२८	रागादि की निमित्त रूप से	चेतन रूप रागादि की उत्पत्ति में निश्चय से
३२१	२२	दिक्तन्मयो	दिकं तन्मयो
३६०	२६	शुद्धयर्थं	सिद्धयर्थं
३६२	३३	परस्पय	परस्पर

॥ श्री ॥

हिसाब १ श्री समयसार जी ग्रन्थ प्रकाशन का

गत मिति आषाढ़ शुक्ला ५ विक्रम सं. २२५ को **बाल ब्रह्मचारी श्री विद्यासागरजी के मुनिदीक्षा समारोह** के मंगल प्रसंग पर निकाली गई शोभा यात्राओं में समाज द्वारा व्यक्तिगत एवम हस्तेवार प्राप्त धन राशि का विवरण

२७४३)८०	श्री १०८ श्री विद्यासागर जी महाराज की मुनि दीक्षा पर भेंट द्वारा प्राप्त
१०८१)	शोभायात्रा में श्री हुकमीचंदजी नेमीचंदजी दोसी के मारफत
५२०) ७५	शोभायात्रा में ,, जैसवाल जैनसमाज केसरगंज अजमेर के मारफत
३०३)	शोभायात्रा में मेसर्स नेमीचंद शान्तिलालजी बड़जात्या के मारफत
१६४)	शोभायात्रा में श्री पुसालाल जी गदिया बीर वाला के मारफत
१५०)	,, में श्री निहालचंदजी कैलासचंदजी लुहाडिया के मारफत
११३)	शोभायात्रा में श्री राजमल जी चूडिवाल के मारफत
१०१)	,, में श्री हुकमीचंदजी लुहाडिया पुरानीमंडी अजमेर के मारफत
१०१)	,, में श्री छीतरमल दोसी
१०१)	,, में श्री गुप्त भेंट
१०६)५	,, में खेरीज में आया
२७४३)८०	

समयसार ग्रन्थ प्रकाशन हेतु प्राप्त भेंट निम्नलिखित महानुभावों द्वारा

५००) श्री हुकमीचंदजी लुहाडिया

२५१) श्री दीनानाथ जी जैन बल्युकेसल

२४५) श्री मथुरालालजी हीराचंद जी बज

२३६) श्री सुमतचन्दजी ज्ञानचंद जी जैन केसरगंज

२३५) श्री नेमीचंदजी जैन बाम्बे टेन्ट हाउस अजमेर

२२१) श्री मलप्पा जी महावीर जी अष्टगे मु. सदलगा

२०२) श्री चीरंजीलाल जी सोनी

२०१) श्री रामस्वरूप जी जैन बल्युकेसल

१७८) श्री कपूरचंद जी जैन जैनब्रादर्स पुरानीमंडी अजमेर

१६६) श्री नत्थीलालजी कपूरचंदजी जैन

११४) श्री भंवरलालजी पारसमल जी गदिया बीरवाले
११२) श्री मूलचन्दजी मोतीलालजी पाटनी मारोठ वाले
१११) श्री मंगलचन्दजी करमचन्दजी जैन
१०८) श्री माधूलालजी लादूलालजी गदिया बीर वाले
१०७) श्री रीखबदासजी नेमीचन्दजी बड़जात्या
१०४) श्री रामप्रसादजी (चरणदेवी) केसरगंज
१०४) श्री भोगीरामजी कैलाशचंदजी केसरगंज
१०२) श्री यतिजी जैन केसरगंज
१०१) श्री सौभाग्यवती कनकलता धर्म पत्नि नथमलजी दोसी
१०१) श्री गोरुलालजी रतनलालजी गदिया
१०१) श्री माणकचन्दजी सोगाणी वकील
१०१) श्री छीतरमलजी नोरतमलजी दोसी
१०१) श्री फूलचन्दजी सुमेरमलजी पहाड़िया तनसुखीया
१०१) श्री बीसम्बरदयालजी राजेन्द्रकुमारजी जैन हाथी भाटा
१००) श्री ताराचन्दजी लुहाड़िया
१०१) श्री गोरीलालजी छाबड़ा राणोली -
१०१) श्री गंभीरमलजी सेठी नसीराबाद
१०१) श्री गुप्त नाम से हस्ते श्री महेन्द्र कुमारजी बोहरा
१०१) श्री ताराचन्दजी महेन्द्रकुमारजी गंगवाल अजमेर निवासी
९७) श्री छगनलालजी मदनलालजी गोधा
८१) श्री जैन समाज जाटियाबास मदार गेट अजमेर
७२) श्री नत्थीलालजी जैन टीकमगंज (प्रेस वाले)
७२) श्री कन्हैयालालजी जैन न्यूहार्डवेयर केसरगंज अजमेर
६१) श्री भजनलालजी
५१) श्री करणसिंहजी जैसवाल
५१) श्री छोगालालजी गुलाबचन्दजी राणोली
११८७)५ फुटकर में आये बगैर नाम के खेरीज के

८८२५)८५